स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)
समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध

प्रथम खण्ड : अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का दायरा
द्वितीय खण्ड : प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन
तृतीय खण्ड : संप्रभु राज्य व्यवस्था
चतुर्थ खण्ड : शांति एवं सुरक्षा के प्रति संस्थात्मक दृष्टिकोण
पंचम खण्ड : फासिवाद का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली पर उसका प्रभाव
षष्ठम खण्ड : युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रवृत्तियाँ
सप्तम खण्ड : उभरती विश्व-व्यवस्था
अष्ठम खण्ड : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समकालीन मुद्दे
नवम खण्ड : शीत युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय संबंध

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध

खंड

1

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का दायरा

इकाई 1
अंतर्राष्ट्रीय संबंध–अध्ययन का क्षेत्र 7

इकाई 2
अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के नज़रिये 17

पाठ्यक्रम 4 समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रस्तावना

प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन का समकालीन विश्व में विशेष महत्व है। मानव जीवन पहले से अधिक आत्मनिर्भर हुआ है और आणविक हथियारों के आविष्कारों ने मनुष्यों के भविष्य को अत्याधिक अनिश्चित बना दिया है। साथ ही उपनिवेशों का स्वाधीन, मगर अस्थिर राष्ट्रों में परिवर्तित हो जाने से विश्व राजनीति की प्रकृति में भी परिवर्तन आया है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत से नए पात्रों का आविर्भाव हुआ, और बहुत-सी पुरानी शक्तियों के प्रभाव में कमी आई। वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों से मनुष्य के सोचने के ढंग और व्यवहारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और इससे राष्ट्रों के कार्य करने की शैली मेंभी आमूल परिवर्तन हुआ। इस संसार में दूर तक कोई भी घटनाओं के उतार-चढ़ाव से अछूता नहीं रहा। यातायात और संचार के आधुनिक साधनों ने इस संसार की सम्पूर्ण जन-संस्था को जटिल जालों में बुन दिया है। पहले अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अंतर्राष्ट्रीय संबंध का पर्याय समझा जाता था, और केवल विशेषज्ञ ही इसके अध्ययन में रुचि रखते थे। हाल के दशकों में इस विषय का कार्य-क्षेत्र अधिक बढ़ा है और यह सर्वविदित हो चला है कि युद्ध और शांति दोनों अविभाज्य हैं। हितों के संघर्ष की अपेक्षा सामुदायिक हितों के बारे में जागरूकता काफी बढ़ी है।

आज इस विषय के अंतर्गत मुद्दों की काफी विभिन्नता है और यह सिर्फ विदेश नीति बनाने और उसके कार्यान्वयन तक ही सीमित नहीं है। इसके कार्य-क्षेत्र में राष्ट्रों की सम्प्रभुता की समस्या भी है जिनका सहअस्तित्व समानता के आधार पर बना हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रत्यक्ष और परोक्ष धमकियों से बरकरार रखना भी एक समस्या है। निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न, अधिक न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था और हर जगह मानव अधिकारों के प्रति चिन्ता जैसी सारी चीजें अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के दृष्टिकोण में परिवर्तन को दर्शाती हैं। प्रौद्योगिकी का आदान-प्रदान, सूचना का स्वतंत्र प्रसार, लचीली आर्थिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने का प्रयत्न और धार्मिक संकीर्णता एवं उग्रवादी चुनौतियों का सामना, आदि इस अध्ययन के लिए उपयुक्त विषय हैं।

"आतंक का संतुलन" (balance of terror), जो जन विनाश के आणविक हथियारों द्वारा पनपा है, गुट-निरपेक्ष आंदोलन को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक विशेष शक्ति के रूप में उभारता है। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को इन संघर्षों से निपटने के लिए विशेष जिम्मेदारियां दी गई हैं। इस दौरान सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय एकता जैसे मुद्दों पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया। इस पर आधारित सिद्धांत एवं समझौते पूरे दृश्य पर हावी रहे। जहां एक ओर निर्भरता और शासन का नया नमूना उभरा वहीं दूसरी ओर परिवर्तन के लिए अधिक क्रांतिकारी उत्तेजना भी पनपी। ऐतिहासिक शक्तियों के बीच इस गतिशील तनाव ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की महत्ता और कार्य को बढ़ाया है।

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को अंतर्राष्ट्रीय एवं पर-राष्ट्र के सम्बन्धों की संरचना, इकाई एवं प्रक्रिया को सैद्धांतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों से अवगत कराती है। विद्यार्थियों को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की महत्वपूर्ण अवधारणाओं और दृष्टिकोणों के बारे में ज्ञात कराया गया है, जैसे—शक्ति संतुलन, सामूहिक सुरक्षा, विउपनिवेशीकरण, नव-उपनिवेशवाद, गुट-निरपेक्षता आदि। यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के महत्वपूर्ण मुद्दों का वर्णात्मक ऐतिहासिक विवरण भी देता है, जैसे—संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय, प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत, अंतर्युद्ध के काल में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रकृति एवं विकास, उत्तर-युद्ध में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नई प्रवृत्तियां, जैसे द्विध्रुवीकरण, शीत युद्ध, तनाव-शैथिल्य (detente), तृतीय विश्व और चीन का उदय, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका, क्षेत्रीय अंतर्राष्ट्रीय संगठनों एवं बहु-राष्ट्रीय संगठनों, नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए संघर्ष आदि।

खंड 1 का परिचय

इस खंड में दो इकाइयां हैं। पहली इकाई समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं अध्ययन का क्षेत्र दर्शाती है।

दूसरी इकाई हमारी समझ और पकड़ बढ़ाने का एक व्यवस्थित प्रयास है। हम अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के लिए अपने को विभिन्न परम्परागत एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से अवगत कराते हैं।

दिया है, जिसका नेतृत्व दो महाशक्तियां कर रही हैं। इस प्रवृत्ति से वि-उपनिवेशीकरण के विकास में वृद्धि और अंतर्राष्ट्रीय अखाड़े में बहुत से नए राष्ट्रों का उदय हुआ है। इससे विषय की शैक्षिक रुचि और महत्ता में वृद्धि हुई है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन के क्षेत्र को कैसे परिभाषित करें? यद्यपि बहुत से शिक्षाविद् अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को राजनीति विज्ञान की एक शाखा मानते हैं, तथापि कई लोग इसे एक स्वतंत्र और स्वायत्त विषय मानते हैं। इस क्षेत्र में विशेषीकरण करने वाले अध्यापकों एवं शोध छात्रों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। साथ ही, नई धारणाओं और तरीकों का विकास हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण समकालीन प्रवृत्ति एक अवधारणात्मक संरचना का गठन, जो हमें कई महत्वपूर्ण सवाल पूछने के लायक बनाती हैं। इसके अलावा, हम बिना किसी पक्षपात एवं संकीर्णता के उपयुक्त आंकड़े संगठित कर सकते हैं, जिससे उचित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसमें अधिकतर योगदान राजनीतिक वैज्ञानिकों का रहा है। लेकिन दूसरे क्षेत्रों का भी काफी योगदान रहा है, जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, भूगोल आदि। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सही अर्थों में अपने प्रकृति और सार में अंतर्वैषयिक है।

1.3 समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास

प्रथम विश्व युद्ध तक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई संगठित अध्ययन नहीं था। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में रुचि यूरोपीय राज्यों के एक छोटे अभिजात वर्ग तक ही सीमित थी, जो सिर्फ रणनीति या कूटनीतिक मामलों में दिलचस्पी रखता था। एक विद्वान द्वारा किए गए अध्ययन में दूसरे विद्वान का जो दूसरे क्षेत्र का अध्ययन करता था, कोई रुचि नहीं होती थी। इतिहासकारों ने सिर्फ राजनयिक इतिहास, अर्थशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्त, तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों ने सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय विधि, संगठन और राजनीति से सम्बद्ध अध्ययन किया। सिर्फ इधर के वर्ष में मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, भूगोलशास्त्रियों तथा दर्शनशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में ध्यान दिया है।

यूरोपीय उपनिवेशी शक्तियों की तीखी साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता ने न सिर्फ प्रथम विश्व युद्ध को जन्म दिया, बल्कि उसका पूरा प्रभाव इस विषय के अध्ययन पर पड़ा। साथ ही साथ एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशी लोगों की उत्तेजना ने इस विषय के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ा। रूस की बॉलशेविक क्रांति का प्रभाव भी कम नहीं रहा। राष्ट्र संघ की स्थापना से लोगों में आशा का एक नया संचार हुआ और कल्पनाशील सुधारवाद का एक नया मंत्र दिया। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने युद्ध के दौरान जमकर खुली सन्धि का खुलेपन से स्वीकार करने के लिए आग्रह किया और यह सुझाव दिया कि युद्ध वास्तविक राजनीति का परिणाम था (यथार्थवाद का एक उग्र रूप)। इस नई शुरुआत का उत्साह विजेताओं के बीच अधिक दिनों तक नहीं ठहर सका। अमेरिका ने स्वयं वुडरो विल्सन के युद्ध के समय और बाद के वचनों को ठुकरा दिया और राष्ट्र संघ में शामिल होने से इन्कार कर दिया। जर्मनी की हार हुई, फिर भी उसने समझौता और आंतरिक सुधार नहीं किया। इटली विजयी होने के बावजूद असंतुष्ट और क्षुब्ध था। इस प्रकार पूर्णरूपेण रचनात्मक कार्यवाही के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई। पेरिस समझौते के पश्चात एक दशक के पहले ही नात्सीवाद और फासीवाद के उदय ने यूरोप की शक्ति को खतरे में डाल दिया।

इसके पहले कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पर पूरी तरह से ध्यान दिया जा सके द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हो गया। इस युद्ध के घातक अनुभवों ने और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात हुए दूरगामी परिणामों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन को पूरी तरह से प्रभावित किया। दो महाशक्तियों—रूस और अमेरिका—के नेतृत्व में विश्व का द्विध्रुवीकरण, एशिया और अफ्रीका में नए राष्ट्रों के उदय ने न सिर्फ परम्परागत अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यूरोपीय-प्रधान स्वरूप का अंत किया बल्कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण और प्रक्रिया को नई दिशा दी और नया आयाम प्रदान किया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी एवं परमाणु हथियारों के क्षेत्रों में अद्भुत विकासों ने मनुष्य के जीवन के विद्यमान बने रहने की एक नई अत्यावश्यकता को जन्म दिया, मानवता के प्रति बढ़ती हुई रुचि आज के समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य विषय है। हाल में, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास हेतु कई महत्वपूर्ण संस्थाएं, किताबें एवं पत्रिकाएं उभरकर सामने आई हैं।

1.4 अध्ययन क्षेत्र

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अध्ययन के एक विशेष क्षेत्र के रूप में मुख्य रूप से निम्न चीजों से प्रभावित है:

1) आंतरिक समाज की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय समाज में यह सम्बन्ध पनपते हैं जो राजनयिक, वैधानिक और मनोवैज्ञानिक रूप से विकेंद्रित हैं और एकीकृत नहीं हैं। राजनीतिक संस्थाएं और व्यवहार जिन पर राज्य के अंदर व्यवस्थित परिवर्तन और न्याय आधारित है, अंतर्राष्ट्रीय समाज में मुख्यतः अनुपस्थित हैं।

2) यह प्रथम तत्व ध्यानाकर्षण के एक क्षेत्र को संभव बनाता है, जो दूसरे विषयों से भिन्न है और जो ध्यानाकर्षण की संभावना तथा स्वयं की एकबद्धता की विशेषता रखता है।

3) बहुत से विषय अपने विषयों में अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं पर कम ध्यान देते हैं और एकीकृत समाज को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह के तरीके अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परिवेश को गलत ढंग से उजागर करते हैं। इस तरह की त्रुटिपूर्ण संकल्पना बहुत से गलत फैसले का स्रोत है और यह कई बार निराशा को जन्म भी देती है।

4) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास खासकर आकलन को एकत्रित और एकीकृत करने की प्रक्रिया को आसान बनाता है और ज्ञान के सभी उपयुक्त क्षेत्रों से उचित जानकारी लेने में सहायता करता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्ययन हमारी सहायता कैसे करते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

2) इस विषय पर द्वितीय विश्व युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

1.5 परिभाषा एवं विकास

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अर्थ को लेकर साधारणतः दो तरह के विचार हैं। संकीर्णवादी विचारधारा के अनुसार "अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का तात्पर्य सरकारी सम्बन्धों से है, जोकि राज्य के प्राधिकृत नेताओं के द्वारा संचालित किया जाता है।" उनके अनुसार सरकारी सम्बन्धों को छोड़कर राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध जैसे व्यापार, वित्तीय वार्तालाप, मिशनरी कार्य, विद्यार्थियों की यात्रा, सांस्कृतिक सम्बन्ध आदि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में नहीं आते।

दूसरी तरफ कुछ प्रगतिशील विद्वानों का कहना है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सरकारी सम्बन्धों के अलावा राज्यों के बीच हर तरह के वार्तालाप और राष्ट्रीय सीमाओं के बीच लोगों, विचारों और वस्तुओं का हर तरह का आवागमन इस क्षेत्र के अंतर्गत आता है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के कई समकालीन मत उपर्युक्त व्यापक परिभाषा को ही मानती है। क्वीन्सी राइट के अनुसार, "अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सिर्फ राष्ट्रों को ही संचालित करने का प्रयास नहीं करता। विभिन्न प्रकार के समूहों को भी, जैसे राष्ट्र, राज्य, सरकार, जनता, क्षेत्र, समझौता, संधि, अंतर्राष्ट्रीय संगठन यहां तक कि औद्योगिक संगठन, सांस्कृतिक संगठन, धार्मिक संगठन आदि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अंतर्गत आने चाहिए, यदि इसे वास्तविक स्वरूप देना है।" यह अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक विकेंद्रीकृत संस्कृति बताते हैं जिसके अंदर अंर्तसंबंध होता है। जेम्स रोजनो एक कदम और आगे बढ़कर तर्क देते हैं कि "विश्व राजनीति के क्षेत्र की घटनाएं, आंतरिक राष्ट्रीय घटनाओं से पूर्णरूपेण सम्बद्ध होती हैं, और यही बात विलोमतः भी लागू होती है। ये सम्बन्ध एक बिन्दु पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच विभाजन रेखा खींचना मुश्किल है।" उदाहरण के लिए, यदि एक देश अपनी मुद्रा का मूल्य कम कर देता है तो यह पूर्ण रूप से एक राष्ट्रीय कार्य है, लेकिन इसका अंतर्राष्ट्रीय जगत पर भी पूरे तरीके से प्रभाव पड़ता है। इसलिए टी. मैथ्यीसेन का कहना है कि, "राज्य के आंतरिक मामले भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत आते हैं।" संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सिर्फ राज्य के प्रतिनिधियों या नेताओं द्वारा संचालित सरकारी सम्बन्धों को ही नहीं बताता वरन् दूसरे महत्वपूर्ण समूहों द्वारा संचालित सम्बन्धों तथा कुछ हद तक सम्प्रभु राज्यों के अंतर्सम्बन्ध को भी प्रभावित करता है। दूसरे शब्दों में, सम्प्रभु राज्यों द्वारा संचालित सम्बन्ध, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण विषय-वस्तु हो सकता है लेकिन दूसरे महत्वपूर्ण समूह भी सम्प्रभु राज्यों के कार्यों को प्रभावित करते हैं।

सारांश में, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को पी.ए. रेनोल्ड्स के शब्दों में, "एक सामाजिक विज्ञान के विषय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो प्रकृति का व्यवहार, अध्ययन, व्यक्तियों एवं समूहों के सम्बन्धों के प्रभाव से सम्बन्धित है और जो एक विशेष रूप में अराजकता के ढांचे के अंदर कार्य करती है।"

1.5.1 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

कभी-कभी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति जैसे शब्द को लेकर कुछ गलतफहमी पैदा हो जाती है। "अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध" का क्षेत्र वृहद है क्योंकि यह सम्बन्धों की सम्पूर्णता और उसके विभिन्न पहलुओं को दर्शाता है। यह शब्द हेराल्ड और मागरिट स्प्राउत ने बड़े ही अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है, "इस शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय सीमा के एक तरफ मानव व्यवहार को दर्शाता है, जो सीमा के दूसरी तरफ मानव व्यवहार को प्रभावित करता है।" यह किसी पहलू को नहीं छोड़ता। अर्थशास्त्र, भूगोल और इतिहास, सरकारी और गैर-सरकारी दोनों प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक आदान-प्रदान का विश्लेषण या परीक्षण करने में पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। दूसरी तरफ शब्द "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति" बहुत ही अच्छे तरीके से संकीर्ण अर्थों में प्रयोग किया गया है, जो औपचारिक राजनय और राज्यों के बीच सम्बन्धों एवं दूसरी राजनीतिक इकाइयों का विवरण प्रस्तुत करता है।

विधि और राजनयिक इतिहास के अध्ययन से शुरू होकर अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र सदा व्यापक होता गया है। राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों की बढ़ती हुई जटिलता के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय संगठनों एवं संस्थाओं के अध्ययन ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ ने क्षेत्रीय अध्ययन एवं विदेशी नीति के सामरिक पहलुओं को गति प्रदान की। इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और उपनिवेश के विरुद्ध आंदोलनों की गतिशीलता को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। युद्ध के समय संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ने राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों के पुनर्गठन जैसे विचारों को युद्ध के बाद बढ़ावा दिया। सहयोग का अध्ययन संघर्ष के अध्ययन की तरह महत्वपूर्ण हो गया। इसके फौरन बाद राजनीतिक दृष्टिकोण सामने आए। इसकी अभिव्यक्ति आइनीस क्लॉड (Inis Claude) की लिखी किताब "फाल के अंदर तलवार" में देखी जा सकती है। नए विषय जैसे विचारधारा, निरस्त्रीकरण का शीत युद्ध के युग में विशेष महत्व रहा। वैसा ही महत्व क्षेत्रवाद एवं सन्धियों की व्यवस्था का भी रहा। समकालीन

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की विषय-वस्तु के अंदर राजनयिक इतिहास, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय विधि और क्षेत्र अध्ययन सभी आ जाते हैं। वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के व्यवस्थित सिद्धांत गठित करने के महत्वाकांक्षी प्रयास जारी हैं। हालांकि इसमें सदा पर्याप्त सफलता नहीं मिली है, फिर भी यह जीवन्त रुचि और शोध के उत्साहवर्धन प्रवृत्ति को उजागर करता है।

1.5.2 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्वायत्ता की आलोचना

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रभावशाली विकास इस संदेह को नहीं रोक पाया कि इसमें स्पष्ट अवधारणात्मक ढांचे और लागू होने वाले सिद्धांतों के व्यवस्थापित निकाय की कमी है, कि यह पूरे तरीके से दूसरे संगठित विषयों पर आधारित है। बहुत साल पहले अल्फ्रेड जिमरन ने यह विचार व्यक्त किया था कि, "शैक्षिक दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय संबंध सामान्य अर्थों में एक पूर्ण विषय नहीं है, यह पदार्थों के एक सम्बद्ध निकाय को प्रस्तुत नहीं करता। यह अकेला विषय नहीं है बल्कि बहुत से विषयों की एक पोटली है। यह पोटली विधि, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, भूगोल आदि चीजों से बनी है लेकिन इन विषयों को पूरी तरह से नहीं दर्शाती।"

यही विचार आर्गेन्सकी द्वारा भी अभिव्यक्त किए गए हैं। इनके अनुसार, "विज्ञान के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आज अपने शैशवावस्था में हैं। यह विज्ञान कम और दर्शनशास्त्र, इतिहास तथा कला का मिश्रण अधिक है। इसके सिद्धांत अप्रमाणित हैं। इस विषय पर लेखन अधिकतर वर्णनात्मक है। फिर भी, वर्णनात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आंकड़े का संकलन काफी मात्रा में हुआ है और रोजाना के पत्रों से और भी आंकड़े हमें मिलते रहते हैं। नए सिद्धांतवेताओं ने सैद्धांतिक तथ्यों को व्यवस्थित करने और व्याख्या करने के लिए जो आवश्यक सैद्धांतिक ढांचा होता है, उसे देना शुरू कर दिया है। हम लोग महान खोजों के कगार पर हैं ... अगले कुछ दशकों के अंदर एक नए विषय के आधारभूत शीला की शुरुआत होगी।"

शुरू में विद्वान अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्वायत्तता का दर्जा देने के इच्छुक नहीं थे। इन्हें संदेह था कि इसमें विषय क्षेत्र की एकता नहीं है। साथ ही इसमें वस्तु-निष्ठता की कमी है। अभी भी विद्वानों में इस पर मतभेद है। इसमें अभी भी स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है, जोकि इसको राजनीति विज्ञान से अलग रखे क्योंकि दोनों ही सम्प्रभु राज्यों के अध्ययन एवं उनके पारस्परिक गतिविधियों से सम्बद्ध हैं। इसमें वस्तुनिष्ठता की कमी है और प्रायः इसका चरित्र कलागत भी नहीं होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्वान बेहतर और एकरूप अवधारणा एवं पद्धति की खोज कर रहे हैं। लेकिन, अभी भी यह विषय एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया में ही है।

1.6 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलता एवं इसकी अंतर्वैषयिक प्रकृति

कुछ विद्वानों का कहना है कि यह विषय राज्यों के बीच सम्बन्धों से सम्बद्ध है। परन्तु यह कथन इस तथ्य को नकारता है कि राज्य अखण्डित गुट नहीं है तथा जिनमें अंदर और बहुधा साथ-साथ विशेष एवं सैद्धांतिक या हित समूह ही सही अर्थों में निर्णयकर्त्ता हैं। कुछ विद्वान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तथ्य को देखते हैं और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक ऐसे विषय के रूप में देखते हैं, जिसमें राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों में राज्यों की शक्ति निहित होती है। ऐसी परिभाषा इस तथ्य को पूरी तरह से उजागर नहीं करती कि अमुक प्रक्रिया में राज्यों की शक्ति अंतर्निहित है या नहीं। यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय डाक-संचार में राज्यों की शक्ति निहित नहीं होती, जबकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में होती है। 19वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और विधि इस अनुमान पर आधारित थी कि राष्ट्रों के नागरिकों के व्यापारिक कार्य, प्रत्यक्ष रूप से राज्य की शक्ति से नहीं जुड़े हैं, सिवाय दुर्घटना के कुछ मामलों को छोड़कर जिसके शिकार विदेशों में रह रहे नागरिक थे। यदि हम अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को "शक्तिशाली समूहों के सम्बन्धों" की तरह परिभाषित कर इन कठिनाइयों से छुटकारा पाना चाहें तो यह विषय इतना वृहद् हो जाएगा कि हमें तुरन्त राजनीतिक सम्बन्ध को अन्य सम्बन्धों से अलग समझना होगा एवं शक्तिशाली समूहों की अवधारणा को और ज्यादा सुस्पष्ट करना होगा। अंत में हम इन दोनों प्रश्नों के उत्तर यह कहकर देने का

प्रयास करेंगे कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय "समस्त समूहों के सम्बन्धों" से सम्बन्धित है, लेकिन सिर्फ वही सम्बन्ध जोकि अंतर्राष्ट्रीय समाज को प्रभावित करते हैं। अब हम वहीं वापस आएंगे जहां से हमने प्रारंभ किया था और विश्व समाज की परिभाषा की खोज हमें एक नए और भयंकर जंगल में छोड़ देगी।

1.6.1 अंतर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन की अंतर्वैषयिक समस्या

इन क्षेत्रों में हुए बहुत से कार्य अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण हो सकते हैं, विशेष रूप से उन विषयों के बारे में जोकि बिल्कुल अज्ञात क्षेत्र रहे हैं। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के दृष्टिकोण से यह हमें कहीं नहीं ले जाती है। यह बात ज्ञान की सीमा में शोधकर्त्ताओं पर ज्यादा लागू होती है। लेकिन, प्रायः शोधकर्त्ता को ज्ञान की उस सीमा पर भ्रम का ही संसार मिलता है और उसे "थोथी खोज" एवं "तकनीकी पागलपन" के गले समर्पण जैसी सूखी आशा मिलती है जिसमें नए उपकरणों का प्रयोग इतनी अधिकता से किया जाता है कि यदि शोधकर्त्ता का अध्ययन आधुनिक उपकरणों पर लागू नहीं होता है तो वह हतोत्साहित महसूस करता है, चाहे वह उसकी महत्वपूर्ण समस्याओं से संबंधित हो या नहीं। इन खतरों में शोधकर्त्ताओं को डालने से पहले हमें उनके योगदानों को उपयोगी बनाने के रास्ते खोजने चाहिए और प्रत्येक सम्बन्धित विषय को दूसरों के अनुसंधानों के बारे में जागरूक बनाने के रास्ते ढूंढ़ने चाहिए। दूसरे शब्दों में, सही प्रश्न पूछे जाने चाहिए ताकि दूसरे क्षेत्रों का प्रयोग भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय के लाभ के लिए किया जा सके, सिर्फ अपने विषय के लिए ही नहीं। किसी भी चीज का एक केन्द्र होना चाहिए जोकि वर्तमान समय में बिल्कुल ही गायब है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अंतर्वैषयिक पद्धति से क्यों किया जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.7 सैद्धांतिक विश्लेषण या नीति अध्ययन

यहां पर कुछ उचित संदेह इस समस्या को लेकर हैं कि अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के अंतर्गत नीति अध्ययन को रखा जाए अथवा नहीं। अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन मुख्यतः पर्यवेक्षण एवं विश्लेषण से संबंधित है। साथ ही यह सैद्धांतीकरण से भी सम्बद्ध है ताकि तथ्यों की व्याख्या और भविष्यवाणी हो सके। यह शक्ति एवं सुरक्षा की समस्या के समाधान का दावा नहीं करता। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह वैज्ञानिक प्रयास उपर्युक्त दृष्टि द्वारा नीति-निर्धारक के कार्यों को आसान बनाता है। यह सदैव संभव नहीं है कि वर्णनात्मक विश्लेषण एवं नीति फार्मूला के बीच सीमा रेखा खींची

जाए। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सिर्फ इस बात की जानकारी देता है कि यदि अमुक घटना होगी तो अमुक परिणाम होंगे; कि अमुक नीतियों के अमुक निष्कर्ष होंगे। यह वैकल्पिक उद्देश्य बता सकता है, लेकिन उनका चयन नीति का विषय है। नीतियों का निर्धारण या परिवर्तन अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में परिवर्तन लाता है। राज्यों के बीच सम्बन्धों के सिद्धांतों एवं परिकल्पनाओं की समीक्षा बदलती हुई घटनाओं के परिवेश में की जा सकती हैं। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को बुद्धिजीवियों के क्रीड़ा तक ही सीमित नहीं रख सकते।

1.7.1 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बदलते प्रसंग

नीतियों में हो रहे विशेष परिवर्तनों का प्रभाव हमेशा विद्वानों को ध्यान के केन्द्र-बिन्दु को बदलने में रहा है। साथ ही शिक्षाविदों की बौद्धिक दिलचस्पी ने भी नीति निर्माण को प्रभावित किया है। इसके ज्वलंत उदाहरण आणविक हथियारों का विकास और सामरिक सिद्धांतों का विकास है। आतंक के संतुलन का सिद्धांत, युद्ध की अवधारणा को एक नीति के हथियार के रूप में हटाने में अन्य सभी प्रयासों की अपेक्षा अधिक कारगर साबित हुआ है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से नीति अध्ययन को हटाना उचित नहीं होगा।

हम कई और उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं जिनसे प्रदर्शित होता हो कि तकनीकी परिवर्तन ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रवृत्ति के संबंध में हमारे विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए हैं। साम्राज्यों के स्थानों पर नए राष्ट्रों का निर्माण हुआ। अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर नए कर्त्ताओं का उदय हुआ। वैकल्पिक मूल्यों, विवादपूर्ण सिद्धांतों, विभिन्न परिप्रेक्ष्यों ने परम्परागत सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन किया। शक्ति समीकरण के लगातार सामंजस्य के कारण सम्प्रभुता एवं स्वतंत्रता की अवधारणाओं को परिभाषित एवं पुनः परिभाषित करने की जरूरत है।

पार्किन्सन ने अपने एक लेख (1960) में लिखा है कि एक समय था जब अविकसित देश अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के "विषयों" के स्थान पर मात्र "वस्तु" थे। किन्तु अविकसित देशों में राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन के कारण विकास के लिए प्रतिकूल सामाजिक शक्ति के अस्तित्व का समर्थन से महानतम शक्तियों का निश्चित रूप से राजनयिक हानि होगी। मार्टन कॉप्लान भी एक और विद्वान हैं जिन्होंने 1963 में ही महसूस किया कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की समस्या अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए मुख्य समस्याएं हैं। बाद के बहुतेरे अध्ययन राज्यों के बीच सम्बन्धों के उन पहलुओं को उजागर करते हैं, जो पहले की शक्ति संरचना में नहीं उभर पाई थी।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) क्या अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में नीति अध्ययन को शामिल करना उपयुक्त होगा?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बदलते हुए प्रसंग ने इस विषय के अध्ययन को कैसे प्रभावित किया है?

.....
.....
.....
.....

.....

.....

1.8 उभरती हुई प्रवृत्तियां

आर्थिक मांगें आज उतनी ही महत्वपूर्ण हो गई हैं जितनी राजनीतिक मांगें। विकास के मुद्दे अस्त्रों की होड़ के साथ बुरी तरह जुड़ गए हैं। आर्थिक और सैनिक रूप से शक्तिशाली देश विश्व समुदाय के अविकसित सदस्यों पर नए तरीकों द्वारा अपना शासन जमाना चाहते हैं और अपनी इच्छा को लादने की कोशिश करते हैं। साथ ही संचार प्रौद्योगिकी के जाल ने जनसंख्या को कहीं और हो रहे विकास और विलंब से अलग रखना असंभव-सा बना दिया है। युद्ध की तरह शान्ति अविभाज्य हो गई है। बढ़ती हुई जनसंख्या, ऊर्जा, खाद्य-उत्पादन, वातावरण सुरक्षा, नशा, शस्त्र नियंत्रण आदि जैसे मुद्दाओं ने अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन में हितों के समुदाय को उजागर किया है। ये हितों के संघर्ष की तरह ही महत्वपूर्ण हैं, जिसने हमेशा यथार्थवादियों को अपनी तरफ खींचा है। सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वाणिज्य के मुद्दे ही नहीं बल्कि गृह अर्थव्यवस्था के प्रबंध की चुनौतियां भी अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन के विद्यार्थियों के लिए दिलचस्पी का विषय था।

वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध संकीर्ण और वृहद्, दोनों ही होते जा रहे हैं। संकीर्ण इस अर्थ में कि यह राज्यों के बीच आपसी सम्बन्धों के बहुत से पहलुओं को छोड़ देता है, जोकि अब संस्थाओं, निरस्त्रीकरण और सामरिक अध्ययनों में विशेषज्ञों द्वारा समझा जाता है और वृहद् इस अर्थ में कि यह गृह एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का व्यवहारवादी अनुभव, परिवर्तन की मांग, निर्णयपरक प्रक्रिया आदि लक्षण अपने अंदर समेटे हुए है, जो पहले अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पाठ्य में नहीं थे।

1.8.1 युद्ध से शान्ति की ओर

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की रुचियों में बदलाव आया है। युद्ध संरचना से शान्ति की दशा की ओर बढ़ने में मदद मिली है क्योंकि शैक्षिक संस्थाओं के बाहर यह महसूस किया गया कि सामूहिक सुरक्षा पूरी तरह से असफल रही जिसके मुख्य उदाहरण लीग और संयुक्त राष्ट्र संघ हैं। यदि अब भी सन्धि एवं सामूहिक सुरक्षा की नीतियां बरकरार हैं तो वह इसलिए बनी हुई हैं कि इनका स्थान कोई दूसरी नीति अभी तक नहीं ले सकी। सामूहिक सुरक्षा एवं विश्व सरकार जैसे शब्दों की 1963 में काफी आलोचना हुई। अब तक परम्परागत शक्ति की अवधारणा पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। एक अर्थ में सत्ता का तात्पर्य सिर्फ ऐसी योग्यता से है जिसमें बदलना नहीं पड़े, या फिर परिवर्तन के साथ समझौता नहीं करना पड़े या परिवर्तन को सहना नहीं पड़े। सापेक्ष सत्ता राज्यों के बीच के सम्बन्धों के कुछ पहलुओं को ही दर्शाता है; विशेष रूप से शक्तिशाली राज्यों के बीच एवं शक्तिशाली और कमज़ोर राज्यों के बीच के सम्बन्धों को। कमज़ोर राज्यों के बीच जो सम्बन्ध विद्यमान हैं उनको शक्ति संतुलन के सिद्धांत द्वारा पूरी तरह से या उचित रूप से स्पष्ट नहीं किया गया है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में उभरती हुई प्रवृत्तियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.9 सारांश

परम्परागत रूप से राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का अध्ययन राजनयिक इतिहासों एवं अंतर्राष्ट्रीय विधि तक ही सीमित था। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत इस विषय का क्षेत्र बहुत तेजी से वृहद हुआ है। इसे अब इतिहास का राजनीति विज्ञान के समूह के रूप में नहीं देखते, बल्कि इसको अलग से स्वायत्तता प्रदान की गई है। यह राष्ट्रों के बीच सम्पर्क की सम्पूर्णता को अपने में संजोए हुए है और वर्तमान वर्षों में अंतर्वैषयिक हो गया है। शिक्षाविदों के प्रभाव से अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में रुचि युद्ध से शान्ति की तरफ एवं शासन और निर्भरता के निदर्शन की तरफ बढ़ी है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आर्थिक सार की ओर बढ़ती हुई अंतर्निर्भरता का इसमें मुख्य स्थान है। विकास तथा पर्यवेक्षण की सुरक्षा की समस्याएं आज सैनिक संघर्षों से कम महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती हैं।

1.10 शब्दावली

अनुभवपरक: प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण पर आधारित क्षेत्र, बृहद् अर्थों में विषय का क्षेत्र दूसरे विषयों के क्षेत्रों से भिन्न होता है।

नियमपरक: व्यवहार के नियमों से सम्बन्धित है।

वस्तुनिष्ठ: पक्षपाती पूर्व अवधारणा एवं 'हित-स्वतंत्र' मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता।

वास्तविक राजनीति: अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के प्रति एक दृष्टिकोण जो सत्ता को निर्णायक तत्व मानती है।

1.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

होल्सटी, के.जे., 1983, **अंतर्राष्ट्रीय राजनीति: विश्लेषण की संरचना,** प्रेंटिस हाल

डायप्स के. डब्ल्यू., 1978, **अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण,** प्रेंटिस हाल

मॉर्गेन्थी, हाब्स जे., 1960, **राष्ट्रों की राजनीति,** तीसरा संस्करण

1.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क्योंकि विश्व के मामलों का प्रभाव हम पर पड़ता है और हम सभी राष्ट्रों के सम्बन्धों की विभिन्नता से प्रभावित होते हैं।
2) इसने लोगों को अंतनिर्भरता के प्रति और जागरूक बनाया है। युद्ध की तरह शांति भी अविभाज्य है–ऐसा उन्होंने महसूस करना शुरू कर दिया। राज्य व्यवस्था की प्रकृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। परम्परागत महानतम् शक्तियों का स्थान दूसरे बड़े कर्त्ताओं ने ले लिया है और वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नए भागीदारों को शामिल किया है।

बोध प्रश्न 2

1) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अपने को राज्यों एवं सरकार के बीच औपचारिक एवं सरकारी सम्बन्धों तक सीमित रखती है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक है। यह व्यापार, पर्यटनवाद, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, राष्ट्रों के बीच सरकारी, गैर-सरकारी सभी सम्बन्धों के पक्षों से संबंधित है।
2) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलता ने दूसरे विषयों से संसाधन लेना आवश्यक बना दिया है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ने दूसरे व्यावहारिक विद्वानों–समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों से बहुत कुछ सीखा है।

बोध प्रश्न 3

1) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अब सिर्फ एक बौद्धिक मनोरंजन नहीं समझा जाता। इस विषय को नीति विज्ञान के रूप में सम्मान मिला है। यह दावा उचित है।

2) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रासंगिकता में वर्तमान समय में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया है। परम्परागत महानतम् शक्तियों ने अपनी प्रमुखता खो दी और महाशक्तियां अपने परमाणु हथियारों और वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण पूरी तरह छा गई हैं। तकनीकी एवं वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भी इसमें काफी योगदान दिया। अब मनुष्य कहीं अधिक निर्भर हो गया है।

बोध प्रश्न 4

1) आर्थिक मुद्दे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। मुख्य आकर्षण बिन्दु युद्ध से हटकर शक्ति हो गई है। निरस्त्रीकरण, विकास एवं पर्यावरण सुरक्षा के बीच अंर्तसबंध, अंतर्राष्ट्रीय समाज में विकास एवं प्रभुत्व के प्रतिरूप विद्वानों के कार्यों को प्रेरणा दे रहे हैं। यह बौद्धिक लगाव नीति निर्माण को भी प्रभावित करने लगी है।

इकाई 2 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के नज़रिये

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 परम्परावादी नज़रिया
  2.2.1 यथार्थवादी अध्ययन प्रणाली
  2.2.2 आदर्शवादी विचार
  2.2.3 मूल्यांकन
2.3 वैज्ञानिक नज़रिया
2.4 निकाय नज़रिया
2.5 गेम थियोरी या खेल सिद्धांत
2.6 निर्णय-परक नज़रिया
2.7 संचार आधारित नज़रिया
2.8 सारांश
2.9 प्रधान शब्द
2.10 उपयोगी पुस्तकें
2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इसके पहले कि इकाई में आपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप में अध्ययन किया। अब आप अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विभिन्न उपागमों का अध्ययन करेंगे और यह समझने की कोशिश करेंगे कि कैसे ये एक दूसरे के लिए पूरक और विशेष लाभकारी हो सकते हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- विभिन्न नज़रियों को समझ सकेंगे।
- खेल-सिद्धांत को परिभाषित कर सकेंगे।
- निर्णय-परक सिद्धान्त पर बहस कर सकेंगे।
- संचार सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

हेडले बुल ने अंतर्राष्ट्रीय संबंध के सिद्धान्त के अध्ययन के लिए जिन दो नज़रियों का वर्णन किया है उन पर हम ध्यान देंगे।

क) क्लासिकी या परम्परावादी अध्ययन प्रणाली जो दर्शन-शास्त्र इतिहास और विधि से निकली है। इसके अनुसार इन सामान्य संकल्पनाओं को अनिर्णायक एवं प्रायोगिक कोने से अधिक का दर्जा नहीं दिया जा सकता है।

ख) **वैज्ञानिक नज़रिया**
इस नज़रिये के अनुयायी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को एक सिद्धान्त के रूप में देखने को इच्छुक हैं। इनकी संकल्पनाएं या तो तार्किक या गणित पर या प्रतिपादित अनुभव पर आधारित हैं। वास्तव में इन उपागमों के बहुत से प्रकार हैं। पुरानी पीढ़ी के बहुत से लोग प्रथम समझ के पक्ष में हैं, जबकि युवा विद्वानों की अधिक संख्या में दूसरी समझ का समर्थन करती हैं। लेकिन दोनों में असंगति नहीं है। बहुत से विद्वानों ने बिना किसी मुश्किल के इन्हें मिलाने का प्रयास किया, जिसके फलदायक परिणाम भी रहे हैं।

2.2 परम्परावादी नज़रिया

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के विभिन्न नज़रिये हैं जिनमें बहुत वर्षों से इस विषय पर परम्परागत समझ हावी रही है। यह इतिहास को एक प्रयोगशाला मानती हैं, जहां अर्थपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए प्रयोगों का चुनाव और अध्ययन किया जा सके।

2.2.1 यथार्थवादी अध्ययन प्रणाली

यह सबसे प्रसिद्ध अध्ययन प्रणाली है। इस अध्ययन प्रणाली के प्रवर्तकों का कहना है कि राजनीति का अध्ययन वास्तविक तरीकों से होना चाहिए। मानव अपने हितों की पूर्ति आत्मकेन्द्रित ढंग से करता है। राष्ट्र भी इसके विपरीत कार्य नहीं करता है। माने हुए यथार्थवादी विद्वान हौन्स मौमार्मेन्थो राष्ट्रीय हित को शक्ति के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। यथार्थवादियों का कहना है कि शक्ति राजनीति का सार है। वृहद अर्थों में हम शक्ति को दूसरे के कार्यों को प्रभावित करने की योग्यता के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। यह फौजी; आर्थिक या सांस्कृतिक जैसे अन्य रूपों में भी प्रकट हो सकता है। यथार्थवादी साधन को अधिक महत्व नहीं देते, उनके लिए साध्य ही सबसे महत्वपूर्ण है।

उनके अनुसार नैतिकता का अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में कोई स्थान नहीं है। यथार्थवादी अपने को अनैतिक सिद्धांतों के प्रवर्तक कौटिल्य एवं निकोलो मैकियावली यथार्थवादी प्रेरणा के स्रोत हैं। वैधानिकता का सिद्धांत उनके लिए महज नैतिकता, ऐश्वर्य की चीजें हैं जो सरकार के हितों और जीवन योग्यता को खतरे में डालती हैं। यथार्थवादियों की नजर में अपने हितों की सिद्धि के लिए शक्ति की भूख प्राकृतिक नियमों के बिल्कुल अनुकूल है। वे दृढ़ता से यह विश्वास करते हैं कि नैतिक एवं वैधानिक तरीके व्यर्थ हैं। अपनी सुविधा के अनुसार उन्हें छोड़ा जा सकता है। तार्किक राज्य कोई तर्क नहीं देते। आदर्श और मूल्य राज्यों को सिर्फ और कमजोर ही करते हैं।

यथार्थवादी अध्ययन से जुड़े हुए दूसरे लोगों में मैक्स वेबर इ.एस. कार, हैन्स जे मार्गेन्थो, फ्रेडरिक शूमैन और रेनाल्ड नेबुर भी हैं।

2.2.2 आदर्शवादी विचार

आदर्शवादी समझ यथार्थवादी विचार के विपरीत हैं। इसके अनुसार मनुष्य हमेशा नैतिक मूल्यों के अनुसार काम करता है और उसे ऐसा ही करना भी चाहिए। आदर्शवादी विचारों के समर्थक यथार्थवादी विचारधारा को मानने से इंकार करते हैं जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संबंध शान्ति के लिए संघर्ष के अलावा और कुछ भी नहीं है। आदर्शवादी हमें बताते हैं कि मनुष्य स्थापित सामाजिक आचार-संहिता के प्रति उदासीन नहीं है। हरेक समाज नैतिकता का सम्मान करता है और मनुष्य हमेशा कुछ आदर्शों से प्रोत्साहित और प्रभावित होता है आदर्शवादियों के अनुसार उग्र यथार्थवादी संकीर्ण दृष्टि का प्रतीक और सदैव टकराव की दिशा में उन्मुख है। यह सही अर्थों में राष्ट्रीय हित को नहीं दर्शाता है। यह आत्म-पराजित एवं अपभावी सिद्ध हो सकता है। आदर्शवादी हमें एक आचार-संहिता प्रदान करते हैं जो ज्ञान, तर्क, दया एवं आत्म-नियंत्रण पर आधारित है। यह अध्ययन-पद्धति महान लोगों के नामों से जुड़ी हुई है, जैसे–हैनरी डी सेन्ट, साइमन, विलियम लैड, रिचर्ड कोबजेन, ए. हक्सले, महात्मा गांधी, वुडरो विल्सन, बी. रसेल एवं मारगरिट मीड आदि।

यथार्थवादियों का कहना है कि आदर्शवादी आन्तरिक हिंसा एवं बाह्य-आक्रमण का सामना अपनी आत्मा की आवाज पर नहीं कर सकते हैं चूंकि संघर्ष मनुष्य के हर सामूहिक मामले में अन्तर्निहित है। अतः इस चुनौती को हम नकार नहीं सकते। अहिंसा की प्रतिक्रिया सदैव बहुत ही जवाबदेह नहीं होती है, विशेषकर ऐसे समय में जब राज्य के जीवन-मरण का प्रश्न हो। यह मानते हुए कि जंगल के नियम सभ्य समाज में लागू नहीं होते, यथार्थवादी आदर्शवादियों से कुछ कठोर प्रश्न पूछते हैं जैसे–राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रबुद्ध समाज का निर्माण कैसे हो? विधि तोड़ने वालों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये, विशेषकर ऐसे समय में जबकि इनकी संख्या कानून पालन करने वालों से अधिक हो? यदि सरकार विधि-व्यवस्था और न्याय के नाम पर हिंसा और दमन शुरू करें तो, ऐसी स्थिति में समाज की क्या दशा होगी?

आदर्शवादियों की आलोचना मुख्यतः दो स्तर पर की जा सकती है: एक विश्व व्यापक आदर्शों पर लोग एकमत कैसे हो सकते हैं? और दूसरा यदि विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिक संहिता और विपरीत आदर्शों में टकराव हो तब क्या होगा? आशा करना गलत होगा कि वस्तु-हितों के संघर्ष या सदियों पुरानी संकीर्णता से छुटकारा सिर्फ सद्भाव द्वारा पाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि वेत्ताओं के दावा करने के बावजूद समस्त सम्प्रभु राज्यों के बीच समानता नहीं है। आर्थिक समानता और विपरीत सामाजिक परम्परा सामाजिक सहयोग में गंभीर रुकावट पैदा करते हैं सिर्फ इच्छा अच्छी राजनीति या प्रबुद्ध समाज का निर्माण नहीं कर सकती।

आदर्शवादी इस तर्क का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि वे नियम तोड़ने वालों के विरुद्ध वैधानिक शक्ति के प्रयोग से इंकार नहीं करते और सामूहिक सह-अस्तित्व की गारन्टी देते हैं। लेकिन वे इस बात पर जोर देते हैं कि इन चीजों को आधारभूत, व्यक्तिगत अधिकारों के त्यागे बिना पूरा करना चाहिए। उनका कहना है कि पश्चिमी समाज आदर्शवादी सिद्धान्तों पर काम करता है। इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत "विधि का शासन" न कि व्यक्ति द्वारा शासन, शांतिपूर्ण परिवर्तन, जवाबदेह सरकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, पूजा, संगठन एवं सरकार के विरुद्ध शांति पूर्ण याचिका दायर करना आदि चीजें आती हैं। यदि पश्चिमी राष्ट्र अपनी पुरानी हिंसात्मक प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद एक साथ रह सकते हैं, और उदारवाद एवं प्रबुध सिद्धान्तों के साथ अपने संबंधों को संचालित कर सकते हैं तो एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था जिसको एकाधिकार तो मिला हो किन्तु जो अपनी शक्तियों का गलत प्रयोग नहीं करे, इसे मात्र एक आदर्शवादी कल्पना कह कर नकार नहीं सकते।

2.2.3 मूल्यांकन

इस स्तर पर हम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के आधारभूत परम्परागत उपागमों का मूल्यांकन करेंगे। यथार्थवादियों का कहना है कि "शक्ति की राजनीति" प्राकृतिक तथ्य हैं जिसका जड़ मानव के जैवकीय उत्पत्ति में है। वस्तुतः जानवर सुलभ व्यवहार अपरिवर्तनीय है। वह सदैव अपने आत्म हित से पूर्ण-रूपेण प्रेरित होता है। यथार्थवादियों के लिए राजनीति "संभव" चीजों की कला है। वह अपनी ऊर्जा व्यर्थ ही गंवाने में विश्वास नहीं करता, न ही वह आदर्शवादी भ्रमों के पीछे भागता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि सारे यथार्थवादी दुःसाहसी या गैर-जिम्मेदार हैं। यथार्थवादी सर्वप्रथम एक व्यवहारवादी है। वह इस बात से पूरी तरह जागरूक है कि दूसरे लोग भी सत्ता के लोभी हैं। साथ ही उसे यह भी पता है कि अपने हितों की रक्षा के लिए दूरदर्शिता और विवेक अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी सौदेबाजी एवं समझौते की महत्ता को कम नहीं करते। तथापि आखिरकार घपलेबाजी संस्थागत व्यवस्था और नियम विधानों से अधिक उपयोगी माना जाता है। आदर्शवादी यथार्थवादियों की आलोचना दूषित, प्रतिक्रिया, निन्दाशील और अवसरवादी जैसे शब्दों में करते हैं। आदर्शवादियों के लिए राजनीतिक गतिविधियों का यथार्थवादी तरीका सिर्फ बुरी उन्मुकताओं को बढ़ावा देते हैं, तथा झूठ, धोखा एवं यातना की खुली छूट देते हैं। इसे राष्ट्रीय हित की सुरक्षा के नाम पर दमनकारी शोषण को बढ़ावा मिलता है।

आदर्शवादी इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि प्रकृति ने मानव को जानवर की तरह रहने के लिए बाध्य नहीं किया। वह सिर्फ प्राणी नहीं बल्कि एक सामाजिक प्राणी है। उसमें अपने व्यवहार को बदलने, नियंत्रित करने तथा सीखने की क्षमता है। अनुभव से पता चलता है कि मानव सीखने का प्रयत्न करता है और आगे बढ़ता है। सभ्यता का तात्पर्य है, समाज में सह-अस्तित्व, निष्पक्ष कानून के अन्तर्गत रहना प्राचीन जंगल की स्वच्छता को त्यागना। इसके विपरीत, आदर्शवादी दृष्टिकोण के अन्दर बल का त्याग, ज्ञान को बढ़ावा और योग्य, ज्ञानी शासक के नेतृत्व में विभिन्न समाजों का सह-अस्तित्व जैसी बातें भी शामिल हैं। इनका विश्वास है कि नैतिक सिद्धान्त जो कि संसार के सभी बड़े धर्मों में उपस्थित हैं एक शिला का काम कर सकता है जहां से निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण विधि की उत्पत्ति हो सकती है जो विधि का उल्लंघन करते हैं उनके विरुद्ध यह विधि लागू हो सकती है। आदर्शवादियों के लिए राजनीति "सम्भव" की कला नहीं है, बल्कि "अच्छी सरकार" की कला है। दूसरे शब्दों में इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्याय, वैधानिक शासक की आज्ञा पालन एवं उनके साथी मित्रों का सम्मान करना है। आदर्शवादी अध्ययन पद्धति के विभिन्न प्रवर्तकों में शान्ति प्रिय, विश्व संघवादी, मानववादी, विधिवेता एवं नैतिकवादी हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे छोड़ी गई जगह का इस्तेमाल करें।
2) इस इकाई के अन्त में अपना उत्तर देखें।

1) क्या आप अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के दो प्रमुख उपागमों को बता सकते हैं? शांति के प्रयोग के कुछ उदाहरण आपको जीवन में मिलेंगे।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) इस विषय के अध्ययन के परम्परागत उपागमों के दो मुख्य रूपान्तर क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.3 वैज्ञानिक नज़रिया

इस विषय का दूसरा नज़रिया प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुभववादी पद्धति को सफलता से प्रभावित है। यह वस्तुनिष्ठता पर अधिक जोर देता है, तथा प्रयोग पर इसका सत्यापन किसी के द्वारा किया जा सकता है। इसे हम वैज्ञानिक पद्धति के नाम से जानते हैं। इस अध्ययन पद्धति के प्रवतकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के विद्यार्थी वास्तविकता के पर्यवेक्षण में अपने को बड़ी मुश्किल से लगा पाते हैं। वे घटनाओं में हस्तक्षेप करने के इच्छुक नहीं होते, उनके कार्य भी सैद्धान्तिक नहीं होते हैं।

वैज्ञानिक पद्धति की उत्पत्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को अन्तर्विषयात्मक बना दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अधिकतर समस्याओं एवं प्रतिक्रियाओं का अन्तर्विषयात्मक तुलनात्मक पद्धति से विश्लेषण होता है और ये राजनीति के व्यवहारवादी समझ से संबंधित हैं। इस समझ ने अन्तर्राष्ट्रीय संचार, जनमत प्रचार, विभिन्न पृष्ठभूमियों से आए हुए व्यक्तियों के छोटे समूहों के व्यवहारों का आपसी संबंध जैसे विषय पर महत्वपूर्ण योगदान दिया है तथा अन्तर समूह की रूढ़िवादिता की समझ में भी वृद्धि की है। इसने हमें संघर्षों की जटिल प्रकृति के बारे में भी जागरूक बनाया है। विदेशों एवं वहां के लोगों के बारे में परम्परागत एवं यथार्थ दृष्टिकोण के बारे में एवं निर्णयपरक और नीतियों के निर्माण के विषय में बहुपयोगी दृष्टि प्रदान की है। इसका उद्देश्य अध्ययन को वृहद करना एवं अधिक अर्थपूर्ण सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में रखना है। यह दावा किया जाता है कि इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को अधिक नियमबद्ध एवं अवधारणात्मक साधन प्रदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के परम्परावादी समझ की जड़ राजनीति विज्ञान में है, जिसके पूरक इतिहास, अर्थशास्त्र एवं विधि शास्त्र हैं। दूसरे सामाजिक विज्ञानों जैसे समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, मानव विज्ञान का योगदान भी सराहनीय है।

नये सिद्धान्त चाहे नियमबद्ध, अनुभवपरक, सामान्य एवं विश्लेषणात्मक हो, लेकिन यह इस बात को प्रकट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंध एक विषय के रूप में उभर रहा है। कार्ल डायस के अनुसार यह ऐसा समय है, जिसमें विज्ञान अपने विकास के लिए दार्शनिक स्तर पर जाता है जहां सिद्धान्तों और सामान्य अवधारणाओं पर जोर दिया जाता है और आधारभूत मान्यताओं एवं तरीकों पर जिनके द्वारा ज्ञान संचित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन दार्शनिक स्तर पर इस तरह बढ़ रहा है मानों लगता है कि सही अर्थों में यह एक विषय का रूप ले रहा हो यद्यपि सामान्य सिद्धान्त विकसित करने के सभी प्रयास उचित उद्देश्यों की कमी के कारण असफल रहे तथापि इनके चलते अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन एवं आचरण में एक प्रत्यक्ष कमी को पूरा करने में सहायता मिली। वह कमी भी एक सैद्धान्तिक आधार की विशिष्ट एवं विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों में कहीं ज्यादा उन्नति हुई। इसके मुख्य उदाहरण हैं—निकाय, खेल सिद्धांत, निर्णयपरक एवं संचार सिद्धान्त आदि।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे छोड़ी गई जगह का इस्तेमाल करें।

2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के वैज्ञानिक उपागम की क्या विशेषताएं हैं?

.....

.....

.....

.....

2) क्या अन्तर्राष्ट्रीय संबंध को अध्ययन के क्षेत्र में एक स्वायत्त या स्वतंत्र विषय के रूप में माना जा सकता है?

.....

.....

.....

.....

2.4 निकाय सिद्धांत

निकाय का तात्पर्य उन वस्तुओं के समूह से है, जो परस्पर क्रिया के जरिए एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इनका अस्तित्व पर्यावरण में माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की साधारण अवधारणा बहुत से विद्वानों के संकलन में देखी जा सकती है। इसके मुख्य उदाहरण कार्ल डायस और रेमक ऐरोन हैं। ऐरोन के अनुसार पहले कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का इस पृथ्वी पर कोई अस्तित्व नहीं था किन्तु पहली बार युद्धोत्तर काल में मानवता एक ही इतिहास के साथ रह रही है जिससे एक प्रकार की विश्व व्यवस्था का उदय हुआ। इसमें अत्यधिक विभिन्नताएं हैं। शायद इसे पूर्ण तरीके से विकास नहीं कह सकते। लेकिन इसने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विद्वानों को हिचकिचाहट में नहीं डाला। उन्हें इसकी पूरी परिभाषा स्टेन्ले हौफमैन के कार्यों में मिली। इनके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय निकाय विश्व राजनीति की मौलिक इकाईयों के बीच पारस्परिक संबंधों की एक विशिष्टता है जो इन इकाईयों द्वारा पालन किये जाने वाले लक्ष्यों द्वारा और उनके बीच कार्यों का संपादन तथा साथ ही इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा उन कार्यों को करने के लिए जो साधन अपनाए गये इनके द्वारा जाना जा सकता है।"

निकाय सिद्धान्त के माने हुए विशेषज्ञों में मार्टन का प्लान ने अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के छः प्रतिमानों पर विचार किया है।

1) शक्ति संतुलन निकाय 2) शिथिल द्विध्रुवीय निकाय 3) दृढ़ द्विध्रुवीय निकाय
4) सार्वत्रिक कार्यकर्त्ता निकाय 5) सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय निकाय
6) इकाई वीतो निकाय

1) शक्ति संतुलन निकाय: यह निकाय पश्चिमी जगत में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में मौजूद थी। यह राजनीतिक शक्तियों के बीच सन्तुलन को प्रदर्शित करता है, जोकि विशेष समय में विशेष राष्ट्र के पक्ष में होता है।

2) शिथिल द्विध्रुवीय निकाय: शक्ति संतुलन निकाय शिथिल द्विध्रुवीय निकाय में परिवर्तित हो सकता है। इस निकाय में प्रत्येक गुट का एक मुख्य कर्त्ता होता है। अधिराष्ट्रीय कर्त्ता तथा राष्ट्रीय कर्त्ता भी शिथिल द्विध्रुवीय निकाय में हिस्सा लेते हैं। ये अधिराष्ट्रीय कर्त्ता नाटो और वारसा कम्युनिस्ट गुट की तरह गुट कर्त्ताओं के एक उपवर्ग में और संयुक्त राष्ट्र जैसे सार्वत्रिक कर्त्ताओं में बंटे रहते हैं। शिथिल द्विध्रुवीय निकाय दो प्रमुख गुट कर्त्ताओं (सोवियत संघ और अमेरिका), गैर-सदस्य कर्त्ताओं (तटस्थ राज्य) तथा सार्वत्रिक कर्त्ता (संयुक्त राष्ट्र) की उपस्थिति से पहचाना जाता है। ये सभी कर्त्ता निकाय के अन्दर अपनी अनोखी और अलग भूमिका निभाते हैं। इस रूप में निकाय सब कर्त्ताओं के लिए एक समान नहीं होते।

3) वृढ़ द्विध्रुवीय निकाय: इस व्यवस्था में गुट निरपेक्ष राज्यों या गैर-सदस्य कर्त्ता लुप्त हो जाएंगे या उनकी महत्ता कम हो जाएगी।

4) सार्वत्रिक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय: अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का एक संघटित निकाय होगा।

5) सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय निकाय: यह दूसरा आदर्शवादी नमूना है। इसमें एक सार्वत्रिक कार्यवर्ग प्रायः सारे संसार को समेट लेता है। केवल एक ही राष्ट्र सार्वत्रिक कर्त्ता के रूप में बाहर रह जाता है।

6) इकाई वीतो निकाय: इसका तात्पर्य यह है कि सभी राज्यों के पास दूसरे को नष्ट करने की समान योग्यता होगी। निकाय सिद्धान्त के बहस में वर्गीकरण मुख्य बिन्दु रहा है। यह भी आलोचना से नहीं बंधा है।

निकाय की अवधारणा सैद्धान्तिक और व्यवहारिक विश्लेषण में उपयोगी आधार प्रदान करती है। इसमें सामान्य निकाय सिद्धान्त है जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के शोध में और सिद्धान्तों की तरह दूसरे विषयों से लिया गया है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की अवधारणा उपनिकाय एवं आश्रित राज्य निकाय।

अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का एक विद्यार्थी जेम्स रोजनों ने सुझाव दिया है कि "व्यवस्थापित शोध का तात्पर्य स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय निकायों से ही नहीं बल्कि क्षेत्रीय निकायों से भी है।"

दूसरे विद्वान ने अन्तर्राष्ट्रीय उपनिकायों एवं अन्तर्राष्ट्रीय राज्य निकायों के विचार को भौगोलिक क्षेत्रों से जोड़ा है। माइकेल हॉस ने बीस अन्तर्राष्ट्रीय उपनिकायों को पहचाना और उस पर बहस चलायी जिसमें दस यूरोप के छः एशिया के अन्दर हैं। रिचर्ड रोजेन क्रेन्स ने अपना एक पूरा संग्रह ही नौ पश्चिमी उपनिकायों को समर्पित किया है। माइकल बियर दक्षिण-पूर्व एशिया को "आश्रित राज्य निकाय" मानते हैं। लिओनार्ड बाइन्डर मध्य पूर्व को आश्रित राज्य निकाय मानते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) अपने उत्तर के लिए नीचे छोड़े गई जगह का प्रयोग करें

2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1. निकाय क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 खेल-सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को बहुधा एक "खेल" समझा जाता है, जिसमें स्थापित नियमों को बदला और कभी-कभी उसका उल्लंघन भी किया जाता है। "खेल सिद्धांत" विश्व राजनीति के अध्ययन में एक आदर्श प्रस्तुत करती है। इसके कार्य कर्त्ताओं के कार्यों के

बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और ये चीजें विद्वानों को इस बात को सोचने के लिए मजबूर करती हैं कि "खेल सिद्धांत" का झुकाव संभावनाओं की तरफ होता है, तथा यह दूसरे नज़रियों से अधिक उपयोगी साबित हो सकता है।

खेल सिद्धांत जॉन वॉन न्यूयॅन और ऑस्कर मार्गेन्स्टर्न के कार्यों में विकसित हुई। खेल के सिद्धांत और आर्थिक व्यवहार द्वारा "संभावनाओं की गणित" और "निर्णय परक क्रमों" को अपूर्ण रचना की दशा में परिमार्जित करने की कोशिश की गयी। अर्थशास्त्रियों ने इसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सबसे पहले ग्रहण किया। वर्तमान काल में इसे युक्त परिवर्तनों के साथ बहुत सारे क्षेत्रों में लागू किया गया।

साधारण शब्दों में खेल सिद्धांत शून्य-योत्र-खेल के मॉडल को प्रस्तुत करता है जो संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता की दशा को दर्शाता है। और जिसमें एक की हानि उसी अनुपात में दूसरे के लिए लाभ है। यह तथ्य ही इनके नाम की व्याख्या करता है यानी, कुल मिलाकर लाभ और हानि का जोड़ शून्य है। परन्तु, अंतर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन में इससे भी ज्यादा उपयोगी मॉडल है।

बहुदलीय शून्य खेल

जावोडनी के अनुसार हमें जानना चाहिए कि आज के अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों को वैसी दशा में ही सुलझाया जा सकता है, जिसमें कोई दल न हारे और कभी-कभी दोनों दल जीत सकें।

अंतर्राष्ट्रीय संबंध में यह सैद्धांतिक और व्यवहारिक विश्लेषण के आधार के रूप में प्रयोग होता है। लेकिन मार्टन काप्लान के अनुसार "यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कुछ समस्याओं में ही लागू होती है।" कार्ल डायट्स के शब्दों में, "खेल सिद्धांत यह मानकर चलता है, कि बहुत से खेलों का एक अन्त होता है, लेकिन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक न समाप्त होने वाला ऐसा खेल है, जिसमें कोई भी महान शक्ति न ना मैदान छोड़कर भाग नहीं सकता।"

बोध प्रश्न 4
टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) खेल सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) शून्य-योग खेल से क्या तात्पर्य है? क्या यह अंतर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के लिए उपयोगी है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2.6 निर्णय-परक सिद्धांत

यह समझ रिचर्ड स्नाइडर, एच. डब्ल्यू क्रक और बर्टन स्पेन के नामों के साथ जुड़ी हुई

है, जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंध में कर्त्ताओं के व्यवहार की व्याख्या को एक सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। निर्णयकरण विश्लेषण के आधार पर इन्होंने यह जानने का प्रयत्न किया कि कर्त्ता क्यों और कैसे व्यवहार करते हैं।

निर्णय करण एक प्रक्रिया या कार्यों का क्रम है, जो समस्याओं को पहचानता है, सूचना की खोज करता है, विकल्प निकालता है और कर्त्ताओं के उद्देश्य को अधिक बढ़ाता या संतुष्ट करता है। निर्णय-परक समझ का उद्देश्य एक अवधारणात्मक रूप-रेखा तैयार करना है, जो निर्णयकर्त्ता द्वारा बतायी गयी दशा की पुनर्स्थापना में सहायता कर सके। दूसरे शब्दों में, विदेश नीति संबंधी निर्णय जिस परिवेश में किये जाते हैं, उस परिवेश का निर्माण कार्यकर्त्ता स्वयं करता है। इस परिवेश के निर्माण में आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के तत्त्व शामिल होते हैं। आंतरिक परिवेश में अंदरूनी राजनीति, जनमत, व्यक्तित्व संगठन आदि आते हैं। बाह्य परिवेश में भी किसी समय-विशेष पर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में, कुछ स्थिति में मौजूद सारे प्रासंगिक कारण शामिल हैं। कुछ विद्वान पर्यावरण तत्वों पर जोर देते हैं, तो कुछ व्यक्तित्व पर। कम से कम पांच ऐसे तत्व हैं, जो विदेश नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं। ये तत्व हैं, जनमत हित समूह, जन संचार, कार्यपालिका शाखा में विशिष्ट अभिकर्त्ता और व्यवस्थापिका की विशिष्ट समितियां आदि।

इस समझ की अपनी कुछ कमजोरियों की वजह से काफी आलोचना हुई है। यह इस बात को बताने में पूरी तरह से असफल रहा है कि एक विशेष तत्व सचमुच कैसे उपयोगी है और साथ ही कैसे मूल्यपरक नहीं है। यह निर्णय के "सही गलत" में विश्वास नहीं करता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि यह अंतर्राष्ट्रीय विकास के वस्तुनिष्ठ प्रकृति को पूरी तरह से नकारता है और न ही यह शक्ति राजनीति के नमूने की व्याख्या के लिए कोई मापदण्ड ही निर्धारित करता है और न कोई अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार का कोई नियम बताता है। फिर भी निर्णयपरक ढांचा इस बात को दर्शाने का प्रयास करता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक राष्ट्र कैसे और क्यों कार्य करता है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे छोड़ी गई जगह का इस्तेमाल करें।

2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) निर्णयपरक उपागम की क्या विशेषताएं हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.7 संचार सिद्धांत

बीसवीं सदी में संचार साधनों की सफलता ने मानव इतिहास की उन्नति में वृद्धि की है। मानव व्यवहार एवं विश्व मामलों में इसका प्रभाव एटम बम से भी अधिक रहा है। चार दशकों से भी कम समय में आधुनिक संचार प्रौद्योगिकी ने विकसित समाज के जीवन में बहुत परिवर्तन लाया है और विकासशील देशों को सदियों पुरानी परम्पराओं और रीतियों को पीछे छोड़ दिया है, इन दोनों के बीच आपसी संबंधों में भी ठोस परिवर्तन हुआ है। इन बढ़ते हुए परिवर्तनों से यह निश्चित जान पड़ता है, कि हम अभी सिर्फ विद्युत द्वारा हुए परिवर्तन के संसार की दहलीज पर ही खड़े हैं–एक ऐसा संसार जिसमें संचार के बढ़ते हुए विकास हमारी उन्नति के अवसर और समस्याओं को बढ़ाएंगे। संचार सिद्धांत संचार साधनों के क्रांतिकारी पाठों का फायदा उठाना और लागू करना चाहता है, जिसने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मानव समाज की प्रकृति को

पूर्ण-रूपेण बदल दिया है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंध में मानव व्यवहार के दूसरे पहलुओं की तरह संचार-साधनों के आधुनिकीकरण का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनों पड़ा। यह सूचना और विचार, प्रवीणता और तकनीक के प्रसार और साथ ही राष्ट्रों के बीच संबंध स्थापित करने के लिए एक उपकरण और साधन है। शिक्षा और प्रचार की उन्नति, राष्ट्रीय उद्देश्य एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक विकास के लिए ये सिद्धांत उपयोगी हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश ये राजनीतिक संगठन एवं नियंत्रण को भी बढ़ावा देते हैं। राजनीतिक भर्ती, संग्रहण एवं समाजीकरण करने वाली विभिन्न संस्थाएं जैसे राजनीतिक दल का संचार सिद्धांत के द्वारा विश्लेषण किया जा सकता है।

चार्ल्स ए. मैक्सलैन्ड के अनुसार संचार के दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय संबंध के तीन उचित क्षेत्र हैं: मिले-जुले सांस्कृतिक संबंध, जन-विकल्प एवं व्यवहार और राज्य सत्ता के क्षेत्र में निर्णय प्रक्रियाएं। संचार के साधनों का राष्ट्र के अन्दर और बाहर प्रवाह आंतरिक गतिशीलता एवं पर-राष्ट्र संबंधों के अध्ययन पर प्रकाश डालती है।

संचार साधनों के विद्वानों ने वस्तु व्यक्ति, प्रादेशिक सीमा पार के सन्देशों की उपेक्षा, व्यवहार के संरचनात्मक पहलुओं पर बहुत कम ध्यान दिया है। डाक-प्रसार, वायु यातायात, व्यापार, राज्यों के नक्शे बनाकर और राज्यों के अंतरसंबंधों के विभिन्न रूपों की सूची बनाकर संचार का निदर्शन एवं समूह बना सकते हैं। संक्षेप में, संचार का मतलब सिद्धांत एवं व्यवहार के चाहे गये मूल्यों और साध्यों के संदर्भ में समझना चाहिए। संचार उस समय की प्रचलित प्रौद्योगिकी के अनुसार समझना चाहिए।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गई जगह का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) संचार सिद्धांत ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को कैसे प्रभावित किया है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.8 सारांश

बहुत से विद्वानों का कहना है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के उपागम में मध्य मार्ग को ही अपनाना उचित होगा। विभिन्न उपागमों की ताकत से अकेले उपागम की उपेक्षा, विभिन्न प्रकार की संस्थाओं से संतोषपूर्ण ढंग से निपटाया जा सकता है।

2.9 मुख्य शब्द

व्यवहारवादी—"व्यवहार से संबंधित, क्लासिकी-परम्परागत" इसकी जड़ इतिहास, अनुभवपरक, पर्यवेक्षण प्रयोग पर आधारित होती है, इसका सत्यापन स्वतन्त्र रूप से होता है।

खेल (सिद्धांत)—प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष की ऐसी दशा, जहां निर्णय अनिश्चित होता है। और प्रतिद्वन्द्वी अपने लाभ की वृद्धि तथा हानि को कम करने के लिए चतुरता से कार्य करता है।

आदर्शवादी—इनका विश्वास है कि मानव व्यवहार में मूल्यों एवं आदर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

अन्तर-वैषयिक—जहां विभिन्न एवं पूरक विषयों से पद्धति और दृष्टि ग्रहण की जाती है।

सिद्धांत-परक—व्यवहारों का स्थित मानक जिसका झुकाव नीतियों की तरफ होता है।

यथार्थवादी—इनका विश्वास है कि हर व्यक्ति अपने हित को स्वार्थपूर्ण ढंग से पूरा करता है। जंगल के कानून के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संबंध में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है।

वैज्ञानिक—जो वस्तुनिष्ठ और अनुभव घटनाओं के परक पद्धतियों पर आधारित होता है।

निकाय—इकाईयों का एक ऐसा समूह, जिसकी कुछ विशेषताएं होती हैं, और जो विशिष्ट ढंग से एक दूसरे से संबंध स्थापित करती है।

2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नोर, के. एवं रोमेनो, जो.एन., 1969, "**अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विवादात्मक उपागम**", प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस

महेन्द्र कुमार, 1976, "**अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पहलू**" विश्व बाल अग्रवाल सन्स, आगरा।

मॉरमेन्थो, एच.जे. 1960 "**राष्ट्रों के बीच संबंध: शक्ति एवं शांति के लिए संघर्ष**" तृतीय संस्करण

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अंतर्राष्ट्रीय संबंध के दो मुख्य उपागम हैं—
   1) परम्परागत क्लासिकी और वैज्ञानिक।
   2) क्लासिकी उपागम और दो मुख्य विचार धाराएं हैं—यथार्थवादी अध्ययन पद्धति और आदर्शवादी दृष्टिकोण।

बोध प्रश्न 2

1) वैज्ञानिक पद्धति अनुभवपरक एवं वस्तुनिष्ठ पद्धति पर जोर देती है। यह नियम परक नहीं है।

2) यद्यपि कुछ विद्वानों का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की स्वायत्तता पर विवाद है तथापि वर्तमान वर्षों में यह अध्ययन के एक विशिष्ट क्षेत्र के रूप में उभरा है।

बोध प्रश्न 3

1) निकाय इकाईयों का एक ऐसा समूह है, जिसकी समान विशेषताएं हैं, समान उद्देश्य हैं, लेकिन इनका परिवेश अलग है।

2) मार्टन कैप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय संबंध में छः निकायों को बताया है।

बोध प्रश्न 4

1) अंतर्राष्ट्रीय संबंध के खेल-सिद्धांत में गणितीय पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें प्रतिस्पर्धा, संघर्षपूर्ण स्थितियों के परिणाम को जांचा जा सके। शून्य-योग खेल सिद्धांत का तात्पर्य उस स्थिति से है, जहां एक वर्ग की पूर्ण हानि दूसरे का पूर्ण लाभ है। योग शून्य है।

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)

राजनीति विज्ञान में ऐच्छिक पाठ्यक्रम

खंड

2

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन

इकाई 3

साम्राज्यवाद 5

इकाई 4

प्रथम विश्वयुद्ध, अक्तूबर की क्रांति एवं शान्ति समझौते 16

विशेषज्ञ समिति

प्रो. इकबाल नारायण (अध्यक्ष)
उप-कुलपति
नेहू (NEHU)
शिलांग

प्रो. के. मधुसूदन रेड्डी
राजनीति शास्त्र विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. मनोरंजन माहन्ती
राजनीति शास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए.पी. राणा
राजनीति शास्त्र विभाग
एम.एस. यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा
बड़ौदा

प्रो. रशीदुदीन खान
एकेडेमी ऑफ थर्ड वर्ल्ड स्टडीज
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नई दिल्ली

प्रो. आर.एस. मोरखंडीकर (कन्वेनर)
भूतपूर्व निदेशक
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. सोभन लाल दत्ता गुप्ता
रीडर, राजनीति शास्त्र
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

पाठ्यक्रम निर्माण दल समिति

डॉ. अनुराधा चिनॉय
एसोशिएट प्रोफेसर
अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. अजय पटनायक
सहायक प्रोफेसर
अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. पी. नायक (निदेशक)
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. दर्वेश गोपाल (समन्वयकता)
राजनीति शास्त्र विभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री अनुराग जोशी
प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एस. विजय शेखर रेड्डी
प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. के. मैथ्यूज
राजनीति शास्त्र विभाग
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विषय संपादक
प्रो. एच.जी. पन्त
राजनीति शास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

भाषा संपादक
प्रो. जी.एस. राव
सामाजिक विज्ञान संस्थान
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

अनुवाद

शशि भूषण सिंह
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जगपाल सिंह (कंसल्टेन्ट)
राजनीति शास्त्र विभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1991

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991

ISBN-81-7091-749-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 2 का परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए देशों के बीच सम्बन्धों का इतिहास जानना भी आवश्यक है। किसी राज्य की आंतरिक घटनाओं का भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ सकता है। इस खंड की रचना इसी तथ्य को ध्यान में रख कर की गई है।

इकाई 3 साम्राज्यवाद के सिद्धांत एवं संकल्पनाओं की व्याख्या करती है। साम्राज्यवाद का अभिप्राय दो या अधिक देशों के बीच एक प्रकार के सम्बन्धों से है। साम्राज्यवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विशेषकर 19वीं शताब्दी के पश्चात् प्रभावित किया और इसने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए साम्राज्यवाद की घटना और उसके प्रकारों को समझना जरूरी है।

इकाई 4 प्रथम विश्वयुद्ध से संबद्ध है। 1917 की बोलशेविक क्रांति एवं 1919-20 के शांति समझौतों का यूरोपीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस में चल रही क्रान्तिकारी खलबली का परिणाम 1917 का अक्टूबर क्रान्ति निकला, जिससे विश्व के प्रथम समाजवादी देश-सोवियत रूस की स्थापना हुई। इस नयी सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। 1919 में वर्साय में एक शान्ति समझौता हुआ, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक नया अध्याय खुला।

Notes

इकाई 3 साम्राज्यवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 परिचय
3.2 साम्राज्यवाद के विकास की पृष्ठभूमि
  3.2.1 पूँजीवाद की पद्धति एवं औपनिवेशिक विस्तार
  3.2.2 उपनिवेशवाद की प्रणाली
  3.2.3 उपनिवेशवाद की कुछ विशेषताएँ
  3.2.4 उपनिवेशवाद और व्यापार का विस्तार
3.3 साम्राज्यवाद के सिद्धांत
  3.3.1 उपनिवेशवाद को उचित जताने वाले सिद्धांत
  3.3.2 उपनिवेशवाद पर मार्क्स के विचार
  3.3.3 साम्राज्यवाद पर अध्ययन
  3.3.4 उपनिवेशी शासन
3.4 उपनिवेशवाद की समस्याएँ एवं युद्ध
  3.4.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद : नवउपनिवेशवाद
  3.4.2 नवउपनिवेशवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त
3.5 सारांश
3.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

यह इकाई साम्राज्यवाद की संकल्पना एवं विषय-वस्तु से संबद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सिद्धांत एवं इतिहास इस संकल्पना से जुड़ा हुआ है। साम्राज्यवाद का ज्ञान केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए ही नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं और वर्तमान सामाजिक जीवन पर उनके प्रभाव को जानने के लिए भी जरूरी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- साम्राज्यवाद की संकल्पना को परिभाषित कर सकेंगे और यह कैसे काम करता है, यह समझ सकेंगे।
- ऐतिहासिक तौर पर साम्राज्यवाद के विकास को समझ सकेंगे।
- साम्राज्यवाद के विभिन्न सिद्धांतों को जान पाएंगे।
- नव-उपनिवेशवाद से परिचित हो सकेंगे।
- साम्राज्यवाद को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से जोड़ सकेंगे।

3.1 परिचय

साम्राज्यवाद शब्द एक देश का दूसरे देश के ऊपर प्रभुत्व को सूचित करता है। साम्राज्यवाद एक ऐसी घटना है, जिसका विकास पूँजीवाद द्वारा हुआ और जिसने राज्य-राष्ट्रों को दुनिया के दूसरे क्षेत्रों के साथ सम्बन्धों को प्रभावित किया। साम्राज्यवाद अपने समय की राजनीतिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं का एक परिणाम है। साम्राज्यवाद न केवल अपने समय की राजनीति एवं अर्थव्यवस्था से संबद्ध है, बल्कि उनके उन परिणामों से भी सम्बद्ध है जिन्होंने प्रथम विश्व-युद्ध को जन्म दिया। इस प्रकार, साम्राज्यवाद राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की एक ऐसी विशेषता बन गई, जिसका विश्व के विकास एवं मानव-जाति के इतिहास पर काफी प्रभाव पड़ा। अपने आरम्भिक चरणों में साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता था।

3.2 साम्राज्यवाद के विकास की पृष्ठभूमि

इतिहास यह दर्शाता है कि विश्व के विकास के कई चरण थे। हम जानते हैं कि मनुष्य का इतिहास समाज एवं सामाजिक संरचनाओं के विकास से संबद्ध है।

पूँजीवाद एक सामाजिक गठन है, जो सामान्यतया सामन्तवाद से विकसित हुआ। 16वीं-17वीं शताब्दी के पहले सामन्तवाद की सामाजिक, आर्थिक पद्धति को सामन्तवाद के नाम से जाना जाता है। यूरोप में सामन्तवाद साधारणत: मध्ययुगी राज्यों से जो अभिजात तंत्र पर आधारित थी, राजाओं और कुलीनों द्वारा इस अभिजात तंत्र में आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को संचालित किया जाता था। सामन्तवादी राज्यों के कार्यों में चर्च की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी। सामन्तवाद का एक पद्धति के रूप में 13वीं शताब्दी के पश्चात् क्षय होने लगा। इसके क्षय की शुरुआत सर्वप्रथम इंग्लैंड में और बाद में अन्य यूरोपीय देशों में हुई। शहरों का विकास, औद्योगिक क्रान्ति, सामन्तों के पारस्परिक झगड़े आदि इसके पतन के कारण बने। सामन्तवाद के पतन के बाद यूरोप में सामाजिक जीवन बदलने लगा। सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर एक नई व्यवस्था का जन्म हुआ। इस नई व्यवस्था में नियंत्रण अभिजात वर्ग के अधीन न होकर व्यापारियों एवं सौदागरों के हाथों आ गया जिनका प्रभुत्व आर्थिक व्यवस्था पर बढ़ता चला गया। नये सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। सामन्तवाद से पूँजीवाद में यह परिवर्तन 16वीं और 19वीं शताब्दियों के बीच हुआ। हरेक सामन्तवादी व्यवस्था के रूपान्तरण की प्रत्येक देश की कुछ विशिष्टताएँ थीं, जो उसकी विशेष परिस्थितियों से संबद्ध थीं। एक देश का सामन्ती दूसरे देश के सामन्ती से भिन्न था। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में पूँजीवाद का विकास अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा शीघ्रता से हुआ। बाद में फ्रांस, जर्मनी एवं रूस में यह परिवर्तन हुए। इस प्रकार का सामन्तवाद से पूँजीवाद में प्रत्येक परिवर्तन एक अद्‌भूत अनुभव था।

3.2.1 पूँजीवाद की पद्धति एवं औपनिवेशिक विस्तार

पूँजीवाद की परिभाषा एक ऐसी पद्धति के रूप में दी जा सकती है, जिसमें वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बाजार में विनिमय के लिए किया जाता है, ताकि मुनाफा हो सके। पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजी का रूप सामन्तवादी व्यवस्था से जिसमें वाणिज्य पूँजी का प्रभुत्व होता था भिन्न होता है। पूँजीवाद के अंतर्गत उत्पादी पूँजी का अथवा उस पूँजी का जो प्रभुत्व होता है, उत्पादन में लगाई गयी हो। यह पूँजी न केवल माल को खरीदने में समर्थ होती है, बल्कि यह श्रम-शक्ति को भी खरीदती है। यह श्रम-शक्ति वह शक्ति है जो मजदूर पैसों के बदले बेचता है, ताकि वह जिन्दा रह सके। उस श्रम-शक्ति को उत्पादन प्रक्रिया में नए मालों का उत्पादन कर मुनाफा कमाने के लिए संगठित किया जाता है। इस प्रकार, वाणिज्यकारों एवं वित्तदाताओं (बैंकों, सूदखोरों आदि) की पूँजी मालों के उत्पादन में लगाई जाती है। इस वाणिज्य/वित्त-पूँजी का कार्य उत्पादी पूँजी की जरूरतों द्वारा निर्धारित होता है उसकी आवश्यकताओं पर एवं इसी पर आधारित होता है। इस तरह, श्रम-शक्ति एक माल की तरह हो जाती है, जिसे बाजारी कीमतों पर खरीदा या बेचा जा सकता है।

लोगों के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में तथा सामाजिक प्रणाली में पूँजीवाद के विकास का उतना ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा जितना उनके आर्थिक जीवन में। पूँजीवाद ने दो मुख्य वर्गों—पूँजीपति वर्ग (बुर्जुआ) एवं श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। इसके अलावा कई अन्य छोटे-छोटे वर्गों का भी उदय हुआ।

इसने एक नयी राजनीतिक प्रणाली को भी जन्म दिया, जिसमें भूमिगत अभिजात वर्ग के अलावा अन्य वर्ग भी इंग्लैंड में राज्य-शक्ति के भागीदार बने। इसी प्रकार इसके द्वारा फ्रांस के भूमिगत अभिजात वर्ग का पतन हुआ और फ्रांस के गणतांत्रिक स्वरूप का उदय हुआ। इस प्रकार पूँजीवाद के साथ आर्थिक क्षेत्र में निजी उद्यम युग की शुरुआत हुई और राजनीतिक क्षेत्र में जनता की राज्य-शक्ति में साझेदारी बढ़ी।

3.2.2 उपनिवेशवाद की प्रणाली

पूँजीवाद के लगातार विस्तार होने की आवश्यकता उसके विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण बनी। जैसे-जैसे सामन्तवाद का पतन होता गया एवं पूँजीवाद की ओर इसका रूपान्तरण होने लगा वैसे-वैसे नये राष्ट्र राजस्व के नए स्रोतों को ढूँढने लगे। राजस्व एवं मुनाफे की इस खोज ने दूसरे समाजों से दौलत की खोज एवं उसे हड़पने की प्रक्रिया को जन्म दिया।

इससे विश्व के उन नए हिस्सों में राज्य संयोजित खोज शुरू हो गई, जिनसे अब तक यूरोपीय साम्राज्य अनभिज्ञ था। मार्को पोलो एवं क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा भारत की खोज, प्रशांत द्वीप समूहों की खोज, अमेरिका की खोज, हिन्द महासागर एवं चीन सागर में प्रवेश, जेम्स द्वारा न्यूजीलैंड एवं आस्ट्रेलिया पहुँचने के लिए खोजे गये नये समुद्री रास्ते इस प्रकार के उदाहरण हैं। विश्व के चारों तरफ रास्तों की खोज के कारण वस्तुओं के विनिमय का अनोखा दौर शुरू हुआ। इन "नयी भूमियों" से मसाले, सिल्क एवं बहुमूल्य धातु आदि के रूप में अथाह धन यूरोपीय बाजारों में पहुँचने लगा। धन के इस प्रवाह के बहुत प्रणाम निकले : यूरोप के जीवन-स्तर में विलासिता आई, पूँजीवाद के पनपने की प्रवृत्ति को बाहर से (नए क्षेत्रों) को प्रेरणा मिली। एशिया, अफ्रीका एवं अमेरिका के पूर्व-पूँजीवादी या कृषिक समाजों पर विजय पाने तथा उनके उपनिवेशीकरण और लूटने की प्रवृत्ति भी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। उद्यमियों, राज्यों एवं कम्पनियों के लिए उपनिवेशों की खोज एवं उन पर प्रभुत्व एक महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया। इस प्रकार व्यापारियों एवं अन्वेशकों के नेतृत्व में 16वीं शताब्दी में यूरोपीय राज्यों का प्रसार हुआ। इस प्रक्रिया में कई उद्यमी भी सक्रिय थे, जो "पूर्व" के देशों की वस्तुओं को लूट कर बाजारों में बेचते थे। कई व्यापारियों ने अपनी सुरक्षा एवं नए उपनिवेशों के शोषण हेतु, अपनी निजी सेनाओं का गठन कर लिया। उदाहरण के लिए, पुर्तगाल के व्यापारियों ने बिना अवरोध के समुद्र में जल यात्रा हेतु अपनी "सुरक्षा सेवाओं" तक को दूसरों को बेच दिया। इन सबसे अन्ततोगत्वा लैटिन अमेरिका, कैरिबीयन महाद्वीप, अफ्रीका एवं एशिया की भूमियों पर उपनिवेशिक शासन की स्थापना हुई।

3.2.3 उपनिवेशवाद की कुछ विशेषताएँ

उपनिवेशवाद नव-पूँजीवाद की एक विशिष्टता थी, जो काफी तेजी से विकसित हो रही थी। उपनिवेशों के शोषण से जमा हो रही दौलत सामन्तवादी-साम्राज्यवादी तरीकों से जैसे, मुगल साम्राज्य, औटोमन आदि के विजयों से (एकत्र की गई दौलत से) काफी भिन्न थी, क्योंकि यह दौलत पूँजीवाद के उत्पादी सम्बन्धों की प्रोन्नति के लिए खर्च की जा रही थी। उपनिवेशवाद, उपनिवेश एवं उपनिवेशिक शक्तियों के बीच एक विशेष सम्बन्ध का द्योतक था। इसका अर्थ उपनिवेशिक शक्तियों द्वारा उपनिवेशों पर आर्थिक नियंत्रण के सम्बन्ध से उपनिवेश और जिन देशों ने इन्हें उपनिवेश बनाया, विकास के भिन्न-भिन्न चरणों में थे। उदाहरण के लिए स्पेन और पुर्तगाल लातिनी अमेरिका को उपनिवेश बनाते समय सामन्तवादी समाज थे जबकि, ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी 19वीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका का उपनिवेशीकरण करते समय औद्योगिक-पूँजीवादी राज्य थे।

3.2.4 उपनिवेशवाद और व्यापार का विस्तार

17वीं शताब्दी के दौरान लूट-खसोट एवं व्यापार के अलावा उपनिवेशिक विस्तार का एक नया तरीका उभरकर सामने आया। यह तरीका था, "आवास एवं व्यापार"। उदाहरण के लिए, उत्तरी अमेरिका में अंग्रेजी आवास, कैरिबीयन एवं दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजी एवं डच आवास। साथ ही साथ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक पद्धति विकसित हुई, जिसने कई राज्यों एवं उपनिवेशों को आपस में जोड़ दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी जैसी बड़ी कम्पनियाँ "आवास और व्यापार" में संलग्न थीं।

व्यापार की इस प्रक्रिया में यूरोप में निर्मित वस्तुओं के लिए उपनिवेशों में एक बड़े बाजार का विकास किया गया। उपनिवेशों में वस्तुओं के क्रय-विक्रय से जमा हुए राजस्व का उपयोग दूसरे उपनिवेशों से वस्तुओं और गुलामों को खरीदने में एवं उन्हें नए "आवासों" में भेजने के लिए किया गया। इन सब से जमा हुए धन को अन्ततः उपनिवेशिक देशों में लाया जाता था। उदाहरणार्थ, यूरोपीय वस्तुओं को भारतीय बाजारों में बेचा जाता था। अंग्रेजों ने चीन के साथ सम्बन्धों एवं व्यापार को भी बढ़ाया तथा इसके लाभांश को भारत के अफीम की खेती में लगाया गया। चीन के बाजारों में अफीम को जबरदस्ती नियमबद्ध तरीके से बेचा जाता था। इससे हुए लाभ का उपयोग अफ्रीका से गुलामों को खरीदने में और अमेरिका के बागान क्रमियों के लिए किया जाने लगा। डचों, अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों ने इन सौदों में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की और गुलाम-व्यापार में मूल्य निर्धारण का काम किया। इस व्यापार से संलग्न व्यापारियों ने असीम मुनाफा कमाया। उदाहरणार्थ, 18वीं शताब्दी के दौरान यूरोपीय मुनाफों का 25 करोड़ डॉलर फ्रांस द्वारा गुलाम-व्यापार से, 27

करोड़ डॉलर अंग्रेजी गुलाम-व्यापार से एवं 20 से 30 करोड़ डॉलर गुलामों द्वारा बागानों में उत्पादन (यथा, चीनी बागान), से आया।

इस काल में यूरोपीय शक्तियों के बीच उपनिवेशों की स्थापना एवं उन पर अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के लिए कई युद्ध हुए। उदाहरण के लिए, भारत में मुगल साम्राज्य के पतन के दौरान अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों के बीच युद्ध हुए। इसी प्रकार मसाला द्वीप समूहों–जिन्हें अब इण्डोनेशिया, मलेशिया एवं फिलिपीन के नाम से जाना जाता है–में पुर्तगालियों एवं डचों के बीच औपनिवेशिक क्षेत्रों के लिए युद्ध हुए।

इन उपनिवेशों के स्थानीय लोगों द्वारा उपनिवेशवादियों के प्रति विरोध प्रारम्भ हो गया। भारतीय शासकों द्वारा लड़ा गया 1857 का स्वतंत्रता संग्राम, जिसमें किसानों एवं सिपाहियों ने भी ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध लड़ाई लड़ी इस प्रकार का एक उदाहरण है। उपनिवेशवादियों के आधुनिक सैन्य-बल एवं संगठन के कारण स्थानीय लोगों की ऐसी लड़ाइयाँ असफल रहीं और इसके कारण उपनिवेशों पर और अधिक नियमबद्ध नियंत्रण लागू किया गया। कम्पनी के शासन ने उपनिवेशिक राज्यों के उपनिवेशों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण के लिए रास्ता बनाया। इसका परिणाम यूरोपीय शक्तियों का सीधा हस्तक्षेप एवं उपनिवेशी राज्यों का निर्माण हुआ। इस प्रकार, 1858 में भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन का स्थान ब्रिटिश सम्राट ने ले लिया। इसी प्रकार बर्मा, सारावक एवं मलय में अंग्रेजों ने प्रत्यक्ष शासन की स्थापना की। फ्रांसीसियों ने हिन्द-चीन में ऐसा ही शासन लागू किया। विभिन्न यूरोपीय शक्तियों जैसे अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, के बीच अफ्रीका पर प्रभुत्व के लिए पारस्परिक होड़ शुरू हो गई। अफ्रीका कई टुकड़ों में मुख्यतः ब्रिटेन एवं फ्रांस के बीच बँट गया और बेल्जियम, जर्मनी एवं पुर्तगाल को केवल छोटे-छोटे टुकड़े हासिल हुए।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) नीचे दिये गये स्थान को प्रश्नों के उत्तर देने के लिए प्रयोग किजिए।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलाएं।

1) साम्राज्यवाद को कैसे परिभाषित किया जा सकता है, और इसका ज्ञान आवश्यक क्यों है?

.....

.....

.....

2) यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा उपनिवेशों के रूप में नए क्षेत्रों पर कब्जा एवं नियंत्रण स्थापित करने के कौन से कारण थे?

.....

.....

.....

3) उपनिवेशवाद की तीन विशेषताएँ बताइये।

.....

.....

.....

3.3 साम्राज्यवाद के सिद्धान्त

19वीं शताब्दी में हुए उपनिवेशिक विस्तार ने कई विवादों को ला खड़ा किया। ये विवाद परिचर्चायें न केवल इतिहासकारों एवं राजनीतिज्ञों के बीच में हुए, बल्कि समाज-वैज्ञानिकों, परिकल्पनावादियों एवं साहित्यविदों के बीच भी हुए। साथ ही साथ, एक तरह की उपनिवेशी संस्कृति, भाषा एवं अनुभव जिनका आधार उपनिवेशवाद था, ने जड़ें पकड़ी।

यूरोप में कई परिकल्पनावादियों ने न केवल उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद की व्याख्या की बल्कि इसके औचित्य का समर्थन भी किया। दूसरी ओर ऐसे परिकल्पनावादी भी थे, जिन्होंने पूँजीवाद एवं उपनिवेशवाद के शोषक पहलू का पर्दाफाश किया। कई सिद्धांतवादियों ने यह दिखलाया कि साम्राज्यवाद, पूँजीवाद का एक तार्किक एवं विध्वंसकारी हिस्सा बन गया था, और इसलिए उन्होंने इसके अन्त की माँग की।

3.3.1 उपनिवेशवाद को उचित जताने वाले सिद्धांत

कुछ उदारवादी सिद्धांतवादियों ने उपनिवेशवाद को उचित करार दिया, जबकि कुछ अन्य ने इसे पूँजीवाद का एक तार्किक अंग नहीं माना। ऐसे सिद्धांतवादी मुख्यतः उदारवादी विचारधारा से आते थे। इस पहलू पर कुछ जाने-माने लेखक थे—अर्नेस्ट सेलियर एवं इ.राँड। रूडयार्ड किप्लिंग जैसे विख्यात लेखक ने "गोरे लोगों का बोझ" जैस सिद्धांत का समर्थन किया। इस सिद्धांत के अनुसार गोरे लोगों (विशेषकर अंग्रेजों) का यह उत्तरदायित्व था कि वे पिछड़े लोगों को सुसभ्य बनाएँ। इस प्रकार साम्राज्यवाद को एक "सुसभ्यीकरण" लक्ष्य के रूप में आँका गया, तथा यह माना गया कि उपनिवेशों के वासियों को इस लक्ष्य के लिए साम्राज्यवाद का आभारी होना चाहिए।

20वीं शताब्दी के एक महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्री जे. ए. शुम्पीटर जो उदारवादी विचारधारा से ओत-प्रोत थे ने साम्राज्यवाद की विवेचना भूतकाल के उस "अवशेष" के रूप में की जो बलपूर्वक विस्तारवाद से जुड़ी थी तथा उसने महसूस किया कि यह साम्राज्यवाद विवेकी पूँजीवाद से कभी जुड़ा नहीं था।

डब्ल्यू.डब्ल्यू. रोस्टो जैसे बाद के कई उदारवादी विद्वानों की धारणाएँ भी इसी प्रकार की थीं। कई बार विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में साम्राज्यवाद की परिकल्पना को बिल्कुल नजरअंदाज कर दिया है।

3.3.2 उपनिवेशवाद पर मार्क्स के विचार

मार्क्स आरम्भिक पूँजीवाद जो कि 19वीं शताब्दी में पनप रहा था का विश्लेषक था। उसने उत्पादी बलों की भूमिका तथा पूँजीवादी उत्पादन के अन्तर को सामन्तवादी व्यवस्था एवं समाज से साफ-साफ दर्शाया। उसने पूँजीवादी समाज में वर्गों के गठन का विश्लेषण किया तथा उत्पादी साधनों के मालिकों (बुर्जुआओं के) श्रमिक या सर्वहारा वर्ग के साथ शोषणात्मक सम्बन्धों को परखा। मार्क्स ने कई जटिल पद्धतियों का विकास किया जिनसे हमें समाज को समझने में सहायता मिलती है किंतु मार्क्स ने पूँजीवाद एवं उपनिवेशवाद के आरम्भिक सम्बन्धों को प्रदर्शित किया।

मार्क्स ने बलपूर्वक कहा कि उपनिवेशवाद पूँजीवाद से जुड़ा हुआ था। उसने नए खोजे गए क्षेत्रों के साथ कर रही यूरोपीय कंपनियों के शोषणवादी संबंधों को उजागर किया। मार्क्स ने कहा कि यूरोप में पूँजीवाद का तीव्र विकास उपनिवेशों के शोषण पर आधारित था। इस प्रकार, मार्क्स ने उपनिवेशिक शोषण का अंत करने एवं यूरोप के श्रमजीवी वर्गों तथा पूर्व के शोषित लोगों के बीच एकता की आवश्यकता की बात की।

3.3.3 साम्राज्यवाद पर अध्ययन

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में साम्राज्यवाद पर कुछ अध्ययन हुए। जे. ए. हॉब्सन जो एक अंग्रेजी अर्थशास्त्री था, ने 1912 में "साम्राज्यवाद—एक अध्ययन" नामक एक किताब लिखी। हॉब्सन ने नोट किया कि पूँजीवाद की परिस्थितियों, जिसमें काफी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है, में सारे मालों को घरेलू बाजारों में नहीं बेचा जा सकता था। इस सिद्धांत को "अल्प उपभोग सिद्धांत" के नाम से जाना गया। हॉब्सन के अनुसार आमदनी के गलत वितरण के कारण कुछ लोगों के पास समुचित आमदनी नहीं थी। अतिरिक्त उत्पादन के कारण पूँजीपति नए उपनिवेशी बाजारों पर कब्जा करने के लिए मजबूर थे। उपनिवेशी बाजार पर यह कब्जा सरकारी संरक्षण के अधीन किया जाता था। यह इस धारणा कि "व्यापार झंडे का अनुसरण करता है" का द्योतक था। हॉब्सन ने यह माना कि साम्राज्यवाद या उपनिवेशी विस्तार, पूँजीवादी विकास का एक विपथन था, न कि पूँजीवादी विकास का एक मूलभूत अंग। उसने पूँजी के जमा होने की प्रक्रिया, जो पूँजीवादी विकास के लिए आवश्यक है, का जिक्र नहीं किया। हॉब्सन ने साम्राज्यवाद की आलोचना उदारवादी दृष्टिकोण से की। उसका कहना था कि साम्राज्यवाद राष्ट्र के लिए लाभकारी नहीं, बल्कि

घातक था; क्योंकि इससे असमानता पैदा होती थी। उसने महसूस किया कि एक प्रणाली के रूप में पूँजीवाद अपना सुधार आमदनी के पुनर्वितरण जैसे उपायों द्वारा कर सकता था, जिससे साम्राज्यवाद की जरूरत ही नहीं पड़ती।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्री रुडोल्फ हिल्फरडींग ने भी साम्राज्यवाद पर बहस में योगदान दिया। उसकी पुस्तक "वित्त पूँजी" में जो 1910 में प्रकाशित हुई, वित्त पूँजी के विकास पर प्रकाश डाला गया था। वित्त पूँजीवादियों ने उद्योगों/उद्यमों में उत्पादी बलों पर स्वामित्व के बिना ही पूँजी लगा दी जिससे मुनाफे में बढ़त हुई। हिल्फरडींग ने साम्राज्यवाद के विश्लेषण की इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण, जिसके अनुसार जब उत्पादन बढ़ता है, तो पूँजी का केंद्रीकरण होने लगता है, से ही शुरूआत की। इससे पूँजीपतियों का नियंत्रण पूँजी के स्वामित्व की सीमा को लाँघकर और भी आगे चला जाता है। हिल्फरडींग ने आने वाले वर्षों में कार्ल कोटस्की के उन विचारों के साथ समझौता किया जो साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे।

कार्ल कोटस्की जर्मन सामाजिक प्रजातांत्रिक पार्टी (German Social Democratic Party) (SPD) का 1889 से 1914 के बीच एक महत्त्वपूर्ण नेता था। 1914 में कोटस्की ने कहा कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद के ऐतिहासिक विकास का एक चरण नहीं था, और न ही आर्थिक विकास का एक चरण। बल्कि यह वित्त पूँजी द्वारा निर्धारित एक निश्चित नीति थी। इस प्रकार, उसने दिखाया कि साम्राज्यवाद उन दिनों के पूँजीवाद के साथ नही पहचाना जा सकता। कोटस्की की परिभाषा के अनुसार साम्राज्यवाद कुछ पूँजीवादी देशों द्वारा बड़े कृषिक क्षेत्रों को हड़पने का एक राजनीतिक फैसला था। कोटस्की ने यह भी कहा कि साम्राज्यवाद एक काफी विकसित औद्योगिक पूँजीवाद से जुड़ा हुआ था। इस तरह, कोटस्की के विश्लेषण में साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलुओं को गौण करने की समस्या थी। साथ ही, वह यह बताने में असफल रहा कि वित्त पूँजी और न कि अकेले औद्योगिक पूँजी ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया। इसके अलावा कोटस्की ने युद्ध से परे रहने के लिए साम्राज्यवाद के साथ संधि करने की वकालत की। उसने "अतिवाद साम्राज्यवाद (Ultra Imperialism)" शब्द का भी प्रयोग किया, जिससे उसका अभिप्राय था कि भविष्य में साम्राज्यवादियों का उपनिवेशों के शोषण के लिए गठबंधन होने की संभावना थी। यह सिद्धांत लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धांत के विपरीत था। इस प्रकार कोटस्की का मौलिक तर्क "साम्राज्यवाद केवल सिर्फ विदेश नीति की एक प्रणाली थी" गलत था।

रोजा लक्जमबर्ग एक मार्क्सवादी अर्थशास्त्री और कार्यकर्ता थी, जिसका विश्वास था कि "एक बंद पूँजीवादी प्रणाली में पूँजीवाद का संचयन नहीं हो सकता है।" इसका मतलब यह है कि पूँजीवाद का अपने विकास के लिए विस्तारित होना जरूरी है, क्योंकि अन्यथा पूँजी का संचयन नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उपभोग बिल्कुल उसी गति से नहीं बढ़ता जिस गति से लागत बढ़ती है। लक्जमबर्ग के आलोचक जो कि उनके सिद्धांत से सहमत नहीं हैं, कहते हैं कि उसकी समस्या इस बात से उठ खड़ी हुई है कि वह राष्ट्रवाद को एक गैर-सामाजिक विचार मानती है।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि साम्राज्यवाद के सिद्धांतों की परिचर्चा लेनिन के विचारों के उल्लेख के बिना पूरी नहीं होगी।

मार्क्सवादी परंपरा का अनुसरण करते हुए लेनिन ने साम्राज्यवाद के अध्ययन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 1916 में जुरिख में लिखे "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का सर्वोच्च चरण" नामक पर्चे के द्वारा लेनिन ने दूसरे लेखकों के साथ इस विषय पर बहस की एवं स्वयं अपने विचारों को सामने रखा। लेनिन ने जे. ए. हॉब्सन एवं रुडोल्फ हिल्फरडींग जैसे अर्थशास्त्रियों के प्रति अपना आभार प्रकट किया, जिनके कतिपय विचारों को उसने अपनाया। तथापि, वह उनसे असहमत था। वह कोटस्की के साम्राज्यवाद के प्रति रुख एवं उसके गैर-मार्क्सवादी विचारों का तीखा आलोचक था। लेनिन ने साम्राज्यवाद के प्रति अपने दृष्टिकोण को बहुत ही संक्षिप्त किंतु, इंगित तरीके से रखा।

संक्षेप में लेनिन ने साम्राज्यवाद का वर्णन पूँजीवाद के एकाधिकारी चरण के रूप में किया। "पूँजीवाद के एकाधिकारी चरण" का प्रयोग पूँजीवाद के उस चरण को दर्शाने के लिए किया गया जिसमें मुक्त बाजार की "मुक्त प्रतियोगिता" का स्थान बड़ी कंपनियों, ट्रस्टों, बैंकों इत्यादि एकाधिकार की स्थिति ने ले लिया था। यह विकास अनियमित था (यह सुचारू रूप से नहीं विकसित हो रहा था), किंतु इसके अंदर कई प्रतिरोध एवं अंतर्विरोध थे।

लेनिन ने साम्राज्यवाद की पाँच मुख्य विशेषताओं, जिनमें पूँजीवादी ढाँचे में हुए परिवर्तनों का पता चलता था और जिनके चलते पूँजीवादी व्यवस्था साम्राज्यवाद के चरण में जा पहुँचा, को पहचाना।

- उत्पादन के (कुछ लोगों के हाथों में) संकेंद्रन चले जाने के फलस्वरूप पूँजीवाद एक ऐसे चरण में जा पहुँचा, जहाँ एकाधिकार की आर्थिक जीवन में निर्णयात्मक भूमिका होने लगी।
- जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ने लगा बैंकों की पूँजी, औद्योगिक पूँजी के साथ मिलकर "वित्त पूँजी" बनाने लगी। इसका मतलब यह हुआ कि पूँजीपतियों ने जो कि पूँजी के आधार पर मुनाफा कमाते थे, उद्योगपतियों के साथ मिलकर वित्तीय अल्पतंत्र का सर्जन किया।
- इस चरण में पूँजी निर्मित मालों के निर्यात से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।
- पूँजीवाद के निर्यात के विकास के इस चरण की एक विशेषता यह है कि इसमें अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकारी पूँजीवादी कंपनियों (जैसे ईस्ट इंडिया कंपनी आदि) का गठन होता है, जो दुनिया को आपस में बाँट लेते हैं।
- बड़ी-बड़ी पूँजीवादी शक्तियाँ दुनिया के क्षेत्रों को विभाजित कर आपस में बाँट लेती हैं।

स्पष्टतः इन सारी ऐतिहासिक घटनाओं के सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि उपनिवेशी विस्तार के दौरान उपरोक्त घटनाएँ घटित हुईं।

लेनिन के विचारों का साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धांतों पर प्रभुत्व है। साम्राज्यवाद के सिद्धांतों के समर्थकों एवं आलोचकों को लेनिन के प्रतिपादनों को आँकना पड़ता है चाहे वे साम्राज्यवाद के सिद्धांतों को मानते हों या नहीं।

3.3.4 उपनिवेशी शासन

उपनिवेशी विजयों के बाद उपनिवेशी राज्यों की स्थापना आवश्यक हो गयी। साधारणतः ऐसे राज्यों की स्थापना उपनिवेशी शक्तियों द्वारा बल प्रयोग कर की जाती थी। ये उपनिवेशी राज्य "मातृ देश" एवं स्वयं अपने लिए राजस्व प्रदान करते थे। इन क्षेत्रों में उपनिवेशिक शक्तियों के लिए उपयोगी कच्चे माल का उत्पादन किया जाने लगा। उदाहरण के लिए यदि इंगलैंड को जूट की जरूरत थी तो पूर्वी भारत की भूमियों में जूट की खेती करवायी जाने लगी। इसके अलावा, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के दृष्टिकोण से ये उपनिवेश सामरिक क्षेत्रों के नियंत्रण के रूप में महत्त्वपूर्ण थे। इसका मतलब यह हुआ कि ये राज्य कई उपनिवेशों पर नियंत्रण कर शक्तिशाली बने।

स्थायी उपनिवेशी शासन कायम करने के लिए उपनिवेशिक सरकारों ने इन उपनिवेशों में कुशल प्रशासन स्थापित किया। दक्ष प्रशासन हेतु, अधिकारियों एवं नौकरशाहों को प्रशिक्षित किया जाने लगा। ब्रिटिश भारतीय सिविल सेवा इसका एक उदाहरण है। इसमें स्थानीय लोगों की आंशिक सहमति एवं भागेदारी की जरूरत भी पड़ी। इस प्रकार, सामान्यतः स्थानीय समूहों को उपनिवेशिक व्यवस्था में एक सीमा तक शामिल करने का प्रयास किया गया। उदाहरणार्थ, भारत में अंग्रेजों ने बंगाल में सर्वप्रथम अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत की ताकि, वहाँ से पूर्वी भारत पर शासन के लिए क्लर्कों की नियुक्ति हो सके। बाद में भारतीय सिविल सेवा परीक्षा (ICS) पास करने के पश्चात् भारतीय भी नौकरशाह बन सकते थे। इस प्रकार "प्रत्यक्ष एवं परोक्ष" शासन की प्रणाली का सूत्रपात हुआ।

उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने उपनिवेशी लोगों पर एक ऐसी नयी, बाहरी, राजनीतिक व्यवस्था को थोपा जो पश्चिमी सरकारों के लिए उपयुक्त थी।

उपनिवेशी सरकार ने स्थानीय आर्थिक अर्थव्यवस्था पर विश्व व्यवस्था एवं "मातृ देश" से जुड़ी एक पराई आर्थिक व्यवस्था थोप दी। इसका परिणाम, आर्थिक दबाव, भारी करारोपण, बंधुआ मजदूरी एवं ऋण-भार हुआ।

सांस्कृतिक क्षेत्र में पश्चिमी शिक्षा का प्रवेश हुआ। इसाई धर्म भी प्रोत्साहित एवं प्रोन्नत किया गया ताकि स्थानीय लोगों को "सुसभ्य" बनाया जा सके। कभी-कभी ये दोनों साथ-साथ कार्यान्वित किए जाते थे। उदाहरणार्थ, अफ्रीका में इसाई मिशनों ने इसाई धर्म एवं शिक्षा दोनों का विस्तार साथ-साथ किया।

इस प्रकार, उपनिवेशी शासन के वैधीकरण के प्रयास किए गए अर्थात् उपनिवेशी शासन को एक सुसभ्यीकरण मिशन के रूप में न्यायोचित ठहराया गया। इस मिशन का मानना था कि पश्चिमी व्यवस्थाएँ एवं जीवन प्रणालियाँ बेहतर थीं तथा इनको प्रोत्साहित किया जाना बलपूर्वक भी आवश्यक था।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) नीचे छोड़े गए स्थान को अपने उत्तरों के लिए प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1) क्या आप बता सकते हैं कि कुछ उदारवादी लेखकों ने उपनिवेशवाद को कैसे न्यायोचित ठहराया?

.....

.....

.....

.....

2) मार्क्स की उपनिवेशवाद पर बुनियादी समझ क्या थी?

.....

.....

.....

.....

3) उपनिवेशिक अधिकारियों ने किस प्रकार उपनिवेशों पर अपने शासन की स्थापना की?

.....

.....

.....

.....

3.4 उपनिवेशवाद की समस्याएँ एवं युद्ध

पूँजीवाद के उपनिवेशवाद से जुड़े विकास में कई अंतर्विरोध थे; इसने इससे पूँजीवादी देशों के बीच संघर्षों की समस्याओं को जन्म दिया। उपनिवेशवादी व्यवस्था जटिल ही नहीं थी बल्कि, अपने विध्वंस का बीज भी ढो रही थी। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध का सूत्रपात अन्य कारणों के अलावा, पश्चिमी शक्तियों की परस्पर प्रतिद्वंद्विता के कारण हुआ एवं इसके परिणामस्वरूप पूर्व पूँजीवादी साम्राज्यों जैसे हैप्सवर्ग (आस्ट्रिया, हंगरी), रोमनोव्स (रूस) एवं ओटोमन (तुर्की) का अंत हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की आर्थिक अवनति एवं पश्चिमी शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा आगे चलकर जर्मनी में फासीवाद एवं सैन्यवाद के उदय के कारण बने, क्योंकि नात्सी एवं फासीवादी शासक ये मानते थे कि विस्तारवाद एवं उपनिवेशी क्षेत्रों को हड़पकर ही आर्थिक एवं सैनिक प्रभुत्व कायम किया जा सकता था। ऐसे लक्ष्य अंततोगत्वा द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बने।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने उपनिवेशवादी साम्राज्यों, जो कि एक लंबी अवधि से गैर-उपनिवेशी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का सामना कर रहे थे, के विघटन में सहयोग दिया। इन राष्ट्रीय आंदोलनों का स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न था। उदाहरणार्थ, भारत में यह मुख्यतः एक अहिंसात्मक राष्ट्रीय आंदोलन था, किंतु दक्षिण-पूर्व एशिया जैसी जगहों में फ्राँसीसी उपनिवेशवादियों के विरुद्ध कई बागी आंदोलन हुए।

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दशकों ने कई पुराने साम्राज्यों का पतन देखा, जो कि वस्तुतः "तीसरी दुनिया" के लोगों के गैर-उपनिवेशी एवं गैर-साम्राज्यवादी संघर्षों का परिणाम था। युद्धोपरांत के इन उपनिवेशीकरण आंदोलनों को विशेषतः सोवियत संघ एवं

समाजवादी गुट का एवं अंशतः अमेरिका का भी सहयोग प्राप्त था, यद्यपि इनके सहयोगी रुख के कारण अलग-अलग थे।

इस तरह, 1945 के बाद नए देशों का उदय हुआ, जिससे दुनिया का मानचित्र बदला। पुराने प्रकार के साम्राज्यवाद का अंत हुआ तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक नया ढाँचा उभरा।

3.4.1 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद : नवउपनिवेशवाद

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद के ढाँचे एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति में पूरी तरह से परिवर्तन आए। युद्ध ने यूरोपीय आर्थिक व्यवस्था को बुरी तरह तहस-नहस कर उसकी नींव को झकझोर दिया था। ब्रिटिश फ्राँसीसी, स्पेनिश एवं पुर्तगाली के उपनिवेशिक साम्राज्य टूटने लगे थे और उनका पूर्णरूपेण विखंडन अवश्यसम्भावी हो गया था। इन बड़ी शक्तियों की जड़ें टूट चुकी थीं एवं इन्होंने अपना प्रारंभिक महत्व खो दिया था। इनका स्थान शीघ्र ही अमेरिका जो 1945 के बाद सबसे बड़ा पूँजीवादी शक्ति के रूप में उभरा, ने ले लिया।

साम्राज्यवाद अब एक नया रूप धारण करने लगा। युद्ध के पहले अमेरिकी पूँजीवाद ने मध्य अमेरिका, कैरिबियन, फिलीपीन एवं कुछ प्रशांत द्वीप समूहों को अपने प्रबल साम्राज्यवादी चरित्र का परिचय दिया था। अमेरिका ने एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्यों, जो कि राजनीतिक स्तर पर तो स्वाधीन थे, किंतु आर्थिक तौर पर कमजोर थे, में अपनी आर्थिक, राजनीतिक एवं सैनिक गतिविधियाँ शुरू कर दीं।

अमेरिका द्वारा अपनायी गई विदेशी नीति का मंत्र उन शासन-प्रणालियों के लिए जो अमेरिका के मित्र देश थे की मुख्य आर्थिक, राजनैतिक एवं सैनिक सहायता थी। ये शासन-प्रणाली बहुधा तानाशाही चरित्र रखती थी एवं "लोकप्रिय लोक आंदोलनों" का विरोध करती थी। अमेरिका ऐसे शासन-प्रणालियों को अथवा आंदोलनों को भरपूर सहयोग प्रदान करने लगा, जो वामपंथी या साम्यवादी आंदोलनों एवं सरकारों को दबाती थी या उनका विरोध करती थी। अमेरिका एवं विश्व बैंक (जिस पर अमेरिकी प्रभुत्व था), द्वारा दी गई आर्थिक सहायता ऐसी नीतियों से जोड़ी जाने लगीं जो अमेरिकी विदेशी नीति के अनुकूल थीं। विश्व बैंक की नीतियाँ मुख्यतः उद्यमों को प्रोत्साहित करती थीं एवं उद्यमों के राष्ट्रीयकरण का विरोध करती थीं। अमेरिका द्वारा अपनाई गई इन नीतियों ने उसकी भूमिका एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद—एक बिना उपनिवेशों या "प्रत्यक्ष नियंत्रण" वाला साम्राज्य, में एक प्रमुख शक्ति के रूप में निश्चित कर दी। इसे लोकप्रिय शब्दों में "नवउपनिवेशवाद" के रूप में जाना जाने लगा।

नवउपनिवेशवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद भी कहते थे, जिसका मतलब यह हुआ कि आर्थिक रूप से शक्तिशाली राज्य आर्थिक रूप से अल्पविकसित राज्यों को, व्यापार, एवं अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में सहायता देकर उन पर नियंत्रण रख सकते थे।

3.4.2 नवउपनिवेशवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांत

कई सामाजिक, वैज्ञानिकों जिन्होंने तीसरी दुनिया या पूर्व उपनिवेशिक समाजों, का अध्ययन किया है ने यह जानने की कोशिश की है कि ये देश इतने पिछड़े क्यों हुए हैं। यह सच है कि एक लंबे उपनिवेशिक शोषण ने उनकी आर्थिक व्यवस्था को नष्ट कर दिया था। किंतु, सामाजिक वैज्ञानिकों ने यह भी देखा कि शक्तिशाली आर्थिक प्रणालियाँ विश्व आर्थिक व्यवस्था को अपने हितों के लिए अब भी नियंत्रण में किए हुए हैं। इस संदर्भ में लातिनी अमेरिकी के लिए राष्ट्रसंघ आर्थिक आयोग (ECLA) ने विख्यात अर्थशास्त्री रॉल प्रेविष्च के निर्देशन में एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन किया है।

इस अध्ययन का मुख्य बिंदु लातिनी अमेरिका है। इस क्षेत्र का 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी तक के मध्य की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करने के बाद यह देखा गया कि औद्योगिक राष्ट्रों (जिन्हें "केंद्र" के नाम से जाना जाता है) एवं अल्प-विकसित देशों (जिन्हें "परिधि" कहा जाता है) के बीच एक सीधा संबंध विद्यमान था। इस अवधि के दौरान लातिनी अमेरिका औद्योगिक देशों के लिए कच्चे मालों एवं खाद्यानों की आपूर्ति करता था एवं बदले में तैयार वस्तुओं का आयात करता था।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सामान्य एवं परंपरागत सिद्धांतों ने इस प्रकार के श्रम विभाजन को दोनों साझेदारों के लाभप्रद माना है। लेकिन प्रेविष्ट एवं उसके साथियों ने यह दिखलाया कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार साधारणतः कच्चे माल का उत्पादन करने वाले देशों के प्रतिकूल था। इस प्रकार, 1870 से ही व्यापार की शर्तें लातिनी अमेरिका के लिए प्रतिकूल थीं। इसका मतलब यह हुआ कि लातिनी अमेरिका के निर्यातों की अपेक्षा औद्योगिक राज्यों से निर्मित वस्तुओं के आयात का अनुपात घटने लगा। यह विनिमय लातिनी अमेरिका के लिए "असमान" था। इसके अलावा, युद्ध के दौरान जब बाहरी देशों से आयात रुका, लातिनी अमेरिका के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि पाई गई।

यह तर्क दिया गया था कि लातिनी अमेरिका के देशों को "बाहरी पश्चिमी देशों" पर निर्भर रहने के बजाए अपने उद्योगों को विकसित करना चाहिए।

लातिनी अमेरिकी उदाहरण अन्य पूर्व-उपनिवेशी राज्यों पर भी लागू होता है। इस अवस्था को बदलने के लिए जो कदम सुझाए गए उनमें–घरेलू उद्योगों के संरक्षण के लिए, घरेलू बाजार का विस्तार करने के लिए, भूमि सुधार करने के लिए सामंतवादी भूमि-प्रणाली का अंत हो एवं आय का पुनर्वितरण हो सके, जिससे कम कीमतों वाली निर्मित व वस्तुओं की घरेलू माँग बढ़े कदम–शामिल थे।

इसी प्रकार, ए.जी. फ्रैन्क, ई. लैक्लो आदि अन्य सिद्धांतवादियों ने औद्योगिक "पश्चिम" एवं गैर-औद्योगिक "तीसरी दुनिया" के बीच शोषणकारी संबंधों को दर्शाया।

कई अर्थशास्त्रियों ने विश्व बैंक का छोटे देशों की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण की प्रवृत्ति को दर्शाया है। विश्व बैंक, जिस पर अमेरिका का आधिपत्य है, की सहायता ऐसे देशों को ही मिलती है, जो अपनी आर्थिक नीतियों में उसके (विश्व बैंक के) सुझावों को मानने के लिए तैयार हैं। विश्व बैंक सामान्यतः सुझाव देता है कि अर्थव्यवस्था पर कम से कम सरकारी नियंत्रण हो, राष्ट्रीयकरण जैसे नीतियाँ त्याग दी जाएँ एवं निजी लागत को स्वतंत्रता दी जाए। यह बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश को भी बढ़ावा देते हैं।

ये बहुराष्ट्रीय निगम पश्चिम में स्थित विशालकाय प्रतिष्ठान हैं, जो दुनिया के हर क्षेत्र में अपने लाभ के लिए उद्यमों को स्थापित करने के लिए तैयार रहती हैं, क्योंकि इनका नियंत्रण प्रौद्योगिकी पर होता है। तीसरी दुनिया में इनके प्रवेश के परिणामस्वरूप स्थानीय पूँजी इनके नियंत्रण में आ जाती है। फलस्वरूप, ये वहाँ वेतन प्रणाली, प्रौद्योगिक और यहाँ तक कि सरकार को भी प्रभावित करने लगते हैं। तृतीय दुनिया के कई महत्त्वपूर्ण नेतागणों जैसे (जैसे, नेहरू, नक्रुमा, नियरे आदि) ने इस आर्थिक साम्राज्यवाद द्वारा अल्पविकसित देशों पर प्राबल्य नियंत्रण स्थापित करने की निंदा की है।

इस प्रकार, यद्यपि 19वीं शताब्दी के साम्राज्यवाद का पतन हो गया है इसके नए रूप अब भी विद्यमान हैं। और ये विश्व अर्थव्यवस्था की विशेषता के रूप में विद्यमान होते हुए अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करते हैं।

बोध प्रश्न 3

नोट : नीचे छोड़े गए स्थान को अपने उत्तरों के लिए प्रयोग करें।

1) उपनिवेशवाद की क्या समस्याएँ थीं?

.....

.....

.....

.....

2) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्राज्यवाद की संक्षेप में व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

3) नवउपनिवेशवाद के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का संक्षेप में उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

3.5 सारांश

इस इकाई में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में साम्राज्यवाद की भूमिका की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार पूँजीवाद से साम्राज्यवाद का जन्म हुआ, जिसका परिणाम पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा बड़े क्षेत्रों पर कब्जा करना निकला। यह इकाई हमें बताती है कि कैसे यूरोपीय राज्यों ने उपनिवेशों पर शासन किया। हमने साम्राज्यवाद की व्याख्या करने वाली विचारधाराओं—उदारवादी एवं मार्क्सवादी का भी विश्लेषण किया है। इस इकाई में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन एवं साम्राज्यवाद के विकास की व्याख्या भी यहाँ की गई है। इसके पश्चात् साम्राज्यवाद के नए रूप जिसे "नवउपनिवेशवाद" के नाम से जाना जाता है, और जो शक्तिशाली पश्चिमी राज्यों द्वारा तृतीय दुनिया के देशों पर नियंत्रण का वर्तमान तरीका है, का भी अध्ययन किया गया है। हमने संक्षेप में इस नए साम्राज्यवाद के मुख्य दृष्टिकोणों को भी परखा है।

साम्राज्यवाद के विश्लेषण से साम्राज्यवादी शक्तियों एवं अल्प विकसित देशों के बीच प्रभुत्व, नियंत्रण एवं शोषण का संबंध साफ-साफ दिखाई पड़ता है। भूतकाल में यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, और वर्तमान में भी यह भिन्न रूप में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का हिस्सा बना हुआ है।

3.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) लेनिन, वी. आई. 1975, *"साम्राज्यवाद : पूँजीवाद का सर्वोच्च चरण" (लेनिन की चुनी कृतियाँ,* प्रोग्रेस : मास्को)।

2) ओवेन, रोजर एवं बॉब सटक्लीफ, (संपादक) 1975, *साम्राज्यवाद के सिद्धांतों का अध्ययन,* लंदन।

3) राक्स बोरो इयान, 1979, *अल्पविकास के सिद्धांत मैकमिलन।*

4) सेन क्रो, मेरी थ्रोप्स आदि, 1988, *तीसरी दुनिया में परिवर्तन एवं जीवन,* पौलिटी प्रेस लंदन।

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 3.2 देखें।
2) उपभाग 3.2.2 देखें।
3) उपभाग 3.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 3.3 देखें।
2) उपभाग 3.3.2 देखें।
3) उपभाग 3.3.4 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 3.4 देखें।
2) उपभाग 3.4.1 देखें।
3) उपभाग 3.4.2 देखें।

इकाई 4 प्रथम विश्व युद्ध, अक्टूबर की क्रांति एवं शांति समझौते

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 परिचय
4.2 प्रथम विश्वयुद्ध
  4.2.1 युद्ध के प्रमुख कारण
  4.2.2 युद्ध की मुख्य घटनाएँ
  4.2.3 युद्ध के परिणाम
4.3 बोल्शेविक क्रांति
  4.3.1 रूस में सामाजिक प्रजातांत्रिक आंदोलन
  4.3.2. रूसी राजतंत्र का पतन एवं बोल्शेविक क्रांति की स्थापना
  4.3.3 बोल्शेविक विजय : साम्राज्यवाद को चुनौती
4.4 शांति बोल्शेविक नीति के अंतरंग पहलू के रूप में
4.5 सोवियत सरकार की शांति पहलें
  4.5.1 शांति की उद्घोषणा
  4.5.2 ब्रेस्ट-लिटोव्स्क शांति संधि
  4.5.3 शांतिपूर्ण सहअस्तित्व
  4.5.4 मैत्री संधियाँ
4.6 प्रथम विश्वयुद्ध के बाद शांति समझौते
  4.6.1 पेरिस का शांति सम्मेलन
  4.6.2 वर्साय की संधि
  4.6.3 अन्य लघु संधियाँ
4.7 सारांश
4.8 कुछ उपयोगी शब्दावली
4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

यह इकाई समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास की तीन बड़ी घटनाओं से संबद्ध है। ये घटनाएँ हैं–प्रथम विश्वयुद्ध, 1917 की रूसी क्रांति एवं युद्ध के बाद शांति समझौते। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रथम विश्वयुद्ध से संबद्ध मुख्य मुद्दों को समझ पाएँगे।
- बोल्शेविक क्रांति के महत्त्व एवं उसकी प्रकृति और खासकर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर इसके प्रभाव को अच्छी तरह समझ पाएँगे।
- नये सोवियत राज्य द्वारा उन नये अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक नयी प्रणाली की रचना करने के लिए तथा जो शांति बनाए रखने में सहायक सिद्ध हो, को जान पाएँगे।
- प्रथम विश्वयुद्ध के बाद शांति समझौतों की प्रकृति एवं प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.1 परिचय

यह इकाई प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एवं उसके पश्चात् की घटनाओं एवं मुद्दों से आपका परिचय कराती है। इसमें रूस में घटित 1917 की बोल्शेविक क्रांति एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर पड़े इसके प्रभावों पर विशेष जोर दिया गया है। जबकि उस समय वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रतिरूप द्वंद्वों को अनिवार्य बना दिया था, बोल्शेविक क्रांति ने इसके विकल्प की नींव डाली। बोल्शेविकों की सफलता का प्रमुख कारण उनका हो रहे युद्ध का विरोध था,

जबकि अन्य राजनीतिक समूह अंध देश भक्ति भावनाओं से ओत-प्रोत होकर युद्ध का समर्थन कर रहे थे। सत्ता में आते ही बोल्शेविकों ने न केवल युद्ध से रूस को हटाया बल्कि उपनिवेशवाद जो कि बड़ी शक्तियों के बीच लड़ाई का प्रमुख कारण था, को समाप्त करने की घोषणा की। इस नए सोवियत राज्य ने खुली कूटनीति के नए युग का सूत्रपात किया, जो कि राज्यों के बीच समानता एवं प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता के अधिकार की अपहार्यता के सिद्धांत पर आधारित था। इस प्रकार, इसने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मौजूदा आधार को ही बदल डाला।

प्रथम विश्वयुद्ध जिसके दौरान, अल्पघटनाओं के साथ-साथ अमेरिका का प्रवेश, रूस का 1917 में हट जाना एवं 1918 में जर्मनी एवं अन्य केंद्रीय शक्तियों का हथियार डालना शामिल थे, पेरिस के शांति समझौते, 1919 की वर्साय की संधि और अन्य लघु संधियाँ मुख्य परिणाम थे। यह इकाई इन प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती है।

4.2 प्रथम विश्वयुद्ध

प्रथम विश्वयुद्ध जो चार साल से भी अधिक (1914-18) चला उस समय तक के सभी युद्धों से ज्यादा विध्वंसकारी था। इस युद्ध के कई कारण थे—जैसे, यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा, तथा सार्वभौमिक राज्यों की गतिविधियों को नियंत्रण में रखने के लिए किसी विश्व प्राधिकार का न होना। इस युद्ध में "केंद्रीय शक्तियाँ" जिसमें एक तरफ जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी एवं तुर्की जैसे देश शामिल थे, तथा ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, इटली एवं अमेरिका जैसी "मित्र" शक्तियाँ दूसरी तरफ शामिल थीं।

4.2.1 युद्ध के प्रमुख कारण

19वीं शताब्दी में सर्वत्र यूरोप में राष्ट्रवाद का विकास युद्ध का एक प्रमुख कारण था। इस युद्ध में कई राजतंत्र नष्ट हुए एवं कई राष्ट्रीयताएँ विदेशी शासन के चंगुल से मुक्त हुई, यद्यपि जर्मनी एक अपवाद बना रहा। उग्र राष्ट्रवाद इस युद्ध के समय विघटनकारी साबित हुआ। यह काफी दुर्भाग्यपूर्ण था कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व्यवस्था कायम करने के साधनों के अभाव में शक्तिशाली राष्ट्रों ने अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का बुरी तरह उल्लंघन किया। इससे अंतर्राष्ट्रीय वातावरण इस हद तक कलुषित हो गया कि महायुद्ध के पहले के 25 वर्षों को हथियारबद्ध शांति के नाम से जाना गया।

उग्र राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं के विकास के परिणामस्वरूप बड़ी शक्तियों के बीच सैनिक संधियाँ होने लगीं। इस शताब्दी के प्रारंभ में, यूरोप दो प्रतिद्वंद्वी सैनिक गुटों में बँट गया था। 1880 में जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, इटली द्वारा "तिहरे गुट" (Triple Alliance) का गठन किया गया तथा 1907 में फ्रांस, रूस और ब्रिटेन को मिलाकर "तिहरे गुट" बना। इसमें पिछला गुट युद्ध में "मित्र शक्ति" का सदस्य बना।

बड़ी शक्तियों के बीच हथियारों की होड़ में बढ़ोत्तरी तथा एक दूसरे के बारे में संदेह भरा मद दृष्टिकोण जिसके कारण वे हमेशा आकस्मिक प्रहार के डर से ग्रसित रहते थे युद्ध का दूसरा प्रमुख कारण बना। ऐसे खतरों से दूर रहने हेतु, ये अपने सैनिकों को हमेशा तैयार रखते थे। उदाहरण के लिए, फ्रांस सदैव जर्मनी से भयभीत रहता था। दुश्मन का सामना करने के लिए फ्रांस ने सेना में अनिवार्य भर्ती शुरू कर दी। इसी प्रकार, जर्मनी भी युद्ध की तैयारी कर रहा था। ब्रिटेन ने भी ऐसे ही कदम उठाए।

हथियारों की होड़ के अलावा, देशों के बीच बढ़ती आर्थिक प्रतिस्पर्धा ने भी उनके संबंधों को बिगाड़ा। ब्रिटेन एवं जर्मनी के बीच दुनिया भर में निर्मित वस्तुओं को बेचने के लिए प्रतिद्वंद्विता बढ़ी। इन दोनों देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद की गहरी जड़ें मजबूत हो गईं इससे पनपी प्रतिद्वंद्विता ने उनके संबंधों को और बिगाड़ा। यूरोपीय शक्तियों के बीच संघर्ष का एक दूसरा प्रमुख कारण अफ्रीका में उपनिवेशी प्रतिद्वंद्विता थी। यद्यपि, 1885 में बर्लिन सम्मेलन में अफ्रीका का यूरोप के बीच किया गया विभाजन सभी को माननीय था, तथापि आगे चलकर फ्रांस, इटली और जर्मनी के बीच उत्तरी अफ्रीका को लेकर भयानक प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गयी और महत्त्वाकांक्षाओं में मुठभेड़ होने लगा।

संक्षेप में, वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में संपूर्ण विश्व अराजकता एवं तनाव की स्थिति से गुजर रहा था। बड़ी शक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं में टकराव हुए। खासकर, उत्तरी अफ्रीका एवं बाल्कन राज्य संकट से घिरे क्षेत्र थे। अदोवा का युद्ध (1896), फसोदा की घटना, मोरक्को के लिए संघर्ष, अगादीर का संकट एवं इटली द्वारा तुर्की से त्रिपोली पर विजय (1911) आदि, उस समय के अंतर्राष्ट्रीय दुरावस्था के द्योतक थे। तुर्की में हुई युवा तुर्क क्रांति के पश्चात् ऑस्ट्रिया-हंगरी ने बोस्निया एवं हर्जगोविना प्रांतों से तुर्की शासन के अंत की घोषणा करते हुए उन्हें अपने साथ मिला लिया। बल्गेरिया ने स्वयं को तुर्की के शासन से स्वतंत्र घोषित कर दिया एवं 1912 में बाल्कन राज्यों ने तुर्की पर हमला करने के लिए "बाल्कन लीग" की स्थापना की। इन युद्धों के कारण तुर्की साम्राज्य काफी सिकुड़ गया था। इन युद्धों से अंतर्राष्ट्रीय तनाव भी बढ़े। सर्बिया ने मजबूती दिखाते हुए उन सभी क्षेत्रों के, जिसमें "सर्व-जाति" के लोग रहते थे, एकीकरण का प्रयास किया। इसमें ऑस्ट्रिया-हंगरी द्वारा जीते हुए बोस्निया एवं हर्जगोविना प्रांत भी शामिल थे। सर्बिया ने इनके निवासियों को अपने साथ विलय के लिए प्रोत्साहित किया। सर्बिया को रूस का सहयोग प्राप्त था। (दोनों स्लाव जाति निवासियों के देश थे), वह बहुजातीय अंतर्राष्ट्रीय ऑस्ट्रिया-हंगरी समाज की समाप्ति पर आमादा हो गया।

इन परिस्थितियों में, बोस्निया की राजधानी साराजीवो में 28 जून, 1914 को सर्बियों के एक धर्मांध समूह ने ऑस्ट्रिया के राजगद्दी के उत्तराधिकारी आर्च ड्यूक फ्रान्सिस फर्डिनैंड एवं उसकी पत्नी की हत्या कर दी। यह प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत का तात्कालिक कारण बना। ऑस्ट्रिया-हंगरी ने शांतिपूर्ण तरीकों से इस संकट का समाधान करने में असफल होने के कारण सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस ने सर्बिया को अपना समर्थन दिया। जर्मनी ने रूसी फौजों की फौरन वापसी की माँग की और रूस के ऐसा न करने पर उसके विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया एवं महायुद्ध के खतरे को और भी बढ़ा दिया। जर्मनी ने फ्राँस को तटस्थ रहने की चेतावनी दी। फ्राँस द्वारा संतोषपूर्ण जवाब न पाकर जर्मनी ने उस पर भी युद्ध घोषित कर दिया। जब जर्मनी के सैनिकों ने बेल्जियम की सीमाओं को लाँघकर उसकी 1839 की तटस्थता संधि की अवहेलना की, तो ब्रिटेन ने 4 अगस्त, 1914 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इटली अपनी तटस्थता घोषित कर युद्ध से दूर रहा। किंतु 1915 में, युद्धोपरांत नए क्षेत्रों को पाने के लालच में इटली भी ब्रिटेन, फ्राँस और रूस की तरफ से युद्ध में शामिल हो गया। जर्मनी की तरफ से बल्गेरिया 1915 में युद्ध में शामिल हो गया। यह युद्ध आस्ट्रेलिया को छोड़कर सभी महादेशों में लड़ा गया।

4.2.2 युद्ध की मुख्य घटनाएँ

यहाँ युद्ध का विस्तृत वर्णन करना मुश्किल है, क्योंकि यह काफी लंबे अरसे तक (चार साल से भी अधिक) चला और, इस दौरान कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं। जर्मनी जिसने युद्ध शुरू किया था को कई प्रारंभिक लाभ प्राप्त थे। 1915 में "केंद्रीय शक्तियों" ने सारे आक्रमण "मित्र शक्तियों" पर किए। 1916 में पुर्तगाल एवं रूमानिया ने "मित्र शक्तियों" की ओर से युद्ध में प्रवेश किया। समुद्र में अंग्रेजी नौसैनिक सफलताओं ने 1915 एवं 1916 में "मित्र शक्तियों" की स्थिति मजबूत कर दी। ब्रिटिश नौसेना को चुनौती देने में जर्मनी की असफलता ने उसे तटस्थ राष्ट्रों के व्यवसायिक जहाजों पर,जो ब्रिटेन के लिए आपूर्ति लाते थे, आक्रमण करने के लिए मजबूर कर दिया। जर्मनी ने सुदूर समुद्र में यात्री जहाजों को भी डुबाना शुरू कर दिया। अमेरिकी यात्रियों को ढोने वाली "लुसीटानिया" नामक जहाज को डुबाने से क्रुद्ध होकर अमेरिका ने 6 अप्रैल, 1917 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

रूस युद्ध में क्षीण पड़ने लगा एवं उसके सैनिक युद्धभूमि से भागने लगे। अपनी हारों के परिणामस्वरूप, रूसवासियों को काफी संकटों का सामना करना पड़ा। वहाँ की आर्थिक स्थिति ने लोगों को जार के शासन का पासा पलटने पर मजबूर कर दिया। 1917 की रूसी क्रांति का विवरण आगे के भाग में दिया गया है। जब लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल सत्ता में आया तो रूस ने जर्मनी के साथ युद्ध समाप्ति के लिए ब्रेस्त्लीतोस्क की संधि कर ली। वास्तव में 1917 पश्चिमी मित्र देशों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। किंतु, 1918 तक "केंद्रीय शक्तियाँ" क्षीण पड़ चुकी थीं एवं मित्र राष्ट्रों की अपेक्षा हथियारों एवं सैनिकों की संख्या में पिछड़ रही थी। मित्र राष्ट्रों की सैनिक सफलताएँ तीव्र होती गईं एवं फ्रांस, बेल्जियम तथा अन्य हथियाए गए क्षेत्रों से जर्मनी का शीघ्र निष्कासन शुरू हो गया। इसी समय "मित्र देशों" ने बल्गेरिया (सितंबर, 1918), तुर्की (अक्तूबर, 1918) एवं ऑस्ट्रिया

(अक्तूबर-नवंबर, 1918) को पराजित किया। ब्रिटेन ने ऑस्ट्रिया के सभी प्रजा राष्ट्रों (यदि वे उसके साथ मिल जाएँ तो), को स्वाधीनता प्रदान करने का वायदा किया। जर्मनी ने भी शांति स्थापना के लिए 11 नवंबर, 1918 को युद्ध विराम के समझौते पर हस्ताक्षर किए जिससे शत्रुता का अंत हुआ। राष्ट्रपति विल्सन का जनवरी, 1918 में घोषित, "चौदह सूत्रों" जर्मनी द्वारा शांति स्थापना का आधार बने। राष्ट्रपति विल्सन ने मित्र देशों के युद्ध में सहयोग के लिए जिस विश्व भावना का आह्वान किया था, वह निम्नलिखित "चौदह सूत्रों" से प्रेरित था:

1) शांति के खुले समझौते किए जाएँ एवं भविष्य में कोई गोपनीय कूटनीति न हो,

2) समुद्र में आवागमन की पूर्ण स्वतंत्रता हो, जब तक किसी अंतर्राष्ट्रीय समझौते से इसे बंद न कर दिया जाए,

3) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सभी आर्थिक बाधाओं को यथा संभव हटाया जाए,

4) राष्ट्रों के हथियारों में कटौती,

5) सारे उपनिवेशिक दावों का निष्पक्ष समाधान, जिसके अंतर्गत प्रजावासियों को दावा कर रहे सरकारों के साथ बराबरी का दर्जा मिले,

6) रूसी क्षेत्रों का परित्याग एवं रूस को अपने भविष्य निर्माण का पूर्ण अवकाश,

7) बेल्जियम का परित्याग एवं उद्धार,

8) फ्राँस के क्षेत्रों का परित्याग एवं उद्धार तथा अल्लास-लॉरेन के विषय में 1871 में किए गए अन्याय को ठीक करना,

9) हाल्यिन की सीमाओं की स्पष्ट माननीय राष्ट्रीयता के आधार पर पुर्नव्यवस्था,

10) ऑस्ट्रिया-हंगरी के लोगों की स्वायत्तता का विकास,

11) सर्बिया, मॉन्टेनेग्रो एवं रूमानिया का परित्याग एवं पुर्नव्यवस्था। सर्बिया के लिए समुद्र में निकास की व्यवस्था एवं राष्ट्रीयता तथा राजभक्ति के ऐतिहासिक पद्धतियों के अनुकूल बाल्कन राज्यों के बीच अंतर-संबंधों की स्थापना,

12) तुर्की हिस्सों के लिए प्रभुसत्ता हासिल करना एवं जल डमरुमध्य को जहाजी आवागमन की स्वतंत्रता,

13) स्वाधीन पोलैंड की स्थापना, जिसका समुद्र में निकास हो तथा जिसमें वे सारे क्षेत्र शामिल हों, और जहाँ पौलिश लोग रहते थे, और

14) राष्ट्रों के लिए सार्वजनिक संघ की स्थापना, जिसका उद्देश्य बड़े एवं छोटे राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता एवं क्षेत्रीय पूर्णता को सुरक्षित रखना हो।

4.2.3 युद्ध के परिणाम

पहले के युद्धों में एवं अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों की तुलना में प्रथम विश्वयुद्ध एक "सम्पूर्ण युद्ध" था, जिसमें दुनिया के सारे महादेश शामिल हुए और जिसमें विश्व-स्तर पर स्रोतों का संगठन किया गया। यद्यपि, इस पर मतभेद है, तथापि इस युद्ध में मरे सैनिकों के निम्नलिखित आँकड़े थे।

कुल मरे सिपाही जिनकी संख्या का पता था	–	10,000,000
अनुमानित मारे गए सिपाही	–	3,000,000
मरे असैनिक	–	13,000,000
घायल	–	20,000,000
बंदी	–	3,000,000
युद्ध द्वारा बने अनाथ	–	9,000,000
युद्ध विधवाएँ	–	5,000,000
शरणार्थी	–	10,000,000

सिर्फ घायल और मरे लोगों की संख्या 46,000,000 थी। ऐसा अनुमान किया गया है कि इस युद्ध का प्रत्यक्ष खर्च 200 बिलियन डॉलर (200,000,000,000) एवं अप्रत्यक्ष खर्च 150 बिलियन डॉलर (150,000,000,000) से अधिक था। सचमुच इस युद्ध ने विश्व अर्थव्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया था एवं यूरोप को आर्थिक रूप से थका दिया। बढ़ता हुआ राष्ट्रीय ऋण, मुद्रास्फीति, बेरोजगारी, खाद्यान्नों की कमी एवं गरीबी युद्ध के कारण काफी बढ़ गई थी। इस युद्ध ने विश्व पर यूरोप के औद्योगिक प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। जापान एवं अमेरिका विश्व के नए औद्योगिक राष्ट्रों के रूप में उभरे।

राजनीतिक स्तर पर भी युद्ध के दूरगामी प्रभाव पड़े। यूरोप के आर्थिक संकट ने वहाँ राजनीतिक संकटों को जन्म दिया। गंभीर आर्थिक समस्याओं के समाधान में सरकार की विफलताओं ने उसके प्रति लोगों की आस्था तोड़ी एवं निरंकुश शासनों के उदय के लिए रास्ता आसान किया। अब विश्व प्रजातंत्र के लिए कदापि सुरक्षित नहीं था। रूस की बोल्शेविक क्रांति ने पुराने पूँजीवादी प्रजातंत्रों के लिए एक खतरा पैदा किया। इटली में फासीवाद एवं जर्मनी में नात्सीवाद को इसी दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। साम्यवादी रूस एवं इटली तथा जर्मनी में फासीवाद के विकास ने यूरोप एवं उसके बाहर भी एक नए शक्ति संतुलन की स्थापना की। इन परिस्थितियों में, राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा प्रणाली एवं शांति की आशाएँ क्षीण पड़ गईं। वस्तुतः विश्व एक बार फिर शक्ति संतुलन की पुरानी प्रणाली में लौट आया, जो अन्ततोगत्वा द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी बना।

इस युद्ध का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम राष्ट्रवादी शक्तियों की उग्रता में और प्रचंडता की बढ़ोत्तरी थी। 1919 की शांति संधियों में अपनायी गई राष्ट्रीय स्व-निर्धारण के सिद्धांत के परिणामस्वरूप, ऑस्ट्रिया, हंगरी साम्राज्य का विघटन हुआ एवं यूरोप में पोलैंड, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, लिथुएनिया, इस्टोनिया एवं लाटविया जैसे राज्यों की स्थापना हुई। उपनिवेशी राज्यों में भारत सहित, गैर-उपनिवेशी एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में और मजबूती आई।

ब्रिटेन एवं फ्रांस खासकर क्षुब्ध थे क्योंकि, उनके अनुसार, जर्मनी युद्ध के लिए उत्तरदायी था। इनके नेतागण बदले की भावना से पीड़ित थे, जिसका प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की शान्ति संधियों की प्रकृति एवं ढाँचे पर काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

संक्षेप में, प्रथम विश्वयुद्ध सिर्फ एक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष न होकर एक ऐसी घटना थी, जिसका सम्पूर्ण विश्व पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर को मिलाएँ।

1) प्रथम विश्वयुद्ध की शुरूआत के कौन से प्रमुख कारण थे?

.....

.....

.....

2) युद्ध के विरोधी दल कौन से थे?

.....

.....

.....

3) युद्ध के दौरान की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं प्रगतियों का संक्षिप्त विवरण दें।

.....

.....

.....

4.3 बोल्शेविक क्रान्ति

रूस का 1861 में गुलामों की मुक्ति एवं क्रीमियन युद्ध (1856-59) में उसके पराजय के बाद पूँजीवाद एवं औद्योगिकीकरण में तीव्र विकास हुआ। एक शक्तिशाली महादेशीय शक्ति के रूप में स्वयं को बरकरार रखने की जरूरत ने रूस को बड़े पैमाने पर अपने औद्योगिकीकरण के लिए प्रेरित किया। इस कार्य के सम्पादन में, राज्य की, आर्थिक गतिविधियों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। पूँजीवाद के विकास के साथ, वहाँ कच्चे मालों एवं बाजारों की जरूरत पड़ी। 19वीं शताब्दी के तृतीय चतुरार्द्ध में रूसी साम्राज्यवाद ने "केन्द्रीय एशिया" का उपनिवेशीकरण कर दिया था तथा वह बाल्कन एवं सुदूर पूर्व में लाभों के लिए अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ होड़ में शामिल हो गया। शताब्दी के अन्त तक रूस एक साम्राज्यवादी शक्ति बन चुका था, जिसकी विशेषता कृषि की अर्ध-सामन्तवादी प्रथा एवं निरंकुश राज्य प्रणाली थी। इसमें लोकप्रिय शासन नहीं था, न ही कानून बनाने के लिए कोई चुनी गई संस्था। राजनीतिक स्वतंत्रता एवं मौलिक अधिकारों की यहाँ पूरी कमी थी। उदारवादी समूह काफी कमजोर थे और बहुधा ये शासकों के साथ समझौता कर लेते थे। इस तरह, मार्क्सवाद को प्रजातांत्रिक अधिकारों की ऐतिहासिक लड़ाई का बीड़ा उठाना पड़ा तथा सामन्तवादी एवं पूँजीवादी दोनों के विरुद्ध एक साथ संघर्ष करना पड़ा।

4.3.1 रूस में सामाजिक एवं प्रजातांत्रिक आन्दोलन

मार्क्सवादी, जिन्हें उस समय सामाजिक,प्रजातंत्रवादियों के नाम से जाना जाता था, कई समूहों में विभाजित थे। इनकी वैचारिक विषमता एक संयुक्त आन्दोलन छेड़ने की राह में आड़े आ रही थी। 1898 में स्थापित रूसी सामाजिक प्रजातांत्रिक मजदूर पार्टी—बोल्शेविक (बहुमत) एवं मेन्शेविक (अल्पमत)—नामक दो महत्त्वपूर्ण दलों में विभाजित थी। ये दोनों दल यह चाहते थे कि रूस में सामाजिक क्रान्ति के पहले प्रजातांत्रिक क्रान्ति के नेतृत्व के पक्ष में थे, जबकि मेन्शेविक चाहते थे कि यह क्रान्ति बुर्जुआ के नेतृत्व में हो। कुछ अन्य दल भी थे जैसे, बैधिक मार्क्सवादी जो राज्य की स्वीकृति के साथ सामाजिक प्रजातंत्रवादियों को एक वैधपूर्ण जनदल के रूप में देखना चाहते थे। एक अन्य दल अर्थशास्त्रियों का था, जो सिर्फ आर्थिक संघर्ष के लिए श्रमिक वर्ग एवं सामाजिक प्रजातंत्रवादियों को काम करते देखना चाहता था। अन्ततः, लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल अक्तूबर 1917 की क्रान्ति में अग्रगण्य दल के रूप में उभरा। श्रमिकों एवं किसानों को मिलाकर क्रान्ति के बाद राज्य शक्ति का नेतृत्व ले लेना इसकी सफल योजना साबित हुई। मेन्शविकों ने, जिन्होंने फरवरी 1917 में ज़ार के तख्ता पलटने के बाद बुर्जुआ सरकार का समर्थन किया था, अक्तूबर तक श्रमिकों एवं किसानों के बीच अपना महत्त्व खो दिया था। 7 नवम्बर, को (जो कि पुराने रूसी कैलेन्डर के हिसाब से 25 अक्तूबर का दिन पड़ता था) तीन दिन के हिंसात्मक दंगों के बाद बोल्शेविक दल रूस में सत्ता में आया। इसके परिणामस्वरूप, फरवरी 1917 में स्थापित सामायिक सरकार गिर गयी।

4.3.2 रूसी राजतंत्र का पतन एवं बोल्शेविक सरकार की स्थापना

प्रथम विश्वयुद्ध ने जार के निरंकुश शासन पर अन्तिम प्रहार किया। युद्ध ने रूस में फैली अराजकता को और भी बढ़ा दिया था। रूसी समाज युद्ध के अवसर पर अन्तर्विरोधों का एक प्रतीक था। ये अन्तर्विरोध थे—सामन्तवादियों एवं किसानों के बीच, किसानों एवं पूँजीवादी कृषकों (जिन्हें कुलक भी कहते थे) के बीच, कुलक एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के बीच, फैक्टरी मालिकों एवं श्रमिकों के बीच, बड़े बुर्जुआ एवं लघु बुर्जुआ के बीच आदि। जब युद्ध शुरू हुआ तो ये सारे अन्तर्विरोध और तीव्र हो गए। रूस के लिए, जो अभी भी अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों की अपेक्षा पिछड़ा था, युद्ध का खर्च काफी भारी साबित हुआ। युद्ध के खर्च का वहन रूसी राज्य नहीं कर पाया और इसका भार श्रमिकों एवं किसानों को ढोना पड़ा। राज्य के विरुद्ध श्रमिकों, किसानों एवं सैनिकों ने भी क्रुद्ध होकर हथियार उठा लिए। इतिहास में प्रथम बार एक सामाजिक क्रान्ति हुई और इसकी सफलता के लिए रूस जो साम्राज्यवादी कड़ी का सबसे कमजोर अंग था के अलावा कोई और बेहतर देश नहीं हो सकता था।

4.3.3 बोल्शेविक विजय : साम्राज्यवाद को चुनौती

अक्तूबर क्रान्ति के समय सभी पूँजीवादी देश प्रथम विश्वयुद्ध में व्यस्त थे। इस युद्ध की शुरुआत ने यह साबित कर दिया था कि साम्राज्यवाद विश्व शान्ति के लिए खतरा था। इस युद्ध के विप्लव से रूस में प्रथम समाजवादी राज्य का उदय हुआ। इसके साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समानता एवं बिना आक्रमण के सुचालित करने के नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। साम्राज्यवादी प्रभुत्व की कड़ी को तोड़कर इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान प्रणाली को ढाहने की शुरुआत कर दी। साम्राज्यवादी प्रभुत्व की परिस्थितियों में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जिन कानूनों एवं मापदण्डों का विकास हुआ था, उन्हें अब सोवियत-रूस पर लागू नहीं किया जा सकता था। इनको लागू करने की पद्धति संकीर्ण हो गयी एवं अब यह सिर्फ साम्राज्यवादी शक्तियों के शक्ति संतुलन पर आधारित नहीं हो सकते थे। अब साम्राज्यवादी एवं सामाजवादी प्रणालियों के बीच संतुलन को भी मद्दे नजर रखना पड़ता था।

संक्षेप में, बोल्शेविक क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नए युग का सूत्रपात किया। (इसने श्रमिकों के एक राज्य की स्थापना की, जिनका स्वार्थ युद्ध, आक्रमण, उपनिवेशीकरण एवं जातीय भेदभाव से परे था।) इस क्रान्ति ने ऐसे राज्य को जन्म दिया जो, युद्ध एवं साम्राज्यवाद के सामने एक दीवार बन गया। इस क्रान्ति से अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की एक वैकल्पिक प्रणाली का सूत्रपात भी हुआ, जो खुलेपन एवं समानता पर आधारित था तथा आक्रमण, उपनिवेशीकरण, लूट-पाट तथा जातीय विभेदों के विरुद्ध था। साम्राज्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में यदि युद्ध अवश्यम्भावी दिखाई देता था तो बोल्शेविक क्रान्ति एवं समाजवादी विश्व की स्थापना की शुरुआत के साथ शान्ति अवश्यम्भावी दिखने लगी।

4.4 बोल्शेविक नीति के अंतरंग पहलू के रूप में शान्ति

सत्ता में आने के काफी पहले ही बोल्शेविकों की शान्ति नीति का निर्धारण हो चुका था। इस मामले में ये यूरोप के सामाजिक प्रजातांत्रिक दलों से भिन्न थे। 1907 में, स्टटग्राट में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक कांग्रेस में बोल्शेविक दल ने ही उस सिद्धान्त को अपनाया, जिसका मानना था कि युद्ध सिर्फ सत्ताधारी वर्ग के स्वार्थों की पूर्ति करता है और जिसकी जड़ें पूँजीवादी की प्रकृति में होती हैं। इसके अनुसार, युद्ध से श्रमिकों का ध्यान वर्ग-संघर्ष से हटाकर युद्ध की ओर लगाया जाता था और उन्हें राष्ट्रवादी भावनाओं की दुहाई दी जाती थी। समाजवादी इन्टरनेशनल का तब यह मानना था कि श्रमिक वर्ग द्वारा युद्ध को न छिड़ने देना और यदि युद्ध हो जाय तो उसे रोकना अत्यन्त आवश्यक है।

जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया तो, सर्बिया के सामाजिक प्रजातांत्रिक दल एवं रूस के बोल्शेविकों को छोड़कर युद्ध में शामिल सभी शक्तियों के समाजवादी दलों ने अपनी-अपनी सरकारों का समर्थन किया। लेनिन तथा बोल्शेविक दल का युद्ध के प्रति विरोध काफी उग्र था। प्रथम जिम्मरवाल्ड सम्मेलन में लेनिन ने राष्ट्रीय युद्ध को गृह-युद्ध में परिवर्तित करने का विचार प्रकट किया और इसके दूसरे सम्मेलन में उसने भविष्य में युद्धों को रोकने के लिए श्रमिक दल द्वारा राजनीतिक सत्ता हड़प लेने की बात की। उसने श्रमिकों को हथियार डालने का आह्वान किया एवं पूँजीवादी सरकारों के विरुद्ध हथियार उठाने के लिए ललकारा क्योंकि, सिर्फ समाजवाद की विजय से ही स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती थी। बोल्शेविकों ने इस सिद्धान्त को अपनाया एवं जार के हाथों अपने दमन के बावजूद रूसी सरकार का युद्ध में सहयोग देने का जमकर विरोध किया।

4.5 सोवियत सरकार की शान्ति पहलें

बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के बाद रूस में सोवियत सरकार की स्थापना हुई। इस नए सोवियत राज्य ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की विद्यमान प्रणाली का जिसके अटूट अंग युद्ध एवं उपनिवेशीकरण थे, कसकर विरोध किया। इसके बदले, प्रजातांत्रिक, न्यायपूर्ण शान्ति एवं

प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक प्रणाली को प्रोत्साहित किया गया। गुप्त कूटनीति का परित्याग सोवियत अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का एक स्वाभाविक परिणाम था। नए सोवियत राज्य द्वारा अपनाए गए शान्ति व्यवस्था आदेश ने गुप्त कूटनीति के समापन की उद्घोषणा की। इस कानून के तहत सोवियत विदेशी मंत्रालय ने जार के सरकार की गुप्त संधियों को प्रकाशित कर दिया। इनमें एंग्लो एशियन गुप्त सन्धि एवं 1907 में मध्य-पूर्व में इन दोनों के बीच स्वार्थ की सीमा रेखाओं के विभाजन की परम्परा तथा तुर्की को इन दोनों एवं फ्रांस के बीच बाँट देने के समझौते आदि भी शामिल थे।

4.5.1 शान्ति की उद्घोषणा

शान्ति व्यवस्था आदेश में सोवियत सरकार ने चल रहे युद्ध को मानवता के खिलाफ जघन्य अपराध बताया। उसने तुरन्त एक ऐसे शान्ति समझौते पर राजी होने की इच्छा जाहिर की, जो सब लोगों के लिए समान एवं न्यायोचित हो। इसकी नजर में प्रजातांत्रिक शान्ति वह शान्ति थी, जिसमें कब्जा और क्षति पूर्ति का कोई स्थान नहीं था। यह शान्ति आदेश समाजवादी राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुचारू रूप से चलाने के प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का एक मीलस्तम्भ था। इसमें किसी भी रूप में आक्रमण का बहिष्कार, राष्ट्रों के स्व-निर्धारण के अधिकारों को मान्यता देना, उपनिवेशवाद का विरोध, बड़े एवं छोटे राज्यों के बीच समानता के सिद्धान्त को स्वीकारना आदि शामिल थे। यह शान्ति आदेश सिर्फ सरकारों को ही संबोधित नहीं था, बल्कि लड़ाई में शामिल देशों को भी खासकर, ब्रिटेन, फ्रांस एवं जर्मनी के प्रगतिशील वर्ग सचेत श्रमिकों को संबोधित भी था। इसने जनसमुदाय को शान्ति के लिए संघर्ष में प्रत्यक्ष भाग लेने के लिए तथा विश्व राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप के लिए आह्वान किया था।

इसके अलावा भी अक्तूबर क्रान्ति के बाद कई अन्य महत्त्वपूर्ण दस्तावेज अपनाए गए, जिन्होंने सोवियत राज्य की शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नीति के मौलिक सिद्धान्तों की नींव डाली। 1918 की जनवरी में तृतीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में अपनाई गयी "श्रमिक एवं शोषित लोगों के अधिकारों की उद्घोषणा," ने मानवता को इस "सबसे अधिक अपराधी लड़ाई" से हर कीमत पर बिना आक्रमण या क्षतिपूर्ति के राष्ट्रीय स्वनिर्धारण के सिद्धान्त पर मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया। इस उद्घोषणा ने सोवियत राज्य के "..... बुर्जुआ संस्कृति की निष्ठुर नीतियों के साथ पूर्ण विच्छेद की बात की। ऐसी बुर्जुआ संस्कृति जो कुछ सीमित राष्ट्रों के शोषकों की उस समृद्धि पर आधारित थी, जिसका निर्माण उपनिवेशों एवं छोटे देशों के तथा एशिया के लाखों श्रमिकों को दास बनाकर किया गया।"

उस समय, विश्व शक्तियों का इरादा ऐसे किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रणाली की स्थापना करना नहीं था, जो शान्ति एवं प्रजातांत्रिक आधारों पर बनी हो। इन शक्तियों के अनुसार, सोवियत राज्य एक अप्राकृतिक घटना थी, जिसका सर्वनाश अवश्यम्भावी था। ऐसी सरकार के पतन के लिए, ये शक्तियाँ हर सम्भव प्रयास कर रहीं थीं।

4.5.2 ब्रेस्ट-लिटवोस्क का शान्ति समझौता

मित्र शक्तियों (जो अन्ततोगत्वा प्रथम विश्वयुद्ध में विजयी हुई) द्वारा सामान्य शांति समझौते को अस्वीकार करने के पश्चात् सोवियत रूस ने जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की एवं बल्गेरिया के साथ शांति वार्ता शुरू कर दी। सोवियत प्रस्ताव के छः सूत्र ये थे: युद्ध के दौरान कब्जाए गए क्षेत्रों का जबरदस्ती विलय नहीं, युद्ध के दौरान हारे गए देशों की राजनीतिक स्वतंत्रता की पुनःस्थापना, अल्पसंख्यकों को राज्य के अंदर रहने अथवा लोक-निर्णय द्वारा राज्य स्वाधीन होने की स्वतंत्रता, विशेष विधियों द्वारा राज्य के राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों, संस्कृति एवं यथा संभव प्रशासनिक स्वायत्तता की सुरक्षा, युद्ध में क्षतिपूर्ति के दावे का परित्याग एवं प्रथम चार सूत्रों के अनुसार उपनिवेशी समस्याओं का समाधान। यद्यपि, जर्मनी ने सोवियत प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया एवं सोवियत राज्य पर शांति की अपमानजनक शर्तों को थोप दिया, तथापि बोल्शेविक दल के भीतर एवं सरकार द्वारा कड़े विरोध के बावजूद रूस ने ब्रेस्ट-लिटवोस्क की संधि को जर्मनी की शर्तों पर मान लिया।

4.5.3 शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व

ऐसे वक्त में जबकि विश्व पूँजीवाद से समाजवाद में परिवर्तित हो रहा था, अंतर्राष्ट्रीय

संबंधों की एक नयी प्रणाली के रूप में सोवियत नीति द्वारा ब्रेस्ट-लिटवोस्क शांति संधि के दौरान शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत एवं व्यवहार का उदय हुआ। ब्रेस्ट-लिटवोस्क संधि एवं उसके तदुपरांत पूँजीवादी दुनिया के साथ आर्थिक संबंधों की स्थापना, पूँजीवाद एवं समाजवाद के लंबे अरसे तक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की वस्तुनिष्ठ एवं ऐतिहासिक जरूरतों से प्रेरित था। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का यह मतलब था कि किसी बेहतर सामाजिक व्यवस्था का आधार युद्ध अथवा युद्ध की तैयारी न होकर आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में परस्पर सहयोग हो। इस शब्द का इस्तेमाल पहली बार 1920 के अखिल रूसी केंद्रीय कार्यकारिणी समिति की बैठक में विदेश मंत्री जी. बी. चिकेरीन द्वारा किया गया। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति ने साम्राज्यवादी ताकतों को बिलकुल प्रभावित नहीं किया, जिन्होंने सोवियत राज्य पर क्रांति के पहले की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को पुनःस्थापित करने के लिए लड़ाई छेड़ दी। हस्तक्षेप करने वालों को हराने के बाद भी सोवियत सरकार को अंतर्राष्ट्रीय सबंधों के व्यवहार में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांतों को प्रतिपादित करने के लिए एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी।

4.5.4 मैत्री संधियाँ

बोल्शेविक विदेशी नीति के सिद्धांत एवं व्यवहार में राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं समानता के विचार अंतर्निहित थे। इनका लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रजातांत्रिक रास्तों पर आगे ले जाना था। सोवियत गणतंत्र के उदय ने स्वाधीन छोटे देशों, उपनिवेशी एवं अर्ध-उपनिवेशी देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ लड़कर अपनी प्रभुसत्ता को सुरक्षित रखने में सहायता की। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक नई प्रणाली के विकास की प्रक्रिया में पूर्वी देशों के साथ सामान्यतः आपसी सहयोग एवं मैत्री के आधार पर संबंधों को विशेष महत्त्व दिया गया। सोवियत संघ साम्राज्यवाद के खिलाफ इनके संघर्ष में सहायता करने के लिए इच्छुक था। अपनी आर्थिक स्थिति के ख़राब होने के बावजूद सोवियत राज्य ने तुर्की, अफ़गानिस्तान, ईरान एवं अन्य-देशों के मुक्ति आंदोलनों को न सिर्फ राजनीतिक एवं नैतिक सहायता प्रदान की, बल्कि भौतिक सहायता भी दी। जून, 1919 में सोवियत सरकार ने ईरान में रूसी अंतर्राष्ट्रीयता के लोगों के सारे विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया, इसके राजस्व से सारे नियंत्रण उठा लिए एवं बैंक, रेलवे, सड़कों, बंदरगाहों को ईरान को वापस कर दिया। साथ ही, सभी अन्य दौलतों पर रूसी दावों का परित्याग कर दिया गया। ईरान के साथ फरवरी, 1921 में मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए गए (यह ईरान एवं एक यूरोपीय शक्ति के बीच समानता की प्रथम संधि थी) जिसमें ईरान की स्वतंत्रता एवं सोवियत संघ के साथ उसकी सीमाओं की सुरक्षा की गारंटी दी गई। इसी प्रकार, तुर्की के साथ भी एक मैत्री संधि की गई जिससे तुर्की को सोवियत संघ से बड़े पैमाने पर आर्थिक वित्तीय, एवं सैनिक सहायता प्राप्त हुई। 1921 में एक सोवियत-अफगान संधि पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके द्वारा अफगानिस्तान को ब्याज रहित ऋण दिया गया एवं सोवियत विशेषज्ञों को वहाँ काम करने के लिए भेजा गया।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे छोड़े गए जगहों का इस्तेमाल करें।
ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर को मिलाएँ।

1) 1917 की रूसी क्रांति के कारणों एवं इसकी पृष्ठभूमि का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

2) किस प्रकार बोल्शेविक दल रूस के अन्य सामाजिक प्रजातांत्रिक समूहों से भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

3) किस प्रकार बोल्शेविक विजय साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था के लिए एक चुनौती थी?

.....

.....

.....

.....

4.6 प्रथम विश्वयुद्ध के बाद शांति समझौते

4.6.1 पेरिस का 1919 का शांति समझौता

शांति समझौता प्रत्येक विश्वयुद्ध के बाद उससे उत्पन्न समस्याओं एवं विवादों के निराकरण के लिए युद्ध से संबद्ध दलों के बीच होने वाली प्रक्रिया है। प्रथम विश्वयुद्ध के उत्तरार्द्ध में कई दलों खासकर, मित्र शक्तियों द्वारा शांति की कई योजनाएँ एवं प्रस्ताव रखे गए ताकि, युद्ध के बाद स्थायी शांति समझौते हो सकें। तदनुसार, नवंबर, 1919 के युद्ध विराम के तुरंत बाद एक शांति सम्मेलन के लिए शीघ्र तैयारियाँ की गईं, जो अंततः 18 जनवरी, 1919 से पेरिस में शुरू हुई। यह 32 मित्र देश एवं संलग्न शक्तियों के प्रतिनिधियों का, (रूस को छोड़कर जो ब्रेस्ट-लिटयोस्क की संधि के आधार पर युद्ध से हट गया था) महान सम्मेलन था। वहाँ उपस्थित महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज, फ्रांस के प्रधानमंत्री जॉर्ज क्लीमेन्सो, इटली के प्रधानमंत्री ऑरलैण्डो एवं जापान के प्रधानमंत्री मार्क्वी सैओन्जी तथा साउथ अफ्रीका के जनरल बोथा एवं स्मिथ सर्वप्रमुख थे। इस सम्मेलन की खास विशेषता यह थी कि पराजित राष्ट्रों (केंद्रीय शक्तियों) में से किसी को भी तब तक निमंत्रित नहीं किया गया जब तक विजेता मित्र देशों के बीच संधि की शर्तों पर एक आम सहमति नहीं हो गयी।

सम्मेलन के कार्यों का संपादन अमेरिका के वुडरो विल्सन, फ्रांस के क्लीमेन्सो एवं ब्रिटेन के लॉयड जॉर्ज–इन तीन बड़े लोगों द्वारा हुआ। किंतु, सम्मेलन के कार्यों पर विद्यमान परिस्थितियों एवं वस्तुनिष्ठ सच्चाइयों का प्रभाव भी पड़ा, जो इन नेताओं के नियंत्रण के बाहर था। यह सम्मेलन नाना प्रकार के दबावों के अधीन था। युद्ध के दौरान की गई गुप्त संधियों को समायोजित करने की समस्या, एवं भागीदारों के प्रतिद्वंद्वी दावों एवं राष्ट्रीय हितों ने सम्मेलन के कार्यों को और भी जटिल बना दिया। राष्ट्रवादी शक्तियों एवं राष्ट्रीय स्वनिर्धारण के दावों ने भी जटिल कठिनाइयाँ पैदा कर दीं। जर्मनी को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराकर उससे क्षतिपूर्ति की माँग सारे यूरोप में की जाने लगी। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पेरिस जो स्वयं एक मुख्य युद्ध क्षेत्र था तथा युद्ध के धक्के से अभी उभर नहीं पाया था, संधि समझौतों के लिए कदाचित उचित जगह नहीं था।

पेरिस का शांति सम्मेलन 18 जनवरी, 1919 को औपचारिक उद्घाटन के पश्चात् विशेषज्ञों एवं कूटनीतिज्ञों की विभिन्न समितियों एवं संघों द्वारा सम्पादित होने लगा। इसमें भाग ले रहे 32 देशों के लक्ष्यों, हितों एवं उद्देश्यों में परस्पर मुठभेड़ के कारण बुनियादी मुद्दों पर समझौता होना मुश्किल हो रहा था। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन को जो अपने "चौदह सूत्री" कार्यक्रम के तहत राष्ट्रसंघ की स्थापना पर काफी बल दे रहे थे, अपनी योजनाओं पर समर्थन पाने के लिए रियायतें अन्य साथी भागीदारों को देनी पड़ी। काफी वार्ताओं एवं समझौतों के बाद अंततः 7 मई, 1919 को एक शांति संधि तैयार कर जर्मनी को पेश की गयी। जर्मनी ने इसका विरोध करते हुए इसे "चौदह सूत्रों" के विरुद्ध एवं असहनीय बताया। किंतु, मित्र देशों के राजनीतिज्ञ जर्मनी के प्रति उदासीन थे। जर्मनी के पास बिना शर्त मित्र देशों के पास शांति की शर्तें मानने के अलावा और कोई चारा नहीं था, क्योंकि अन्यथा उस पर इन देशों का कब्जा हो जाता।

पेरिस शांति सम्मेलन में निम्नलिखित पाँच संधियाँ की गईं:

1) जर्मनी के साथ 28 जनवरी, 1919 को वर्साय की संधि,

2) 2 सितंबर, 1919 को ऑस्ट्रिया के साथ सेंटजर्मेन की संधि,

3) 27 नवंबर, 1919 को बल्गेरिया के साथ नेविल्ली की संधि,

4) 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ ट्रायनन की संधि, तथा

5) 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ सर्वेश की संधि।

4.6.2 वर्साय की संधि

28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय की संधि करने के साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध औपचारिक रूप से समाप्त हो गया। यह एक वृहद संधि थी, जिसमें कुल 440 अनुच्छेद थे जो शांति समझौतों के विभिन्न पहलुओं जैसे, राजनीतिक, आर्थिक, क्षेत्रीय, सैनिक से संबंधित इत्यादि थी। यह संधि मूलतः "युद्ध-दोष" अधिनियम (अनुच्छेद 232) पर आधारित था, जिसके द्वारा जर्मनी एवं उसके मित्र देशों के ऊपर युद्ध का उत्तरदायित्व थोपकर मित्र देशों के नुकसानों का बोझ डाल दिया गया। जर्मनी के सम्राट कैसर द्वितीय पर अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं संधियों की पवित्रता को भंग करने का गहरा आरोप लगाया गया।

इस संधि द्वारा जर्मनी को 25000 वर्ग मील का क्षेत्र एवं 7,000,000 निवासियों पर अपना कब्जा छोड़ना पड़ा। इसके अलावा, इसे कई प्राकृतिक संसाधनों जैसे, कोयले एवं लोहे के खानों को भी त्यागना पड़ा, जिससे उसका व्यापार एवं उद्योग अव्यवस्थित हो गया। साथ ही, जर्मनी को पुनर्निर्माण की राशि के रूप में 6,000,000,000 भुगतान करना पड़ा। जर्मनी के सारे विदेशी उपनिवेशों को संघ द्वारा नियंत्रित क्षेत्र घोषित कर दिया गया एवं विजेता शक्तियों ने उनका आपस में बँटवारा कर दिया। सैनिक क्षेत्र में जर्मनी की सेना को विघटित कर दिया गया। वह सिर्फ एक लाख सैनिक रख सकती थी और बिना आधुनिक हथियारों के एक छोटी नौसेना कायम कर सकती थी। जर्मनी को वायुसेना रखने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। राइन का नदी के 50 किलोमीटर पूर्व तक असैनिकरण कर दिया गया एवं इसके निरस्त्रीकरण के निरीक्षण हेतु, मित्र देशों की एक समिति का गठन किया गया। संधि द्वारा ऑस्ट्रिया-जर्मनी संघ पर डाला गया प्रतिबंध जर्मनी के सैनिकवाद के पुनःआगमन के भय का परिणाम था। इस प्रकार, इस संधि द्वारा जान बूझकर जर्मनी को आर्थिक एवं सैनिक रूप से निकम्मा करने की कोशिश की गई। यह संधि हरेक दृष्टिकोण से जर्मनी के लिए कठोर थी। बेल्जियम, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी, ऑस्ट्रिया की स्वतंत्रता प्रदान करने के अलावा इस संधि ने जर्मनी का रूस के साथ किए ब्रेस्ट-लिटवोस्क की संधि को तोड़ने पर भी मजबूर कर दिया।

वर्साय की संधि ने जो विल्सन के "चौदह सूत्रों" पर आधारित थी, अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को कायम रखने के उद्देश्यों से राष्ट्रसंघ (अनुच्छेद 1 से 26) की स्थापना भी की। इसी प्रकार, इस संधि ने एक अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना भी की एवं जर्मनी के विदेशी उपनिवेशों को शामिल करने के लिए कार्यकारी सरकार प्रणाली का गठन किया।

जैसा कि कई समीक्षकों ने बताया है कि वर्साय की संधि एक थोपी हुई संधि थी। यों तो इस संधि की शर्तें विल्सन के "चौदह सूत्री" सिद्धांतों पर आधारित बताई गई, किंतु वास्तविकता में यह **विजेता** द्वारा **विजित** देशों के ऊपर थोपी हुई शांति थी। शांति सम्मेलन के दौरान जर्मनी के प्रतिनिधियों से एक बार भी परामर्श नहीं लिया गया। इस संधि के विभिन्न अनुच्छेदों के प्रति जर्मनी की आपत्तियों को नजरअंदाज कर दिया गया।

परोक्ष रूप से, पेरिस शांति सम्मेलन के नेतागण जर्मनी के साथ इस तरह का समझौता करना चाहते थे ताकि यूरोप में शक्ति का वितरण इस तरह हो कि जर्मनी का एक आक्रमण सैनिक राज्य के रूप में फिर से उदय असंभव हो जाए। इसके अलावा पेरिस शांति व्यवस्थापकों के दिलों में रूसी साम्यवाद का भय तथा उपनिवेशों का लालच सदा वर्तमान था। अतः यह समझौता नए शक्ति संतुलन की जरूरत, बोल्शेविकों के भय एवं उपनिवेशों के लालच से प्रभावित था। यह सच है कि शांति सम्मेलन में राष्ट्रपति विल्सन का आदर्शवाद, यथार्थवाद एवं भौतिकवाद से टकराया एवं इसमें पिछले दोनों की विजय हुई। परिणामस्वरूप; विल्सन के "चौदह सूत्रों" में कई की अवहेलना की गई या उनके प्रारूप को बदला गया। इससे असंतोष बढ़ा एवं भविष्य में कठिनाई के बीज बोए गए।

संधि के विधानों की प्रकृति एवं उसकी "युद्ध-अपराध" की धारा एवं अन्य कई कठोर शर्तों ने जर्मनीवासियों के मन में धारणा भर दी कि यह विजेताओं द्वारा थोपी गई एवं अन्यायपूर्ण

बोध प्रश्न 5

1) निर्णय-परक दृष्टिकोण का तात्पर्य समस्याओं के परिप्रेक्ष्य की स्थिति से हैं। यह हानि को कम करने और लाभ को अधिक करने के विकल्प की एक खोज है, और स्थिति, उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए रणनीति तैयार करती है। यह परिवेश एवं मूल्य कर्त्ताओं पर ध्यान केन्द्रित करता है।

2) यह उपागम मूल्यों को ध्यान में नहीं रखता है, और न घटनाओं के परिणाम में इसका कोई योगदान होता है।

बोध प्रश्न 6

1) संचार साधनों के क्रांतिकारी परिवर्तन ने संसार को देखने के नज़रियों को पूर्ण रूप से बदल दिया है। घटनाओं एवं लोगों के परिप्रेक्ष्य को बदलने में जन-संचार साधनों की अहम-भूमिका रही है। लोगों ने अनुभव किया है कि प्रसार की प्रक्रिया के साथ-साथ सन्देश के अन्दर भी क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकते हैं। संकेत, शोर, घटनाएं आदि ऐसे शब्द हैं जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के शब्दकोष में स्थायी रूप से जुड़ गए हैं। आदान-प्रदान के विस्तार में कई गुणा वृद्धि हुई है और विभिन्न कार्यकर्त्ताओं की आत्म-निर्भरता विशिष्ट ढंग से दृष्टिगोचर हो रही है।

.....

.....

.....

3) पेरिस शांति सम्मेलन में की गई लघु संधियों को संक्षेप में बताएँ।

.....

.....

.....

.....

4.7 सारांश

इस इकाई में हमने प्रथम विश्वयुद्ध के चरित्र, 1917 की बोल्शेविक क्रांति तथा 1919 एवं 1920 की शांति संधियों का वर्णन किया। ये समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास की प्रमुख घटनाएँ थीं। प्रथम विश्वयुद्ध वस्तुतः एक अंतर-साम्राज्यवादी युद्ध था। साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच झगड़े, बहुधा उपनिवेशों के विभाजन को लेकर होते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के कारण उग्र राष्ट्रवाद, आर्थिक प्रतिद्वंद्विता एवं राजनीतिक झगड़े थे। इन सब के चलते प्रतिद्वंद्वी गुटों का गठन हुआ एवं यूरोपीय शक्तियों के बीच हथियारों की होड़ चल पड़ी, जिनके चलते अंततोगत्वा युद्ध भड़क उठा।

रूस की बोल्शेविक क्रांति ने विश्व इतिहास में एक नए युग की शुरुआत की। इस राज्य का भविष्य एवं हित दोनों शांति से जुड़े थे। रूस में सिर्फ बोल्शेविक ही एक ऐसा राजनीतिक दल था, जो प्रथम विश्वयुद्ध के खिलाफ था। इस प्रकार, बोल्शेविक सिद्धांतों एवं व्यवहारों में शांति की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। 1917 में सत्ता में आने के बाद उन्होंने न सिर्फ रूस को युद्ध से हटा लिया बल्कि, युद्धरत दलों को प्रजातांत्रिक एवं न्यायपूर्ण तरीकों से शांति कायम करने पर बल देकर युद्ध समाप्त करने की कोशिशें भी कीं।

किंतु 1919 एवं 1920 की शांति संधियाँ विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित थीं। 1919 में पेरिस शांति सम्मेलन में हुई वर्साय की संधि एवं अन्य लघु संधियाँ एकपक्षीय थीं, जिनका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर अन्यायपूर्ण यथावाद को थोपना था। इन संधियों की कई अच्छी विशेषताएँ भी थीं जैसे, राष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना एवं राष्ट्रीय स्वनिर्धारण के सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि। किंतु, इन संधियों के निर्माताओं के भौतिक स्वार्थों एवं वास्तविक इरादों ने इनके लाभदायक पहलुओं को धूमिल कर दिया। सचमुच 1919 के शांति समझौतों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज बोए गए।

4.8 शब्दावली

बुर्जुआ प्रजातंत्र : एक प्रजातांत्रिक प्रणाली जिसमें सत्ताधारी वर्ग बुर्जुआ होता है।

समाजवाद : एक प्रणाली जिसमें श्रमिक सत्ताधारी वर्ग होते हैं एवं जहाँ उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व नहीं होता है।

पूँजीपति : जो उत्पादनों के साधनों का मालिक होता है, जो मुनाफे के लिए उत्पादन करता है एवं जो बाजार से श्रम-मजदूरों को नियुक्त करता है।

गनबोट कूटनीति : दूसरे देशों के साथ व्यवहार में शक्ति के उपयोग की धमकी।

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कार, इ. राज., 1978, *बोल्शेविक क्रांति*, 1917-1923 मैक्मिलन प्रेस, लंदन।

फेरो, मार्क, 1980, *रूसी क्रांति का सामाजिक इतिहास*, रूटलेजेस एवं कर्गन पॉल, लंदन।

पेथिब्रिज, रोलर, 1972, *रूसी क्रांति का विस्तार*, मैक्मिलन, सेंट मार्टिन्स प्रेस, लंदन 1917 पर लेख।

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
1) भाग 4.2 एवं उपभाग 4.2.1 देखें।
2) भाग 4.2 देखें।

बोध प्रश्न 2
1) भाग 4.3 और उसके उप-भाग देखें।
2) भाग 4.5 देखें।
3) भाग 4.6 देखें।

बोध प्रश्न 3
1) भाग 4.6 देखें।
2) उपभाग 4.6.2 देखें।
3) उपभाग 4.6.2 देखें।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)
समकालीन अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

खंड
3

संप्रभु राज्य व्यवस्था

इकाई 5

संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय 5

इकाई 6

सामर्थ्य (केपेबिलिटि) 15

इकाई 7

विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्व 25

खंड 3 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा राजनीति को साधारणतया विभिन्न प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के नियोजित कार्य, प्रतिकार्य एवं अन्तकार्यों का रूप माना जाता है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति का निर्माण होता है। वर्तमानकालीन अन्तः राष्ट्रीय पद्धति में कई राष्ट्र-राज्य सम्मिलित हैं जिनमें से कुछ बड़े हैं जबकि दूसरे मध्यम वर्गीय या छोटे हैं तथा बहुत शक्तिशाली भी नहीं हैं। पर आकार और शक्ति में छोटे होते हुए भी वे अपने प्रभुसत्ता प्राप्त राष्ट्र के रूप में अन्यों के समान माने जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि हर राष्ट्र अपने आन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्धों में अपनी स्वतंत्रता तथा वर्चस्व बनाये रखते हैं। इन संप्रभु राष्ट्रों के सतत् अन्तः सम्बन्ध एवं अन्तः निर्भरता के कारण हम संप्रभु राज्य व्यवस्था का उल्लेख करते हैं। इस व्यवस्था में हर राष्ट्र के सामने एक निरपेक्ष उद्देश्य रहता है जिसकी उसे पूर्ति करनी है। इस उद्देश्य के लिए राज्य अपने भौतिक एवं गैर-भौतिक साधनों से सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। दूसरे शब्दों में अपने प्रत्यक्षीकृत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ये राज्य एक सुनिश्चित विदेश नीति का निर्माण करते हैं। अन्य बातों के साथ यह कार्य राज्य की सम्पूर्ण सामर्थ्य को आधारभूत मानकर किया जाता है। इस खंड में तीन इकाइयाँ हैं। पहली इकाई जिसका शीर्षक "संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय" (दी राइज ऑफ दी सोवरिन स्टेट सिस्टम) रखा गया है। वह वर्तमान प्रभुसत्तापूर्ण राज्य व्यवस्था का विकास अनुरेखण करती है। इस व्यवस्था के प्रमुख स्वरूपों और भावी दिशा प्रवृत्तियों पर इस इकाई में विचार किया गया है।

इस खंड की दूसरी इकाई 6 में मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय अभियोक्ता और उनकी सामर्थ्य के बारे में चर्चा की जानी थी। इसके बावजूद चूंकि गैर-राज्यीय अभियोक्ता और उनकी सामर्थ्य के बारे में आगे की इकाइयों में चर्चा की जा रही है, हमने इस इकाई का पुनर्निर्माण कर दिया है ताकि प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के "सामर्थ्य" पर पूरा प्रकाश डाला जा सके। इस इकाई में राष्ट्र के "सामर्थ्य" और शक्ति में अन्तर करने का प्रयत्न किया गया है तथा विदेशी नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामर्थ्य जो भाग अदा करती है उसका विवरण दिया गया है। इसके अलावा उन विभिन्न तत्वों का स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है जो राज्य के "सामर्थ्य" का निर्माण करते हैं।

इस खंड की तीसरी इकाई 7 का शीर्षक "विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्व" (डाइनेमिक्स) रखा गया है। इस इकाई का सम्बन्ध संप्रभु राज्य पद्धति के कार्य के महत्वपूर्ण स्वरूप से है। वर्तमान संप्रभु राज्य पद्धति में विदेश नीति राज्य का एक परिचालित यंत्र है जो बाहरी दुनिया से अपने अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करता है। विदेश नीति का निर्माण एक गत्यात्मक पद्धति है जिसमें जटिल विभिन्नताओं एवं परिवर्तनों की परस्पर क्रिया चलती रहती है। इस इकाई में विदेश नीति के निर्माण और उसकी क्रियान्विति के विविध स्वरूपों की जांच करेंगे। विशेषकर राजनैतिक, नीति सम्बन्धी एवं व्यवसायिक अन्तर्तत्वों की, जो सफल विदेश नीति के लिए आवश्यक है।

इकाई 5 संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 आधुनिक राष्ट्र-राज्य
  5.2.1 राष्ट्र राज्य के मूल तत्व
  5.2.2 संप्रभु राज्य की धारणा
  5.2.3 संप्रभु राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था
5.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें
  5.3.1 प्राचीन यूनान के नगर-राज्य
  5.3.2 रोमन साम्राज्य
  5.3.3 इटली में पुनर्जागरण
5.4 आधुनिक संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय
  5.4.1 क्लासिकी युग
  5.4.2 यूरोपीय "सामंजस्य" (दि यूरोपीयन कन्सर्ट)
5.5 संप्रभु राज्य व्यवस्था का वर्तमान और भविष्य
  5.5.1 राज्य की प्रभुसत्ता की सीमायें
5.6 सारांश
5.7 आधारभूत शब्द
5.8 कतिपय उपयोगी ग्रंथ
5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आधुनिक राजक्षेत्रीय राष्ट्र राज्य के आविर्भाव, प्रकृति एवं विकास पर प्रकाश डालना तथा समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में राज्य प्रणाली को समझाना है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप अग्रांकित बिन्दुओं पर सक्षम होंगे:

- आप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभुसत्ता सम्पन्न "राज्य" की केन्द्रीयता को पहचान पायेंगे।
- आप आधुनिक राज्य तथा राज्य प्रणाली के ऐतिहासिक क्रम विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कर पायेंगे।
- आप इस प्रणाली पर पड़ने वाले आधुनिक दबावों का वर्णन कर पायेंगे।
- आधुनिक राज्य प्रणाली के भविष्य की व्याख्या कर पायेंगे।

5.1 प्रस्तावना

"राज्य" का, इसके राजक्षेत्रीय राष्ट्र-राज्य के आधुनिक अर्थ में आविर्भाव, यूरोप में 15वीं से 17वीं शताब्दी के दौरान हुए महत्वपूर्ण विकास के पलस्वरूप हुआ। आज विश्व में लगभग 170 राज्य हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली संघटित हुयी है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं राजनीति को साधारणतया प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के मध्य, उनकी विदेश नीतियों के माध्यम से होने वाली क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं और पारस्परिक क्रियाओं के एक समूह के रूप में समझा जाता है। एक सर्वोच्च साधिकार राजनीतिक संस्था के रूप में राज्य अपने सभी आन्तरिक स्रोतों को अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक क्रिया का वहन करने में लगा सकता है। वह पारस्परिक क्रिया चाहे युद्ध के रूप में हो या राजनय और शांति के अनुसरण के रूप में हो।

आप पहले ही राजनीतिक सिद्धान्त तथा संस्थाओं (पॉलिटिकल थ्योरी एण्ड इन्सटिट्यूशन्स–ई.पी.एस.-01) के अध्ययन के अन्तर्गत राज्य के सम्बन्ध में–मुख्य रूप से इसके उद्भव, कार्य तथा विभिन्न सैद्धान्तिक संधारों के बारे में विस्तार से पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में हम आधुनिक राज्य प्रणाली के विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन करेंगे तथा आज के विश्व में इसके भविष्य पर भी विवेचन करेंगे।

5.2 आधुनिक राष्ट्र-राज्य

5.2.1 राष्ट्र-राज्य के मूल तत्व

आधुनिक राज क्षेत्रीय राष्ट्र-राज्य उन दोनों प्रकार के राज्यों (1) व राज्य जो कि आवश्यक रूप से सगोत्रता अथवा सजातता पर आधारित थे (उदाहरणार्थ–प्रचीन यूनान के 'किनशिप स्टेट'), तथा (2) सामंती राजवंशीय राज्य–जो कि नरेशों अथवा नरपतियों द्वारा शासित होते थे, से भिन्न हैं। इन सामंती राजवंशीय राज्यों में निवास करने वाली जनता की राज्य के साथ वास्तव में कभी भी एकात्मकता स्थापित नहीं की गयी। अर्थात् इन राज्यों में निवास करने वाली जनता को राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में महत्व नहीं दिया जाता था। एक शक्ति के रूप में कार्य करने वाली सामूहिक राष्ट्रीय एकात्मकता जिसने कि समाज की एकांकी इकाइयों को राज्य के साथ जोड़ते हुए बिखरी हुयी सामाजिक-राजनीतिक सत्ता को एक एकीकृत संरचना का रूप प्रदान किया, उत्तर कालीन विकास है। इसने (सामूहिक राष्ट्रीय एकात्मकता की शक्ति ने) उन उदीयमान पूंजीवादी शक्तियों को योगदान दिया जो कि समाज को एक ही बाजार के रूप में एकीकृत करने की कोशिश में थी। तथा सामूहिक राष्ट्रीय एकात्मता की शक्ति को भी इन उदीयमान पूंजीवादी शक्तियों ने योगदान दिया।

इसलिए, **राष्ट्रवाद** आधुनिक राज्य के केन्द्रीय मूल तत्व का निर्माण करता है। हालांकि, यहां कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी राष्ट्र और राज्य एक समान हैं अथवा परस्पर मेल खाते हैं। अनेक बहुराष्ट्रीय राज्य भी हैं, उदाहरणार्थ–सोवियत संघ या कनाडा अथवा भारत। ऐसे भी प्रकरण हैं जहां एक से अधिक राज्य हैं, फिर भी उनमें राष्ट्रीयता एक ही है। इस प्रकार के प्रकरण के लिए युद्धोपरान्त जर्मनी का (एकीकरण से पूर्व का) उदाहरण दिया जा सकता है–पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी दो राज्य थे लेकिन दोनों की राष्ट्रीयता एक थी। कई बार राष्ट्रीयतायें राज्यों की सीमाओं के बाहर भी फैल जाती हैं, जैसा कि कई देशों में फैले हुए यहूदियों के प्रकरण में देखा जा सकता है।

एक सुनिश्चित तथा निर्धारित सामीओं वाला भू-भाग (राजक्षेत्र) राज्य का अन्य निर्णायक मूलभूत तत्व है। एक राज्य के भू-भाग से दूसरे राज्य के भू-भाग पर लोगों का या सामान का अप्रतिबन्धित आवागमन नहीं हो सकता। अर्थात् एक राज्य के भू-भाग से मनुष्यों अथवा सामान के दूसरे राज्य के भू-भाग में जाने पर प्रतिबन्ध होते हैं। उस भू-भाग (राजक्षेत्र) के अन्दर केवल वही राज्य अप्रतिबन्धित अथवा असीमित शक्ति रखता है। जिसका कि वह राजक्षेत्र (भू-भाग) है।

हर राज्य प्रभुसत्ता संपन्न है, उदाहरणार्थ उसकी सरकार और केवल वही यह निश्चित करता है कि अपनी गृह तथा विदेश सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण किस ढंग से करे।

एक राज्य को राज्य समझा जाने के लिए यह भी आवश्यक है कि दूसरे राज्य उसे राज्य के रूप में मान्यता प्रदान करें। ऐसा साधारणतया तब होता है, जब कि सामान्य रूप से यह समझा जाने लगता है कि राज्य ने अपने राज्य क्षेत्र (भू-भाग) में रहने वाली जनता पर नियंत्रण स्थापित कर लिया है। मान्यता (दूसरे राज्यों द्वारा मान्यता) का अर्थ है एक वैधिक राजनीतिक सत्ता के रूप में स्वीकृति।

5.2.2 संप्रभु राज्य की धारणा

प्रभुसत्ता एक साधारण शब्द है जिसका अर्थ है आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूपों में राज्य की सर्वोच्च शक्ति। प्रभुसत्ता की विशेषता के आधार पर ही राज्य तथा अन्य संघों अथवा संगठनों में भेद किया जा सकता है। अर्थात् प्रभुसत्ता वह विशेषता है जो राज्य को अन्य

संघों अथवा संगठनों से पृथक दर्शाती है। राज्य की प्रभुसत्ता ही (1) राज्य के अन्दर अन्य संघों तथा समाज के व्यक्तियों, तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में बाह्यस्वतंत्रता के लिए अन्य राज्यों की तुलना में इसे अधिक विस्तृत बनाती है।

प्रभुसत्ता की सबसे पुरानी परिभाषाओं में से फ्रांसीसी दार्शनिक जीन बोडिन (1530-1596) की परिभाषा है। उसके अनुसार प्रभुसत्ता "नागरिकों तथा प्रजा पर सर्वोच्च शक्ति है जो कि कानून द्वारा अबाध्य है"। हालांकि बोडिन का प्रमुख उद्देश्य फ्रांसीसी राजा की स्थिति को शक्तिशाली बनाना था, जो कि उस वक्त गृह युद्ध तथा अव्यवस्था का सामना कर रहा था। थॉमस् हॉब्स (1588-1679) ने प्रभुसत्ता के स्थान को सशरीर राजा से अमूर्त प्रत्यय जो कि सरकार अथवा राज्य कहलाता है की तरफ स्थानान्तरित करते हुए प्रभुसत्ता की अवधारणा का विस्तार किया। अर्थात् इसके पूर्व प्रभुसत्ता मूर्त व्यक्ति-राजा में ही समझी जाती थी, लेकिन थॉमस् हॉब्स ने इस अवधारणा का विस्तार किया तथा कहा कि प्रभुसत्ता—राज्य अथवा सरकार (जो मूर्त रूप में नहीं देखे जा सकते) में निवास करती है। इंगलैण्ड में सुधार आन्दोलन के उपद्रवी वर्षों, 1640-51 के दौरान, जब पुरोहिती, बड़े भूमिपतियों (जागीरदारों) तथा चर्च की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति को सम्राट (क्राउन) तथा भूमिपतियों के एक प्रतिद्वन्द्वी वर्ग की तरफ परिवर्तित करने की कोशिश की जा रही थी, तब हॉब्स ने संप्रभु को राज्य तथा सरकार से समीकृत किया। "वेस्टफैलिया की शांति" (पीस ऑफ वेस्टफैलिया) के पश्चात् जिसके बारे में आप कुछ समय बाद पढ़ेंगे, लीबनिज ने प्रभुसत्ता के प्रश्न पर अधिक विस्तार से विवेचन किया। इस समझौते (वेस्टफैलिया समझौते) ने उन राजाओं को प्रभुसत्तात्मक स्वतंत्रता प्रदान कर दी, जो कि औपचारिक रूप से अभी साम्राज्य में सम्मिलित हुए थे। साम्राज्य की सामंती संरचना, इसकी राजभक्ति, क्षेत्राधिकार तथा सदस्यों के कर्तव्यों आदि के बारे में अक्षुण्ण थी। क्या ये शासक फिर भी संप्रभु थे?

लीबनिंज के मतानुसार न्यूनतम आकार के भू-भाग (राजक्षेत्र) का होना प्रभुसत्ता के लिए सर्व प्रथम शर्त थी। अर्थात् भू-भाग के अभाव में प्रभुसत्ता नहीं हो सकती अतः भू-भाग का होना सर्व प्रथम शर्त है जागीरें अथवा प्रदेश उन राज्यों के बराबर होने का दावा नहीं कर सकती जिन्होंने कि एक दूसरे को संप्रभुता संपन्न राज्य के रूप में मान्यता दे रखी है। वह आगे "प्रभुसत्ता" (सॉवरेनटी) और "राजसत्ता" (मेजेस्टी) में फर्क करता है। अर्थात् साम्राज्य के अन्य सदस्यों पर सम्राट के प्रभुत्व के आधार पर अन्तर करता है। उसके अनुसार यह (राजसत्ता—"मेजेस्टी") प्रभुसत्ता नहीं है, क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत राजसत्ता (मेजेस्टी) में स्वयं के भू-भाग को अपने प्रभाव में लेने के लिए वास्तविक और विद्यमान शक्ति नहीं होती है। दूसरे शब्दों में उनका भू-भाग अपारगम्य (उसे साम्राज्य से अलग नहीं किया जा सकता है) तथा अधीन (साम्राज्य के अधीन) है। यदि वह वास्तव में भू-भाग का राजा होता तब उसे अपनी प्रजा पर अधिकार होता और इस प्रकार वह संप्रभु होता। इस प्रकार सैन्य शक्ति द्वारा अपने क्षेत्र का नियंत्रण करना, जो कि किसी भी अन्य शक्ति को अलग कर सके, प्रभुसत्ता का एक निर्णायक तत्व है।

5.2.3 संप्रभु राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था

आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुसत्ता में एक उपयोगी अन्तर किया जाता है। आन्तरिक प्रभुसत्ता का सम्बन्ध राज्य के अपने नागरिकों पर सर्वोच्च तथा वैधिक अधिकार से है। दूसरी तरफ बाह्य प्रभुत्ता का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्य द्वारा अपनी सरकार की स्वतंत्रता, क्षेत्रीय अखंडता तथा अलंध्यता के लिए मान्यता देना तथा मान्यता प्राप्त करने से है। अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में संप्रभु राज्य स्वतंत्र, अखण्ड तथा अनतिक्रम्य है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उस पर किसी अन्य शक्ति का अंकुश नहीं है। इस रूप में राज्य को मान्यता प्राप्त होने का अर्थ है राज्य के पास बाह्य प्रभुसत्ता है। डच विधि शास्त्री ह्यूगो ग्रोश्यिस (1583-1645) ने प्रभुसत्ता की परिभाषा इस प्रकार की है—"वह शक्ति जिसके कृत्य किसी अन्य के नियंत्रण के अधीन न हों"। उसके अनुसार राज्य द्वारा अपने आन्तरिक मामलों का संचालन करते समय यदि वह अन्य राज्यों के नियंत्रण से स्वतंत्र रहता है तब उसकी संप्रभुता प्रमाणित हो जाती है। इस रूप में परिभाषित प्रभुसत्ता आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की नींव का पत्थर बन गयी है। इसी बाह्य प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में हम यहां चर्चा कर रहे हैं।

प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में इस धारणा (बाह्य प्रभुसत्ता) को सर्वप्रथम 1648 में वेस्टफैलिया

की संधि में मान्यता दी गयी तथा इसका संस्थानिकीकरण हुआ। संधि में निश्चित किया गया कि–

1) केवल प्रभुसत्ता संपन्न राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहभागिता कर सकते थे।

2) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक कर्ता (सहभागी) के रूप में किसी राज्य को मान्यता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि उस राज्य के पास एक भौगोलिक क्षेत्र तथा निश्चित जनसंख्या हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने हेतु एक प्रभावशाली सैन्य शक्ति हो।

3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सभी प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों को एक समान माना गया।

राज्यों के मध्य सम्बन्धों की यह नयी व्यवस्था कतिपय परिवर्तनों के साथ द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक बनी रही। आगे चलकर संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र आदि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नये आयाम जोड़े गये। इन परिवर्धनों का विवेचन आगे एक खंड में किया जा रहा है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर के साथ मिलान करके जांचें।

1) राष्ट्र राज्य के सबसे महत्वपूर्ण मूलतत्व है:

अ) ..... ब) .....

स) ..... द) .....

2) निम्नलिखित में से एक राज्य की बाह्य प्रभुसत्ता की विशेषता नहीं है उसे पहचानें।

अ) अन्य राज्यों द्वारा क्षेत्रीय अखण्डता को मान्यता।
ब) प्रत्येक राज्य की अलंध्यता।
स) साथी राज्यों को पुरस्कार तथा दण्ड देने की क्षमता।
द) बाह्य नियंत्रण से स्वतंत्रता।

5.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें

जब आधुनिक राज्य व्यवस्था के आविर्भाव का इतिहास 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों के परिवर्धनों की तरफ पीछे लौटता है, तब ज्ञात होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थायें इससे पूर्व भी विद्यमान थीं।

5.3.1 प्राचीन यूनान के नगर-राज्य

कतिपय विद्वानों का यह कथन ठीक ही है कि जब हम प्रभुता संपन्न राज्य व्यवस्था के प्रारंभिक इतिहास की चर्चा करते हैं तब उस समय हालांकि, राज्यों के परस्पर सम्बन्धों के प्रसंग थे, फिर भी इस विषय में जो बातें की जाती हैं उनका अर्थ "अन्तर्राज्यीय" (इण्टरस्टेट) व्यवस्था से अधिक है बजाय अन्तर्राष्ट्रीय (इन्टरनेशनल) व्यवस्था के। इस तरह का उदाहरण विशेष रूप से प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों (सीटी स्टेट) का है। उस वक्त जिन असंख्य राज्यों से यह "अन्तर्राष्ट्रीय" व्यवस्था बनी हुयी थी, वास्तविक अर्थों में वे राज्य पृथक राष्ट्र ही नहीं थे। एथेन्स, स्पार्टा, कॉरिन्थ, थेब्स, लेटीका और इसी प्रकार, अन्य तथाकथित नगर राज्य थे, जिनमें से प्रत्येक नगर-राज्य अपनी आन्तरिक तथा बाह्य व्यवस्थाओं के लिए यथार्थ प्रभुसत्ता का उत्तरदायित्वपूर्ण उपयोग करते थे। यद्यपि, इसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से वे (नगर-राज्य) छोटे राज्यों में विभक्त लेकिन इन राज्यों में निवास करने वाले नागरिक वास्तव में, नृजातीय अर्थ में एक ही समूह के अंग थे। हालांकि उस समूह के लिए "राष्ट्रीयता" शब्द का प्रयोग करना फिर भी मिथ्या वर्णन होगा।

यूनानी लोग हेलेन का अंग होने को सगोत्रता के अर्थ में स्वीकार करते थे। सैद्धान्तिक तथा

व्यवहारिक दृष्टि से राज्य स्वयं भी काफी हद तक गोत्रबद्ध अथवा जातिबद्ध थे। इसके बावजूद, हालांकि ये नगर राज्य निरंतर चलने वाले युद्धों में उलझे रहते थे। लगभग 1500 नगर राज्य (पॉलीज अथवा सीटी स्टेट) थे जो यूनान की मुख्य भूमि, द्वीपीय यूनान तथा आयोनिक ग्रीस के साथ-साथ बृहत्तर यूनान (ग्रेइका-मेगना-ग्रेटर ग्रीस), जिसमें सिसली तथा दक्षिणी इटली में यूनान के महत्वपूर्ण उपनिवेश सम्मिलित थे, में फैले हुए थे। बहुधा ये "नगर-राज्य" बमुश्किल किलेबंदी किये हुए ग्रामों से अधिक कुछ नहीं हुआ करते थे। फिर भी ये नगर-राज्य अपनी प्रभुसत्ता का उपभोग करते थे तथा स्वयं की रक्षा का दायित्व वहन किया करते थे। एक दर्जन के लगभग राज्य वास्तव में शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण थे। वे थे—यूनान की मुख्य भूमि पर—एथेन्स, स्पार्टा, थेब्स तथा कॉरिन्थ, एजीयन सागर के द्वीपों में रोड्स तथा लेसबॉस, भारत में मुलतान मिलेट्स, सिसली में साइराकूज तथा इटली में कपुआ।

इन राज्यों के मध्य परस्पर सम्बन्धों का एक सुविस्तृत तंत्र (नेट) तो था ही, इसके साथ ही उनके मध्य परस्पर उच्च स्तरीय राजनय भी विद्यमान था। राजनैयिक प्रतिरक्षा का उपभोग करते हुए दूतावास तथा राजदूत बहुधा एक दूसरे के नगरों के विधान मण्डलों अथवा परिषदों के सम्मुख उपस्थित होकर—चुनौतियां, संधियों के प्रस्ताव, व्यापार समझौतों के प्रस्ताव इत्यादि प्रस्तुत किया करते थे।

5.3.2 रोमन साम्राज्य

द्वितीय ज्ञात अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था रोमन साम्राज्य की थी, जो कि आठवीं सदी ईसा पूर्व से तीसरी सदी ईसा पूर्व के मध्य सर्वोच्च शक्तियों में से एक था। हालांकि इस साम्राज्य ने पुरानी गणतन्त्रात्मक संस्थाओं को "ग्रहण करते हुए तथा परिवर्तित करते हुए" अपनी शक्ति सकेन्द्रित की ताकि एक मात्र राजा अथवा सम्राट एक केन्द्रीयकृत तंत्र के माध्यम से इस पर शासन कर सके। फिर भी यह साम्राज्य वास्तव में कभी अखण्ड राज्य नहीं बना। बल्कि यह साम्राज्य एक प्रकार का राज्यों का परिसंघ अथवा राज मण्डल बना रहा। कतिपय लोगों की यह अवधारणा है।

5.3.3 इटली में पुनर्जागरण

इटली में पुनर्जागरण के दौरान वहां अनेक "गणतंत्र" तथा प्रदेश (जागीरें) विकसित हुए जो कि आकार में प्राचीन यूनान के नगर राज्यों से भिन्न नहीं थे। ये "गणतंत्र" अपने हितों का अनुसरण बड़े ही परिष्कृत ढंग से किया करते थे। निरंतर युद्धों के बावजूद ये गणतंत्र नीति निर्माण तथा संधि वार्ताओं में शीघ्रता लाने का आश्रय भी लिया करते थे। षडयंत्र तथा अनैतिकता राज्य की नीति का अंग थे। यही वह वास्तविक पृष्ठभूमि थी जिसमें निकोलो मैक्यावेली पैदा हुआ।

5.4 आधुनिक संप्रभु राज्य व्यवस्था का उदय

आधुनिक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के प्रथम आविर्भाव से पहले यूरोप के इतिहास का वह युग था जिसमें यूरोप के विभिन्न साम्राज्यों के मध्य परस्पर संहारक संग्राम तथा संघर्ष चला करते थे। जिस काल की चर्चा की जा रही है उसे फेरनण्ड ब्रोडेल ने "लंबी 16वीं सदी" की संज्ञा दी है, यह युग पन्द्रहवीं सदी के मध्य से "तीस वर्षों के युद्ध" के अन्त तक (1648) का है, यह आर्थिक उथल पुथल, धार्मिक विक्षोभ तथा राजनीतिक संघर्ष का युग था।

आर्थिक स्तर पर, जो दीर्घकालिक शांत परिवर्तन प्रारंभ हो चुके थे वे अचानक तथा कथित "नयी दुनिया" से यूरोप में चांदी की खोज से धनी भूत हो गये।

मेक्सीको तथा पेरू में चांदी की खानें खुल जाने तथा बाद में कच्ची चांदी को पारे द्वारा परिष्कृत करने की नयी पद्धतियां प्रारंभ करने के फलस्वरूप चांदी की बहुतायत हो गयी। इसने यूरोप की अर्थव्यवस्था को तो प्रोत्साहित किया ही, इसके साथ ही इसने "मूल्य क्रांति" (प्राइस रिवोल्यूशन) को भी प्रेरित किया। हालांकि कीमतों में वृद्धि लगभग पिछली

एक शताब्दी से हो रही थी लेकिन 1550 के दशक के बाद मूल्य वृद्धि चर्चा का विषय बन गयी थी। इन वर्षों के दौरान यह तर्क दिया जाता रहा कि कीमतों के परिवर्तन से सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया। सौलहवीं शताब्दी में, प्रथम बार मूल्य वृद्धि की मात्रा ऐसी थी कि सामान्य रूप से जीवन स्तर में गिरावट आ गयी थी। जहां तक इंग्लैण्ड, फ्रांस, वियना, वालेनसिया इत्यादि का सम्बन्ध है, अब यह सुस्थापित तथ्य है कि वहां "मूल्य-क्रांति" के अनुसरण में एक सामानान्तर विकास और हुआ, वह विकास व्यापारिक तथा व्यावसायिक हितों के संगठित स्वरूप के रूप में सामने आया। दूसरे शब्दों में, समाज के उन वर्गों तथा प्रवर्गों की स्थिति भयंकर रूप से शक्तिशाली हो गयी, जो कि व्यापारिक तथा व्यावसायिक गतिविधियों में संलग्न थे। सामंती अभिजात वर्ग, धर्माध्यक्षों (बिशप्स) तथा राजा का भी जीवन स्तर प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुआ। इन परिवर्धनों का संयोजन धार्मिक उथल पुथल से हुआ जिसमें पुरोहित वर्ग तथा पुरोहिती भूपतियों की स्थिति कमजोर हुयी तथा इनका प्रभाव ग्रामीण समाज पर पड़ा। बडी शीघ्रता से भूमि, सामंती उत्तराधिकार के स्थान पर बाजार में स्वतंत्र रूप से खरीदी तथा बेची जाने वाली वस्तु के रूप में परिवर्तित होने लगी। अर्थात् इससे पूर्व जमीन बिका नहीं करती थी वह केवल सामंतों को ही उत्तराधिकार में मिलती थी। नव धनाढ्य लोग अब नव-भूस्वामी बन रहे थे पूंजीपति-भूस्वामी।

शताब्दी के अन्त में जर्मन जाति का पवित्र रोमन साम्राज्य प्रचण्ड आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताओं का केन्द्र बना। सम्राट, संसद (डाइट) तथा शाही न्यायालयों की सत्ता ध्वस्त हो चुकी थी तथा किसी भी प्रकार के शांतिपूर्ण समाधान की संभावना दृष्टि गोचर नहीं हो रही थी। प्रोटेस्टैन्ट राजाओं को चर्च की उन जमीनों की हानि का भय था जो कि 1552 के पश्चात् धर्म प्रान्तीय बना दी गयी थी तथा लोगों के पुनः कैथोलिकीकरण का भी भय था।

दो प्रमुख मुद्दे थे जो कि यूरोप की राजनीति पर छाये रहे। प्रथम फ्रांसिसियों की उस घेरे को तोड़ने की अभिलाषा जो कि हब्सवर्ग भू-भागों द्वारा उनके राज्य के चारों तरफ बना हुआ था तथा द्वितीय, स्पेन द्वारा संयुक्त प्रान्त (यूनाइटेड प्रोविन्सेज-डयूच) को पुनः जीतने के लिए की जाने वाली तैयारियां दोनों मुद्दे परस्पर जुड़े हुए थे तथा दोनों ने ही साम्राज्य को उलझा रखा था।

ड्यूज (यूनाइटेड प्रोविन्सेज) ने 1689 में एक विराम संधि प्राप्त कर ली थी, लेकिन इसके समाप्त होने से पूर्व ही बोहेमिया में हब्सवर्ग शासन तथा कैथोलिक प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह हो गया जिससे अन्धाधुन्ध युद्धों की एक श्रृंखला प्रारंभ हो गयी, जो कि "तीस वर्षों के युद्ध" (थर्टी इयर्स वार) के नाम से भी जानी जाती है।

युद्ध ने शीघ्र ही इंग्लैण्ड, स्पेन, यूनाइटेड प्रोविन्सेज, डेनमार्क, स्वीडेन, उत्तरी इटली तथा फ्रांस को उलझा लिया। धीरे-धीरे धार्मिक मुद्दे पृष्ठभूमि में चले गये तथा राजनीतिक मुद्दे अपरिहार्य रूप से प्रमुख हो गये।

5.4.1 क्लासिकी युग

"तीस वर्षों के युद्ध" की पराकाष्ठा वेस्टफैलिया की शांति में हुई, जिसने राज्यों के परस्पर सम्बन्धों में उनके व्यवहार को नियंत्रित करने वाले नये प्रतिमानों के आरंभिक बिन्दु के रूप में अपने निशान छोड़े। मध्यकालीन अवधारणा ने, जिस पर कि "यूरोप केन्द्रित ईसाई राष्ट्र मण्डल" (यूरोसेण्ट्रिक क्रिश्चियन कॉमनवेल्थ) की भावना छाई हुयी थी, प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के सह-अस्तित्व पर आधारित एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए मार्ग प्रशस्त किया। राजक्षेत्रीय राज्य अनन्य वैध कर्ताओं के रूप में प्रकट हुए। केवल प्रभुसत्ता संपन्न राज्य ही या तो युद्ध प्रारंभ कर सकते थे, या संधियां कर सकते थे अथवा परस्पर मैत्री संगठनों में सम्मिलित हो सकते थे।

राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का उपसिद्धांत स्वाभाविक रूप से, राज्य की समानता का सिद्धांत था। जैसा कि वाटेल ने अपने प्रख्यात तर्क द्वारा व्यक्त किया है, "एक बौना मनुष्य भी उसी भांति मनुष्य है जैसे कि एक भीमकाय मनुष्य, इसी प्रकार एक छोटा गणतंत्र भी एक अतिशक्तिशाली साम्राज्य से कम प्रभुता संपन्न राज्य नहीं है.....।"

खैर, यह वैधिक स्थिति थी। वास्तविकता, हालांकि, बिलकुल भिन्न थी। व्यवहारिक रूप से

राज्य की समानता यूरोप की बड़ी शक्तियों, यथा–फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया तथा रूस तक ही सीमित थी। तथाकथित "आधिपत्य-विरोधी प्रतिमान" (ऐन्टी-हेजेमनी नॉर्म) को "न्यायोचित शक्ति संतुलन" (जस्ट बेलेन्स ऑफ पावर) की धारणा के रूप में प्रस्तुत कर दिया, जोकि एक मात्र बडी शक्तियों का विशेषाधिकार था। वेस्टफैलिया शांति के पश्चात् पैदा होने वाली परिस्थितियों में गैर-यूरोपीय राज्य सक्रिय रूप से सामने नहीं आये।

बल्कि, इस काल के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिमान उस समय विद्यमान राज्य की राजवंशीय अवधारणा पर आधारित थे। उस समय प्रभुसत्ता के सिद्धांत का अर्थ था कि यूरोप के राजक्षेत्रीय व राज्यों पर शासन कर रहे राजवंश परस्पर एक दूसरे को वैध, स्वतंत्र तथा संप्रभु के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। इस प्रकार उत्तर वेस्टफैलिया युग ने अपनी स्वयं की क्रम परंपरायें विकसित कर ली थी।

5.4.2 यूरोपीय "सामंजस्य" (दि यूरोपीयन "कन्सर्ट")

वेस्टफैलिया व्यवस्था के अन्तर्गत हुए परिवर्तनों तथा इस व्यवस्था का और अधिक विस्तार उस व्यवस्था में दिखाई दिया जो कि वियना कांग्रेस (1815) के पश्चात् उभर कर सामने आयी। यह व्यवस्था अब भी यूरोप-केन्द्रीत (यूरोसेण्ट्रिक) ही थी, क्योंकि इसमें 23 सदस्य राज्यों में से 22 सदस्य राज्य यूरोप के थे तथा अंतिम संयुक्त राज्य अमेरिका (यूनाइटेड स्टेट्स) था। फिर भी एक अर्थ में यह एक विश्व व्यवस्था भी थी जिसमें ऐसे प्रतिमान प्रस्तुत किये गये थे जो कि विश्व के प्रत्येक भाग को प्रभावित करने वाले थे। पिछड़े हुए देश बड़ी शक्तियों के संघर्षों के समाधान हेतु युद्ध के मैदान बन गये थे। वह व्यवस्था जो वियना कांग्रेस के पश्चात् सामने आयी, वह एक ऐसी व्यवस्था थी जोकि बड़ी शक्तियों के प्राधान्य की थी और "यूरोपीय सामंजस्य" (कन्सर्ट ऑफ यूरोप) के नाम से जानी जाती है। वह कुछ-कुछ उस व्यवस्था का आदि प्ररूप था जोकि आज हम सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के रूप में देखते हैं। पांच महाशक्तियों, यथा–ब्रिटेन, फ्रांस, प्रशिया, रूस तथा आस्ट्रिया ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाये रखने की "जिम्मेदारी" अपने ऊपर ली। यूरोप का "सामंजस्य" (कन्सर्ट ऑफ यूरोप) इस मान्यता पर आधारित था कि विश्व व्यवस्था तब तक कायम नहीं की जा सकती जब तक कि इन महाशक्तियों द्वारा विशेष अधिकारों का प्रयोग नहीं किया जाता।

राष्ट्रवाद के उदय तथा इसके सम्बन्ध में नये प्रतिमानों के आविर्भाव ने वियना कांग्रेस के पश्चात्, वेस्टफैलियायी व्यवस्था का "आधुनिकीकरण (अपडेटिंग) करने के लिए प्रेरित किया। प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की अवधारणा को चुनौती नहीं दी गयी, लेकिन इसका आधार राजस्व से राष्ट्रत्व में स्थानान्तरित हो गया। इस प्रकार राज्य की अवधारणा राष्ट्रत्व की अवधारणा में विलीन हो गयी तथा इसने आधुनिक राष्ट्र राज्य का आधार प्रस्तुत किया। तदन्तर, पेरिस की संधि (इस संधि से क्रिमिया के युद्ध का अन्त हुआ था) ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की। इसलिए धीरे-धीरे प्रत्येक राष्ट्रीयता का एक समान आधार पर एक स्वतंत्र राजनीति कर्ता बनने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के एक आधारभूत सिद्धांत के रूप में विकसित हुआ।

सन् 1914 ई. तक इस व्यवस्था की सदस्य संख्या 43 तक पहुंच गई। पहली बार यूरोपीय अनन्यता प्रभावित हुई। इसमें 17 राज्य लेटिन अमेरिका से थे, 3 एशिया से, एक अफ्रीका से तथा एक राज्य मध्य पूर्व से था। हालांकि आधुनिक राजनय का आदि प्ररूप बहुत पहले वेस्टफैलिया, वियना तथा पेरिस में स्थापित किया जा चुका था, लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही राज्यों के व्यवहार से सम्बन्धित समझौते स्वीकार करने के लिए नियमित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होना प्रारंभ हुआ। इन सम्मेलनों में सम्मिलित किये जाने वाले विषय में–राजनय के नियम, समुद्रीय कानून के सिद्धान्त, तटस्थता, नाकेबन्दी और निषिद्ध माल, स्वतंत्र नौ संचालन, अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग, प्रतिलिप्या अधिकार और एकस्व अधिकार तथा युद्ध के नियम।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) नीचे के स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर के साथ मिलान करके जांचें।

1) निम्नलिखित में से एक आधुनिक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य व्यवस्था की प्रमुख विशेषता नहीं है, उसे पहचानें।

   अ) प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रमुख कर्ता हो गये।
   ब) प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की वैधिक समानता।
   स) विश्व सरकार की स्थापना करना।
   द) राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार

2) यूरोपीय "सामंजस्य" (कनुसर्ट ऑफ यूरोप) किस प्रकार आधुनिक संप्रभु राज्य व्यवस्था के क्लासिकल पीरियड से भिन्न था?

.....

.....

.....

.....

5.5 संप्रभु राज्य व्यवस्था का वर्तमान और भविष्य

बढ़ते हुए औद्योगीकरण तथा व्यापक शिल्प वैज्ञानीय परिवर्तनों के साथ बृहत् जटिलतायें पैदा हुई। इसके अतिरिक्त मानव अधिकारों, राष्ट्रीयताओं के अधिकारों तथा इन्हीं के सदृश अन्य मामलों पर उद्विग्नता ने धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियामक प्रबन्ध को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। दूसरे शब्दों में वेस्टफैलिया व्यवस्था की वे संस्थायें जिनको कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के अनन्य अभिकरणों के माध्यम से व्यवस्था का अनुरक्षण करना था, वे अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नियामक संस्थायें उपरोक्त प्रश्नों के साथ सामने लाई गई। इनमें से कतिपय थे—गैर राज्यीय संगठन, अन्तर्शासकीय संगठन (इण्टरगवर्नमैन्टल ऑरगेनाइजेशंस) तथा गैरशासकीय संगठन (नॉन-गवर्नमैन्टल ऑरगेनाइजेशंस)। इन संगठनों (आई.जी.ओ. तथा एन.जी.ओ.) के अपने प्रतिमान तथा नियम थे। चूंकि इन संगठनों के पास स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति तथा अधिकार नहीं थे, इन्होंने अपने आपको विभिन्न कार्यात्मक प्रभाव क्षेत्रों में सार्वभौमिक प्रतिमान बनाने में विचार मग्न रखा। युद्धोत्तर काल में इस प्रकार के संगठन अत्यधिक बढ़े।

समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सभी प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की समानता का सिद्धांत तथा राज्यों के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, राज्यों के परस्पर औपचारिक व्यवहार में सर्वोपरि हैं। प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के ऊपर किसी उच्च वैधिक अधिकार की अनुपस्थिति में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की तुलना हॉब्स की प्राकृत अवस्था से की जा सकती है, जहां एक प्रकार का युद्ध है "सब एक दूसरे के विरुद्ध" (आल अगेन्स्ट आल) यह युद्ध वास्तविक है अथवा संभावित है, लेकिन कहा जा सकता है कि इस युद्ध का अस्तित्व है। वर्तमान व्यवस्था के अधीन प्रत्येक राज्य अपने हितों की रक्षा के लिए कार्य करने के लिए स्वतंत्र है। हालांकि यह अधिकांश रूप से कुछ महाशक्तियों के लिए ही सत्य है। उपरोक्त चरित्र-चित्रण कुछ-कुछ अतिशयोक्ति है। नियम, प्रथायें, कार्यविधि जो कि सैंकड़ों वर्षों में विकसित हुई, उनकी अवश्य ही कुछ पुनीतता है। संयुक्त राष्ट्र संघ, जिसने कि राष्ट्र संघ का स्थान लिया है, हालांकि यह शक्तिशाली राज्यों जैसे अमेरिका को इच्छानुसार आक्रमण करने से रोकने में बहुधा असफल रहा है, फिर भी कुछ अंशों में वैधता अनुभव करता है।

5.5.1 राज्य की प्रभुसत्ता की सीमायें

केन्द्रित विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के आविर्भाव, वैज्ञानिक तथा शिल्प विज्ञानीय क्रांति (बीसवीं सदी में आणविक तथा कंप्यूटर क्रांति को सम्मिलित करते हुए), ने परंपरागत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं तथा राज्य के बहुत से व्यवधानों को तोड़ दिया। अब विश्व अत्यधिक अन्योन्याश्रित हो गया है। बहुपक्षीय आर्थिक संगठनों तथा पारराष्ट्रीय (ट्रांसनेशनल) निगमों के आविर्भाव ने छोटे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप को संभव बना दिया है। यह हस्तक्षेप प्रमुख रूप से आर्थिक होता है जोकि बहुधा राजनीतिक तथा सैनिक हस्तक्षेप के आयाम ग्रहण कर लेता है।

परराष्ट्रीय निगमों (उदाहरणार्थ–फोर्ड मोटर्स, शैल बी.पी., हेस्ट बोफोर्स, कोका कोला आदि) द्वारा अपने उत्पादनों को विश्वव्यापी बनाने के परिणामस्वरूप एक ऐसी समाज का सर्जन हुआ है जो कि "व्याप्ति सभाज" (पेनेट्रेटेड सोसाइटी) कहलाता है, ऐसे समाज में विदेशी लोग स्थानीय राजनीति तथा नीति निर्माण तक में सहभागिता करते हैं। तथा इस प्रकार प्रभुता सम्पन्न राज्य को दुर्बल बनाते हैं।

राजनीतिक तथा सैनिक निर्णयों के क्षेत्र में शक्ति गुटों तथा सैनिक समझौतों, यथा "नार्थ एटलांटिक ट्रीटी ऑर्गेनाइजेशन," "दि ऑर्गेनाइजेशन ऑफ अमेरीकन स्टेट्स" या "वारसापेक्ट", के आविर्भाव तथा इनके अस्तित्व से इन संगठनों के सदस्य राज्यों की नीति निर्माण की शक्ति स्पष्ट रूप से क्षीण होती है।

इस संदर्भ में "यूरोपियन कम्यूनिटी" का मामला विशेष रूप से महत्वपूर्ण तथा रोचक है। ई.ई.सी. के बारह सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था का 1992 में पूर्ण रूप से एकीकरण हो रहा है। अब यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप, जिसने कि राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को जन्म दिया अब उसे वही खण्डित करने में लगा हुआ है। क्षेत्रीय सीमायें व्यवहारिक रूप से समाप्त हो गई हैं। तथा सदस्य राज्यों के नागरिक बिना वीजा लिए एवं बिना सीमा शुल्क निकासी की औपचारिकतायें पूरी किये स्वतंत्र रूप से यात्रा कर रहे हैं। यूरोप के नागरिक "यूरोपियन कोर्ट" में स्थानीय अथवा घरेलू मामले उठा सकते हैं तथा अपनी सरकार के विरुद्ध शिकायत कर सकते हैं। हालांकि "यूरोपियन कम्यूनिटी" के पास बाध्यताकारी शक्ति (उदाहरणार्थ–सेना, पुलिस बल आदि) नहीं है लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि इसके सदस्य राज्य अपने आप में अब सर्वोच्च शक्ति नहीं है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर के साथ मिलान करके जांचें।

1) उन कारकों को पहचानो जिन्होंने कि आज के प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के प्रभुत्व अथवा अधिकार को सीमित किया है।
   क) वैज्ञानिक तथा शिल्पविज्ञानीय उन्नति।
   ख) परराष्ट्रीय (ट्रांसनेशनल) निगम तथा "नॉन गवर्नमैंटल ऑर्गेनाइजेशंस"।
   ग) विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का केन्द्रीकरण।
   घ) राजनीतिक तथा सैनिक संधियां।
   च) मानवाधिकारों का हनन।
   छ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों की संख्या में वृद्धि।

5.6 सारांश

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पूर्ववर्ती प्रकारों (किस्मों) पर प्रभुता सम्पन्न राज्य व्यवस्था के आविर्भाव ने आश्चर्यजनक विकास का प्रतिनिधित्व किया। हालांकि, इसकी गंभीर सीमायें थी, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रबन्ध में प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य व्यवस्था ने सब राज्यों की समानता (राज्य चाहे छोटे अथवा बड़े) की तात्विक तथा आधारभूत धारणा को समाविष्ट किया। राज्यों को अन्य राज्यों की क्षेत्रीय तथा वैधिक पुनीतता का आदर करना ही था।

आप यह भी देख सकते हैं कि यद्यपि प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य व्यवस्था निश्चित रूप से बेहतर थी, लेकिन यह ऐसी पवित्र चीज नहीं है कि इसे किसी भी कीमत पर सुरक्षित रखा ही जाये। यदि राष्ट्र राज्यों के मध्य सम्बन्धों की अन्योन्याश्रितता तथा अन्तर्राष्ट्रीयकरण में वृद्धि हो जाये तथा इसके कारण से यदि राष्ट्रीय सीमाओं के क्रमिक समापन और इसकी एक ज्यादा सकीकृत विश्व व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापना (जो कि पहले ही भूण रूप में प्रकट है) आवश्यक हो तब इस प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य व्यवस्था को एक नयी विश्व व्यवस्था को रास्ता देना पड़ सकता है।

5.7 आधारभूत शब्द

प्रभुसत्ता (सॉवरेनूटि) : राज्य की सर्वोच्च सत्ता जो कि आन्तरिक तथा बाह्य प्रतिबन्धों से परे है। अर्थात् प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च एवं अंतिम वैधानिक सत्ता है, जिसके ऊपर किसी आन्तरिक अथवा बाहरी वैधानिक शक्ति का अस्तित्व नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था : (इण्टरनेशनल सिस्टम) : राजनीतिक सत्ताओं (राष्ट्रों, राज्यों, साम्राज्यों आदि) का कोई समूह, जिसमें वे सत्तायें कतिपय नियमों के अनुसार परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

राष्ट्र-राज्य (नेशन स्टेट) : राज्य का एक प्रकार, जिसमें राष्ट्र के साथ नृवंशीय सामूहिक पहचान भी विलीन होती है, यह क्षेत्रीयता पर आधारित होता है। इसका सम्बन्ध आरंभिक पूंजीवाद के उदय से है।

5.8 कतिपय उपयोगी ग्रंथ

हेर्ज, जॉन एच. : **दि नेशन-स्टेट एण्ड दि क्राइसिस ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स।**

डोनेलन, माइकिल (एडि.) (1978) : **दि रीजन ऑफ स्टेट्स**, जॉर्ज एलन एण्ड उनविन, लंदन।

परवेल, रॉबर्ट (1973) : **दि सोसाईटी ऑफ स्टेट्स : एन इण्ट्रोडक्शन टू इण्टर नेशनल पॉलिटिक्स।**

किम, समेल (1984) : **दि क्वेस्ट फार ए जस्ट वर्ल्ड ऑर्डर**, वेस्ट व्यू प्रेस, बोउल्डर/ कोलोरांडो।

हेल्ड, डेविड (1989) : **पॉलिटिकल थियरी एण्ड दि मॉडर्न स्टेट**, केमब्रिज, यू.के.।

हाल, जॉन ए. (एडि.) (1986) : **स्टेट्स इन हिस्ट्री**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) राष्ट्रीयता
   ब) निश्चित (सीमांकित) क्षेत्र
   स) प्रभुसत्ता
   द) अन्य राज्यों द्वारा मान्यता

2) स)

बोध प्रश्न 2

1) स)

2) वियना कांग्रेस (1815) के पश्चात् अग्रांकित कारकों का प्रथम बार आविर्भाव हुआ— क) बड़ी (महा) शक्तियों का प्रभुत्व ख) प्रभुसत्ता संपन्न राज्य का आधार राजस्व से राष्ट्रत्व की तरफ स्थानान्तरित और ग) राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा नियम। ये कारक यूरोपीय "सामंजस्य" (कन्सर्ट ऑफ यूरोप) के युग को आधुनिक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के विशिष्ट या प्रचीन (दि क्लासिकल पीरियड) युग से भिन्न करते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) क, ख, ग, तथा घ सही है।

इकाई 6 सामर्थ्य (केपेबिलिटि)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 सामर्थ्य क्या है?
6.3 शक्ति तथा सामर्थ्य
6.4 सामर्थ्य : मूर्त तथा अमूर्त तत्व
6.5 सामर्थ्य तथा संप्रभु राज्य व्यवस्था : आधारभूत मुद्दे
6.6 सारांश
6.7 आधारभूत शब्द
6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का सम्बन्ध "सामर्थ्य" (केपेबिलिटि) की मूलभूत अवधारणा से है, जो कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में प्रयुक्त होती है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप अग्रांकित बिन्दुओं पर सक्षम होंगे:

- आप अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के आविर्भाव के आलोक में "सामर्थ्य" की अवधारणा का विवेचन कर सकेंगे।
- आप "सामर्थ्य" की अवधारणा को परिभाषित कर पायेंगे तथा इसकी उपयोगिता को पहचान पायेंगे।
- आप समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विवेचन में प्रयुक्त होने वाली "सामर्थ्य" (केपेबिलिटि) तथा "शक्ति" (पावर) की अवधारणा में अन्तर कर पायेंगे।

6.1 प्रस्तावना

समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र में प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के मध्य सम्बन्धों को सम्मिलित किया जाता है। पिछली इकाई में हमने समकालीन प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के उदय से वेस्टफैलिया (1648) तक इसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। इस संधि ने चर्च से राज्य के पृथककरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के लिए अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है।

लेकिन बाह्य वातावरण अराजक है। गृह राजनीति की भांति अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कोई ऐसी केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता नहीं है जो कि कानून लागू कर सके तथा प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की स्वीकृति प्राप्त कर सके। अतः प्रत्येक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को अन्य राज्यों के मुकाबिले में स्वयं को ही अपनी सहायता करनी पड़ती है। दूसरे, प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को निश्चित रूप से यह भी ज्ञात नहीं होता है कि उसे अपनी रक्षा करने के लिए कितनी सुरक्षा की आवश्यकता होगी। इस सुरक्षा की खोज में अन्य राज्यों से अपनी सुरक्षा हेतु प्रभुसत्ता संपन्न राज्य का लक्ष्य अपने संसाधनों को सुरक्षित रखना होता है। प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए इस प्रकार के संसाधन सम्बन्धित प्रभुसत्ता संपन्न राज्य में क्षमतायें उत्पन्न करते हैं।

6.2 सामर्थ्य क्या है?

यहां तीन प्रश्न तत्काल मस्तिष्क में आते हैं, वे हैं "सामर्थ्य क्या है", किसी प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की "सामर्थ्य" को हम किस प्रकार निर्धारित करते हैं, और समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की प्रकृति को पहचानना हमारे लिए क्यों सहायक होगा?

प्रारंभ में यह पहचान लेना महत्वपूर्ण है कि राज्य को सामर्थ्य की आवश्यकता दूसरे राज्यों के साथ अपनी सीमाओं की रक्षा करने के लिए होती है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा, किसी प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की विदेश नीति का सर्वोच्च मामला है। सैन्य सामर्थ्य, आर्थिक क्षमता आदि के रूप में काफी सामर्थ्य पैदा करके सुरक्षा प्राप्त करना राज्य का लक्ष्य रहता है। प्रकारान्तर से कहा जाये तब, सामर्थ्य का अर्थ उन क्षमताओं से है जो कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य द्वारा अधिकृत संसाधनों के आधार पर पैदा की जाती हैं। ऐसे संसाधन कच्चे माल, तैयार सामान आदि के रूप में होते हैं जिन्हें कि सामर्थ्य पैदा करने के लिए काम में लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अमूर्त संसाधन भी होते हैं, जैसे नेतृत्व, राजनय आदि जिन्हें कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य अपने लिए शक्ति पैदा करने के काम में ले सकता है।

चूंकि प्रभसत्ता संपन्न राज्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता संपन्न व्यवस्था में एक सदस्य के रूप में सहभागिता करता है, इसका तात्पर्य भी यह है कि राज्य अपने लिए शक्ति पैदा करने में संलग्न है। इस प्रकार की शक्ति को "सामर्थ्य" के रूप में चिन्हित किया जाता है। किसी निश्चित ऐतिहासिक क्षण में विभिन्न संप्रभु राज्यों ने प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में घटते बढ़ते अंशों में सामर्थ्य अर्जित करते हैं। इसके फलस्वरूप प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की क्रम परंपरा (हाइआरकि) में एक राज्य का सामर्थ्य हमें उस राज्य की प्रतिष्ठा या स्थान (स्टेट्स) का ज्ञान कराती है। साधारण शब्दों में, राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत समर्थताओं का विषम विभाजन प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था की श्रेणीबद्ध प्रकृति की ओर संकेत करता है।

इस पृष्ठभूमि से देखने पर ज्ञात होता है कि समकालीन प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में समर्थताएं उन साधनों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं जो कि किसी विशेष देश की विदेश नीति के प्रभावशाली कार्यान्वयन के लिए उसके अधिकार में है। किसी एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की अनुपस्थिति में—जो कि कानूनों को लागू कर सके तथा प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों से स्वीकृति प्राप्त कर सके, ये राज्य अपने राष्ट्रीय उद्देश्य जैसे—सुरक्षा, रक्षा, विकास आदि के लिए अपनी स्वयं की समर्थतायें पैदा करते हैं तथा उनका उपयोग करते हैं।

एक सामर्थ्य भी भौतिक अथवा मानसिक पदार्थ या विशेषता हो सकती है जो कि दूसरों को समझाने, पुरस्कार देने, भयभीत करने अथवा सजा देने के साधन के रूप में उपलब्ध हो। एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की समर्थताओं को अपनी सार्थकता के लिए सदैव विश्सनीय होना चाहिए। विश्वसनीयता के अभाव में उन उद्देश्यों को प्राप्त करना असंभव हो जायेगा जिनको कि एक राज्य अपनी समर्थताओं के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की तरफ से एक विश्वसनीय सामर्थ्य का प्रदर्शन भयभीत पक्ष को यह विश्वास करने के लिए अग्रसर करेगा कि प्रदर्शनकारी पक्ष के पास अपने वचन अथवा धमकी को कार्यान्वित की क्षमता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम यहां कतिपय उदाहरणों को दे सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरीका की अपने परमाणु हथियारों को प्रयोग में लेने की क्षमता एक सैनिक सामर्थ्य है और यह विश्वसनीय भी है। क्योंकि अमेरीका ने परमाणु हथियारों का अथाह भण्डार संचित कर रखा है। दूसरे, सामर्थ्य में एक धमकी को कार्यान्वित करने की तत्परता भी अन्तर्निहित होनी चाहिए। उदाहरणार्थ—अभी हाल ही के खाड़ी युद्ध में अमेरीका ने पहले इराक को युद्ध की धमकी दी। और जब इराक ने अनुपालन करने से इन्कार कर दिया, तब अमेरिका ने अपनी धमकी को कार्यान्वित करने हेतु वास्तव में युद्ध प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार प्रभावशाली सामर्थ्य की दो पूर्वपेक्षायें "विश्वसनीयता" और "तत्परता" हैं।

सामर्थ्य का एक अन्य पक्ष भी है जिसे ध्यान में रखना चाहिए। सामर्थ्य एक सापेक्ष या तुलनात्मक शब्द है। समकालीन विश्व में प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था में ऐसा होना बाध्यताकारी भी है क्योंकि विश्व के विभिन्न राज्यों की समर्थतायें भी भिन्न भिन्न प्रकार की हैं। उदाहरण के लिए अमेरिका की जो सामर्थ्य ग्रेनाडा को भयभीत करने

अथवा दण्डित करने के लिए हो सकती है वह सामर्थ्य सोवियत संघ को भयभीत करने अथवा दण्डित करने की नहीं हो सकती। इसी प्रकार भारत की ओर जो सामर्थ्य पाकिस्तान से सुरक्षा के लिए उपयुक्त है वह चीन से सुरक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है।

कई बार "सामर्थ्य" की अवधारणा को "शक्ति" का समानार्थी या पर्याय समझ लिया जाता है। हालांकि यह भ्रामक है, क्योंकि "सामर्थ्य" "शक्ति" के लिए आधार तैयार करती है, इस अर्थ में कि यह प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की उन वास्तविक और अन्तर्निहित समर्थताओं से सम्बद्ध है जो कि उनके लिए "शक्ति" पैदा करती हैं। प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की सामर्थ्य उसे अपनी विदेश नीति को लक्ष्यों की प्राप्ति में शक्ति का प्रयोग करने के योग्य बनाती है।

"सामर्थ्य" को राष्ट्र राज्य की उन मूर्त तथा अमूर्त विशेषताओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि इन प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों को अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में भिन्न-भिन्न अंशों में शक्ति का प्रयोग करने का अवसर देती है। राज्यों की इस प्रकार की विशेषताओं की यहां राज्यों की "समर्थताओं" के रूप में व्याख्या की जाती है, जोकि शक्ति के तत्वों के रूप में भी समझी जाती है।

यह स्पष्ट है कि "सामर्थ्य" तथा "शक्ति" निकट रूप से सहबद्ध अवधारणायें हैं। अतः यह उपयुक्त है कि समर्थताओं के पूर्णतम अर्थ स्पष्ट करने से पूर्व शक्ति के प्रश्न को हल किया जाये।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये आदर्श उत्तर के आधार पर जांचें।

1) एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के सामर्थ्य का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

6.3 शक्ति तथा सामर्थ्य

शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु है। हेन्स जे. मॉरगेन्थ्यू, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र के अध्ययन में यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं, का कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी राजनीतियों की भांति शक्तियों के लिए संघर्ष है।" वे आगे कहते हैं कि "शक्ति में वह सब कुछ समाविष्ट किया जा सकता है जो कि मनुष्य पर मनुष्य का नियंत्रण स्थापित करता है तथा उस नियंत्रण को बनाये रखता है। इसमें वे सभी सम्बन्ध सम्मिलित हैं जो कि इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायक होते हैं। इसमें शारीरिक हिंसा से लेकर उन जटिल मनोवैज्ञानिक बंधनों तक को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क को नियंत्रित करता है।" कौटिल्य के अनुसार "तीन आधारों ज्ञान, सैनिक शक्ति और पराक्रम से प्राप्त बल ही शक्ति है।"

कार्ल ड्यूश के अनुसार "शक्ति वह योग्यता है जो संघर्ष में सफल होती है तथा बाधाओं को पराजित करती है।" शक्ति किसी को वह काम करने के लिए योग्य बना देती है जोकि वह करना चाहता है। कार्यों को करवाने की शक्ति की इस विशेषता की रॉबर्ट ढ़ाल ने इस प्रकार व्याख्या की है—"यदि 'अ', 'ब' से वह काम करवा लेता है जो कि 'ब' अन्यथा नहीं करता, तब यह माना जायेगा कि 'ब' पर 'अ' की शक्ति है।"

उपरोक्त परिभाषायें शक्ति के तीन घटकों की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं। प्रथम, शक्ति का अर्थ बल अथवा ताकत है। अर्थात्—शक्ति की अवधारणा में अवपीड़न या बल प्रयोग एक तत्व है। उदाहरण के लिए एक देश द्वारा दूसरे देश में सैनिक हस्तक्षेप बल प्रयोग इस तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे, शक्ति का अर्थ प्रभाव भी है। यहां प्रभाव का अर्थ अनुसरणीय शक्ति है। एक देश दूसरे देश पर वह काम करने के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग करता है जोकि वह करवाना चाहता है। तीसरे, शक्ति में अधिकार (सत्ता) भी अन्तर्निहित है। अधिकार शक्ति को वैधता प्रदान करता है। तथा स्वैच्छिक स्वीकृति का आह्वान करता है। प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के मध्य सम्बन्धों का निर्धारण अधीनस्थ (मातहत) करने वाले तत्वों से होता है, जोकि राज्यों के नीति निर्माण में योगदान देते हैं। शक्ति के मूल घटक हैं—जनसंख्या का आकार, सामरिक महत्व की स्थिति व भौगोलिक सीमायें, आर्थिक संसाधन एवं औद्योगिक उत्पादन। इसके अतिरिक्त शक्ति के अमूर्त तत्व भी हैं जैसे प्रशासनिक तथा आर्थिक सामर्थ्य, शैक्षणिक एवं शिल्पविज्ञानीय कौशल और राज्य की जनता की नैतिक सम्बद्धता। शक्ति को यहां एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की विशेषताओं के एक समूह के रूप में परिभाषित किया गया है।

प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में राज्य की शक्ति की व्याख्या, दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित करने की राज्य की सामान्य सामर्थ्य के रूप में की जा सकती है। यहां यह अन्तर्निहित है कि राज्य की दो प्रकार की क्षमतायें होती हैं—प्रथम अन्तर्निहित अथवा प्रच्छन्न क्षमता जो कि राज्य में स्वतः ही शक्ति के तत्वों पर आधारित है और द्वितीय राज्य में तैयार की गई अथवा संघटित की गयी क्षमता।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि राष्ट्र अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों को शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में "शक्ति" भी अपने आप में एक साध्य (लक्ष्य) के रूप में देखी जाती है।

शक्ति तथा सामर्थ्य में अन्तर किया जाना चाहिए। साधारण शब्दों में सामर्थ्य में शक्तिशाली बनने की अन्तर्निहित संभावना है। जबकि शक्ति का अर्थ है सामर्थ्य का प्रभावी संघटन। दूसरे शब्दों में, केवल राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों पर अधिकार ही सामर्थ्य है और वास्तविक प्रयोग के लिए "सामर्थ्य" का संघटन "शक्ति" है। इस अर्थ में सामर्थ्य को प्रच्छन्न शक्ति के रूप में वर्णित किया जा सकता है तथा शक्ति को एक प्रभावकारी शक्ति के रूप में।

एक अन्य रूप में भी "सामर्थ्य" शक्ति से भिन्न है। एक राज्य की सामर्थ्य, उस राज्य की विशेषताओं की ओर संकेत करती है, न कि उस राज्य के अन्य राज्यों की तरफ झुकाव या अन्य राज्यों के साथ उसकी स्थिति की ओर संकेत करती है। उदाहरण के लिए यदि कोई, एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के रूप में नेपाल की सामर्थ्य का जिक्र करता है तब उसे प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में नेपाल के सम्बन्ध में इन तत्वों—जैसे सामरिक महत्व की स्थिति, भौगोलिक स्थिति, नेतृत्व आदि को समाविष्ट करना होगा। इस वर्णन में नेपाल के साथ भारत अथवा चीन के सम्बन्धों की चर्चा नहीं की जायेगी। इसके विपरीत, राज्य की शक्ति का अर्थ केवल उस प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की विशेषतायें ही नहीं है, बल्कि इसमें (शक्ति में) उस राज्य के अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध भी सम्मिलित है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये आदर्श उत्तर के आधार पर जांचें।

1) क्या "शक्ति" तथा "सामर्थ्य" एक ही हैं? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 सामर्थ्य : मूर्त तथा अमूर्त तत्व

प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के "सामर्थ्य" का सम्बन्ध राष्ट्र की राज्यों की मूर्त तथा अमूर्त विशेषताओं से है। ये विशेषतायें राज्य को अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों के संदर्भ में विभिन्न अंशों में शक्ति पैदा करने में समर्थ बनाती है। इस अर्थ में राज्य की शक्ति तथा आधुनिक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के विकास में सामर्थ्य के प्रश्न का तात्विक महत्व है। राष्ट्र राज्यों की विभिन्न समर्थतायें तथा राज्य व्यवस्था में उनका विभाजन आधुनिक राज्य व्यवस्था के प्रतिमानों को स्वरूप प्रदान करती है।

सर्वप्रथम हम यहां प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के मूर्त तत्वों का विवेचन करेंगे।

"सामर्थ्य" के मूर्त तत्व : जो समर्थतायें मापनीय या परिमाणवाची होती हैं उन्हें राज्य की समर्थताओं के मूर्त तत्व कहा जाता है। दूसरे शब्दों में समर्थता के वे तत्व जो मापे जा सकते हैं, तोले जा सकते है या जिनकी गिनती की जा सकती है अर्थात् जो दिखाई देते हैं उन्हें राज्य की समर्थताओं के मूर्त तत्व कहा जाता है। "सामर्थ्य" के इन मूर्त तत्वों में जनसंख्या, क्षेत्र, प्राकृतिक संसाधन, औद्योगिक क्षमता, कृषि क्षमता तथा सैनिक शक्ति सम्मिलित हैं।

जनसंख्या को मूर्त तत्व इस अर्थ में समझा जाता है कि इसकी तुरन्त गिनती की जा सकती है। यहां यह मान्यता है कि घनी आबादी वाले राष्ट्र राज्य सामान्यतया काफी शक्तिशाली होते हैं। इस प्रकार के राज्य ऐसी स्थिति में होते हैं कि वे मानव शक्ति को समुचित ढंग से अपनी सैनिक आवश्यकताओं के लिए नियोजित कर सकते है।

इसके साथ ही यह मान लेना भी अनुचित है कि जनसंख्या और शक्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अन्ततोगत्वा, प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के लिए सामर्थ्य पैदा करना जनसंख्या की कोटि पर निर्भर करता है। प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की शक्ति में जनसंख्या की कई विशेषतायें जैसे–एकता, साक्षरता, निष्ठा तथा शारीरिक स्वास्थ्य आदि योगदान देती है।

सामर्थ्य का दूसरा मूर्त तत्व क्षेत्र है। यहां मान्यता यह है कि बड़े राष्ट्र राज्य छोटे राष्ट्र राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होते हैं। हालांकि यह निश्चित रूप से समुचित नहीं है। क्योंकि इस्राइल जैसे छोटे देशों ने भी सैन्य शक्ति का महत्वपूर्ण प्रदर्शन किया है। अभिप्राय यह है कि बड़े क्षेत्र प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को अपनी अन्तःशक्ति को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रयोग में लेने में समर्थ बनाते हैं। आगे, कतिपय क्षेत्रीय विशेषतायें जैसे–प्राकृतिक सीमायें, जलवायु, भौगोलिक स्थिति, पड़ौसियों की संख्या आदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की पैदा की जाने वाली सामर्थ्य के स्तर का निर्धारण करते हैं।

उदाहरण के लिए पहाड़ी देशों को सैनिक रूप से विजित करना कठिन है, उन देशों की तुलना में जिनके पास ऐसी दुर्जेय प्राकृतिक सीमायें नहीं है। इसके साथ ही जिस देश की सीमायें, पांच-छः देशों के साथ मिलती है। वह आक्रमण के समय अधिक असुरक्षित होगा। अन्त में, प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की सैनिक शक्ति के प्रकार तथा स्तर को उस देश की भौगोलिक स्थिति निर्धारित करती है।

सामर्थ्य का तीसरा मूर्त तत्व प्राकृतिक संसाधन है। प्राकृतिक संसाधनों जैसे–कोयला, लोहा, यूरेनियम, मैंगनीज, तेल आदि का होना किसी राष्ट्र राज्य के औद्योगिक उत्पादन के लिए आवश्यक है। इनके औद्योगिक रूप से संसाधित करने तथा उत्पादों का आर्थिक रूप से प्रभावी बंटन का सम्बन्ध राष्ट्र राज्य की योग्यता से है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए टेक्नोलोजी (शिल्प-विज्ञान) उद्योगों तथा बाजारों की आवश्यकता होती है। अतः इस सम्बन्ध में सामर्थ्य पैदा करना प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता तथा आवश्यक औद्योगिक क्षमता की आवाप्ति, दोनों पर निर्भर करता है।

सामर्थ्य का चौथा मूर्त तत्व कृषीय क्षमता है। ऐसी क्षमता इस अर्थ में समझी जाती है कि जो देश अपनी खाद्य आपूर्ति बनाये रखते हैं, वह भी विशेष रूप से लम्बे युद्धों के दौरान, वे राज्य तुलनात्मक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होंगे। इसलिए खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता विवेचनात्मक समझी जाती है।

सामर्थ्य का पांचवा मूर्त तत्व सैनिक शक्ति है। इसका सम्बन्ध उस पारम्परिक धारणा से है जिसके पीछे सैनिक बल हैं। जिसके अनुसार शक्ति वह है, जिसके पीछे सैनिक बल है। किसी राष्ट्र राज्य की सैनिक शक्ति का अनुमान उस राज्य द्वारा प्रतिरक्षा तथा सुरक्षा पर खर्च किये जाने वाले धन से लगाया जा सकता है। इस संदर्भ में एक जुड़ा हुआ कारक है—उस राज्य के साथ लगने वाली बाहरी भौगोलिक स्थितियां। इस प्रकार की सैनिक गतिशीलता राष्ट्र राज्य की जमीन, समुद्र तथा हवा में सैनिक गतिविधियों संभाले रखने की योग्यता पर निर्भर करती है। हालांकि, राष्ट्र राज्य की निर्णायक सफलता अमूर्त कारकों जैसे तत्परता, प्रशिक्षण, नेतृत्व, मनोबल आदि पर निर्भर करती है, जोकि स्थिति विशेष में सशस्त्र सेनाओं के प्रदर्शन को प्रभावित करते हैं।

शक्तियों के मूर्त तत्वों के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में राष्ट्र राज्य को सामर्थ्य पैदा करने में इस प्रकार के तत्व आवश्यक हैं। लेकिन राष्ट्र राज्य के सामर्थ्य को सुनिश्चित करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि इसके लिए राष्ट्र की समग्र शक्ति की आवश्यकता है। अतः यह आवश्यक है कि हम राष्ट्र राज्य के सामर्थ्य में उन अमूर्त तत्वों का भी विवरण दें जो कि राष्ट्र राज्य की सम्पूर्ण सामर्थ्य में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

"सामर्थ्य" के अमूर्त तत्व : सामर्थ्य के अमूर्त तत्वों (विशेषताओं) में नेतृत्व, अधिकारी तन्त्रीय संगठनात्मक कौशल, सरकार का स्वरूप, सामाजकीय संबद्धता आदि सम्मिलित है यद्यपि इन तत्वों का मापन नहीं किया जा सकता तथा न ही इनका साकार रूप में वर्णन किया जा सकता है, लेकिन वे प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की समग्र सामर्थ्य के संदर्भ में अति महत्वपूर्ण तत्व है।

नेतृत्व सामर्थ्य का महत्वपूर्ण तत्व है। नेतृत्व के महत्व प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के उस नेता की योग्यता से है जो कि राज्य की विदेश नीति के लक्ष्यों को कार्यान्वित करने के लिए इस राज्य के नागरिकों को प्रेरित करता है। यद्यपि इस चर (विशेषता) को मापा नहीं जा सकता लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नेतृत्व की अहम भूमिका होती है।

सामर्थ्य के दूसरे अमूर्त तत्व का सम्बन्ध अधिकारीतन्त्रीय-संगठनात्मक कौशल से है। यहां इस बात पर बल दिया जा रहा है कि जिन राज्यों के पास कुशल अधिकारी तंत्र होते हैं, वे अपनी गृह नीति का तथा विदेश नीति को प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित कर सकते हैं।

सामर्थ्य का तीसरा अमूर्त तत्व सरकार का स्वरूप अथवा प्रकार है। राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में सामान्य एवं विशेष परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के शासनों के प्रभाव को मापना अथवा विवेचित करना अत्यन्त कठिन है। यहां हम केवल यही संकेत कर सकते हैं कि विदेश नीति से सम्बन्धित मामलों में राजकीय निर्णय शीघ्र तथा बदलते हुए बाह्य वातावरण में अनुकूलनीय हों तथा इसके साथ ही वे राष्ट्र राज्य की आन्तरिक आवश्यकताओं के अनुकूल भी हों। इसके साथ ही इन निर्णयों को प्रजातन्त्रात्मक शासनों के मध्य नियंत्रण तथा संतुलन की विशेषताओं के अनुरूप होना चाहिए। इससे एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की विदेश नीति की कुशलता तथा विश्वसनीयता सुनिश्चित होती है।

सामर्थ्य का चौथा अमूर्त तत्व समाजकीय सम्बद्धता है। यहां मान्यता यह है कि आन्तरिक रूप से संगठित राष्ट्र राज्य अधिक शक्तिशाली होते हैं। चिर कालिक आतंकवाद, आवर्तक हड़तालें, गृह युद्ध आदि ये राष्ट्र राज्य के भीतर आन्तरिक अस्थिरता तथा विघटन के कतिपय सूचक हैं। प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत इस तरह के हालात वाला राज्य ज्यादा समय तक अपनी शक्ति को बनाये रखने योग्य नहीं होगा।

सामर्थ्य का पांचवा अमूर्त तत्व विदेशी सहायता तथा निर्भरता है। इसका यहां सम्बन्ध प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य के अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों से है। एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को विदेशी सहायता का प्रश्न सम्बन्धित राज्य के विदेश सम्बन्धों की स्वतंत्रता के संदर्भ में नकारात्मक स्वरूप धारण कर लेता है। यदि एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को मिलने वाली विदेशी सहायता सम्बन्धित राज्य के विदेश सम्बन्धों की स्वतंत्रता के संदर्भ में नकारात्मक स्वरूप धारण कर लेती है तब इससे उस राष्ट्र राज्य की विदेश नीति में रणनीतिक नम्यता की समाविष्टि हेतु मार्ग प्रशस्त होता है। तथा इससे सहायता प्राप्त करने वाला राज्य ऐसा सहायता प्रदान करने वाले राज्य पर निर्भर करने लगता है। फलतः निर्भर राज्य अन्य राज्यों के साथ अपने विदेश सम्बन्धों के

निर्धारण में स्वतंत्रता खो देता है। इस प्रक्रिया में प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत निर्भर राज्य अपनी संपूर्ण सामर्थ्य भी खो देता है। मारकोस के शासन काल के फिलीपिन्स को इसके उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

"शक्ति" के तत्वों के उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे तत्व राष्ट्र राज्य की सम्पूर्ण सामर्थ्य में योगदान देते हैं। यद्यपि इन तत्वों का सदैव परिमापण आसान नहीं होता है फिर भी प्रभुसत्ता संपन्न राज्य हेतु इनके तात्विक महत्व को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। क्योंकि इनका सम्बन्ध राष्ट्र राज्य की विदेश नीति के मामलों में नीति निर्माण में विशेषता तथा विश्वसनीयता से है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये आदर्श उत्तर के आधार पर जांचें।

1) "सामर्थ्य" के मूर्त तथा अमूर्त तत्वों का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 सामर्थ्य तथा संप्रभु राज्य व्यवस्था : आधारभूत मुद्दे

उपरोक्त खंड में हमने शक्ति के मूर्त तथा अमूर्त तत्वों (विशेषताओं) का विवेचन किया है। इनका सम्बन्ध प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की मूर्त तथा अमूर्त समर्थताओं से है। जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है, ऐसी समर्थतायें प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों को उनके अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों में विभिन्न अंशों में शक्ति के प्रयोग की अनुमति देते हैं।

प्रस्तुत खंड में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की सामर्थ्यतायें किस प्रकार से प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था से सहबद्ध है। इस सम्बन्ध में अग्रांकित आधारभूत मुद्दे विचार योग्य हैं:

1) राष्ट्र राज्य की "समर्थतायें" अवधारणात्मक रूप से राष्ट्र राज्य की शक्ति से भिन्न है। जैसा कि इस इकाई में बताया जा चुका है, राष्ट्र राज्य की "सामर्थ्य" का सम्बन्ध उस राज्य की विशेषताओं से है। इस संदर्भ में प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत उस राज्य के अन्य राज्यों की तरफ झुकाव को सम्मिलित नहीं किया जाता है। हालांकि राष्ट्र राज्य की "शक्ति" का प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की केवल विशेषताओं से ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य राज्यों के साथ उनके सम्बन्धों को भी द्योतित करती है। अतः हम "सामर्थ्य" तथा "शक्ति" की इस भिन्नता के आधार पर अग्रांकित टिप्पणी कर सकते हैं:

   क) प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की "सामर्थ्य" सम्बन्धित राज्य को वह मूल आधार प्रदान करती है जिससे कि वह अन्य राज्यों के साथ स्थापित किये जाने वाले सम्बन्धों की सीमा तथा स्तर का निर्धारण करने योग्य हो सके। राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों में राज्य की मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार की समर्थतायें प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की समग्र सामर्थ्य का निर्धारण करती है।

   ख) यद्यपि "सामर्थ्य" की अवधारणा बहुधा "शक्ति" की अवधारणा के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त होती है। यहां यह पहचानना आवश्यक है कि "शक्ति" एक बहुआयामी अवधारणा है जिसके "बल" (फोर्स) "प्रभाव" (इनफ्लूएन्स) तथा "अधिकार" (ऑथोरिटि) जैसे संघटक सम्मिलित हैं।

2) यदि किसी राज्य की "समर्थताओं" का उचित ढंग से तादातम्य स्थापित किया जाता है तथा उनका समुचित आकलन किया जाता है तब समर्थतायें प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था में विद्यमान शक्ति के वितरण के संदर्भ में हमें उस राज्य की स्थिति से अवगत करा देती हैं। राज्य की सामर्थ्य इसके "शक्तियों" में "शक्ति" होने की स्थिति का निर्धारण करती है तथा इस प्रकार प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था की प्रकृति का एक सूत्र उपलब्ध कराती है।

3) एक राज्य यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सहभागिता करता है, उसका अर्थ है कि वह अपने लिए शक्ति अर्जित करने में संलग्न है। इसको "सामर्थ्य" की संज्ञा दी जाती है। प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत एक राज्य हेतु अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इस प्रकार की सामर्थ्य एक पूर्वापेक्षा होती है।

प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत सामर्थ्य की भूमिका का विशेष रूप से विवेचन करते समय इस प्रकार के आधारभूत मुद्दे प्रमुख रूप से सामने आते हैं। चूंकि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को अराजकतापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करनी होती है, इसलिए प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को कार्यान्वित करने हेतु एक राज्य की शक्ति को सुरक्षित करने (बल्कि बढ़ाने के लिए भी) के लिए उस राज्य की सामर्थ्य अति आवश्यक है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये आदर्श उत्तर के आधार पर जांचें।

1) एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की विदेश नीति में सामर्थताओं (केपेबिलिटीज) की क्या भूमिका होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

6.6 सारांश

सन् 1648 में वेस्टफैलिया की संधि पर हस्ताक्षर होने के पश्चात् प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। इससे पुरातन, सामंती मध्यकालीन राज्यों का स्थान लेने के लिए जो विशेषता सामने आई वह थी आधुनिक राष्ट्र राज्य की "वैधिक प्रभुसत्ता"। इस प्रभुसत्ता में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में राज्य की सर्वोच्चता अन्तर्निहित थी। इसके साथ ही प्रभुसत्ता संपन्न राज्य प्रमुख कर्ता बन गया। दूसरे शब्दों में, राज्य द्वारा काम में ली जाने वाली वैधिक प्रभुसत्ता संपन्न स्थिति (प्रतिष्ठा) का उपयोग करने वाला अन्य कोई कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नहीं था। प्रभुसत्ता की इस अवधारणा ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अराजकतापूर्ण बना दिया है। इस अराजकतापूर्ण वातावरण में किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं है, जिसके पास प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने हेतु वैधिक शक्ति अथवा अधिकार हो। इस प्रकार के वातावरण में क्रियाशील रहते हुए राज्य अपनी सुरक्षा बचाव तथा अस्तित्व की देखभाल स्वयं करने हेतु बाध्य है। वे ऐसा "समर्थतायें" पैदा कर के ही करते हैं। कई बार "समर्थताओं" को भ्रमवश "शक्ति" समझ लिया जाता है। हालांकि इन दोनों अवधारणाओं में निकट का अन्तः सम्बन्ध है फिर भी इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। साधारण शब्दों में, "शक्ति" राज्य की वह योग्यता है जिसके आधार पर वह दूसरों को नियंत्रित करता है तथा राज्य वह कार्य करता है जोकि उसकी दृष्टि में होना चाहिए। इस योग्यता के आधार पर ही राज्य अपनी इच्छा को सफल बनाता है, दूसरों से सम्मान प्राप्त करता है तथा आज्ञापलन करवाता है। दूसरी तरफ

सामर्थ्य (केपेबिलिटि) शक्ति (पावर) के लिए आधार तैयार करती है। विभिन्न प्रकार की समर्थताओं पर स्वामित्व के आधार पर ही राज्य विदेश नीति सम्बन्धी अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की शक्ति पैदा करता है। समर्थतायें (केपेबिलिटिज) मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार की हो सकती है। सैन्य सामर्थ्य मूर्त सामर्थ्य है जबकि राजनीतिक नेताओं की प्रेरणादायी तथा प्रबंधकीय विशेषतायें अमूर्त समर्थतायें हैं। हालांकि, समर्थताओं की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब कि वे विश्वसनीय प्रतीत हों। दूसरे, राज्यों को अपनी समर्थताओं को उपयोग में लेने की तत्परता दिखानी चाहिए। तीसरे, समर्थताओं को सापेक्षिक रूप में समझना चाहिए। अर्थात्, एक राज्य की दूसरे राज्यों को सम्मत करने, पुरस्कृत करने या उन्हें भयभीत करने की सामर्थ्य बदलती रहती है। इसका कारण यह है कि सामने वाले राज्य की स्थिति तथा सामर्थ्य इस राज्य की सामर्थ्य को प्रभावित करती है। अतः दिक्काल और परिस्थितियों के अन्तर से राज्य की सामर्थ्य प्रभावित होती रहती है और इसलिए सापेक्षिक है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की विदेश नीति को समझने हेतु उसकी समर्थतायें अत्यन्त निर्णायक कारक हैं। समर्थतायें किसी राज्य की शक्ति की रूपरेखा प्रस्तुत करने के साथ-साथ विद्यमान प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति विभाजन में उस राज्य की स्थिति का भी निर्धारण करती हैं।

6.7 आधारभूत शब्द

प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था : राज्यों को समाविष्ट करने वाली वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जिसमें राज्य आन्तरिक तथा बाहय दोनों प्रकार की प्रभुसत्ता का उपभोग करते हैं। इस व्यवस्था में कोई भी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं है जोकि अपनी शक्तियों के आधार पर राज्यों से (आज्ञा का) अनुपालन करवा सके।

शक्ति (पावर) : दूसरों के व्यवहार को नियंत्रित तथा प्रभावित करने की योग्यता (ऑबिलिटि) अथवा क्षमता (केपेसिटि)।

मूर्त सामर्थ्य (टेन्जीबल केपेबिलिटि) : वे समर्थतायें (केपेबिलिटीज) जिनका माप-तोल किया जा सकता है और जिन्हें प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। अर्थात् इनका कोई रूप या आकार होता है।

अमूर्त सामर्थ्य (इनटेन्जीबल केपेबिलिटि) : वे समर्थतायें जिन्हें प्रत्यक्षतः देखा नहीं जा सकता या माप-तोल नहीं किया जा सकता। अर्थात् इनका कोई रूप या आकार नहीं होता है। उदाहरणार्थ नेतृत्व, सामाजिक सहबद्धता आदि।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हेनस् जे. मॉरगेन्थ्यू, **पॉलिटिक्स अमॉंग नेशन्स : दि स्ट्रगल फॉर पावर एण्ड पीस**, फिफ्थ एडिशन (न्यूयॉर्क, नोप्ट, 1973)

कार्ल डब्ल्यू. ड्यूश, **दि अनालिसिस ऑफ इण्टर नेशनल रिलेशन्स** (इंग्लेबुड क्लिप्स, ए.जे.: प्रेन्टिस हाल, 1968)

के.जे. हॉलास्टि, **इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स : ए फ्रेमवर्क फॉर अनालिसिस** (इंग्लेवुड क्लिप्स, एन.जे. प्रेन्टिस हाल, 1972)

मार्टिन वाइट, **पावर पॉलिटिक्स** (लिसेसटर युनिवर्सिटि प्रेस, 1978)

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एक अराजक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत समर्थतायें राज्य द्वारा अर्जित की गयी

वे भौतिक अथवा मानसिक तत्व या विशेषतायें हैं जिनकी दूसरों को पुरस्कार, धमकी या दण्ड देने के लिए आवश्यकता पड़ती है। यहां आपको सामर्थ्य की अवधारणा के "विश्वसनीयता", "तत्परता" तथा "सापेक्षिकता" पहलुओं का भी वर्णन करना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) नहीं। यद्यपि कभी-कभी इनको एक ही अर्थ में काम में लिया जाता है। लेकिन इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। समर्थताओं का सम्बन्ध राज्य की कतिपय विशेषताओं से है, जबकि शक्ति में प्रभाव तथा अधिकार भी अन्तर्निहित हैं। हालांकि समर्थतायें शक्ति के लिए आधार तैयार करती हैं। समर्थताओं के द्वारा राज्य अपने लिए शक्ति अर्जित करते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) समर्थताओं के मूर्त तत्व वे होते हैं जिनका स्वरूप भौतिक होता है तथा इनका परिमाण निर्धारित (माप, तोल या गणना) किया जा सकता है तथा जैसे—क्षेत्र, जनसंख्या, प्राकृतिक संसाधन, सैन्य शक्ति आदि। अमूर्त तत्वों में नेतृत्व, अधिकारी तंत्रीय संगठन तथा कौशल, सरकार का स्वरूप, सामाजिक संरचना आदि सम्मिलित हैं। हालांकि अमूर्त तत्वों का परिमाण निर्धारित नहीं किया जा सकता है, लेकिन इनका महत्व भी मूर्त तत्वों के समान ही है।

बोध प्रश्न 4

1) समर्थतायें उन साधनों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है, जोकि एक देश के पास अपनी विदेश नीति के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रभुसत्ता संपन्न राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सामर्थ्य राज्य के लिए एक पूर्वापेक्षा है।

इकाई 7 विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्व

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 मूल निर्णायक
7.3 विदेश नीति यंत्र रचना
7.4 विदेश नीति के निर्माण में विवाद बिन्दु एवं संदर्भ
7.5 व्यवसायिक अन्तर्गामी तत्व
7.6 भारत में विदेश नीति का निर्माण
7.7 सारांश
7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का सम्बन्ध विदेश नीति निर्माण के विवाद बिन्दु एवं संदर्भों से है। इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित बातों के योग्य बनेंगे:

- अच्छी विदेश नीति के निर्माण के लिए मुख्य कमियों को पहचानना।
- अच्छी विदेश नीति के मुख्य वादबिन्दु एवं संदर्भों के बारे में विचार-विमर्श करना।
- विदेश नीति के निर्माण के लिए व्यवसायिक अन्तर्गामी तत्वों की आवश्यकता स्वीकार करना।

7.1 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का निर्माण वस्तुतः एक जटिल क्रिया-पद्धति है जिसमें विभिन्न प्रकार के घटकों की परस्पर क्रिया पायी जाती है। मूल रूप से किसी भी देश की विदेश नीति के प्रसंग बाहर की दुनिया से तय होते हैं। इतना होते हुए भी इसका यह अर्थ नहीं है कि विदेश नीति घरेलू प्रसंगों से अलग की जा सकती है। वास्तव में किसी भी देश की विदेश नीति उसकी गृह-नीति का विस्तार होती है क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में विदेश नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति करना है। विदेश नीति की सफलता और असफलता इस बात से आंकी जाती है कि उसके कारण देश को कितना आर्थिक, राजनैतिक और कूटनैतिक लाभ या हानि हुयी है।

किसी भी देश की विदेश नीति अपरिहार्य रूप से एक गतिशील क्रिया पद्धति है जिसका सम्बन्ध कई प्रकार के विचारों का पारस्परिक घात प्रतिघातों से है। सबसे पहले कुछ मोटे-मोटे उद्देश्यों की पहिचान की जानी जरूरी होती है। इसमें कुछ दूरगामी और कुछ निकट गामी उद्देश्यों की पूर्ति शामिल है। दूसरे इसमें कुछ मूल निर्णायक जैसे भौगोलिक स्थिति, आर्थिक विकास के अनिवार्य तत्व, राजनैतिक संस्कृति और परम्परा के तत्व सम्मिलित हैं। विदेश नीति के निर्माण की क्रिया पद्धति में गृह तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अपेक्षाकृत अधिक स्थायी घटकों की तरह कार्य करते हैं। ये भौगोलिक निर्णायक तत्व महत्वपूर्ण हैं क्योंकि किसी भी देश की शक्ति और कमजोरी का मूल्यांकन करने में इससे बड़ी मदद मिलती है। विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तदनुसार ढाले जाते हैं। तीसरी अवस्था में विदेश नीति के निर्णय तय किये जाते हैं और क्रियान्वयन की क्रियाविधि सुनिश्चित की जाती है। यह बात राजनैतिक नेतृत्व पर तथा नौकरशाही कूटनैतिक संघटनात्मक संरचना पर छोड़ दी जाती है।

ऊपर वर्णित बातों के अतिरिक्त विदेश नीति के निर्माण का एक बहुत बड़ा भाग एक छवि को बनाना है जिससे देश के हितों की प्रोन्नति होती है। इसका सम्बन्ध व्यवहार कुशलता तथा नीति सम्बन्धी स्तरों पर किये गये आयोजन से है पर इसमें दूसरे राज्यों में व्याप्त परिस्थितियों का शीघ्रता से अनुश्रवण करना खासतौर पर अपने पड़ौसी देश में और नकारात्मक घटना-विकासों, जब कभी वे प्रकट होते है, के प्रति तात्कालिक प्रतिक्रिया व्यक्त करना भी शामिल है। एक सुयोग्य एवं सजीव विदेश नीति संचारण पर अर्थात् देश के बाहर के श्रोताओं को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से अवगत कराने की बात पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में विदेश नीति में गृहनीति से भी अधिक, इसकी जरूरत है क्योंकि ये श्रोता सन्देही और संशयी हैं इसलिए प्रचार, सूचना, संचार साधन और छवि प्रक्षेपण परमावश्यक है। इस इकाई में हम प्रभावशाली विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्वों को समझने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करते हुए मूल निर्णायक तत्वों की भूमिका के बारे में विचार करेंगे। साथ ही विदेश नीति की यंत्र प्रणाली और क्रियान्वयन क्रिया विधि पर भी चर्चा करेंगे। भारत की विदेश नीति पर संक्षिप्त विचार भी किया जायेगा।

7.2 मूल निर्णायक तत्व

विदेश नीति के निर्माण में विभिन्न परिवर्तनशील तत्वों का घात प्रतिघात होता है। इनमें से कुछ सापेक्षिक तौर से अधिक स्थायी होते हैं जबकि शेष परिवर्तनीय होते हैं। पहले तत्व किसी देश की विदेश नीति के मूल निर्णायक होते हैं। किसी देश की विदेश नीति का निर्माण एक गतिशील क्रिया पद्धति होती है। जिसमें ये मूल निर्णायक तत्व अपेक्षाकृत स्थिर घटकों की तरह कार्यरत रहते हैं। इन्हें स्थिर घटक मानकर सूचीबद्ध किया जाता है क्योंकि विदेश नीति निर्माण में उनका प्रभाव स्थायी रूप से पड़ता है। यद्यपि परिस्थितियों के अनुसार इन घटकों का प्रभाव परिवर्तनशील बना रहता है। इन निर्णायक तत्वों को भूगोल की भूमिका, आर्थिक विकास का दबाव, राजनैतिक परम्परा आदि के रूप में पहिचाना जा सकता है। इसके साथ ही आन्तरिक और बाहरी वातावरण तथा सैनिक शक्ति के रूप में भी इसकी पहिचान की जा सकती है। किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति इसकी विदेश नीति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान करती है। रणनीति के हिसाब से महत्वपूर्ण स्थानों पर अवस्थित देश जिनकी सुरक्षा प्राकृतिक बाधाओं के कारण हो जाती है तथा जो समुद्र तक पहुंचने का मार्ग रखते हैं इस प्रकार के देशों की विदेश नीति उन राष्ट्रों की विदेश नीति की तुलना में जिनके पास ऐसे स्थितिगत लाभ नहीं हैं अधिक अधिकार द्योतक होती है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन की स्थिति रणनीति के हिसाब से इतनी महत्वपूर्ण थी कि वह अपनी जनशक्ति और व्यापार के बल पर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुआ। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ही इतनी लम्बी अवधि तक एक अलगाववादी शक्ति रहा जो यूरोप के विक्षोभ में सर्वथा अछूता रहा तथा अपने आप को एक बड़ी आर्थिक एवं सैनिक शक्ति बनाने में सफल हुआ। इसने द्वितीय विश्व युद्ध में सक्रियता से भाग लिया। सोवियत रूस की स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी कि उसे समुद्र तक आसानी से पहुंच मिल जाये। फलस्वरूप उसे बाल्टिक एवं काले सागर तक पहुंचने को विवश होना पड़ा। पाकिस्तान की भौगोलिक स्थिति जिसमें इसके दो भाग अलग-थलग पड़ गये थे आगे चलकर बंगलादेश के संस्थापन का कारण बनी। भारत दक्षिणी एशिया और एशिया के इतना मध्य में स्थित है कि दोनों प्रदेशों में सक्रिय भाग अदा करने के लिए वह प्रतिबद्ध है, चाहे इसके पड़ौसी देश इसे पसन्द करें या नहीं। इतना होते हुए भी केवल भौगोलिक स्थिति ही अकेली महत्वपूर्ण नहीं है पर आकार और जनसंख्या का भी महत्व है जो मिलकर एक मूल भूत भौगोलिक निर्णायक तत्व का भाग अदा करती है।

दूसरे आर्थिक विकास के दबाव भी किसी देश की विदेश नीति को बहुत हद तक निर्णित करते हैं। किसी भी देश की राजनैतिक शक्ति का आकलन उसकी आर्थिक शक्ति के आधार पर किया जाता है। इसलिए हर देश को विदेश नीति बनाते समय इस पहल को ध्यान में रखना पड़ता है। भारत जैसे विकासशील देशों के मामले में जिसे विदेशी सहायता एवं व्यापार पर अपने विकास के लिए निर्भर करना पड़ता है उसे एक चतुरतापूर्ण आर्थिक कूटनीति को अपनी विदेश नीति में प्रमुख स्थान देना पड़ता है। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उसके पास एक कमजोर औद्योगिक एवं आर्थिक आधार था। इस स्थिति में यह आवश्यक था कि हर संभव बाहरी तत्वों से औद्योगिक और विदेशी सहायता प्राप्त की जाये। किसी से

बिना जुड़ने वाली विदेश नीति के संस्थापन का सहारा लेकर भारत यह सुनिश्चित कर सका कि इसे हर क्षेत्र में सहायता मिले।

तीसरे, किसी भी देश की राजनैतिक परम्परा का भी विदेश नीति से सीधा सम्बन्ध होता है। फिर भारत वर्ष का एक उदाहरण लें। इसकी विदेश नीति की बाहरी रूपरेखा में इसकी अनेकों परम्परायें प्रतिबिम्बित है। शताब्दियों की शांतिमय परम्पराओं को विरासत में लिए इस देश ने एक शांतिमय विश्व क्रम वाले गांधी जी के दृष्टिकोण को अपनाया जो हमारी विदेश नीति का महत्वपूर्ण फलक साबित हुआ। इसी प्रकार हमारी विदेश नीति में साम्राज्यवाद विरोधी और जातिवाद विरोधी संस्थापन की जड़े हमारे उस अनुभव में पायी जाती है जो हमारे स्वतंत्रता संग्राम में हमें प्राप्त हुआ था। इस प्रकार जब भारत शास्त्रों की दौड़, गुटों की राजनीति, नस्लवाद (रंग-भेद) और ऐसी अनेकों बातों के विरुद्ध बोलता है तो ये बातें बिना किसी प्रसंग के उद्भव नहीं होती है। इसकी अपेक्षा ये बातें इसकी राजनैतिक परम्पराओं में बद्धमूल हैं।

चौथे, जैसा कि इस इकाई में अन्यत्र सुझाया गया है, गृहनीति एवं विदेश नीति इस प्रकार एक दूसरे से जुड़ी है कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इस श्रेणी में शासक वर्ग की प्रत्यक्ष अनुभूति, या परिकल्पना, राज्य निर्माण के आवश्यक तत्व, और दलीय संरचना की प्रवृति महत्वपूर्ण परिवर्तनशील तत्व हैं। यह भारत का सौभाग्य है कि विदेश नीति के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रायः सहमति रही है या एकमत रहा है। इसका श्रेय शासक वर्ग और विभिन्न राजनैतिक दलों को दिया जा सकता है जिन्होंने विचारों में समानता बनाये रखी। इसी प्रकार देश की विदेश नीति का निर्माण एक अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में किया जाता है। यह संदर्भ प्रादेशिक एवं विश्वस्तर दोनों में पाया जाता है। इसे उदाहरण देकर समझाने के लिए हम फिर भारत का उदाहरण देते हैं। प्रादेशिक स्तर पर हमारी सुरक्षा दो परम्परागत विरोधियों पाकिस्तान और चीन के समक्ष हमारी विदेश नीति का महत्वपूर्ण आधार रही है। पाकिस्तान-चीन-अमेरिका धुरी के प्रभाव को दूर करने के लिए हमने सोवियत रूस से विशेष तौर पर सम्बन्ध स्थापित किये जो इस दिशा में उठाया गया एक कदम था। विश्व स्तर पर भारत ने अपने निष्पक्ष एवं स्वतंत्र स्वरूप को तथा अपने स्वशासन को बनाये रख कर शीत युद्ध के क्षेत्र में किसी गुट के साथ अपने आप को संयुक्त नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी भी गुट के साथ अपने को नहीं जोड़ने की प्रवृत्ति को भी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम में लिया गया। इसके अलावा भारत की अणुनीति अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण की उपज है। आणविक हथियारों से विश्व शांति को गंभीर खतरे का ज्ञान रखते हुए भारत ने लगातार लोकमत को संगठित करने का प्रयत्न किया तथा आणविक हथियारों को खतम करने की दिशा में कार्य किया। लेकिन इसके साथ ही आणविक हथियारों वाली शक्तियों खास कर चीन (हाल ही में पाकिस्तान) आदि से सुरक्षा के खतरे का ध्यान कर भारत ने अपना आणविक विकल्प छोड़ दिया।

अन्त में, किसी भी देश की सैनिक शक्ति इसकी विदेश नीति से सीधी सम्बन्धित है। सैनिक दृष्टि से मजबूत राष्ट्र विश्व राजनीति में अपना शक्ति पर आधारित वर्चस्व बनाने को कटिबद्ध है जबकि कमजोर देश ऐसा नहीं कर सकते। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण वे दो विशिष्ट शक्तियाँ हैं जो अपनी सैनिक शक्ति के बल पर अपने को विश्व शक्ति मानती है जो वस्तुतः उनकी आर्थिक शक्ति का प्रदर्शन है। सैनिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्र का जोर सुरक्षा की अपेक्षा कूटनीति पर अधिक रहेगा। इसी प्रकार सैनिक दृष्टि से सबल राष्ट्र एक साहसी विदेशी नीति का अनुसरण करेगा ताकि इसे अधिकतम लाभ मिल सके जबकि एक सैनिक दृष्टि से कमजोर देश कूटनीति का आश्रय लेगा ताकि उसकी कठिनाइयाँ कम हो सके।

7.3 विदेश नीति यंत्र रचना

विदेश नीति को संचालित करने के लिए किसी भी राजनैतिक पद्धति में उसे सरकार के किसी विभागों या मंत्रालयों को सौंपा जाता है। नई दिल्ली में विदेशी मामलों का मंत्रालय, वाशिंगटन में स्टेट डिपार्टमेंट या लंदन की फोरिन ऑफिस एक बड़ी व्यवस्था के मूल भाग के रूप में कार्यरत रहते हैं। इस व्यवस्था की मांगों की वे पूर्ति करते रहते हैं। राज्य के संगठनों के अन्तर या मतभेद विदेश नीति यंत्र रचना और शेष सरकार के परस्पर

सम्बन्धों में प्रतिबिम्बित होते हैं। सोवियत रूस में हाल तक साम्यवादी दल का नीति और उसके क्रियान्वयन पर पूरा अधिकार था और वह अपने नीचे के एक राज्य तंत्र द्वारा प्रशासन को संचालित करने का उत्तरदायित्व वहन करता था। इसका अर्थ यह था कि शासकों में विदेशी मंत्रालय को साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के उस भाग से मिलकर काम करना पड़ता था जो बाहरी सम्बन्धों की देख भाल करता था। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि विदेश मंत्री को पार्टी के सर्वोच्च जो नेता जनरल सैक्रेट्री होता तथा मंत्री मण्डल का मुखिया एवं प्रधानमंत्री होता उसकी स्वीकृति, पुष्टि एवं सहमति से कार्य करना पड़ता। भारत और ब्रिटेन में विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय प्रधानमंत्री के स्तर पर लिए जाते हैं। कुछ सीमा तक इतिहास में उन सभी समाजों में ऐसी प्रथा रही है। चुना हुआ अध्यक्ष या प्रधानमंत्री या चांसलर या सर्वशक्तिशाली राजा चाहे वह अनुवांशिक हो और चाहे पद्धति के रूप में हो, विदेशनीति के निर्माण के सम्बन्ध में उसको शामिल करना जरूरी होता था। 19वीं शदी में सम्मिलित करने की यह क्रिया साधारणतया दूरी पर स्थित होती थी पर खतरे के समय यह दूरी नहीं रहती थी। आज यह संभव नहीं है। आज हर निर्णय चाहे उसकी महत्ता मध्यम वर्ग की ही क्यों न हो सरकार के नेता को दिखाया जाता है ताकि वह उसे परिवर्तित, संशोधित कर सके या बदल सके।

हम यह देख सकते हैं कि आज विश्व में सभी सरकारों में विदेशी कार्यालय को वास्तव में एक अधीन स्थिति में काम करने की बात सीखनी पड़ती है। उसे शीर्षस्थ कार्यकारी नेता को सभी बातों से अवगत करना पड़ता है तथा उसकी हिदायतें लेनी पड़ती हैं। अमेरिका के सम्बन्ध में यह बात खासतौर से सच है जो आज विश्व में सबसे शक्तिशाली देश है। अध्यक्ष की व्यक्तिगत स्वीकृति के बिना या वास्तविक रूप से उसके कार्यकारी लोगों (स्टॉफ) के पुष्टीकरण बिना स्टेट डिपार्टमेंट के लिए यह संभव नहीं होता कि वह कोई नई नीति अपना सके। अमेरिका में यह अपेक्षाकृत नया विकास है। वाशिंगटन में स्टेट सचिव को हमेशा अध्यक्ष का बहुत महत्वपूर्ण मंत्रमण्डलीय साथी माना जाता है। शक्तिशाली स्टेट सैक्रेट्री जैसे जोन फोस्टर डलेस और किसींगर अपने आप अधिकांश निर्णय कर लेते थे। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध से लेकर अमेरिका में सामान्यतया यह स्वीकार कर लिया जाता है कि अध्यक्ष की एक विश्व शक्ति के कार्य संचालन में इतनी जिम्मेदारी है कि महत्वपूर्ण मामलों में वह इस शक्ति का हस्तानान्तरण नहीं कर सकता है। रूजवेल्ट के समय से लेकर युद्ध तक ऐसी ही प्रथा रही है। नीति निर्धारण के अतिरिक्त अमेरिका का अध्यक्ष इस शती में उन क्षेत्रों में भी प्रविष्ट हो गया है जिन्हें पहले कड़ाई से स्टेट डिपार्टमेन्ट का अपना कार्य क्षेत्र माना जाता था। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् ने अध्यक्ष को एक अवसर प्रदान किया कि शक्तिशाली और कभी-कभी विदेश नीति के उत्कृष्ट अन्तर्गामी तत्वों (इनपुट) को अपने पास रखे। क्योंकि सुरक्षा और आर्थिक विचार स्टेट डिपार्टमेन्ट के कार्य क्षेत्र से बाहर माने गये थे। यह सबसे अधिक दृष्टव्य हुआ जबकि सिगर प्रेजिडेंट निक्सन के और ब्रेजिन्सकी कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बने। इन दोनों अधिकारियों ने डिपार्टमेंट के कार्यों को अनेक अवसरों पर स्वयं अपने हाथों में लिया।

यह एक असंतोषजनक स्थिति थी। अमेरिका की सरकार के कार्यकारी भाग में दो या तीन अलग संगठनों ने विदेश नीति पर कार्य करना शुरू कर दिया। इनकी गतिविधियों में एकत्व या समन्वय स्थापित करना एक बहुत शक्तिशाली एवं सब तरह की सूचनाओं से सुपरिचित अध्यक्ष के लिए ही संभव है। अमेरिका में अपनी तरह का शक्ति विभाजन है जो कार्यकारिणी एवं विधान सभा में अधिकांश मामलों में लागू होता है, यह सविशेष रूप से विदेश नीति के मामले में लागू होता है। अध्यक्ष और स्टेट डिपार्टमेन्ट विदेश नीति पर पूर्वनियंत्रण नहीं रखते हैं। उन्हें कांग्रेस को निरन्तर सब बातों से अवगत रखना पड़ता है और विधायिनी संस्थायें किसी भी क्षण अध्यक्ष के निर्णय पर निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग कर सकती है। अमेरिका में यह एक अपने ढंग की व्यवस्था है। यह आवश्यक है कि अमेरिका के विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्वों के सामान्य अध्ययनों में इसे समझा जाये क्योंकि अमेरिका जो कुछ करता या नहीं करता है वह अन्य देशों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इसका सबसे स्मरणीय उदाहरण यह है जब सन् 1919 में अध्यक्ष के निर्णय को विधान सभा (अमेरिकी सीनेट) ने रद्द कर दिया था। यह बात उस समय की है जब अमेरिका की सीनेट ने अमेरिका की लीग आफ नेशन्स की सदस्यता के प्रश्न पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया था। वास्तव में प्रेसिडेन्ट विल्सन ने लीग को जन्म दिया था। इस प्रकार कार्यकारी दल की महान् विदेश नीति सम्बन्धी उपलब्धि को विधान सभा ने विनष्ट करके रख दिया था।

ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर ही नहीं किन्तु छोटे प्रशासनिक मामलों पर भी अमेरिका की विधान सभा खास तौर पर सीनेट यह शक्ति रखती है कि जिसके आधार पर वह विदेश नीति के मामलों में हस्तक्षेप कर सके। राजदूतों की सभी नियुक्तियों पर कांग्रेस की मोहर लगनी आवश्यक है।

अमेरिका का उदाहरण एक पराकाष्ठा या चरमसीमा का है। पर सभी देशों में एक प्रकार का तनाव कम से कम नीति निर्माण के स्तर पर सरकार के कार्यकारी और विधायनी संस्थाओं के मध्य रहता है। विदेश मंत्रालय के अलावा सुरक्षा मंत्रालय, आर्थिक मंत्रालय, वाणिज्य एवं संस्कृति मंत्रालयों को बाहर के देशों से सम्बन्ध के बारे में संसद को संतुष्ट करना पड़ता है।

विधायिनी संस्थाओं का कार्य निरीक्षण, नियंत्रण तथा चेतावनी देने वाले के रूप में होता है न कि क्रियान्वयन से सम्बन्धित। कुछ देशों में यह नियंत्रण वाद विवाद, विचार-विमर्श एवं आलोचनाओं को छोड़कर अपेक्षाकृत सीमित रूप में होता है। उदाहरण के लिए विदेशी शक्ति से की गयी संधि को कुछ देशों में औपचारिक रूप से पुष्ट कराना पड़ता है। इस पुष्टि के नहीं होने का बहुत वास्तविक खतरा बना रहता है क्योंकि विदेश नीति के मामले में मतभेद होते हैं। भारत में यह कोई समस्या नहीं है यहां पुष्टि स्वयं हो जाती है।

विधायिनी सभा विदेश नीति को आयोजन के स्तर पर प्रमाणित करने में भी सक्षम होती है। यह कार्य वह विदेशी मामलों के दफ्तर पर अनेकों दिलचस्पी रखने वाले समूहों की ओर से दबाव डालकर संपन्न करती है। सभी तरह की शासन प्रणालियों—पूंजीवादी और साम्यवादी, अध्यक्षीय और संसदीय, एकदलीय या बहुदलीय के सम्बन्ध में यह बात सच है। किसी भी देश की विदेश नीति पर एक बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव उस भाग की स्थानीय दिलचस्पी में निहित होता है जो पड़ौसी विदेशी राज्यों के पास पड़ते हैं। उदाहरण के लिए भारत में पश्चिमी बंगाल, बिहार, पंजाब, कश्मीर; और तमिलनाडू अपनी खास दिलचस्पी एवं दृष्टिकोण रखते हैं जहां तक इसका बंगलादेश, नेपाल, पाकिस्तान या श्रीलंका से सम्बन्ध है। सोवियत रूस में गोर्बाचोव के प्रकाश में आने के पूर्व कुछ हद तक पूर्वी योरोप में घटित होने वाली घटनाओं पर सोवियत रूस की निकटस्थ यूकेइन प्रदेश का प्रभाव पड़ता था। चीन और सोवियत रूस दोनों अपनी विदेश नीति में सिन्कियांग और काजकीस्तान से अपने सम्बन्धों का ध्यान रखते हैं। अमेरिका में टेक्सास के लोगों का आबजन के सम्बन्ध के लोकमत एवं धारणाओं को मेक्सिको अमेरिका सम्बन्ध से अलग नहीं किया जा सकता। एक बड़े देश में विदेशी मंत्रालय ऐसे स्थानीय घटकों का बराबर ध्यान रखता है।

विदेश नीति का आयोजन एवं क्रियान्वयन निश्चय ही मंत्रालय की नौकरशाही द्वारा किया जाता है। इस नौकरशाही में अधिकांश तथा प्रशिक्षित संवर्ग (कैडर) उन कूटनीतिक अधिकारियों का होता है जिनका सारा सेवा काल दूसरे देशों की नीतियों को समझने में तथा उनके व्यवहार को समझने में हुआ है। इन नीतियों एवं व्यवहारों में परिवर्तन का वे पूर्वानुमान लगा सकते हैं। सरकार के नेता का व्यक्तिगत स्टाफ भी हमेशा विदेशी सेवा के लोगों से भरा जाता है ताकि सरकार के दो विभागों में एक तरह की भी सहमति बनी रहे। प्रधानमंत्री या अध्यक्ष के कर्मचारी (सटाफ) निश्चय ही आकार में बहुत छोटा होता है तथा सलाह, सूचना एवं चेतावनी जब आवश्यक हो, के लिए उन अन्तर्गामी तत्वों पर निर्भर रहता है जो विदेश मंत्रालय से मिलते हैं। जहां एक दलीय शासन है उन राज्यों में दल की केन्द्रीय समिति के रूप में एक तीसरी नौकरशाही होती है यहां भी अधिकांश अधिकारी सामान्य अथवा विदेशी सेवाओं से उधार लिए जाते हैं।

विदेशी दफ्तर के बाहर विदेश नीति के अन्तर्गामी तत्व दूसरे मंत्रालयों द्वारा मुहैया किये जाते हैं जो बड़े अर्थ में बाहर के देशों से व्यवहार करते हैं। गृह-मंत्रालय जब प्रकाश में आता है जब नागरिकों का विभिन्न देशों में आवागमन होता है। घर में तथा बाहर के दूतावासों में कोन्सुलर विभाग देश के व्यक्तिगत नागरिकों तथा विदेशी व्यक्तियों के हितों की देखभाल करता है। यह एक आशिक समस्या ज्ञात होती है पर कभी-कभी बड़े अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों का स्रोत बन जाती है। जहां तक भारत का सम्बन्ध है उदाहरण स्वरूप श्रीलंका और भारत के सम्बन्ध इस समस्या से बहुत अधिक प्रभावित हुये हैं। विदेश नीति से वाणिज्यिक एवं आर्थिक मामलों का सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट है। यह सदैव ऐसा ही रहा है पर उपनिवेशवाद के समय इसका प्रभाव बहुत बढ़ गया। आज कोई भी महत्वपूर्ण विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय इन घटकों को ध्यान में रखे बिना नहीं किया जा सकता।

यहाँ ज्ञान और विशिष्ट कला दोनों जो नीति निर्धारण के लिए आवश्यक हैं वे आवश्यक रूप से विदेशी कार्यों के मंत्रालय में नहीं मिलते हैं। इसे दूसरे विभागों के आगे पीछे होकर काम करना होता है। इसके साथ विदेशी कार्यालय सूचना, संवेदनशीलता और जानकारी सम्बन्धी अन्तर्गामी तत्वों को जो कभी अन्तरालों के समय दूसरे राज्यों की प्रेरणा के बारे में होते हैं मुहैया कर सकता है। इसका यह अर्थ है कि विदेशी कार्यों सम्बन्धी कार्यालय और सम्बन्धित मंत्रालयों में पूर्ण सहयोग होना चाहिए। विदेश नीति निर्माण के गतिशील तत्व आज की परिस्थितियों में एक जटिल क्रिया पद्धति है। एक कमजोर राज्य अपनी आर्थिक कमजोरी, विदेशी व्यापार में गतिशीलता का अभाव और बौद्धिक एवं सांस्कृतिक मामलों में क्रियाहीन स्थिति के कारण आक्रमण का शिकार हो सकता है। इन सब मामलों में एक समन्वित विदेश नीति का क्रियान्वयन जरूरी है। यह क्षेत्र है जिसमें सरकार का नेता, राज्य का संयंत्र, शासकीय दल और राज्य की विधायिनी सभा सभी को सहयोगी भाग अदा करना पड़ता है।

आज की परिस्थितियों में किसी भी देश के दूसरे देशों से सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण अवयव राष्ट्रीय सुरक्षा है। साथियों का चुनाव वास्तविक एवं महत्वपूर्ण होना या शक्तिशाली विरोधियों को अलग-अलग रखना और दूर के तथा उपेक्षा रखने वाले राज्यों को मित्रतापूर्ण सहयोगी बनाना इन सभी बातों के लिए रक्षा मंत्रालय एवं विदेशी कार्यों सम्बन्धी मंत्रालय में गहरा सहयोग होना आवश्यक है। क्रियान्वयन के स्तर पर, सभी सम्बन्धित विभागों के महत्वपूर्ण घटकों जैसे सुरक्षा उपकरणों की प्राप्ति आदि घटकों का अध्ययन करना जरूरी हो जाता है।

वर्तमान राज्यों का एक शक्तिशाली संगठन के रूप में विकास जो किसी भी देश में सर्वाधिक हितों का प्रतिनिधित्व करता है, के कारण विदेश नीति एक बड़ा तथा सामान्य विषय (डिसीप्लीन) हो गया है। अब यह संकीर्ण विभागीय गतिविधि जो शिष्टाचार, उत्सव और शालीनता तक सीमित रहती है, नहीं रही है। पिछले सौ वर्षों में यह इसी रूप में रहा है। दूसरे विश्व युद्ध से लेकर स्थिति और भी अन्तर्सम्बन्धित हो गयी है। आज कल विदेश नीति इतनी महत्वपूर्ण बात हो गयी है कि यह अकेले विदेशी कार्यों से सम्बन्धित कार्यालय पर नहीं छोड़ी जा सकती है। इसके साथ यह बात भी है कि किसी भी देश की सुरक्षा और आर्थिक नीति दोषवती होगी अगर उसका निर्धारण विशारदों द्वारा अपने अलग बन्द संविभागों में किया हो।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे के स्थान का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
2) इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर में अपने उत्तर की जांच करें।

1) वे मूलभूत निर्णायक तत्व क्या हैं जो मोटे रूप से किसी भी देश की विदेश नीति का निर्माण करते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) विदेश नीति के निर्माण में राजनैतिक कार्यकारी, विधायिनी सभा और नौकरशाही का क्या योगदान है?

.....

.....

.....

.....

7.4 विदेश नीति के निर्माण में विवाद बिन्दु और संदर्भ

बहुत से ऐसे घटक होते हैं जो किसी भी देश की आन्तरिक स्थिरता और बाहरी सम्बन्धों

पर प्रभाव डालते हैं। आज की दुनिया में एक राष्ट्र राज्य को इसकी सुरक्षा के सम्बन्ध में हर प्रकार की धमकियों से अपनी रक्षा करने की बात समझनी पड़ती है। बहुधा यह युद्ध या संघर्ष के रूप में नहीं होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस धमकी को कम कर दिया है यद्यपि क्षेत्रीय संघर्ष पिछले चार दशकों में जारी रहे हैं। इसलिए किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति सुरक्षात्मक तैयारियों बाहरी वातावरण पर सतर्क नजर और तर्क संगत रूप से समर्थ और मूल्य प्रभावकारी सुरक्षात्मक व्यवस्था करके अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा का परीक्षण करने पर मूल रूप से निर्भर करती है। हमारी शर्ती में यह बात सरल है कि व्यवस्था का निष्क्रिय सदस्य बनकर रहा जाये। सक्रिय होने के लिए उसे सुरक्षात्मक ही नहीं होना पड़ेगा किन्तु अपने पड़ौसियों की कमजोरी का फायदा भी उठाना होगा चाहे उसमें से कुछ के साथ मित्रतापूर्ण और कुछ के साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण हों। इस तरह की व्यवस्था में विदेश नीति और कूटनीति मौलिक भाग अदा करती है। शक्ति संतुलन का पुराना सिद्धान्त आज भी क्षेत्रीय और विश्व स्तर पर अनुकरणीय बना है। अगर किसी भी देश की विदेश नीति अपनी प्रतिचेष्टाओं (रेस्पोन्सेज) में काफी संवेदनशील नहीं है तो यह संतुलन उलट सकता है।

विश्व स्तर पर अणु युग में 'अवरोध' शब्द अधिक सार्थक हो गया है। इसका उपयोग हुआ है। दोनों शक्ति खंडों ने भौतिक संघर्ष से भयंकर प्रतिकार के डर से अपने आपको दूर रखा है। क्षेत्रीय स्तर पर भी अवरोध आवश्यक है। अगर आपके विरोधी में एक भावना है चाहे वह न्यायसंगत या दूसरी तरह की हो कि आप वास्तविक भौतिक आक्रमण से बेध्य हों या तोड़-फोड़ या राजनीतिक विद्रोह से बेध्य हों जो किसी असंतुष्ट भाग में संभव है तो ऐसी स्थिति में युद्ध शुरू होने की संभावना पैदा हो जाती है।

इस प्रकार विदेश नीति का केन्द्रीय उद्देश्य भौतिक अर्थ में इन धमकियों पर प्रतिबन्ध लगाने के रूप में देखा जा सकता है। पर यही काफी नहीं होता है। वर्तमान विश्व में इससे कम नाटकीय समस्यायें हैं जो आगे चल कर बड़ी गंभीर सिद्ध होती है। किसी भी देश की गृह-नीति को एक शक्तिशाली विश्व शक्ति प्रभावित कर सकती है। हर देश से दूसरे पक्ष को बिना अपना दुश्मन बनाये अपनी स्थिति की रक्षा करना सीखना पड़ता है। इस प्रकार आर्थिक कूटनीति जो द्विपक्षीय या बहुपक्षीय हो, विदेश नीति के लिए एक बड़ी चिन्ता बन जाती है।

एक पूर्ण रूप से समकालीन तत्व असिद्धान्तवादी विचार बिन्दु है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने आदर्शवादी सिद्धान्त मापदण्ड से कुछ देशों से, सबसे नहीं, अपने सम्बन्धों को मापने का प्रयत्न किया है। प्रजातंत्र को अपने राजनैतिक संदर्भ में तथा अर्थ में एक आदर्श के रूप में प्रक्षेपित किया जाता है। पूर्वी यूरोप तथा सोवियत रूस के विरुद्ध कूटनीति में अमेरिका की असिद्धान्तवादिता परिवर्तन वाली है। यहीं देश अफ्रीका और लेटिन अमेरिका देशों में जहां यद्यपि प्रजातंत्र का ह्रास हो चुका है, अपनी नीति के परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस नहीं करता। सोवियत रूस ने प्रारंभिक वर्षों में तथा चीन ने छठे दशक में विश्व को मार्क्सवादी समाजवाद में परिवर्तित करने की बात में विश्वास किया। यहां भी सुनिश्चित मापदण्ड नहीं थे। स्वतंत्रता एवं प्रजातंत्र के आदर्श, खुलापन एवं बहुत्ववाद अचानक पिछले एक वर्ष के काल में बहुत महत्वपूर्ण हो गये हैं। किसी भी देश की कुशल विदेशी नीति को इन विकासों को समझना पड़ता है और अपने आपको इन परिवर्तनों के अनुसार ढालना पड़ता है। अगर यह नहीं किया जाता है तो घरेलू परिस्थिति नाटकीय ढंग से विकृत हो जाती है जैसे रोमानिया में हुयी।

एक नया तरह का आदर्शवाद जो आठवें दशक में बहुत महत्वपूर्ण हो उठा वह धार्मिक पुनर्जागरण है जिसका सम्बन्ध ईरान से है। इससे अनेकों देशों के लिए समस्यायें उठ खड़ी हुयी है। इस नयी चुनौती का सामना करने के लिए नये तरह के कानून बनाने पड़ेंगे।

एक विदेशी शक्ति, मित्र या शत्रु के प्रभाव का सतर्कतापूर्ण व्यवहार कुशलता से अध्ययन करना होगा। यह कार्य विदेश नीति का है। इसे करने के बाद राज्य को दूसरे पक्ष को प्रभावित करने का प्रयत्न करना पड़ता है। इसमें चुनाव अपेक्षित है। मित्रों का अध्ययन भी उसी सावधानी से करना है जिससे विरोधियों का किया जाता है। एक शक्तिशाली देश की अपनी सीमायें होती हैं। दूसरे उदाहरण वियेतनाम एवं क्यूबा में अमेरिका का तथा युगोस्लेविया, चीन और अफगानिस्तान में सोवियत रूस है।

घरेलू परिवर्तन कभी-कभी विदेशी संवेगों, जो प्रत्यक्ष या छिपे रूप में हो सकते हैं, के द्वारा होते हैं। अगर उनका मूल रूप स्थानीय हो तो भी वे कभी-कभी विदेश नीति में बड़ा परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं। यहां राजनैतिक नेतृत्व की महानता सिद्ध होती है। इसके उदाहरण छोटे देशों में इथोपिया है जब 1974 में यहां के शासक को अपदस्थ कर दिया गया था, एवं बंगलादेश है जब मुर्जीबुर्रहमान को 1975 में कत्ल कर दिया गया था। इसी तरह सन् 1979 में शाह को अपदस्थ करने के बाद इरान है तथा सन् 1989 में पूर्वी यूरोप के सभी देश हैं जिनमें घरेलू परिवर्तन हुये हैं। बड़े देशों में भी वांछित विदेश नीति के उदाहरण प्राप्त होते हैं। सोवियत रूस ने गोर्बाचोव के सत्ता संभालने के बाद अपने दृष्टिकोण और नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। इस महान् शक्ति की नीति, युद्ध और शांति इसकी परिकल्पना, राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे और मित्र देशों को सहयोग देने की इसकी इच्छा के सम्बन्ध में परिवर्तित हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति इसके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन आया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध में यह सच है कि वहां परिबाधायें कम रही हैं। शक्ति विभाजन जिसके सम्बन्ध में पूर्व में कहा गया है, किसी महत्वपूर्ण और बड़े परिवर्तन को कठिन बना देता है। ऐसा होने पर भी 1971 में चीन के प्रति इसके दृष्टिकोण में नाटकीय परिवर्तन एक अच्छा उदाहरण है।

बाहर के देशों से सम्बन्ध में नीति परिवर्तन का चीन स्वयं एक बेहतर उदाहरण है। पांचवें दशक में इसकी नीति में सोवियत रूस के प्रति एक झुकाव देखा गया और छठे दशक में पूर्ण अलगाव परिलक्षित किया गया। "सातवें दशक में" अमेरिका के पक्ष का दृष्टिकोण सामने आया। आठवें दशक में एक नयी तरह की गुटों से अलग रहने की नीति का अस्थिर प्रयत्न किया गया।

आज की विश्व-पद्धति में विदेश नीति के सविशेष रूप से महत्वपूर्ण हो उठने का दिलचस्प उदाहरण मिलता है। आज की विश्व पद्धति में पुराने ढंग से युद्ध संभव नहीं है। आज छोटे देश बड़े देश को ललकारते रह सकते हैं यद्यपि उनके साधनों एवं सैनिक शक्ति में छोर असंतुलन है। क्यूबा, अलबानिया, उत्तरी कोरिया, इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। इससे भी अधिक विरल एक स्वशासी और स्वतंत्र दिमाग वाले छोटे देश की वह प्रतिक्रिया है जो अपने संरक्षक को ललकार कर बचा रह सकता है। इजरायल और दक्षिण अफ्रिका इसके अच्छे उदाहरण हैं। रोमानिया भी इस बात के योग्य हो गया है कि वह सक्रिय विदेश नीति का अनुसरण करके राष्ट्र की स्थिति तथा शक्ति में जो केन्द्रीय कमजोरी रह गयी है उसकी पूर्ति करने का प्रयत्न करें।

उस प्रभावशाली विदेशी नीति का कोई विकल्प नहीं है जो स्पष्ट रण नीति पर आधारित है तथा उसका क्रियान्वयन करती है ताकि उसका हित सुरक्षित रह सके। आज की दुनिया में उस अनुशासन में गुणवादिता देखी जा सकती है जैसे पाकिस्तान, इजरायल और मिश्र में। इसमें धर्य की आवश्यकता होती है। साथ ही अपने सर्वाधिक शक्तिशाली मित्र से आतंकित होने की अनिच्छा भी बड़ी महत्वपूर्ण होती है। एक स्पष्ट उदाहरण इसके समझने में सहायक होगा। पाकिस्तान ने अपने दोस्त और संरक्षक की विश्व नीति के विरुद्ध आचरण कर चीन से विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये। यह बात उस समय की गयी जब अमेरिका और चीन पूर्ण रूप से विरोधी थे। इसका लाभ आगे चलकर मिला। इजरायल ने अमेरिका के अन्दर बने दबाव डालने वाले समूहों का सावधानी पूर्वक कुशल प्रयोग करके और सावधानी पूर्वक इस बात का आंकलन करके कि इजरायल को अलग-थलग करने में अमेरिका किस हद तक जा सकता है अमेरिका की नीति को प्रभावित करने की सामर्थ्य अर्जित कर ली। उसे उस नीति को पूर्ण रूप से बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह कुत्ते की पूंछ हिलाने जैसा सरल कार्य नहीं था। यह समझदारी से परिपूर्ण जटिल और संपन्न क्रिया पद्धति है। सहायकों तथा मित्रों के मध्य कूटनीति हमेशा शत्रुओं के मध्य घृणा की सुनिश्चितता से अधिक श्रमशील होती है। यूरोप में फ्रांस की स्थिति का प्रक्षेपण तक स्वतंत्र स्वशासी की तरह किया जाता है। यूरोप में पूर्व पश्चिम समीकरण में तथा आणविक प्रश्नों में तथा उत्तर-दक्षिण विवाद में फ्रांस की उपलब्धि प्रभावशाली और अप्रदर्शनशील कूटनीतिक अभ्यास के कारण संभवतः सबसे अच्छा प्रशंसा पत्र है।

इस सम्बन्ध में भारत का भी स्मरण आता है। भारत की गुटनिरपेक्ष नीति एक तरह का निश्चय है जिसके आधार पर हर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न को गुण-दोष की दृष्टि से परखा जाता है। पूर्व धारणायें एवं पूर्वाग्रह हो सकते हैं पर जो अंतिम परिणाम पर पहुंचाती है वह भारत का राष्ट्रीय हित और उपनिवेशवाद विरोधी परम्परा है जिसे वर्तमान सरकार ने स्वतंत्रता

संग्राम से प्राप्त किया है। प्रारम्भ में एक सन्देह और शत्रुता का वातावरण था। आज इसे स्वीकार कर लिया गया है। खासतौर से जबकि मौलिक राजनैतिक और सुरक्षात्मक प्रबलता के स्थान पर आर्थिक एवं संप्रेषण के विचार बिन्दु विश्व समाज में धनवान और गरीब देशों के बीच उभर आये हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) नीचे के स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
2) इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर से अपने उत्तर को जांचें।

1) क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि किसी देश का राष्ट्रीय हित जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक विकास सम्मिलित है, इसकी विदेश नीति के निर्माण में सबसे बड़ा अन्तर्गामी तत्व है?

.....

.....

.....

.....

2) विदेश नीति के निर्माण में सिद्धान्त का क्या योगदान है?

.....

.....

.....

.....

7.5 व्यवसायिक अन्तर्गामी तत्व

अब तक हम नेताओं एवं शीर्षस्थ नौकरशाही के द्वारा संवैधानिक नेतृत्व की सलाह देने के लिए विदेश नीति के निर्धारण पर विचार-विमर्श कर रहे थे। इस प्रकार की नीति के निर्धारण में अन्तर्गामी तत्व के रूप में हमें उन पेशेवर समूहों को शामिल करना पड़ा जो सरकारी प्रतिष्ठानों में तथा उसके बाहर होते हैं। विदेशी विभाग के कार्यालय में प्रशासनिक एवं सामान्य विभागों को छोड़कर जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि से सम्बन्ध रखते हैं, विभाजन क्षेत्रीय समूहों में होता है। इन विभागों में जो अधिकारी होते हैं वे अपने प्रधान को विदेश नीति की समस्याओं के विवाद बिन्दुओं से तथा अभिक्रमों से अवगत कराते हैं। किसी भी विदेशी मामलों के दफ्तर में इन्हें सहयोग देने के लिए एक नीति आयोजन इकाई होनी चाहिए जो नित प्रति दिन के कार्यभार से मुक्त हो। वास्तव में हर व्यक्ति कह सकता है कि विदेश नीति संयंत्र की प्रभावशीलता उस व्यवहार पर निर्भर करती है जिसके अनुसार नीति आयोजन इकाई कार्य करती है। विदेशी मामलों के दफ्तर के बाहर भी सुरक्षा व वाणिज्यिक एवं वित्त मंत्रालयों में भी इसी तरह की आयोजन इकाइयां होनी चाहिए। इन इकाइयों को आपस में लगातार सहयोग करना चाहिए। इस समस्या का एक हल राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् की स्थापना है। यह विवादास्पद एवं अभी तक जिसकी उपयोगिता साबित नहीं हो सकी है ऐसी यंत्र प्रणाली है। इसकी अनुपस्थिति में प्रधानमंत्री के कार्यालय को और भी सशक्त बनाने की आवश्यकता है ताकि वह किसी निश्चित समय में विश्व की स्थिति को प्रभावशाली ढंग से समझ सके और उसके शीर्षस्थ स्तर को बता सके। संसदीय प्रणाली एवं स्वरूप की आवश्यकता की इससे पूर्ति संभव होगी। अमेरिका और सोवियत उदाहरण इससे बिल्कुल भिन्न हैं। इनके पास विभिन्न मंत्रालयों में तथा अध्यक्षीय व्यवस्था में बड़ी एवं शक्तिशाली आयोजन इकाइयां है। ये सभी विदेश नीति से सम्बन्धित हैं।

यहां हम गुप्तचरों के भाग पर विचार करते हैं। आज कोई भी विदेश नीति आयोजन उन विस्तृत एवं त्वरित गुप्तचर अधिसूचनाओं के अभाव में संभव नहीं है जिनमें बाहरी दुनिया और आन्तरिक देश की स्थिति का उल्लेख हो। यह बात खासतौर से लागू होती है जब

हमारे पास प्राकृतिक प्रदेश, जनसंख्या का एक वर्ग तथा शक्तिशाली आर्थिक हित हो जिन पर बाहर से प्रभाव डाला जाने की संभावना हो। बाहरी और भीतरी दोनों तरह की गुप्तचरीय सूचनाओं की आवश्यकता होती है। अमेरिका में सी.आई.ए. और एफ.वी.आई. इन सहायक कार्यों को करती हैं। भारत में सी.आई.वी. और आर.ए.डब्ल्यू. भी इसी काम को करती हैं। अमेरिका में एक बहुत प्रभावशाली सुरक्षात्मक अभिकरण है। दूसरे देशों में भी सैनिक सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए संगठन बने हुए हैं। ये गुप्तचर अभिकरण समन्वय की अपेक्षा रख सकते हैं—ताकि वे सुसंयोजित पूर्णता को प्राप्त हो सके और शीर्षस्थ नेतृत्व को तत्काल सलाह मिल सके। किसी देश की विदेश नीति सफलता के लिए गुप्तचर सूचनाओं के संग्रह पर निर्भर करती है। यह वस्तुतः गुप्तचरी जैसी हलकी चीज नहीं होती है। यह वस्तुतः दूसरे देश की प्रेरणा के स्रोत को समझने तथा उसके विभिन्न समूहों को जानने के लिए एक गहरी समझ होती है। इसका उपयोग हम जब आवश्यक हो कर सकते हैं। इसी प्रकार की गुप्तचर सूचनाओं का एकत्रीकरण हमारी नीति के निर्धारण, क्रियान्वयन और अन्त में प्रक्षेपण में सहायता करता है। यह संदेही विश्व को हमारे प्रश्न की न्याय संगतता के प्रति भी आश्वस्त कर सकता है।

भारत में संयुक्त गुप्तचर सूचना सम्बन्धी समिति जो विदेशों के मामलों से सम्बन्धित मंत्रालय में यद्यपि नीति निर्धारण में अधिक मदद नहीं करती है पर प्रधानमंत्री तथा उसके सुरक्षा सलाहकारों को पड़ौस में धमकियों की परिकल्पनाओं का मूल्यांकन करने में मदद करती है। यह कार्य ठीक है पर अंतिम विश्लेषण में गुप्तचर संस्थायें एवं नीति आयोजन इकाई को स्थायी आधार पर मिल-जुलकर काम करने की बात सीखनी चाहिए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात असफलताओं की सूचना शीर्ष भाग को देने की परम्परागत इच्छा होती है ताकि बहुत पहले से नीति में आवश्यक संशोधन किये जा सकें। देश का विदेश नीति संयंत्र घर में विदेशी मामलों से सम्बन्धित मंत्रालय तथा बाहर के दूतावास मिलकर बनाते हैं। दूतावास राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं और सम्बन्धित सरकारों से संपर्क और बातचीत जारी रखते हैं तथा शीर्षकों के पीछे की कहानियों की रिपोर्ट घर पर भेजते रहते हैं। व्यक्तिगत तौर पर कूटनीतिज्ञ लोग स्थानीय राजनैतिक व्यक्तियों से तथा अधिकारियों से संपर्क साधते हैं ताकि श्रोतागण हमारी कहानी के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखें और उसे कठिन समय पर जब हम बेचना चाहें वे ग्रहण करें। जिस देश में वह राजदूत है उसमें परिवर्तन की बात को मुख्यालय को भेजना भी राजदूत का एक बड़ा काम है। उसे तथा उसके सलाहकारों को गैर-राजनैतिक बातचीत में लगातार अपने आप को लगाना पड़ता है। यह आर्थिक सहायता, नये व्यापारिक लेनदेन प्रौद्योगिकी का स्थानान्तरण आदि के सम्बन्ध में होती है। राजदूतावासों के अलावा सरकारें कोन्सुलेट्स भी चलाती हैं। कोन्सुलेटों का कार्य उस देश में जाने वाले दर्शकों की मदद करना, अपने देश के हितों की रक्षा करना और व्यापार के बहाव में मदद करना है। कूटनैतिक कार्यवाही के दूसरे विभाग भी होते हैं जो आज दूतावासों के बाहर प्राविधिक निजी संगठन के रूप में किसी भी देश के द्वारा चलाये जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत को उसके राज्य व्यापार निगम (स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन), नियोजन केन्द्र (इन्वेस्टमेन्ट सेन्टर) और बहुत से पर्यटक संगठनों जिनमें एयर इण्डिया शामिल है, अच्छे परिणाम मिलते हैं। संस्कृति कूटनीति का एक महत्वपूर्ण भाग बन गयी है तथा बाहर कूटनैतिक संयंत्रों का सांस्कृतिक केन्द्र एक भाग बन जाते हैं।

मंत्रणा के द्वारा कूटनीति चलाने की बात वर्तमान वर्षों में पूर्णतया एक नया परिवर्तन है जो अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों के निर्माण में बड़ा तरीका है जब मंत्रीगण जिनमें प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति भी शामिल हैं देशों की यात्रा के समय मिलते हैं। ऐसी यात्रायें दोनों देशों में की जाती है या वे फिर बहुपक्षीय मंत्रालओं के समय मिलते हैं तो दो-तीन दिनों के कार्यकाल में बहुत सा कार्य हो जाता है। जहां कई महीनों तक घर पर की हुई तैयारियाँ महत्वपूर्ण होती हैं। शिखर सम्मेलनों के नये महत्व ने पुराने कूटनैतिक यंत्र प्रणाली को नई चुनौतियां दी हैं।

बाहर राजदूत के लिए एक नई समस्या संप्रेषण की गति है जो उसके पहले के प्रतिनिधिक और बातचीत की कुशलता को अप्रासंगिक बना देती है। अनेकों कड़ियों में वह सिर्फ एक कड़ी बनकर रह गया है। उसे इस स्थिति के साथ सामंजस्य बनाकर चलना सीखने की आवश्यकता पड़ती है और सबसे अच्छी कड़ी बनकर उसे अपना वर्चस्व दिखाना होता है।

बाहर राजदूतावासों के अतिरिक्त जो विदेशी मामलों के दफ्तरों को सूचना भेजते हैं, सरकार में नीति निर्माण करने वाला संयत्र दो या तीन गैर-सरकारी सूत्रों से आने वाले अन्तर्गामी तत्वों पर निर्भर रहता है। सबसे महत्वपूर्ण संसद है। जैसा कि पूर्व में विचार

विमर्श किया गया है हर देश में यह अलग-अलग तरह से है। भारत में विदेशी मामलों की सलाहकार समितियों की बैठकें और विदेशी नीति पर सामयिक बहस महत्वपूर्ण होती है। विदेश नीति को वास्तविक रूप में संचालित करने के लिए अधिक उपयोगी विशेषज्ञों द्वारा देखभाल है जो संसद के योग्य सदस्यों द्वारा की जाती है। ये सदस्य अपने प्रश्नों द्वारा, अपने पत्र व्यवहार द्वारा और मंत्रालय पर उनके प्रभाव द्वारा विदेश नीति पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी इसे हानिकारक संज्ञा प्रदान की जाती है पर एक स्वस्थ जनतंत्र में यह एक उपोगी अन्तर्गामी तत्व है।

संसद के बाद संपर्क माध्यम है भारत में जहां अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अकादमिक विशिष्ट ज्ञान अभी पूर्णतया विकसित नहीं है योग्य पत्रकर उसी विषय पर उसी संदेश के साथ महीनों एवं वर्षों लिखता रहे तो सरकार को सीधे तौर पर या संसद के मार्फत प्रभावित कर सकता है। ज्यादा दिलचस्प बात यह है कि वे विदेशी दर्शकों को जिनमें विदेशी कूटनीतिज्ञ भी सम्मिलित हैं, यह बात समझाने में मदद कर सकते हैं कि देश की विदेश नीति के पीछे अमुक दबाव है। इन शैक्षणिक तत्वों का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है अगर उन्हें अल्पकालीन अवधि के लिए उधार लिया जाता है ताकि सरकार को नीति सम्बन्धी कागजात तैयार करने में मदद मिले। यह वह बात है जिसे अमेरिका बड़ी सफलता से करता है। भारत में अभी हमने इसकी शुरुआत ही की है।

इससे सम्बन्धित एक दूसरा क्षेत्र है जहां अमेरिकी अनुभव बड़ा मूल्यवान है। पांच या छः शैक्षणिक संस्थान हैं जो अध्यापन के लिए नहीं हैं पर केवल शोध और विश्लेषण के लिए हैं जिन्हें अमेरिका में बड़े संस्थापनों ने संस्थापित किया है। ये बहुत बड़ी मात्रा में विश्लेषणात्मक सामग्री विदेश नीति के बारे में निकालते हैं जो उच्चस्तरीय होती हैं। वे खासतौर से उपयोगी भी होती हैं क्योंकि वैकल्पिक दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इससे सरकार के अनेक विकल्पों में अन्तिम चुनाव करने में मदद मिलती है। रीगन के काल में अनुदारवादी विचार-तालाबों (थिंक टैंक) के प्रभाव और महत्व में अचानक वृद्धि इस सम्बन्ध में अच्छा उदाहरण है। दूसरे देशों में अर्द्ध-सरकारी प्रकृति के अच्छे विचार-तालाब है। जैसे ब्रिटेन में रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स तथा मास्कों में अनेकों शैक्षणिक संस्थान हैं। भारत में सिर्फ सुरक्षा अध्ययन एवं विश्लेषण संस्थान ही है जो इस मापदण्ड के कहीं आसपास आता है। हमें ऐसे तीन या चार संस्थानों की आवश्यकता है।

बहुत देशों में विदेश नीति निर्माण के कार्य के सर्वेक्षण में हमने इसका अध्ययन समसामयिक विकास और आज की विश्व की वास्तविकता की पृष्ठभूमि में किया है। यह काम लाभकारी होगा कि इस विश्लेषण को समाप्त कर भारत की अपनी विदेश नीति पर कुछ विस्तार से अगले खंड में विचार-विमर्श करें।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए काम में लें?
2) इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर से अपने उत्तर को जांचें।

1) वे मूलभूत निर्णायक तत्व कौन से हैं जो मोटे रूप से किसी देश की विदेश नीति को स्वरूप प्रदान करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनैतिक कार्यकारी, विधायिनी संस्था और नौकरशाही का विदेश नीति निर्माण में क्या योगदान है?

.....

.....

7.6 भारत में विदेश नीति का निर्माण

स्वतंत्र भारत के विदेश नीति सम्बन्धों संयंत्र का ज्ञान इस सामान्य पृष्ठभूमि में अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो देश में विदेश नीति की कुछ परम्परायें भी थी जो ब्रिटेन ने छोड़ी थी। एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य देहली में केन्द्रित था। भारत सरकार के लिए अर्द्धकूटनैतिक कार्य थे जिनमें पड़ौसी देशों के सम्बन्ध, विदेशों में भारतीयों की दशा और निश्चय ही, साम्राज्य के दूसरे भागों से अलग भारत के लोगों के आर्थिक हित सम्मिलित थे। इन नीतियां को संचालित करने के लिए एक छोटा विभाग था। जैसा हम जानते हैं जवाहरलाल नेहरू ने विदेश मंत्रालय के रूप में उसे विस्तारित किया।

जवाहरलाल नेहरू उस समय प्रधानमंत्री एवं विदेश मंत्री थे। इससे एक तरह का दृष्टिकोण रखने में मदद मिली। इसके साथ इसका यह अर्थ भी था कि संस्थागत बहुलवाद या वैकल्पिक नीतियों का चुनाव जो विभिन्न विभागों द्वारा सुझाई जाती है, का अभाव बना हुआ था। क्योंकि नेहरू प्रजातंत्रीय विचार रखते थे, इससे इसका कोई महत्व नहीं रहा। उनके पश्चातवर्ती लोग पूर्ण कालीन विदेश मंत्री अपने सहयोगी के रूप में रहते थे। इस पर भी यह स्पष्ट हो गया कि प्रधानमंत्री अपने अधिकार का त्याग नहीं कर सकता। लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी दोनों ने विदेश नीति में काफी दिलचस्पी ली। जब श्रीमती इंदिरा गांधी के सत्ता में बने रहने पर चार-पांच साल बीत गये थे तो वह अपने अधिकार के रूप में एक विशेषज्ञ बन गयी थी। यह बात और प्रधानमंत्रियों के सम्बन्ध में सच नहीं है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में 10 वर्षों तक प्रधानमंत्री रहने के बाद श्रीमती थैचर विदेश नीति निर्माण में एक प्रभुत्व संपन्न भाग अदा करती थी जो उसके पूर्व का सर्वाधिक शक्तिशाली प्रधानमंत्री नहीं कर सका था। इतना होते हुए भी श्रीमती गांधी और श्रीमती थैचर दोनों विदेशी मामलों के दफ्तर और प्रधानमंत्री के दफ्तर में विदेश नीति निर्माण में पारस्परिक सम्बन्धों की परिकल्पना स्वीकार कर चलते थे। कभी भी एक को दूसरे की आवश्यकता होती है। गैर-सांवैधानिक व्यवस्थायें कुछ समय तक सही जा सकती हैं पर अन्त में स्वयं पद्धति उन्हें अस्वीकृत कर देती हैं। चूंकि नेहरू ऐसे प्रभावशाली विदेश मंत्री थे जो वास्तविक नीति निर्माण को स्वयं देखते थे। उनके अधिकारी भी इसमें सम्मिलित होते थे जो स्वामी भक्ति पूर्ण रूप से उनके आदेशों का पालन करते थे। राज्य के संयंत्र में भी कोई संघर्ष, द्वैत या उपेक्षा या निष्क्रियता के भूरे क्षेत्र नहीं थे।

जबकि यह सच है, यह जानकर दिलचस्पी पैदा होती है कि नेहरू के समय में संसद ने बहुत सक्रिय भाग अदा किया। यह याद रखना महत्वपूर्ण है क्योंकि बहुत से लोग नेहरू को विदेशी मामलों में एक उदार तानाशाह मानते थे। वास्तव में, विदेश नीति एक ऐसा मामला था जिस पर तीव्र मतभेद थे। उदाहरण के लिए तिब्बत पर अधिकांश विरोधी दल सरकारी नीति से सहमत नहीं थे। दो बड़ी शक्तियों से सम्बन्ध को लेकर भी क्रोधपूर्ण दृष्टिकोणों की विभिन्नता थी। सरकार की बहुत सी नीतियों की जबर्दस्त आलोचना वरिष्ठ नेताओं द्वारा की गयी जिनमें कृपलानी, राजगोपालाचारी, जयप्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया सम्मिलित थे। नेहरू अपने दृष्टिकोण पर इसीलिए चलने में समर्थ हुए क्योंकि उनके पास सरकार का बहुमत था। इसके अलावा बहुत से अवसरों पर आलोचना की आवाजों को उन्होंने स्थगित करने का प्रयत्न किया।

कुल मिलाकर नेहरू के बाद भारत की विदेश नीति निष्पक्ष रही है। गुटनिरपेक्ष नीति भारत तथा इसी प्रकार से स्थित देशों के लिए एक अपरिहार्य नीति के रूप में स्वीकृत की गयी। पाकिस्तान और चीन के प्रति अपनाई गयी नीतियों ने देश को एक कर दिया। धीरे-धीरे राष्ट्र में विदेश नीति के सम्बन्ध में एक आम सहमति विकसित होने लगी। यही स्थिति संसद और जन सम्पर्क के माध्यमों में रहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसके बाद कोई

आलोचना ही नहीं हुई, भारत के लोगों की विदेश नीति में महान् दिलचस्पी स्वतंत्रता के पूर्वकाल में तथा नेहरू युग में बराबर बनी रही। इसकी परिणति असाधारण प्रत्युत्तरदायी जनमत में हुयी। इसका अर्थ यह था कि प्रायः सभी सफल नीति निर्णयों पर बहसें हुयी, प्रश्न किये गये एवं संशोधन आदि हुए और कुछ स्थितियों में उन्हें बदला गया। पर पूर्ण तस्वीर के रूप में खासतौर पर बंगलादेश के युद्ध से लेकर, यह क्रिया पद्धति एक उभरती हुयी राष्ट्रीय सहमति साबित हुयी।

यह सबसे अधिक स्पष्ट हुयी जब 1977 में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। बड़े देशों के प्रति अपनाई गई नीति में एक अद्भुत निरन्तरता बनी रही। गुटनिरपेक्ष नीति के दृष्टिकोण में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। यह नया नेतृत्व जो उस निरन्तरता पर बना था जो विदेशी मामलों के मंत्रालयों और नौकरशाही ने मुहैया कराई थी तथा जिसका स्वरूप कुछ थोड़ा भिन्न नई नीतियों में राष्ट्रीय सहमति को ढ़ालना था उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। यह उन प्रयत्नों में सबसे अधिक साफ तौर से परिलक्षित है जिनके द्वारा पूर्ण रूप से मौखिक बयान दिये गये। जैसे प्रसिद्ध वास्तविक गुटनिरपेक्षिता आदि का प्रसंग।

निश्चय ही समस्यायें भी थी क्योंकि भारत के बाहर की दुनिया बदल रही थी और हर मामले में प्रतिक्रिया सरल या पूर्व से निश्चित प्रकार की नहीं हो सकती थी। अफगानिस्तान और कम्बोडिया दोनों पर श्रीमती गांधी के सत्ता में आने के बाद विरोधी दलों में कुछ समस्यायें उठीं, इससे अधिक महत्वपूर्ण वे समस्यायें थीं जो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के दूसरे सदस्यों से सम्बन्धित थी। इसने इतना होते हुए भी विश्व स्तर पर भारत के योगदान में किसी तरह की रुकावट नहीं डाली। यह योगदान निरस्त्रीकरण और गरीब एवं धनवान के मध्य आर्थिक बातचीत और व्यवहार के सम्बन्ध में था।

वास्तव में भारत जैसे देश की विदेश नीति पिछले दशक में तथा आज मोटे तौर पर किन्तु प्रभावशाली ढंग से, तीन विभागों में बांटी जा सकती है।

क) विशिष्ट राष्ट्रीय हितों के क्षेत्र पड़ौस में हो रहे परिवर्तनों से सम्बन्धित यहां पाकिस्तान, चीन, बंगलादेश, श्री लंका और नेपाल सभी ने स्थितियों को पैदा कर दी हैं जो विदेशी मामलों के दफ्तर में और राजनैतिक नेतृत्व से कुशलता और परिकल्पना की मांग करती है।

ख) विश्व में बड़े संघर्ष-स्थल जैसे पैलेस्टाइन, दक्षिणी अफ्रीका, निकारागूआ और देश के पास अफगानिस्तान, और कम्बोडिया। इनमें से करीब हर विवाद बिन्दु में भारत एक ऐसी नीति के निर्माण में समर्थ हुआ है जो विकासशील देशों के बड़े बहुमत की नीतियों से समानता रखती है। इसलिए इस क्षेत्र में द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय कूटनीति दोनों में प्रतिच्छेद (इन्टरसेक्शन) पाया जाता है। कुछ अंशों में यह भारतीय नूतन मार्ग के कारण नहीं है। किन्तु विश्व परिवर्तनों के प्रति सजीव एवं प्रत्युत्तरचारी प्रतिक्रिया के कारण है। इन सबका अर्थ यह है कि अधिकांश पूर्व–"उपनिवेशिक", "गरीब", "विकासशील", "गुटनिरपेक्ष" दक्षिणी देशों ने विश्व शक्तियों एवं अन्य बड़े राज्यों के कार्यों के प्रत्युत्तर में नीति अवधारणा की एक निश्चित पद्धति विकसित कर ली है। उन्होंने साथ ही हमारे भविष्य को खासतौर पर आर्थिक मामलों में प्रभावित करने की योग्यता भी अर्जित कर ली है।

ग) बहुपक्षीय संगठनों में सहकारी कार्यों की यह पद्धति समान रूप से स्थित देशों के साथ बहुत प्रासंगिक और प्रभावपूर्ण रही है। इससे युद्ध और शांति समृद्धि और गरीबी की विश्व समस्याओं से निपटने में मदद मिली है। यहां भी भारत ने एक महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। यह भाग व्यक्तिगत राज्य तथा नाम तथा संयुक्त राष्ट्र संघ से प्रेषित संगठनों और सविशेष अभिकरणों के सदस्य के रूप में अदा किया है।

पिछले 40 वर्षों में भारत में विदेश नीति निर्माण को समझने एवं उल्लेख करने में तीन या चार सविशेष घटकों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ये बाहरी दुनिया के प्रति हमारे दृष्टिकोण की केन्द्रीय प्रेरणा है। यह तब से है जब से देश अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर एक नये अभिनेता के रूप में आया। यह द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ। हमें जटिल स्थिति विरासत में मिली। नया संयुक्त राष्ट्र संघ बना। विश्व रूपता की आशायें जगी। आणविक हथियार आया। पुराने सहयोगियों में नई शत्रुता हुई और शीत युद्ध ने उन परिस्थितियों को जन्म दिया जिन्हें हम किसी रूप से प्रभावित नहीं कर सके, उन पर नियंत्रण करने की तो बात ही

छोड़ देनी चाहिए। तब उपनिवेशीकरण के विघटन की सम्पूर्ण क्रिया पद्धति शुरू हुई जिसका भारत पथ प्रदर्शक था। इन्होंने भारत को विश्व स्तर पर नीति निर्माण के लिए तत्व प्रदान किये। क्षेत्रीय स्तर पर देश के आशा के विपरीत विभाजन ने कुछ अपरिहार्य विकल्प विदेश नीति के सम्बन्ध में दिये। हमें शत्रुतापूर्ण रवैया रखने वाले पाकिस्तान के साथ जिन्दा रहने की कला सीखनी पड़ी। इसी प्रकार कश्मीर समस्या और कुछ बड़ी शक्तियों के दृष्टिकोण को भी सहना पड़ा। जो भारत के विभाजन से अपने आपको लाभान्वित मानते थे। पहला ब्रिटेन था फिर चीन और बाद में अमेरिका। इन सारे देशों की पाकिस्तान के प्रति अपनी सविशेष नीतियां थीं–जिनमें भारत के सविशेष राष्ट्रीय हित की अनदेखी की गयी थी। इसलिए हमारे देश के लिए यह आवश्यक था कि नाजुकता तथा विदग्धता से आचरण करे और बातचीत के द्वारा व्यवस्थाओं के बदले तथा हमारे तात्कालिक पार्श्वों की भौगोलिक एवं सैद्धान्तिक रक्षा करे। पाकिस्तान के साथ कई लड़ाइयां, जिनमें बंगलादेश की मुक्ति की लड़ाई शामिल है, और चीन से सीमा युद्ध इन सबका मुख्य रूप से प्रादेशिक घटकों से सम्बन्ध था तो भी वे जटिल होते गये तथा इतने बड़े होते गये जो उनके मौलिक महत्व से समानता नहीं रखता था। इसलिए उनका निदान और भी कठिन हो गया क्योंकि विश्व हितों ने बाधा डालना शुरू कर दिया। इस पर भी इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि राष्ट्र की विकास रणनीति को तोड़ा मरोड़ा गया क्योंकि साधनों को सुरक्षा की ओर प्रचलित करना पड़ा। इतना होते हुए भी इन परिवर्तनों को यह छूट नहीं मिली कि देश की बाहरी स्थिति तथा घरेलू स्थिरता को खासतौर से संस्थापक अर्थ में इस प्रकार प्रभावित कर दे जिसका प्रतिकार ही संभव न रहे। नये देश के लिए आदर्श भी महत्वपूर्ण थे।

समाजवाद एवं पूंजिवाद पर शीत युद्ध के आदर्श वाक्य को स्वीकार करने से इन्कार करने की बात गांधी, नैहरू परम्परा में निहित थी। चूंकि इन नीति का समर्थन कुछ अन्य देशों जैसे युगोस्लाविया, मिश्र आदि की नीतियों में मिला जिससे इन्हें क्रियान्वित करना सरल हो गया। भारत के लिए अधिक महत्वपूर्ण भारी उद्योगों और आर्थिक सहायता की घरेलू आवश्यकता थी जिसके साथ मित्रता की विदेश नीति थी जो बिना किसी बड़ी शक्ति से जुड़े चलने की थी। घर पर मिश्रित अर्थव्यवस्था और बाहर गुटनिरपेक्ष नीति के बीच जो कड़ी है वह आंगिक (ओरगनिक) है। इसी के साथ बराबर की आवश्यकता सुरक्षा तैयारियों में स्वायत्तता की थी। इससे देश के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अस्त्रों की खरीद करने का इच्छुक बने जहां कहीं वे मिल सके और जो सर्वाधिक आकर्षण पूर्ण व्यवसायिक दरों पर मिले। इस स्थान पर सोवियत रूस घटक की मौलिक प्रासंगिकता देश की विदेश नीति के संबंध में ध्यान में आती है। यह सम्बन्ध दूसरे देशों से सम्बन्धों में रुकावट डालने वाला नहीं था यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है। इसके साथ-साथ मोटे रूप में विभिन्न पक्षों में ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, और अमेरिका से सम्बन्ध स्थापित हुये। इसके साथ चीन से विरोधी स्वरूप वाला सम्बन्ध कायम हुआ जिसे पहले सोवियत रूस ने सहा और फिर स्वीकार कर लिया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिये प्रयोग करें।
2) इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर से अपना उत्तर जांचें।

1) विदेश नीति निर्माण की क्रिया-पद्धति में कूटनीति को एक नया व्यवसायिक अन्तर्गामी तत्व मानते हुए उसके योगदान का मूल्यांकन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत की विदेश नीति के निर्माण में प्रमुख क्षेत्रों की ओर संदर्भ के विवाद-बिन्दुओं की पहिचान करें।

.....

.....

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि विदेश नीति का निर्माण वस्तुतः एक राष्ट्र राज्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उद्देश्य और साधनों के चुनाव का एक अभ्यास है। यह जरूरी है। सबसे पहले कुछ मोटे उद्देश्यों का निर्माण है जो विदेश नीति को एक अर्थ और दिशा प्रदान करता है। हमने यह भी देखा है कि विदेश नीति का निर्माण एक गतिशील क्रिया-पद्धति है जिसमें तीन बातें शामिल हैं।

क) स्पष्ट उद्देश्यों की पहिचान,

ख) मूल निर्णायक घटकों का आलोचनात्मक मूल्यांकन, और

ग) इसका व्यवसायिक मशीनरी द्वारा क्रियान्वयन।

किसी भी देश की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य अपने हितों का संरक्षण एवं उनकी प्रगति है। यह सर्वोच्च रूप से महत्वपूर्ण है कि निर्णय वाली क्रिया-पद्धति राष्ट्रीय हित की पहिचान एवं स्थान निर्धारण बहुत साफ तौर पर करें। इसके करने के बाद मूलभूत निर्णायक तत्व जैसे देश की भौगोलिक स्थिति, विकास के दबाव, राजनैतिक परम्परा, घरेलू सामाजिक एवं भौतिक परिस्थितियों, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण और सैनिक शक्ति को ध्यान में रखना पड़ता है। इन घटकों के मूल्यांकन करने से हर व्यक्ति किसी भी देश की शक्ति और कमजोरी का अधिक अच्छी तरह विश्लेषण कर सकने में समर्थ होता है तथा विदेश नीति के उस स्वरूप को ग्रहण कर सकता है जो लाभों को अधिकतम बनाता है। अन्त में हमने देखा कि विदेश नीति का वास्तविक क्रियान्वयन देश के विदेशी मामलों से सम्बन्धित विभाग के लिए छोड़ा जाता है यद्यपि मूलभूत निर्णय सर्वोच्च राजनैतिक कार्यकारी द्वारा लिया जाता है पर इसके विवरण अधिकारियों द्वारा तैयार किये जाते हैं। ये लोग विदेशी मामलों के मंत्रालय से संबद्ध होते हैं। बाहर के दूतावास देश की सही छवि का प्रक्षेपण करते हैं और देशों को महत्वपूर्ण सूचना भेजते हैं। कुशल गुप्तचरी विदेश नीति निर्माण की क्रिया-पद्धति में अधिक अच्छे अन्तर्गामी तत्व मुहैया करती है। इस सारी प्रक्रिया में, जनसम्पर्क साधन, विधायिनी और दूसरे दिलचस्पी रखने वाले समूह विदेश नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं। इसके लिए वे जनमत के विभिन्न स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वन्धोपाध्याय, जे., **दी मेकिंग आफ इण्डियाज फोरिन पोलिसी** (आलाइड पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, 1980)

वर्डिंग, ए.एच., **दी मेकिंग ऑफ फोरिन पोलिसी** (वाशिंगटन डी.सी., 1966)

फ्रन्केल, जे., **दी मेकिंग ऑफ फोरिन पोलिसी : एन अनेलिसिस आफ डिसीजन मेकिंग** (ओक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1963)

मैक्रिडिस, आर.सी., **फोरिन पोलिसी इन वर्ल्ड पोलिटिक्स** (प्रेन्टाइस हाल, क्लिक्स, 1976)

मिश्रा, के.पी., **फोरिन पोलिसी एण्ड इट्स प्लानिंग** (एशिया पब्लिशिंग हाऊस बाम्बे, 1970)

7.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मूल रूप में किसी भी देश की विदेश नीति बहुत बड़े रूप से उसकी घरेलू नीति से प्रभावित होती है। नेहरू के शब्दों में विदेश नीति देश की गृहनीति का विस्तार है इसके अतिरिक्त स्थिति, आर्थिक विकास, राजनैतिक, संस्कृति, सैनिक शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण महत्वपूर्ण घटक हैं जिसका सम्बन्ध विदेश नीति के निर्माण से है।

2) यहां यह बतायें कि किस प्रकार सर्वोच्च राजनैतिक कार्यकारी विदेश नीति पर महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं और किस प्रकार विधान सभा संसद आलोचनात्मक रूप से इसका मूल्यांकन करती है और किस प्रकार नौकरशाही अंतिम क्रियान्वयन की रूपरेखा तैयार करती है।

बोध प्रश्न 2

1) हां यह सच है कि किसी भी देश की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य इसके राष्ट्रीय हित का संरक्षण एवं वृद्धि है जैसा कि निर्णय लेने वालों की परिकल्पना है।

2) यहां पूंजीवाद के आदर्श पर विचार करना चाहिए जिसे पश्चिमी देशों ने अपना रखा है। इसी प्रकार साम्यवाद को सोवियत रूस एवं चीन ने अपना रखा है। हाल ही में सिद्धान्त महत्वहीन हो गये हैं इसलिए उन्होंने देशों की विदेश नीति को स्वरूप देने में अपने मौलिक महत्त्व को खो दिया है।

बोध प्रश्न 3

1) अंतिम विश्लेषण में यह बात व्यवसायिक कूटनीतिज्ञों पर छोड़ दी जाती है कि वे अपने देश की वांछित छवि का विदेशों में प्रक्षेपण करें। राजदूत को यह भार सौंपा जाता है कि जिस देश में वह कार्यरत है वहां सरकार से तथा लागों से अच्छा तालमेल बैठा ले। इसके साथ बाहर होने वाले बड़े परिवर्तनों की सूचना निरन्तर आधार पर देश को भेजें जिनका सम्बन्ध विदेश नीति से है।

2) हमारी सुरक्षा को खतरा मूल रूप से पाकिस्तान एवं चीन से उभरता है। हमारी सुरक्षा के आयोजन में वे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। इसके अलावा हमें दक्षिणी एशिया में हमारे छोटे पड़ौसियों से सम्बन्ध रखना पड़ता है। विश्व स्तर पर भारत विकासशील देशों का नेतृत्व विकसित देशों की शोषणकारी एवं भेदभाव पूर्ण नीतियों के विरुद्ध लड़ाई में करता है। तीसरी मुख्य बात सुरक्षा तैयारियों को सुनिश्चित रखना तथा आर्थिक विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनों का निरन्तर अन्तरबहाव निश्चित करना है। इससे भारत को शीत युद्ध के ध्रुवीकरण में किसी का पक्ष नहीं लेने का संकेत मिलता है। भारत हर विवाद बिन्दु की स्वतंत्र रूप से जांच करता है और देशों से एक से एक आधार सम्बन्ध स्थापित करता है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)
समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध

खंड
4
शांति एवं सुरक्षा के प्रति संस्थात्मक दृष्टिकोण

इकाई 8
युद्ध का अवैधीकरण 5

इकाई 9
सामूहिक सुरक्षा 17

इकाई 10
क्षेत्रीय सुरक्षा 27

इकाई 11
राष्ट्र संघ 39

खंड 4 का परिचय

इस पाठ्यक्रम के खंड 4 में चार इकाइयाँ हैं, जो सभी राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए एक प्रणाली की स्थापना करने की समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इस प्रश्न के उत्तर की प्रक्रिया में यह खंड राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ एवं क्षेत्रीय संघों के अब तक के महत्वपूर्ण प्रयासों का उल्लेख करता है।

युद्ध के अवैधीकरण से संबद्ध इकाई 8 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के मुख्य मुद्दों की व्याख्या करता है, यथा, युद्ध की अवधारणा एवं विधि के साथ इसकी प्रासंगिकता। साथ ही, आधुनिक काल में युद्ध के उन्मूलन के लिए किए गए प्रयासों की ओर भी यह हमारा ध्यान दिलाता है।

"सामूहिक सुरक्षा" से संबद्ध इकाई 9 "सामूहिक सुरक्षा" एवं "सामूहिक रक्षा" की अवधारणाओं एवं इनके बीच के अंतर की व्याख्या करता है। यह कुछ घटनाक्रमों का उल्लेख भी करता है।

"क्षेत्रीय सुरक्षा" से संबद्ध इकाई 10 क्षेत्रीय सुरक्षा की व्यवस्था एवं इनके कार्यों की विवेचना करता है। साथ ही, यह सामूहिक सुरक्षा एवं क्षेत्रीय सुरक्षा के बीच के अंतर को भी समझाता है।

इकाई 11 राष्ट्र संघ से संबद्ध है। यह राष्ट्र संघ की स्थापना, लक्ष्यों, उद्देश्यों एवं उपलब्धियों का वर्णन भी करता है। आप अब तक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की अवधारणा, कार्यक्षेत्र एवं उपागमों से परिचित हो चुके होंगे। जब आप इन इकाइयों को पढ़ेंगे एवं इनके ऊपर आधारित सवालों को हल करेंगे तो आप इन्हें रोचक पाएँगे क्योंकि हरेक इकाई यहाँ सुरक्षा के सवाल से संबद्ध है। मानव समुदाय का आधारभूत उद्देश्य युद्ध का निषेध करना है, किंतु चूँकि यह एक दूरगामी सपना है, अतः मनुष्य संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा छोटे स्तर पर व्यावहारिक तौर पर प्रयासरत है। आइये, हम संस्थागत उपागमों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा की तलाश की जिज्ञासा के साथ इस खंड से परिचय करें।

इकाई 8 युद्ध का अवैधीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य
8.2 युद्ध क्या है?
8.3 विधि और युद्ध
8.4 युद्ध को अवैध घोषित करने के प्रयास
  8.4.1 हेग सम्मेलन
  8.4.2 राष्ट्र संघ की स्थापना : प्रतिज्ञा-पत्र की मुख्य प्राथमिकताएँ
  8.4.3 फ्रांस की विदेश नीति और सुरक्षा की खोज
  8.4.4 आपसी सहायता की प्रारूप संधि : 1923
  8.4.5 जनेवा चार्टर, 1924
  8.4.6 लोकार्नो समझौता, 1925
  8.4.7 कैलोग-ब्रियांड समझौता, 1928
  8.4.8 संयुक्त राष्ट्र की स्थापना : चार्टर का एक मूल्यांकन
8.5 सारांश
8.6 शब्दावली
8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.1 उद्देश्य

इस इकाई में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों अर्थात् युद्ध जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञान हो जाएगा:

- वैध परिसीमाओं के अंतर्गत युद्ध की अवधारणा का,
- युद्ध के प्रति विधि की उपयोगिता का,
- युद्धों को समाप्त एवं नियंत्रित करने के लिए आधुनिक युग में किए गए बहुत से प्रयासों का, और
- युद्ध को अवैध घोषित करने में सफलता के अभाव के कारणों का।

8.2 युद्ध क्या है?

युद्ध के विषय में बहुत से विचार हैं। युद्ध भी विभिन्न प्रकार और श्रेणियों के हैं। इसी कारणवश युद्ध की परिभाषा के बारे में संभ्रांति एवं संदिग्धता व्याप्त हैं। जे.बी. स्ट्रेक ने युद्ध को इन शब्दों में परिभाषित किया है "युद्ध दो या अधिक राज्यों के बीच प्रधानतः सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से एक प्रतिद्वंद्विता होती है, प्रत्येक प्रतिद्वंद्वी समूह का दूसरे को परास्त करना तथा अपनी शर्तों के अनुरूप शांति को लादना अंतिम उद्देश्य होता है" (ऐन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ, पृ. 490)। एल. ओपेनहीम ने युद्ध को इन शब्दों में परिभाषित किया: "युद्ध दो या अधिक राज्यों के बीच सशस्त्र सेनाओं के माध्यम की एक ऐसी प्रतिद्वंद्विता है जिसका लक्ष्य एक दूसरे को परास्त करना और शांति शर्तों को लादना है जो विजेता की इच्छा के अनुरूप हो।" (इंटरनेशनल लॉ, जिल्द न. 2, संपादन, एच. लौटरपावथ, 1963, पृ. 202)

युद्धरत राज्यों की सशस्त्र सेनाओं के बीच की प्रतिद्वंद्विता की युद्ध के रूप में परंपरागत परिभाषा में ओपेनहीम के अनुसार आधुनिक समय में काफी परिवर्तन हो चुका है। इस परिवर्तन के विषय में वह चार मुख्य कारणों को बताता है। प्रथम, युद्ध करने वालों की संख्या में वृद्धि, द्वितीय, हवाई युद्ध के प्रसार में वृद्धि, तृतीय, आर्थिक उपाय और चतुर्थ, सर्वाधिकारवाद राज्यों का उदय। इन सबके साथ-साथ इस पर भी ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए कि नाभिकीय हथियारों तथा बालिस्टिक प्रेक्षपास्त्रों के उदय ने युद्ध तथा सेना की अवधारणा को और जटिल बना दिया है।

अभी हाल के वर्षों में ऐसे बहुत से युद्ध हुए हैं जिसमें युद्ध करने वाले किसी भी पक्ष ने युद्ध की घोषणा नहीं की। उदाहरणार्थ, 1904 में जापान ने युद्ध की औपचारिक घोषणा किए बिना ही रूस के विरुद्ध युद्ध प्रारंभ कर दिया था। अभी हाल के वर्षों में कई इसी प्रकार की अघोषित लड़ाइयाँ हुई हैं जैसे कि 1950-53 की कोरिया की लड़ाई, 1960-63 का कोगो का संघर्ष, वियतनाम युद्ध और 1965 का भारत-पाकिस्तान संघर्ष। अन्य अनेक युद्धों में न तो लड़ाइयों को वैधानिक रूप से लड़ा गया और न हीं बाद में युद्ध के नियमों का अनुसरण किया गया। इस संदर्भ में 1907 के हेग सम्मेलन का स्मरण किया जा सकता है तथा इस सम्मेलन में युद्ध नियम को नियत करते हुए कहा गया कि युद्ध प्रारंभ करने के लिए **युद्ध की विधिवत् घोषणा करना आवश्यक था** और तटस्थ राज्यों को भी एक चेतावनी पत्र उपलब्ध कराया जाना चाहिए। पहले उद्धृत किए गए अघोषित युद्धों का उल्लेख "अयुद्ध सशस्त्र संघर्षों" के नाम से किया गया है।

8.3 विधि और युद्ध

युद्ध घोषित हो या अघोषित, वह युद्ध ही होता है। परंतु कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि एक वैध घोषणा का क्या उपयोग है। लेकिन विधि की अपनी उपयोगिता होती है चाहे इसको माना जाए या नहीं। कोई भी यह कह सकता है कि अमुक के द्वारा किया गया यह कार्य वैध नहीं है, अमुक के द्वारा किया गया यह कार्य भले ही अवैध न हो परंतु यह अनुचित या अनैतिक है। सभी यही चाहते हैं कि उनको विधि का पालन करने वाले एवं नैतिक माना जाए और सामान्यत: वे इस बात से घृणा करते हैं कि उनको कानून तोड़ने वाले तथा आक्रामकारी कहा जाए। कानून की आज्ञा को मानना तथा "सभ्य" बने रहना मानव की प्रकृति है और इसी से आशा की वह किरण दिखाई पड़ती है जिसके आधार पर किसी दोषी व्यक्ति या राष्ट्र के व्यवहार को परिवर्तित किया जा सकता है। इसलिए अगर कोई राष्ट्र या व्यक्ति कानून को यदाकदा तोड़ता है तब इस सच्चाई को जानना तथा प्रचारित करना काफी उपयोगी होता है कि कानून को तोड़ा गया है या आचार-संहिता का उल्लंघन किया गया है। इस प्रतिकूलता का जल्द ही या फिर कुछ देर से यह प्रभाव होगा कि गलती को महसूस किया जाएगा और गलत कार्य करने वाला उचित रास्ते पर आ जाएगा। इसी कारण अगर युद्ध मानकों, कानूनों एवं नैतिकता का अनुसरण किए बिना ही लड़ा जाता है तब इससे हताश होने की आवश्यकता नहीं है बल्कि युद्ध को अवैध एवं अनैतिक बनाने के लिए कड़े प्रयासों को निरंतर जारी रखना चाहिए। यदि पूर्ण या तुरंत सफलता नहीं प्राप्त होती है तो कम-से-कम अर्ध-सफलता का प्राप्त होना निश्चित है। उदाहरणार्थ, अब हम उस संरक्षण का अध्ययन करेंगे जो युद्ध के दौरान गैर-लड़ाकू नागरिक आबादी तथा कुछ सीमा तक युद्ध के लड़ाकू सैनिकों को प्रदान किया जाता है।

युद्धरत राज्य सैनिकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—कानूनी एवं गैर-कानूनी। प्रारंभिक श्रेणी के ऐसे स्थायी व्यावसायिक सैनिक होते हैं जिनको युद्ध के दौरान मारा, घायल किया जा सकता है, तथा उनको गिरफ्तार कर बंदी भी बनाया जा सकता है। गैर-कानूनी लड़ाकुओं की न हत्या की जा सकती है और न उनको गंभीर रूप से घायल किया जा सकता है। उनको गिरफ्तार किया जा सकता है और बंदी भी बनाया जा सकता है। इस भाँति अंतर्राष्ट्रीय विधि ने परंपरागत रूप से लड़ाकू एवं गैर-लड़ाकू के बीच विभेद को उद्धृत किया है। अभी हाल के वर्षों में संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा (जनरल एसेंबली) ने 15 दिसंबर 1975 को सैन्य संघर्षों के दौरान मानव अधिकारों का सम्मान करने के संबंध में एक प्रस्ताव को स्वीकृत किया था। दो वर्ष बाद जून 1977 में सैन्य संघर्षों में अंतर्राष्ट्रीय मानवीय विधि प्रयोजनीय के पुन: पुष्टीकरण और विकास पर एक कूटनीतिक सम्मेलन का आयोजन किया गया। 1949 के जनेवा सम्मेलन के दो मूल पत्रों को भी पारित किया गया। प्रथम मूल पत्र में उन धाराओं का उल्लेख है जो सैन्य संघर्ष में लड़ाकुओं की स्थिति से संबंधित है। ये मूल पत्र की धाराओं 43, 44 तथा 45 में प्रदत्त है।

युद्ध बंदियों के साथ किए जाने वाले व्यवहार एवं उनकी स्थिति के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय विधि को संकलित करने के लिए कई प्रयास किए गए हैं। सबसे पहला ऐसा प्रयास 1907 के हेग सम्मेलन में किया गया। युद्ध बंदियों से किए जाने वाले व्यवहार से संबंधित नियमों का स्पष्ट विवरण 1929 के जनेवा सम्मेलन के द्वारा किया गया। इस प्रकार 1907 के हेग

सम्मेलन के नियमों को बदल दिया गया। इसी के साथ 1949 में जनेवा सम्मेलन के द्वारा युद्ध बंदियों के साथ-साथ किए जाने वाले व्यवहार से संबंधित भारी भरकम नियमों को बनाया गया। आधुनिक काल में युद्धबंदियों के साथ किए जाने वाले व्यवहार संबंधी मूलभूत नियमों का निर्माण 1949 के जनेवा सम्मेलन के द्वारा किया गया। ये नियम घोषित एवं अघोषित दोनो प्रकार के युद्धों पर लागू होने वाले हैं। युद्धबंदियों के साथ किए जाने वाले व्यवहार के बारें में इस सम्मेलन ने जोर देकर यह कहा कि युद्धबंदियों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए और जितनी भी जल्दी हो उनको रिहा करने के प्रयास भी किए जाने चाहिए। सम्मेलन के द्वारा रेड क्रास के अधिकारियों को भी कुछ निश्चित सुरक्षा प्रदान की गई जिससे वे बीमार एवं घायलों की सेवा कर सकें। युद्ध के समय में नागरिकों के साथ कैसा व्यवहार किया जाए इस पर भी 1949 के जनेवा सम्मेलन ने धाराओं की एक लंबी सूची बनायी। नागरिक लक्ष्यों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई। आक्रमणों को "सैन्य लक्ष्य" तक सीमित करने कां प्रयास किया गया। नागरिक आबादी नागरिकों एवं नागरिक लक्ष्यों को आक्रमण से मुक्त रखा जाना चाहिए।

परंतु हम पुनः अपने मूलभूत प्रश्न की ओर वापस लौटते हैं और कोई भी यह प्रश्न उठा सकता है कि क्या युद्ध को मात्र इसके विरुद्ध पारित करके समाप्त किया जा सकता है या यदि यह समस्या इतनी सरल थी कि इसको मात्र बहस करके समाप्त किया जा सकता था, तब इसको बहुत समय पूर्व ही समाप्त हो जाना चाहिए था। ये प्रश्न गलत नहीं हैं परंतु इनको गलत प्रकार से समझा गया है। क्योंकि यहाँ पर विधि का कार्य अनुचित या उचित कार्यों को आवश्यक रूप से निषेध करना नहीं बल्कि उन निश्चित मूलभूत संहिताओं तथा अवधारणाओं को स्पष्ट करना है। यदि युद्धों का अंत होने वाला हो या फिर युद्धों को प्रभावकारी ढंग से नियंत्रित किए जाने वाला हो तो प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक राष्ट्र के द्वारा उनको अच्छी प्रकार से समझा जाना चाहिए। आत्मरक्षा, हथियारबंद हमला, आक्रमण, अंतर्राष्ट्रीय सीमा, क्षेत्र, वर्जित सैन्य शक्तियाँ, फैलाव, कमान आदि शब्द संदिग्धताओं एवं शिकंजियों से भरपूर हैं और इन शब्दों का उपयोग या दुरुपयोग राष्ट्रो के द्वारा अपने-अपने हितों के अनुरूप किया जा सकता है। अनुभव हमें यह बताता है कि अगर इन शब्दों के अर्थों का स्पष्ट शुद्धीकरण कर दिया जाए और इनका उपयोग उचित प्रकार से हो तब युद्ध की समस्याओं के प्रति एक सामान्य दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है। यह उचित भी होगा। कम-से-कम इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन महत्वपूर्ण शब्दों एवं अवधारणाओं का वैधानिकरण तथा शुद्धीकरण करने के लिए आवश्यक रूप से अंतर्राष्ट्रीय प्रयास किए जाने चाहिए जो युद्ध के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग अपने उत्तर देने के लिए करें।
2) इस इकाई के अंत में प्रश्नों के दिए गए प्रारूप उत्तरों के साथ-साथ आप अपने उत्तरों की जाँच करें।

1) युद्ध को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) युद्ध को अवैध घोषित करने या युद्ध के पक्षों को परिभाषित करने के लिए वैध प्रयास क्यों किए जाने चाहिए?

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 युद्ध को अवैध घोषित करने का प्रयास

8.4.1 हेग सम्मेलन

1899 तथा 1907 के हेग सम्मेलनों के द्वारा युद्ध के अधिकार को विधि के एक औजार तथा वैधानिक माननीय साधनों को बदलने की एक वैधानिक मान्यताप्राप्त अधिकार के रूप में सीमित करने के प्रयासों का प्रारंभ हुआ। 1899 के हेग सम्मेलन ने ऐसे अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के लिए मध्यस्थता के द्वारा आपसी समझौते की युक्ति निकाली जिनके झगड़ों को निपटाने में कूटनीति असफल हो चुकी थी। इन साधनों के अंतर्गत मध्यस्थता, बातचीत, सुलह, जाँच करने वाले अंतर्राष्ट्रीय आयोगों एवं न्यायिक समझौतों का सुझाव दिया गया था। 1907 के हेग सम्मेलन के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के लिए मध्यंस्थता की सबसे अधिक प्रभावशाली तथा समान साधनों के रूप में पुनः पुष्टि की गई।

8.4.2 राष्ट्र संघ की स्थापना : प्रतिज्ञा-पत्र की मुख्य प्राथमिकताएँ

1914-1918 के बीच लड़ा जाने वाला प्रथम विश्व युद्ध अपने पीछे रक्त, दुःख एवं सर्वनाश के अवशेष छोड़ गया। मानवीय जीवन के नुकसान के रूप में इस युद्ध से डेढ़ करोड़ लोगों का जीवन स्वाहा हो गया। इस अभूतपूर्व नुकसान के कारणवश मानव जाति को युद्ध विभिषिका से बचाने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया गया।

जिस समय प्रथम विश्व युद्ध का अंत हुआ उसी समय पेरिस शांति सम्मेलन भी हुआ और उसी में राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना का ऐतिहासिक निर्णय लिया गया। प्रतिज्ञा-पत्र के प्रथम प्रारूप को सम्मेलन के सम्मुख रखते हुए राष्ट्रपति वूडरो विल्सन ने कहा कि "एक जीवित वस्तु की उत्पत्ति हुई है।" संघ के प्रतिज्ञा-पत्र ने विश्व शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने तथा मजबूत करने के साथ-साथ विश्व संगठन का भी प्रतिपादन किया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। राष्ट्र संघ ने युद्ध को रोकने, निःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहित करने, हथियारों की दौड़ का उन्मूलन करने, अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के शांतिपूर्ण समझौते कराने और सैनिक आक्रमण को रोकने के लिए संयुक्त सुरक्षा उपायों को प्रोत्साहित करने के प्रयास किए। राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 12 से 15 के द्वारा राज्यों के युद्ध करने के अधिकार पर कुछ निश्चित प्रतिबंधों को लागू किया गया। राज्यों को मध्यस्थता, न्यायिक समझौते या जाँच के द्वारा अपने झगड़ों का निपटारा करना था। यदि झगड़े का समाधान इन साधनों के द्वारा न हो सके तब वे तीन माह पूर्ण होने से पूर्व युद्ध नहीं कर सकते थे। राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अपने-अपने हथियारों को संभावित स्तर तक कम करने, हथियारों के व्यक्तिगत निर्माण की बुराई को समाप्त करने और विषय पर सूचना का आदान-प्रदान करने की प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा-पत्र में सदस्य राज्यों का आह्वान किया गया कि वे एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करें। संक्षेप में इस प्रतिज्ञा-पत्र ने शांतिपूर्ण तथा स्थायी विश्व व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास किया। परंतु नीचे दिए गए कारणों से स्पष्ट था कि यह कोई सरल कार्य न था।

8.4.3 फ्रांस की विदेश नीति और सुरक्षा की खोज

ई.एच. कार ने लिखा कि "1919 के बाद यूरोपीय राजनीति में फ्रांस की सुरक्षा की खोज निरंतर एक मात्र कारक था।" प्रथम विश्व युद्ध के अंतिम समय में फ्रांस ने निश्चय किया कि वह प्रत्येक अवसर का इस ढंग से उपयोग करेगा कि उसकी जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षा अधिक सुदृढ़ होती रहे। प्रथम, फ्रांस ने "भौतिक गारंटी" की माँग की और फिर उसने अपनी सीमाओं को राइन तक बढ़ाना चाहा जिससे कि वहाँ पर रहने वाले 50 लाख जर्मन फ्रांस शासन के अधीन हो जाएँ। मित्र राष्ट्रों ने उसकी यह माँग मानने से इंकार कर दिया। फिर भी उन्होंने राइन नदी के बाएँ किनारे के क्षेत्र का स्थायी रूप से अनिन्यकरण करने एवं अस्थायी रूप से 15 वर्षों के लिए फ्रांस को अपने अधीन रखने की आज्ञा प्रदान कर दी।

फ्रांस ब्रिटेन से भी विश्वसनीय गारंटियों को प्राप्त करने के लिए प्रयास कर रहा था। 1922 में ब्रिटिश सरकार ने इस प्रकार की गारंटी को फ्रांस के सम्मुख रखा। परंतु फ्रांस के प्रधानमंत्री एम. पोंइकेपर ब्रिटेन से उस प्रकार की सैनिक सहायता की प्रकृति की स्पष्ट रूपरेखा चाहता था जिसके बिना प्रस्तुत की गई गारंटियाँ विश्वसनीय नहीं हो पाएगी।

परंतु ब्रिटेन का यह प्रस्ताव भी इसलिए असफल हो गया कि वह इससे आगे नहीं जाना चाहता था। जर्मनी बनाम अपनी सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए फ्रांस ने जर्मन उद्योग के जीवन प्रवाह रूप के क्षेत्र को अधीनस्थ करने की इच्छा व्यक्त की। 1923 के प्रारंभ में फ्रांस ने इस क्षेत्र को प्राप्त करने का प्रयास किया। परंतु फ्रांस का यह प्रयास असफल हुआ और इससे फ्रांस के सम्मान को बहुत चोट भी पहुँची। परंतु फ्रांस के इन व्यर्थ सैनिक प्रयासों का एक अर्थपूर्ण परिणाम यह हुआ कि युद्ध होने की संभावना को रोकने के लिए कूटनीतिक प्रयासों के साथ-साथ वैधानिक प्रयासों का प्रारंभ हो सका।

8.4.4 आपसी सहायता की प्रारूप संधि : 1923

लीग की प्रथम सभा ने प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 8 को लागू करने के लिए अस्थायी मिश्रित आयोग का गठन किया। यह धारा लीग की निःशस्त्रीकरण की व्यवस्थाओं से संबंधित थी। ब्रिटेन के लॉर्ड राबर्ट सेसिल और फ्रांस के कर्नल रेगूइन ने इस संबंध में अनेक प्रस्ताव रखे। लीग सभा ने इन प्रस्तावों पर बहस करने के लिए बैठक की। 1922 से 1923 के बीच कई बार इस प्रकार की बहसें हुई। अंततः सितंबर 1923 में आपसी सहायता की संधि के प्रारूप को तैयार किया गया और चौथी सभा ने इसको 1923 में ही एक मत से स्वीकार कर लिया। इस संधि ने सामान्य तथा विशेष गारंटियों के सम्मिश्रण के द्वारा सुरक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास किया इस संधि में यह भी व्यवस्था की गई कि आक्रमणीय युद्ध के मामले में (इसने युद्ध को "एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध" का नाम दिया) लीग कौंसिल चार दिनों के अंदर ही आक्रामक की पहचान करेगी तथा पीड़ित राष्ट्र को सैनिक एवं वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी करेगी। फ्रांस के कहने पर इस संधि में यह भी सम्मिलित किया गया कि कौंसिल के अनुमोदन से राष्ट्र संघ के सदस्य क्षेत्रीय विशेषता आपसी सहायता के समझौतों को संपन्न कर सकते हैं और इसके बाद प्रतिज्ञा-पत्र में प्रदत्त अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करें। इस संधि में निःशस्त्रीकरण के द्वारा भी सुरक्षा को प्राप्त करने का प्रयास किया गया; इसने निःशस्त्रीकरण "राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ तारतम्य बिंदु" करने तक हथियारों का अनुमान लगाया। इस संधि का अनुमोदन उन 18 सरकारों के द्वारा किया गया जिनमें कोई भी बड़ी शक्ति सम्मिलित नहीं थी। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनाल्ड ने प्रबलता से इस संधि को अस्वीकृत कर दिया। उसे भय था कि ब्रिटेन एवं उसके उपनिवेशिक राज्यों का "उत्तरदायित्व विश्व के सभी भागों में आक्रमण के विरोध का बेजोड़ ढंग से विरोध करना हो जाएगा।" संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ भी इस संधि के पक्षधर नहीं थे। यहाँ तक कि फ्रांस भी असहमत प्रतीत होता था क्योंकि फ्रांस के दृष्टिकोण से सुरक्षा की उचित व्यवस्था किए बिना ही निःशस्त्रीकरण का आह्वान किया गया था। इस प्रकार से आपसी सहायता की प्रारूप संधि का एक व्यर्थ अभ्यास के रूप में अंत हो गया, यद्यपि उसकी योजना प्रतिज्ञा-पत्र को सुदृढ़ करने के लिए बनाई गई थी। प्रस्तावित संधि को नकार दिया गया और जनेवा चार्टर के नाम से जाने वाली योजना का प्रारूप तैयार किया गया।

8.4.5 जनेवा चार्टर, 1924

गैथोर्नि-हार्डी ने अपनी पुस्तक **ऐ शौर्ट हिस्ट्री ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स, 1920-1939** में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "जनेवा चार्टर राष्ट्र संघ की व्यवस्था को सुधारने का एक प्रयास था। इस लक्ष्य को दो तरीकों से प्राप्त किया जाना था—प्रथम, आक्रमण के संतोषजनक परीक्षण की आपूर्ति करके और दूसरे, प्रतिज्ञा-पत्र की उन कमियों को दूर करके जिनकी आड़ में युद्ध को वैध करार दिया जा सकता था तथा ऐसा समझौते के लिए दी गई धारा 15 की व्यवस्था के असफल होने पर हो सकता था। इन दोनों मुश्किलों की कुंजी अनिवार्य मध्यस्थता में निहित थी।" सभी मामलों में चार्टर ने मध्यस्थता को अनिवार्य कर दिया।

हस्ताक्षरकर्त्ताओं को उन सभी झगड़ों में अंतर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत के अनिवार्य अधिकार-क्षेत्र को स्वीकृत करना था जो ऐच्छिक धारा के अंतर्गत थे। अवैध प्रकृति के झगड़ों को राष्ट्र संघ की कौंशिल को भेजा जाना था। यदि धारा 15 के अंतर्गत कौंसिल एकमत से रपट तैयार करने में असफल रहती है तब भी युद्धरत राज्यों को युद्ध करने की आज्ञा नहीं दी जाएगी। कौंसिल राज्यों के बीच बातचीत करने का प्रयास करेगी। यदि बातचीत असफल हो जाती है तब कौंसिल (परिषद्) कुछ मध्यस्थों का चुनाव करेगी और जो इस समस्या का हल खोजने का प्रयास करेंगे। मध्यस्थता करने वालों का निर्णय अंतिम होगा तथा झगड़ा ग्रस्त दलों को उसे आवश्यक रूप से मानना होगा।

डब्ल्यू.सी. लैंगसम ने अपनी पुस्तक **दि वर्ल्ड सिन्स 1919** में अनुमान करते हुए लिखा कि जनेवा चार्टर की विशिष्टता को इस रूप में देखा जाना चाहिए कि "इसने आक्रामक युद्ध को अंतर्राष्ट्रीय अपराध के नाम से बदनाम किया ··· इसने यह भी अनुबंधित किया कि जो राष्ट्र इसकी शर्तों का पालन करेंगे उनको विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वों को भी मानना चाहिए ···।" फ्रांस के प्रधानमंत्री हेरियट ने उन सभी कूटनीतिक प्रयासों को अपना पूर्ण समर्थन दिया जिनका लक्ष्य विश्व शांति तथा सुरक्षा कायम करना था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकडोनाल्ड ने 12 मार्च, 1925 को जनेवा चार्टर को अस्वीकृत कर दिया तथा इसके बाद चार्टर का प्रभावकारी ढंग से लागू होने की सभी संभावनाएँ समाप्त हो गईं। जनेवा चार्टर का भी वही हाल हुआ जो आपसी सहयोग की प्रारूप संधि का हुआ था।

8.4.6 लोकार्नो समझौता, 1925

बेल्जियम, ब्रिटेन, चैकोस्लोवाकिया, फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा पोलैंड जैसे सात राष्ट्रों के नेताओं की एक बैठक अक्तूबर, 1925 को स्वीट्जरलैंड के एक गाँव लोकार्नो में हुई। लोकार्नो के नाम से प्रसिद्ध अनेकों संधियों के प्रारूप यहाँ पर तैयार किए गए और 1 दिसंबर, 1925 को औपचारिक रूप से इन संधियों पर हस्ताक्षर किए गए। इन समझौतों में से एक आपसी गारंटी की संधि थी। बेल्जियम, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली इस संधि की पार्टियाँ थीं। इस संधि के द्वारा फ्रांस-जर्मन तथा बेल्जियम-जर्मन सीमाओं की गारंटी दी गई थी। इसने राइन के प्रदेश की स्थायी असैन्यकरण को पुनः स्वीकृत किया। एक दूसरी संधि के द्वारा जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम युद्ध न करने के लिए सहमत हुए और वे आत्म-रक्षा या राइन प्रदेश के असैन्यकरण के समझौते के घोर उल्लंघन पर या संघ के उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए युद्ध के विकल्प को अपना सकते थे। ब्रिटेन तथा इटली संधि के गारंटर बनने के लिए सहमत हुए थे। संधि की धाराओं के उल्लंघन की शिकायत को राष्ट्र संघ की परिषद् के सम्मुख ले जाना था। आपसी गारंटी की संधि के साथ-साथ अन्य कुछ और संधियों पर भी हस्ताक्षर किए गए थे। उनमें से एक जर्मनी तथा पोलैंड के बीच, जर्मनी और चैकोस्लावाकिया के बीच मध्यस्थ संधियों से संबंधित थी।

लोकार्नो संधियों से आश्चर्यजनक रूप से काम करने की आशा की गई थी। "लोकार्नो भावना" का प्रयोग एक शौक बन गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समझौते ने फ्रांस को कुछ निश्चित सुरक्षा की भावना को उपलब्ध कराया। इस समझौते ने राष्ट्र संघ में जर्मनी के प्रवेश के मार्ग को प्रशस्त किया। फिर भी न लोकार्नो समझौते और न ही "लोकार्नो भावना", अर्थात् सहयोग, समझदारी संभावना एवं आशा की भावना शांति को सुनिश्चित न कर सकी। संधि की धाराओं की शर्तों के अनुसार राइन के प्रदेश को स्पष्टतः सुरक्षित कर दिया गया, जर्मनी ने एल्सेस-लोरेन्स के भूभाग पर अपने दावे का परित्याग कर दिया और फ्रांस ने राइन प्रदेश की सुरक्षा के विचार को छोड़ दिया। संक्षेप में, जर्मनी की पश्चिमी सीमाओं ने फ्रांस तथा बेल्जियम को संतुष्ट किया। परंतु इस बात को जर्मनी की पूर्वी सीमाओं के विषय में नहीं कहा जा सकता। ब्रिटेन ने पूर्वी सीमाओं की रक्षा करने से इन्कार कर दिया क्योंकि जर्मनी की ये सीमाएँ "परिवर्तननीय" प्रवृत्ति से ग्रस्त थीं। फलस्वरूप लंदन यह समझता था कि जर्मनी की पश्चिमी सीमाएँ अधिक अलंघ्य एवं स्थायी थी और इसी कारणवश वे अधिक रक्षित करने योग्य थी जबकि पूर्वी सीमाएँ कम अलंघ्य एवं कम स्थायी थी और इसी कारणवश रक्षित करने योग्य नहीं थीं। इस प्रकार की समझदारी ने ही एक दशक बाद पोलैंड तथा चैकोस्लावाकिया पर हिटलर के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि जर्मनी ने पोलैंड तथा चैकोस्लावाकिया के साथ अपनी सभी झगड़ों को मैत्रीपूर्ण तरीके से निपटारे के लिए सहमति दी थी परंतु उसने क्षेत्र में यथा स्थिति के अलंघनीयता को मान्यता नहीं दी। संक्षेप में ऐसा प्रतीत होता है कि लोकार्नो समझौते ने राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में प्रदत्त संयुक्त सुरक्षा की अवधारणा में काफी कटौती की। ई.एच. कार के शब्दों में "दीर्घकाल में लोकार्नो समझौता वर्साय संधि और प्रतिज्ञा-पत्र दोनों के लिए नाशवान था।"

8.4.7 कैलोग-ब्रियांड समझौता, 1928

युद्ध तथा पुराने-विश्व की कूटनीति को अवैध घोषित करने के प्रयास में संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना का प्रारंभ किया था। परंतु वह राष्ट्र संघ में सम्मिलित न हुआ। तथापि संयुक्त राज्य अमेरिका यूरोप में सुरक्षा के प्रश्नों को लेकर होने वाले कूटनीतिक घटनाक्रमों एवं निराशाओं के बारे में चिंतित था। अमेरीका के प्रथम विश्व युद्ध में शामिल होने की दसवीं वर्ष गाँठ की पूर्व संध्या पर 6

अप्रैल, 1927 को फ्रांस के विदेश मंत्री एम. ऐरिसटाइड ब्रियांड ने अमेरिका के साथ दोनों देशों के बीच राष्ट्रीय नीति के एक औजार के रूप में युद्ध को अवैध घोषित करने के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर करने का प्रस्ताव किया। कुछ देरी के बाद अमेरीका के राज्य सचिव फ्रांक बी. कैलोग ने कुछ विपरीत प्रस्ताव के साथ अपना उत्तर दिया जिसके अनुसार प्रस्तावित समझौता प्रकृति में सार्वभौमिक होना चाहिए। इसी के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया।

13 अप्रैल, 1928 को कैलोग ने प्रस्तावित समझौते के प्रारूप को ब्रिटेन, जर्मनी और जापान की सरकारों के लिए भेजा। फिर इस प्रारूप में कुछ मामूली सुधार कर एक टिप्पणी के साथ अन्य चौदह देशों को इसे अमेरीका के द्वारा भेजा गया।

27 अगस्त, 1928 को अमेरीका ने अन्य चौदह देशों के प्रतिनिधियों के साथ पेरिस में इस ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए बैठक की। विश्व के अन्य स्वतंत्र देशों को इस समझौते का पालन करने के लिए निमंत्रण भेजे गए। समझौते की प्रस्तावना घोषित करती है कि उच्च संविदा करने वाली पार्टियाँ मानव जाति की भलाई को बढ़ावा देने अपनी जनता के बीच विद्यमान शांतिपूर्ण तथा मैत्रीपूर्ण रिश्तों को चिरस्थायी करने, उनके रिश्तों में सभी परिवर्तनों को शांतिमय साधनों के द्वारा करने और विश्व के सभ्य राष्ट्रों को **अपनी राष्ट्रीय नीति के औजार के रूप में संयुक्त तौर पर युद्ध का परित्याग करने में एकबद्ध** करने के लिए अपना सत्यनिष्ट कर्त्तव्य समझती हैं। इस संपूर्ण समझौते में केवल तीन धाराएँ ही थीं।

परंतु वास्तविकता यह थी कि इस समझौते ने युद्ध को अवैध घोषित नहीं किया बल्कि इसने "अंतर्राष्ट्रीय विवादों के हल के लिए युद्ध को एक उपचार के रूप में" खंडित किया। समझौते के मूल लेखकों ने घोषित किया कि **समझौता आत्मरक्षा के लिए किए जाने वाले युद्ध पर प्रतिबंध नहीं लगाता।** 19 मई, 1928 को ब्रिटेन के विदेश मंत्री औस्टीन चेम्बरलेन ने घोषित किया कि ब्रिटेन के मामले में आत्मरक्षा के अधिकार में "उन निश्चित विश्व के क्षेत्रों के लोकहित तथा एकता की रक्षा का अधिकार भी सम्मिलित है जो हमारी शांति एवं सुरक्षा के लिए विशेष तथा व्यापक हित रखते हैं।" अमेरिका के मामले में आत्मरक्षा के अधिकार में मुनरो सिद्धांत को लागू करना शामिल करना था, अमेरिका ने अपने तात्कालिक हितों वाले क्षेत्रों में कोई हस्तक्षेप सहन नहीं किया।

समझौते की दूसरी बड़ी कमजोरी यह थी जिसको शार्प एवं किर्क ने अपनी पुस्तक **कॉनटेम्पोरेरी इंटरनेशनल पोलिटिक्स** (न्यूयार्क, 1944, पृ. 558) में स्पष्ट करते हुए लिखा कि हस्ताक्षर करने वाले देशों ने अपने विवादों को शांतिपूर्ण साधनों से निपटाने के लिए **किसी भी सकारात्मक उत्तरदायित्व को** स्वीकृत नहीं किया। वे शांतिपूर्ण समझौते को खोजने मात्र के लिए सहमत हुए थे। संक्षेप में, यह समझौता यह स्पष्ट करने में असफल रहा कि व्यावहारिक शब्दावली में झगड़ों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटारे का क्या तात्पर्य था।

ई.एच. कार के शब्दों में समझौते की सबसे स्पष्ट कमजोरी थी कि कई देशों के द्वारा इसको संविदात्मक उत्तरदायित्व की तुलना में सिद्धांत की घोषणा समझा गया। प्रत्येक राज्य अपने स्वयं के कार्यों का पूर्णतः न्यायाधीश बना रहा। समझौते को परिभाषित या लागू करने के लिए किसी प्रकार के यंत्र को स्थापित या उपेक्षित नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में समझौते की व्यवस्थाओं को सुरक्षित बनाए रखने के लिए किसी प्रकार के यंत्र को लागू नहीं किया गया।

अपनी अंतर्निहित कमियों के बावजूद किसी को भी यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि पेरिस का यह समझौता इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि यह "राष्ट्रीय नीतियों के आचरण में युद्ध की पूर्ण अवैधता" की स्पष्ट शब्दावली में घोषणा करता है।

प्रतिज्ञा-पत्र के साथ समझौते को एकताबद्ध करने के प्रयास पेरिस समझौते का गठन राष्ट्र संघ से बाहर हुआ था और लीग के सदस्यों की संख्या से अधिक सदस्यों ने इस समझौते को अपने हस्ताक्षरों से अनुबद्धित किया था। इस समझौते को दिए गए इस महान सम्मान को लीग की लोकप्रियता के विपरीत माना गया। कुछ क्षेत्रों में इस विचार के विषय में चिंता भी की गई। लीग के प्रतिज्ञा-पत्र में युद्ध उपाय पर कोई पूर्णरूपेण प्रतिबंध न था। परंतु जब लीग के अधिकतर सदस्यों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए तब यह सोचा जाने लगा कि इन परिवर्तनों को स्वयं लीग के प्रतिज्ञा-पत्र में शामिल कर लिया जाए।

प्रतिज्ञा-पत्र में समझौते की धाराओं को सम्मिलित कर लिए जाने से यह विरोधों से भरपूर एक ऐसा दस्तावेज बन गया जिसके द्वारा जहाँ एक ओर युद्ध को प्रतिबंधित किया गया वहीं दूसरी ओर कुछ निश्चित परिस्थितियों में युद्ध करने की आज्ञा भी दे दी गई।

राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 16

1) "यदि राष्ट्र संघ का कोई सदस्य इसकी प्रतिज्ञा-पत्र के विपरीत धाराएँ 12, 13 या 15 के अंतर्गत युद्ध करता है तब स्वतः ही राष्ट्र संघ के अन्य सभी सदस्यों के विरुद्ध यह युद्ध का कार्य माना जाएगा, यहीं से तत्काल सभी व्यापारिक या वित्तीय संबंधों के विच्छेदन का विषय बन जाएगा और प्रतिज्ञा-पत्र को तोड़ने वाले राज्य की जनता तथा सदस्य देशों की जनता के बीच के सभी प्रकार का **संसर्ग** वर्जित होगा, और प्रतिज्ञा-पत्र को तोड़ने वाले राज्य की जनता तथा अन्य दूसरे राज्य की जनता के बीच की सभी प्रकार की वित्तीय, व्यापारिक या व्यक्तिगत अंतर्क्रिया को रोक दिया जाएगा चाहे वह राष्ट्र संघ का सदस्य है या नहीं।"

2) "इस भाँति के मामलों में परिषद् का यह कर्त्तव्य होगा कि वह संबंधित बहुत सी सरकारों के लिए अनुमोदन करे कि वे लीग के सदस्यों के रूप में लीग के प्रतिज्ञा-पत्र की सुरक्षा के लिए किस प्रभावकारी ढंग से सैनिक, नौ सेना या वायु सेना का योगदान सशस्त्र सेनाओं के लिए करेंगे।"

विकल्प के रूप में सितंबर, 1929 में राष्ट्र संघ की सभा में ब्रिटेन तथा फ्रांस के प्रतिनिधियों के द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 16 को पेरिस समझौते के उल्लंघन करने वालों पर भी लागू किया जाए। उन्होंने सुझाव दिया कि इस उद्देश्य के लिए प्रतिज्ञा-पत्र में उचित संशोधन किया जाए। उनके प्रस्तावों के अंतर्गत यह भी था कि प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 16 में उद्धृत प्रतिबंधों को प्रतिज्ञा-पत्र द्वारा वर्जित युद्धों पर ही न केवल लागू किया जाए अपितु इसी के साथ-साथ पेरिस समझौते के द्वारा वर्जित युद्धों पर भी इसे लागू किया जाए। ई.एच. कार के शब्दों में "युद्ध को पूर्णरूपेण वर्जित बनाकर इसने न केवल प्रतिज्ञा-पत्र को शक्ति प्रदान की अपितु राष्ट्र संघ के सदस्यों के बीच इसके उल्लंघनों पर दंडनीय बनाकर पेरिस समझौते को भी इसने नई शक्ति प्रदान की।"

1929 में राष्ट्र संघ की सभा इन प्रस्तावों पर मत डलवाने में असफल रही और इन प्रस्तावों पर बहस को 1930 में होने वाली अगली बैठक तक के लिए स्थगित कर दिया गया। दुर्भाग्यवश तब तक विश्व का राजनीतिक वातावरण बड़ी तेजी के साथ बिगड़ गया। जापान तथा स्कैंडिवेनिया देशों के प्रतिनिधियों ने प्रतिज्ञा-पत्र में प्रस्तावित परिवर्तनों पर अपना कड़ा असंतोष व्यक्त किया। इससे भी अधिक ब्रिटेन की उस लेबर सरकार का पतन हो चुका था जिसने मूलतः इन प्रस्तावों को तैयार किया था। इसी के साथ-साथ विश्व जबरदस्त आर्थिक संकट से भी ग्रस्त था।

प्रस्तावित परिवर्तनों को सम्मिलित करने के स्थान पर राष्ट्र संघ की सभा ने अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के लिए एक सामान्य अधिनियम पारित किया तथा इस अधिनियम को समझौता लागू करने के लिए बनाया गया था। इसने सभी झगड़ों के निपटारे के लिए एक सौहार्दपूर्ण क्रिया विधि को उपलब्ध कराया। कानूनी प्रकृति वाले झगड़ों को मध्यस्थता या न्यायिक समझौते (अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत के) द्वारा निपटाया जाता था। यद्यपि इस अधिनियम का व्यापक रूप से स्वागत किया गया, परंतु इसका कार्यान्वयन मुख्यतः अप्रभावी ही रहा। इसकी असफलताओं के कारणों में एक वास्तविकता यह भी थी कि 1930 से ही अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में गिरावट आनी प्रारंभ हो गई थी। जहाँ एक ओर जर्मनी, इटली, जापान और कुछ अन्य देशों में फासीवादी नेतृत्व का उदय हुआ वहीं पर ब्रिटेन और फ्रांस ने तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण किया जिसके कारण आत्म-विश्वास की कमी और अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया। अब राष्ट्र संघ के प्रभाव का भी पतन होने लगा। एक संकट के बाद दूसरा संकट उत्पन्न हो जाता और अंततः इसकी अंतिम परिणति द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ में हुई। द्वितीय विश्व युद्ध मानव इतिहास में गहन अंधकारमय अध्याय था। इतिहास में यह सबसे अधिक विनाशकारी युद्ध था। इसका प्रारंभ 1939 में हुआ और अंत लगभग छः वर्षों में। युद्ध में होने वाले नुकसान का जो अनुमान किया गया उसके अनुसार लगभग ढाई करोड़ लोग युद्ध में मारे गए तथा साढ़े तीन करोड़ के करीब लोग घायल हुए। यह भी अनुमान किया गया कि अकेले अमेरीका ने इस युद्ध में 350 अरब डालर खर्च किए जबकि मित्र राष्ट्रों के अन्य देशों ने लगभग 1000 अरब डालर इस युद्ध पर खर्च किए।

8.4.8 संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना : चार्टर का एक मूल्यांकन

युद्ध से धराशायी विश्वव्यवस्था ने एक विकसित अंतर्राष्ट्रीय संगठन की व्यवस्था की रचना के एक महान निश्चय के मार्ग को प्रशस्त किया। कृतसंकल्प की बहुत सी उद्घोषणाएँ की गई और शांति तथा सुरक्षा को बनाए रखने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की रचना हेतु कुछ उपायों का प्रारंभ भी किया गया। एक नए विश्व संगठन के निर्माण की इस प्रक्रिया की पराकाष्ठा 25 अप्रैल, 1945 को सैन फ्रांसिसको में अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिए संयुक्त राष्ट्र का बुलाया गया सम्मेलन था। लंबी तथा दुष्कर बातचीत के बाद यू. एन. चार्टर को 26 जून, 1945 को पारित कर दिया गया।

संयुक्त राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य "**आगामी पीढ़ियों को उस युद्ध की आपदा से बचाना था** जिसने हमारे ही जीवन काल में मानव के अवर्णीय दुःखों को पैदा किया था।" इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सदस्य राष्ट्र "अपने अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को शांतिपूर्ण साधनों से निपटाने" धारा 2 (3); के लिए सहमत हुए थे। सुरक्षा परिषद् ने अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और न्याय को बनाए रखने का उत्तरदायित्व लिया।

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि चार्टर दो स्थितियों के सिवाय किसी भी सदस्य को शक्ति के प्रयोग या शक्ति के धमकी की आज्ञा नहीं देता। ये दो स्थितियाँ हैं–आत्मरक्षा अधिकार के अंतर्गत सैन्य आक्रमण के मामले में (धारा 51) कोई भी सदस्य या फिर अन्य सदस्यों की सहायता से इसका उपयोग कर सकता है; और सुरक्षा परिषद् के निर्णयों के आदेशानुसार हमलावर के विरुद्ध भी बल का प्रयोग किया जा सकता है (धारा 25)। इनके अतिरिक्त ऐसी कोई स्थिति नहीं है जब कि कोई भी सदस्य वैधानिक रूप में बल का प्रयोग कर सके।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रावधान

प्रस्तावना : संयुक्त राष्ट्रों को हम जनता दृढ़ निश्चय करते हैं: "आगामी पीढ़ियों को उस युद्ध की आपदा से बचाने का जिसने हमारे ही जीवन काल में मानवजाति के लिए दो बार अवर्णित दुःखों को पैदा किया ...।"

धारा 1(1)
"शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने का और इस लक्ष्य के लिए: शांति को बनाए रखने तथा खतरों को हटाने के लिए तथा आक्रमण या शांति की दूसरी प्रकार से तोड़ने वाले कार्यों का दमन करने के लिए, शांति को शांतिमय साधनों से लाने के लिए और न्याय एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांतों के अनुरूप, उन अंतर्राष्ट्रीय विवादों या स्थितियों जो शांति को तोड़ने की ओर अग्रसर हो सकती हों को समायोजित करने या निपटाने के लिए प्रभावकारी सामूहिक उपायों को करने का।"

चार्टर की इस व्याख्या से बहुत से महत्वपूर्ण न्यायविद् सहमत नहीं होते हैं। उनका कहना है कि धारा 2(4) क्षेत्रीय अखंडता या किसी दूसरे राज्य की राजनैतिक स्वतंत्रता या संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्यों का किसी प्रकार से पालन न किए जाने के विरुद्ध ही केवल बल के प्रयोग या प्रयोग की धमकी को वर्जित करती है (जूलियस स्टोन की पुस्तक, **एग्रेशन एंड वर्ल्ड आर्डर**, 1958, पृ. 94 से उद्धृत)। फिर भी वे यह महसूस करते हैं कि धारा 2 (4) सभी स्थितियों में बल के प्रयोग या प्रयोग की धमकी को वर्जित नहीं करती है। आत्मरक्षा के मामलों में वे इसके प्रयोग को स्वीकृत करते हैं। उदाहरण के लिए कोर्फ चैनल के केस में ब्रिटिश सरकार ने शक्ति के प्रयोग को उचित ठहराते हुए यह तर्क दिया कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 2(4) का उपयोग आत्म-सहायता या आत्मरक्षा के उपाय के रूप में किया जा सकता है। इस विचार को सर एरिक बैकेट, जूलियस स्टोन, सी.एच. वालडॉक और डी.डब्ल्यू. बोवैड ने दूसरों के साथ-साथ मान लिया है।

चार्टर की धारा 2(4)
"क्षेत्रीय अखंडता या किसी राज्य की राजनैतिक स्वतंत्रता या संयुक्त राष्ट्र के प्रावधानों के साथ किसी दूसरी प्रकार की अप्रासंगिकता के विरुद्ध शक्ति की धमकी या प्रयोग से अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सभी सदस्यों को संयम रखना होगा।"

परंतु हेंस केल्सेन भिन्न रूप से विचार करता है। उसका कहना है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत को ही सबसे अधिक प्राथमिकता प्रदान करता है। जहाँ भी

कानून का उल्लंघन होता है वहाँ पर संयुक्त राष्ट्र को सामूहिक उपायों को लेना है और किसी भी सदस्य को तब तक कानून को अपने हाथ में नहीं लेने देना चाहिए जब तक संयुक्त राष्ट्र ऐसा करने के लिए अधिकृत धारा 53(1) आज्ञा धारा (51) या आभारी धारा 25) नहीं कर देता। आर.डब्ल्यू. टकर (अपनी पुस्तक **इंटरप्रिदेशन ऑफ वार अंडर प्रजेंट इंटरनेशनल लॉ**, 4, आई.एल.ओ., 1951, पृ. 26 में) तर्क प्रस्तुत करता है कि सदस्यों को संयुक्त रांष्ट्र के उद्देश्यों के साथ किसी भी प्रकार की अप्रासंगिकता में शक्ति के प्रयोग को रोकना है, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की धारा 2(4) में ऐसी किसी भी शक्ति के प्रयोग की मनाही है जो सामूहिक उपाय के चरित्र को भंग करती हो।

चार्टर की धारा 51

"यदि संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य पर सैन्य आक्रमण होता है तब तक के लिए वर्तमान चार्टर में ऐसा कुछ नहीं है जो अंतर्निहित व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार को निर्बल करता हो, जब तक कि सुरक्षा परिषद् अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने के लिए आवश्यक उपायों को नहीं कर लेती ···।"

नगेंद्र सिंह (**क्यूस्लियर वेपन्स एंड इंटरनेशनल लॉ**, पृ. 115-117) तर्क देता है कि चार्टर की धारा 2(3), (4), के स्पष्ट प्रावधानों को सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्र के किसी भी. सदस्य को किसी खतरे के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग की संभावित आज्ञा नहीं दी जा सकती, यद्यपि यह खतरा नाभिकीय हथियारों का भी हो सकता है। इस धारा की वैधानिक व्याख्याओं ने इस भ्रांति से अत्यंत संदिग्धता को पैदा किया है।

संयुक्त राष्ट्र ने परंपरापगत और गैर-परंपरागत (नाभिकीय, रसायनिक और जैविकीय) दोनों प्रकार की युद्ध शैली में हथियारों की प्रतियोगिता को नियंत्रित करने के लिए भी प्रयास किए हैं यद्यपि उसके ये प्रयास सदैव सफल नहीं हुए हैं। इसने अपनी निःशस्त्रीकरण समिति और अन्य उपायों के द्वारा बहुत से समझौतों एवं निर्माण, प्रसार, स्थापित करने तथा व्यापक खतरे वाले हथियारों के नियंत्रण के उद्देश्य के साथ प्रारूप तैयार कराने का निरीक्षण भी किया है। इसी के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र ने दो महत्वपूर्ण दस्तावेजों को भी तैयार किया है। ये दस्तावेज राज्यों एवं आक्रमण के बीच के संबंधों की मैत्रीपूर्ण समस्याओं की व्याख्याओं से संबंधित हैं। प्रथम दस्तावेज "अंतर्राष्ट्रीय कानून" के उन सिद्धांतों की घोषणा है जो संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुरूप राज्यों के बीच मैत्रीपूर्ण रिश्तों एवं सहयोग से संबंधित है, इसको जनरल सभा या आम सभा के द्वारा 24 अक्तूबर, 1970 को पारित किया गया (प्रस्ताव 2625, XXV) जबकि दूसरा "आक्रमण की परिभाषा" शीर्षक से संबंधित था और उसको आम सभा के द्वारा 14 दिसंबर, 1974 को पारित किया गया था (प्रस्ताव 3314 XXIX)। इन दोनों दस्तावेजों की गहराई में जाये बगैर ही कोई यह कह सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में युद्धों की वैज्ञानिक घेरेबंदी करने की आम सहमति की दिशा में वे एक महत्वपूर्ण प्रगति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) इस इकाई के अंत में दिए गए प्रश्नों के प्रारूप उत्तरों के साथ अपने उत्तर मिलाइए।

1) 20वीं सदी में युद्ध को अवैध घोषित किए जाने के लिए किए गए अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों का तिथि क्रमानुसार विवरण करिए।

.....

.....

.....

2) कैलोग-ब्रियांड समझौते के सार को बताइए।

.....

.....

3) लीग के प्रतिज्ञा-पत्र के अंतर्गत कौन-कौन से युद्धों को जायज़ माना गया है?

.....

.....

4) राष्ट्र संघ चार्टर के अंतर्गत युद्ध की क्या स्थिति है?

.....

.....

8.5 सारांश

युद्धों को रोकने तथा अवैध घोषित करने के लिए पिछले सौ वर्षों में और अब संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से काफी प्रयास किए गए हैं। परंतु, यह भी स्पष्ट है ये कि प्रयास पूर्णरूपेण, सफल नहीं हो पाए हैं और यहाँ तक कि ये संतोषजनक सीमा तक भी सफलता प्राप्त न कर सके। संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1985 में किए गए एक अध्ययन से स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए सैन्य संघर्षों में संपूर्ण विश्व में 2 करोड़ 10 लाख लोगों की जानें गई हैं। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि एके मिनट में एक व्यक्ति से अधिक की मृत्यु हो जाती है। यह अध्ययन यह भी बताता है कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान यह संख्या एक करोड़ 80 लाख थी। इन दोनों उदाहरणों में यह दर्शाते हैं कि एक वर्ष में 25 लाख लोगों की जानें या 6,880 की जानें प्रतिदिन या प्रत्येक मिनट में लगभग 5 जानें या प्रत्येक सेकेंड में एक व्यक्ति की जान युद्ध के कारण गई। इस अध्ययन का यह भी पर्यवेक्षण है कि "संघर्षों के कम होने का और कोई अनुमानित रुझान नहीं है।" बहुत से पुराने संघर्ष अपनी क्षीणता के साथ जारी हैं और अनेकों नए उभरते रहते हैं।

कोई भी इस पर आश्चर्य कर सकता है कि इनकी बढ़ती इस दर पर वैधानिक प्रयासों की उपयोगिता क्या है। जैसा कि हमने प्रारंभ में देखा था, वैधानिक प्रयास फिर भी आवश्यक हैं। अगर कानून सभी अपराधों को नहीं रोक सकता फिर घरेलू क्षेत्र में हमें कानून की आवश्यकता होती है। जो कोई भी कानून को तोड़ता है उसकी काफी बदनामी होती है और जो लोग कानून का सामान्यतः पालन करते हैं वे सहजता से जीवन को व्यतीत करते रहते हैं और उनकी कोई बदनामी भी नहीं होती। लगभग ठीक इसी प्रकार से, युद्ध-विरोधी कानूनों का उल्लंघन सनसनीखेज समाचार बन जाता है लेकिन क्या वास्तव में हमें उससे घृणा नहीं करनी चाहिए। मानव को सभ्य बनाने वाले प्रयास जारी रहने चाहिए। विश्वास को ही न कि प्रतिरोध को, मानव के निर्णयों को प्रभावित करना चाहिए। प्रत्येक असफलता के बाद सफलता प्राप्ति के लिए और अधिक कृत-संकल्प प्रयासों को किया जाना चाहिए। जैसा कि इस शताब्दी के प्रारंभ में प्रसिद्ध न्यायविद् हाल ने कहा था:

"पिछली कुछ सदियों की ओर देखिए, प्रत्येक पचास वर्षों के समापन पर उस काल के प्रारंभ की तुलना में हम अंतर्राष्ट्रीय कानून को एक ठोस स्थिति में पाते हैं। प्रगति के तौर पर इसकी पकड़ अधिक मजबूत होती गई है, इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ है, यह इसने महत्वहीन और औपचारिकताओं को रोक लिया है राज्यों के संबंधों में मूलभूत वास्तविकताओं को यह और विस्तृता के साथ हल करने और अधिक साहसी होता गया।"

8.6 शब्दावली

युद्ध : राज्यों के बीच बल युक्त एक ऐसी प्रतिर्द्वंद्विता जिसका उद्देश्य सैन्य शक्ति के द्वारा एक-दूसरे को अधीन करना होता है जिससे कि वे कुछ माँगों या दावों को पूर्ण कर सकें।

राजद्रोह : यह एक ऐसा शब्द है, जो सामान्यतः स्थापित उस सरकार के विरुद्ध बगावत ("विप्लव") का प्रतीक होता है जिसमें "क्रांति", "विद्रोह" या "गृह-युद्ध" नहीं हुए हैं।

विद्रोह : एक वैधतापूर्ण स्थापित राज्य के प्रभुत्व के विरुद्ध पर्याप्त संख्या में जनता का एक ऐसा हिंसात्मक विरोध जिसके द्वारा सरकार को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया गया हो। विद्रोह के अंतर्गत उसी वर्ग के सदस्यों को शासक बनाया जाता है जिस वर्ग के सदस्यों को इसके द्वारा अपदस्त किया गया परंतु क्रांति के उदाहरण में कभी-कभी ऐसा नहीं होता है।

8.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मोर्गेन्थों हंस जे. 1961, **पॉलिटिक्स अमोंग नेशंस : स्ट्रगिल फॉर पाथ एंड पीस,** आर्फड ए कनोफ, न्यूयोर्क।

स्ट्रेक, जे. जी.–**एन. इन्ट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल लॉ**

ओपेनडी, एल, 1972, **इन्टरनेशनल लॉ : ए ट्रीटाइज संपादन**–एच. लॉट्सपैच, जिल्द नं-2

वाल्टर, एफ. डब्लू.–**ए हिस्ट्री ऑफ दी लीग ऑफ नेशन्स**

कार, ई. एच., 1967, **इन्टरनेशनल रिलेशन बीटवीन दी टू वर्ल्ड वार्स, 1919-1939,** मैकमीलन, लंदन

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) युद्ध की बहुत सी परिभाषाएँ दी जाती हैं। युद्ध को, दो या अधिक राज्यों के बीच उनकी सैन्य शक्तियों के माध्यम से होने वाले प्रतिर्द्वद्विता के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रतिद्वंदी गुट का अंतिम लक्ष्य शांति की अपनी स्वयं की शर्तों को लागू करना होता है। अधिकतर मामलों में यह देखने को मिलता है कि शांति की उन शर्तों को लागू किया गया है जो विजयी को खुश करती हैं।

2) युद्ध को अवैध घोषित करने के वैधानिक प्रयासों के अपने स्वयं के लाभ हैं। यद्यपि कुछ देश इनका पालन नहीं करते हैं। प्रत्येक देश यह चाहता है कि उसको कानून का उल्लंघन करने की अपेक्षा कानून का पालन करने वाले राष्ट्र के रूप में चित्रित किया जाए। अगर कोई राष्ट्र या व्यक्ति कानून को तोड़ता है अभी भी इसकी जानकारी को प्राप्त करना काफी उपयोगी है और वास्तविकता का यह कहकर प्रचार किया जाना चाहिए कि कानून को तोड़ा गया है या आचार संहिता का उल्लंघन हुआ है। कम समय में या फिर लंबे समय में इससे गलती को समझ लिया जाएगा और फिर कोई भी सच्चाई के मार्ग का अनुसरण करेगा। यह भी संभव है कि तत्काल या पूर्ण सफलता न मिले परंतु कुछ टुकड़ों में सफलता प्राप्त होना सुनिश्चित है।

बोध प्रश्न 2

1) कृपया अनुभाग 8.4 देखें।

2) कैलोग-ब्रियांड समझौते के द्वारा विश्व के सभी सभ्य राष्ट्रों को उनकी राष्ट्रीय नीति के औज़ार के रूप में युद्ध के सामान्य परित्याग के आधार पर संयुक्त करने का प्रयास किया गया।

3) किसी भी देश के द्वारा लिए गए आत्म-रक्षा के उपायों की लीग का प्रतिज्ञा-पत्र आज्ञा देता था। प्रतिज्ञा-पत्र के अंतर्गत सामूहिक सुरक्षा के प्रयास भी जायज थे।

4) संयुक्त राष्ट्र का चार्टर सभी राज्यों को क्षेत्रीय अखंडता या किसी राज्य की स्वतंत्रता या संयुक्त राष्ट्र के प्रावधानों के साथ किसी भी प्रकार की अप्रासंगिता के विरुद्ध बल के प्रयोग या धमकी को रोकने का आह्वान करता है। इसका मुख्य उद्देश्य आगामी पीढ़ियों को युद्ध की विभिषिका से बचाना है। अगर संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य के विरुद्ध सैन्य आक्रमण होता है तब चार्टर उसको व्यक्तिगत या सामूहिक आत्म-रक्षा करने की आज्ञा प्रदान करता है। चार्टर में शांति को बनाए रखने तथा खतरों को समाप्त करने एवं आक्रमण के कार्यों का दमन करने के लिए सामूहिक उपायों की व्यवस्था की गई है। फिर भी, सामान्य परिस्थितियों के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे के द्वारा संघर्षों का हल करने के प्रयासों को किया जाना चाहिए।

इकाई 9 सामूहिक सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

9.1 उद्देश्य
9.2 प्रस्तावना
9.3 सामूहिक सुरक्षा क्या है?
9.4 सामूहिक सुरक्षा की धारणायें
9.5 सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा
9.6 सामूहिक सुरक्षा—केस अध्ययन
  9.6.1 अबीसिनिया (इथियोपिया) पर इटली का आक्रमण
  9.6.2 कोरिया संकट
  9.6.3 स्वेज़ संकट
9.7 सामूहिक सुरक्षा और यथा-स्थिति
9.8 सामूहिक सुरक्षा—इसका भविष्य
9.9 सारांश
9.10 शब्दावली
9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.1 उद्देश्य

यह इकाई अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सबसे महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से "सामूहिक सुरक्षा" की एक अवधारणा का विवरण प्रस्तुत करती है।

इस इकाई का अध्ययन करने पर आप समझ सकते हैं :

- सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को,
- सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा के बीच के विभेद को, और
- कुछ केस अध्ययनों के चित्रण को।

9.2 प्रस्तावना

बीसवीं सदी में मानव जाति के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न विवेकशील मानव को एक जाति के रूप में जीवित बनाये रखना है। संभवत: किसी भी शताब्दी में न तो इतने अधिक युद्ध इतने विशाल स्तर पर लड़े गये या न ही इतना अधिक रक्त बहा। इस सदी में सैंकड़ों लाखों लोगों की जानें युद्ध में गई और एक बार या दूसरी बार लगभग विश्व के सभी देश किसी-न-किसी रूप में युद्ध में सम्मिलित हुए। यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है कि लगातार होने वाले युद्ध के खतरों से कैसे निपटा जाए तथा इसी कारणवश शांति को सुरक्षित करने के लिए अवधारणात्मक एवं संस्थात्मक युक्तियों पर विचार किया जाने लगा। वास्तव में एक टिकाऊ शांति की स्थापना की उत्कण्ठा ही अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के मुख्य प्रयोजन के स्तम्भ थी। शांति की इस बाध्यता का परिणाम यह हुआ कि शांति स्थापना के लिए बहुत से दृष्टिकोणों का विकास हुआ। झगड़ों का शांतिमय निपटारा, सामूहिक सुरक्षा, नि:शस्त्रीकरण, निवारक कूटनीति और ट्रस्टवाद जैसे बहुत से दृष्टिकोण प्रमुख हैं।

इस संबंध का मुख्य उद्देश्य शांति के प्रति सामूहिक सुरक्षा दृष्टिकोण का गहराई के साथ अध्ययन करना है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा कोई विशेष पुरानी नहीं है और इसका समय 20वीं सदी के प्रारंभिक वर्ष विशेषकर प्रथम विश्व युद्ध को माना जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध की विभिषिका एवं सर्वनाश के कारण यूरोप में युद्ध का व्यापक विरोध हुआ और यह भावना बढ़ने लगी कि अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के हल के लिए युद्ध के इस्तेमाल को समाप्त किया जाना चाहिए तथा वैकल्पिक साधनों का पता लगाया जाए। परन्तु

सामूहिक सुरक्षा के विचार का अंकुर प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ही उत्पन्न हो गया था यद्यपि वह समय अपने शैशवकाल में ही था। सामूहिक सुरक्षा यंत्रवाद के प्रारंभिक प्रमुख अनुयायी संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति थियोदोर रूजवेल्ट, डच विद्वान वैन वोलेनहोवेन और हेग तथा अमेरिका के अनेक संगठन थे। लेकिन यह राष्ट्र संघ ही था जिसने सामूहिक सुरक्षा को एक सुनिश्चित आकार ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया। कूटनीति क्षेत्र के मुख्य अदाकार अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने स्वयं को मैत्री गठबंधन तथा शक्ति संतुलन के विरुद्ध अभिव्यक्त किया। वह सामूहिक शांति को लागू करने के विचार के मुख्य समर्थकों में से एक था। युद्ध के प्रति विमुखता ने सामूहिक सुरक्षा के विचार को काफी लोकप्रिय बना दिया और इसको पेरिस वार्त्ताओं में स्वीकृति भी मिल गई जिनके कारणवश 1919 की वर्साय संधि पर हस्ताक्षर हुए और लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्र संघ) की स्थापना भी हुई।

9.3 सामूहिक सुरक्षा क्या है?

सामूहिक सुरक्षा इस मूल सिद्धांत पर आधारित है कि एक राज्य पर आक्रमण को सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाएगा। सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत उस मूलभूत विश्वास पर आधारित है जिसकी यह मान्यता है कि युद्ध होते ही रहते हैं और उनको रोका जाना ही चाहिए। संभावित आक्रमण के विरुद्ध शक्ति की प्रबलता को संचित करके किया जा सकता है। यह परिकल्पना की गई है कि शक्ति की यह प्रबलता किसी भी ऐसे राष्ट्र के विरुद्ध प्रतिरोधक का कार्य करेगी जो आक्रामक इच्छाओं को आश्रय देता हो। ऐसी आशा की जाती है कि सामूहिक सुरक्षा के अंतर्गत निश्चय ही आक्रमणकारी की पराजय होगी तथा फिर शक्ति का वितरण इस प्रकार से होगा कि इसका मुख्य भाग शांति और व्यवस्था के रक्षकों के हाथों में केंद्रित होगा। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शांति अविभाज्य है। सभी राष्ट्रों के बीच सहयोग ही सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का सार है। सामूहिक सुरक्षा एवं मैत्री गठबंधन का आधार दूसरे राष्ट्रों की बलि पर कुछ राष्ट्रों की बढ़ती शक्ति होती है जबकि सामूहिक सुरक्षा शांति तोड़ने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सभी राष्ट्रों की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करती है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अंतर्गत अलगाववादी स्थिति से वापसी निहित होती है क्योंकि सामूहिक सुरक्षा इस स्थिति की निश्चय ही प्रतिवादी होती है। शांति के उपासकों के लिए सामूहिक सुरक्षा, अराजकता तथा विश्व सरकार के समापन बिन्दुओं के बीच की अवस्था है। लेकिन राजनेतागण एवं कूटनीतिज्ञ इसको समझने में काफी व्यावहारिक हैं। वर्तमान समय में विश्व सरकार की स्थापना एक काल्पनिक आदर्श मात्र है और विश्व को अराजकता में जाने से बचाने के लिए उन्होंने सामूहिक सुरक्षा के रास्ते का ही चुनाव किया। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की कुछ अधिक ही वकालत करने वालों का मत था कि कानून और व्यवस्था को एक देश के अंदर बनाये रखने के लिए पुलिस जैसा कार्य करती है सामूहिक सुरक्षा भी राष्ट्रों के बीच संसाधनों का सामूहिकरण करके करेगी।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के कार्य को नीचे दिए गए विशद चित्रण से समझा जा सकता है :

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के एक आदर्श रूप में कार्य करने की स्थिति, यदि ब की सुरक्षा को अ से खतरा उत्पन्न होता है तब अ के विरुद्ध ब की ओर से क, ख, ग, घ, ज, च, झ और द कदम उठायेंगे मानो ब की भाँति उनकी सुरक्षा को भी खतरा था। इस प्रकार एक व्यक्तिगत राष्ट्र की सुरक्षा की समस्या सभी राष्ट्रों की समस्या बन जाती है और वे इसकी देखभाल सामूहिक रूप से करेंगे।

9.4 सामूहिक सुरक्षा की धारणायें

यदि सामूहिक सुरक्षा युद्ध के निवारक एवं शांति की स्थापना के लिए एक युक्ति के रूप में कार्य करती है तब उसको कुछ धारणाओं को पूरा करना पड़ेगा।

1) सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे किसी भी सक्षम आक्रमणकारी या आक्रमणकारियों के गठबंधन के विरुद्ध इतनी अधिक शक्ति को जुटायें कि वे सामूहिक सुरक्षा द्वारा रक्षित व्यवस्था को चुनौती देने का साहस न कर सकें।

2) सुरक्षा की एक समान अवधारणा को उन राष्ट्रों को सूचित करना चाहिए जो सामूहिक कार्यवाही में भाग ले रहे है।

3) राष्ट्रों को अपने संकुचित राष्ट्रीय हितों की परिधि से आगे निश्चय ही देखना चाहिए।

4) शक्ति का पर्याप्त विसरण होना चाहिए।

5) सामूहिक व्यवस्था के लिए सदस्यता की पर्याप्त सार्वभौमिकता की आवश्यकता होती है।

6) सामूहिक सुरक्षा शांति के दूसरे दृष्टिकोण विशेषकर विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे एवं निःशस्त्रीकरण के संपर्क के साथ कार्य करेंगी।

उपरोक्त धारणाएँ एक आदर्श स्थिति के गुणों को बताती हैं परंतु यह देखना शिक्षाप्रद होगा कि वास्तविक शक्तियाँ किस सीमा तक व्यवस्था की कार्यशीलता को कार्यान्वित एवं प्रभावित करती हैं। अगर इस व्यवस्था की कार्यशीलता की जाँच करें तब यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र दोनों के ही अंतर्गत सक्षम आक्रमणकारियों का सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांतों के द्वारा अक्सर प्रतिरोध नहीं किया गया। ऐसा निश्चय ही उस असंतोष के कारण होता है जिसके लिए कुछ राष्ट्र अपनी स्वयं की सीमाओं से पार देखते हैं जब कि वे अपने राष्ट्रीय हित की सुरक्षा तक ही सीमित होते हैं। संकुचित एवं विशेष प्रकार की वफादारियाँ जकड़ी हुई हैं और ये विश्व समुदाय के सामान्य हितों के ऊपर छा गई हैं। मंचूरिया के ऊपर जापान का हमला और इटली का अबीसीनिया के ऊपर आक्रमण सदस्य राष्ट्रों के ऐसे ही विशेष प्रकार की संकुचित वफ़ादारियों को दर्शाते हैं। सामूहिक सुरक्षा की दूसरी महत्वपूर्ण धारणा यानि, शक्ति के वितरण को भी हासिल नहीं किया जा सका है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के प्रभावकारी ढंग से कार्य करने के लिए लगभग समान ताकत वाली बहुत सी सर्वोच्च शक्तियों की उपस्थिति आवश्यक है। परन्तु यह आवश्यक शर्त भी विशेषकर उत्तर-द्वितीय विश्व युद्ध काल के द्विध्रुवीय विश्व में मुख्यतः अपूर्ण ही बनी रही। अंत में पिछले कुछ दशकों से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का मूल्यांकन करने से स्पष्ट होता है कि अधिकतर राष्ट्रों के बीच हथियारों की बड़ी तीव्र दौड़ जारी है। निःशस्त्रीकरण सामूहिक सुरक्षा की सफलता के लिए अति आवश्यक है और यह अधिकतर राष्ट्रों के राजनैतिक नेतृत्व की कार्य सूची में सम्मिलित भी नहीं हैं। निःशस्त्रीकरण के लिए जो भी प्रयास किए गए हैं वे दिखावट से अधिक कुछ नहीं हैं। दूसरी ओर चाहे कोई देश गरीब है या धनी परन्तु उन सभी देशों के रक्षा खर्च में लगातार वृद्धि होती रहती है। वास्तव में आदर्श और व्यवहार के बीच की दूरी काफी बड़ी मालूम पड़ती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के प्रारूप के साथ अपने उत्तर मिलायें।

1) सामूहिक सुरक्षा क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामूहिक सुरक्षा की धारणाएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा

सामूहिक सुरक्षा तथा सामूहिक रक्षा दोनों अवधाणाओं के बीच की भिन्नता पर बहुत अधिक शब्दार्थ की अस्पष्टता केन्द्रित है। यह दुविधा दो कारकों के मिश्रण से पैदा हुई है :

1) आम आदमी और यहाँ तक कि कुछ विद्वानों में भी इन दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची समझने की प्रवृत्ति है।

2) बहुत से राष्ट्रों में राजनैतिक नेतृत्व में सामूहिक सुरक्षा के लिए इतना अधिक स्नेह होता है कि वे इसका उपयोग वास्तविक सामूहिक सुरक्षा के लिए आवरण के रूप में कर लेते हैं। बहुत से नेताओं का यह स्नेह राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सामूहिक सुरक्षा अवधारणा के सम्मान एवं यशस्वी प्रभामण्डल को प्रकट करता है।

मूलत: दोनों ही दृष्टिकोण व्यक्तिगत राष्ट्र या राज्यों की सीमाओं को आक्रमण से रक्षित करने का प्रयास करते हैं। वे दोनों सामूहिक प्रचेष्टा करने तथा उस अलगाववादी (isolationist) रवैये को छोड़ने में भी समान हैं जिसके अंतर्गत कुछ दशकों पूर्व बहुत से राष्ट्र व्यवहार करते थे। परन्तु शब्दों की समानता के बावजूद यह वास्तविकता है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की अवधारणाएँ हैं और दोनों के बीच इस प्रकार की विश्लेषणात्मक भिन्नता है कि उसको उद्धृत करना ही पड़ता है। सामूहिक सुरक्षा एक विश्वव्यापी अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में कार्य करती है जबकि सामूहिक रक्षा क्षेत्रीय अंतर्राष्ट्रीय संगठन की सीमा से बाहर और गठबंधनों की सीमाओं के अंदर ही कार्य करती है। एक आदर्श सुरक्षा व्यवस्था के अंतर्गत सामूहिक रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं होगी परन्तु इस प्रकार की कोई भी सामूहिक व्यवस्था कार्यरत नहीं है। इसलिए इसके स्थान पर सामूहिक रक्षा के नाम पर राष्ट्र पारस्परिक सहायता एवं गठबंधनों की ओर अग्रसर होते हैं।

राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना के बाद ही सामूहिक सुरक्षा राष्ट्र निश्चित आकार ग्रहण कर पायी है। जबकि सामूहिक रक्षा, सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था से पूर्व घटित हो चुकी है। उदाहरण के लिए 1890 के दशक में जर्मनी के खतरे का सामना करने के लिए फ्रांस एवं रूस के बीच सामूहिक रक्षा का गठबंधन विद्यमान था। यहाँ तक कि प्रथम विश्व युद्ध एवं राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद भी फ्रांस ने जर्मन चुनौती का सामना करने के लिए अनेक सैनिक समझौते किए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामूहिक रक्षा संधियों का कोई परिचित शत्रु या विरोधी बाहर का होता है। कूटनीतिक सतर्कता के वास्ते प्रतिद्वन्द्वी का नाम अगर गुप्त भी रखा जाता है, तो भी एक साथ गठबंधन करने वाले देशों की विचारधारा, दृष्टिकोण या हितों की प्रकृति से उस शत्रु का पता चल ही जाएगा जिसकी ओर से आक्रमण संभावित है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरीका के नेतृत्व में नाटो गठबंध जिसके अंतर्गत अधिकतर पूँजीवादी राष्ट्र हैं, सोवियत यूनियन के नेतृत्व वाले साम्यवादी देशों के विरुद्ध है। सेनाओं एवं हथियारों के भौगोलिक जमाव से किसी को भी शत्रु की पहचान करने में कोई संदेह नहीं है। नाटो, सीटो, वारसा समझौता और दूसरे समझौतों पर किसी विशेष शत्रु को ध्यान में रखते हुए हस्ताक्षर किए गए हैं। दूसरी ओर सामूहिक सुरक्षा उस सिद्धांत के आधार पर कार्य करती है कि कोई भी राष्ट्र हमलावर हो सकता है अर्थात् हमलावर की प्रकृति अनिश्चितता है। एक आंतरिक सदस्य भी एक आक्रमणकारी के रूप में बदल सकता है। यह दृष्टिकोण शत्रु एवं मित्र में कोई भेद नहीं करता। कोई भी आक्रमणकारी किसी दूसरे देश का राष्ट्रीय शत्रु हो सकता है क्योंकि इसने अप्रत्यक्ष रूप से सभी राष्ट्रों की शांति एवं सुरक्षा को खतरे में डाला है। यह अंतर्राष्ट्रीय वातावरण की एक अभिस्वीकृति है कि संयुक्त राष्ट्र भी सामूहिक रक्षा समझौतों की स्वीकृति प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51 सदस्य राष्ट्रों के सामूहिक आत्म-रक्षा के अधिकार को सहमति प्रदान करती है। नाटो एवं वारसा समझौतों के लिए ऐसा माना गया है कि उनको इस पृष्ठभूमि में संपन्न किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51

"अगर संयुक्त राष्ट्र के किसी भी सदस्य के विरुद्ध सैन्य आक्रमण होता है, वर्तमान चार्टर ऐसा कुछ नहीं करेगा जिससे कि व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अंतर्निहित अधिकार कमजोर पड़े, जब तक कि सुरक्षा परिषद् अंतर्राष्ट्रीय शांती एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिए आवश्यक उपाय नहीं कर लेती। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सामूहिक सुरक्षा

एवं सामूहिक रक्षा के ये दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के साथ सौहार्दपूर्ण ढंग से कार्य कर सकते हैं या फिर दोनों की प्रतिद्वन्द्वी माँगे बहुत से राष्ट्रों की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों के बीच कुछ मात्रा में सौहार्दता विद्यमान है। शाब्दिक समानता और चार्टर की धारा 51 के प्रावधानों के साथ-साथ 1919 तथा 1956 के बीच की घटनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट है कि जिन राष्ट्रों ने कहीं पर भी होने वाले आक्रमण के विरुद्ध प्रतिबद्ध किया वे वास्तव में स्वयं को अलोकतांत्रिक शासनों का विरोध करने के लिए प्रतिबद्ध कर रहे थे और ये अलोकतांत्रिक शासन किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय शत्रु थे। इसलिए हम देखते हैं कि जब तक सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक रक्षा में सामंजस्य था तब तक वे दोनों एक समान शत्रुओं के विरुद्ध निर्देशित थे। मगर दोनों में एक विरोधाभास भी था। 1935 का इथोपिया संकट और 1956 के स्वेज संकट के समय यह वास्तविकता पूर्णतः स्पष्ट हो गई कि दोनों व्यवस्थायें एक दूसरे की विरोधी हो सकती हैं और आपस में टकरा भी सकती हैं। इथोपिया संकट के दौरान फ्रांस ने सामूहिक सुरक्षा के उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हुए इटली का समर्थन बनाये रखने के लिए इटली का साथ दिया क्योंकि उसने जर्मनी के विरुद्ध इटली के साथ एक रक्षा समझौता किया था। फ्रांस के लिए अंतर्राष्ट्रीय शांति के प्रति प्रतिबद्धता की अपेक्षा अपना राष्ट्रीय हित सर्वोपरि था। दूसरी ओर, 1956 में स्वेज संकट के समय संयुक्त राज्य अमेरीका ने अपने सहयोगी राष्ट्रों की नाराजगी के मूल्य पर भी सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का पालन किया। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के भाग्य से यहाँ तक कि सामूहिक सैनिक कार्यवाही की अनुपस्थिति में भी तीनों आक्रमणकारी राष्ट्र यथास्थिति को बहाल करने के लिए सहमत हो गये और पश्चिमी सैनिक गठबंधन अक्षुण्ण बना रहा।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में उत्तरों के दिए गए प्रारूप के साथ आप अपना उत्तर मिलायें।

1) सामूहिक रक्षा एवं सामूहिक सुरक्षा के बीच क्या मूलभूत अंतर है।

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप उन मुख्य उदाहरणों को उद्धृत कर सकते हैं जबकि राष्ट्र संघ के काल में सामूहिक सुरक्षा शांति को बनाये रखने में असफल हो गई थी?

.....

.....

.....

.....

.....

9.6 सामूहिक सुरक्षा–केस अध्ययन

सात दशक से भी अधिक का समय व्यतीत हो चुका है जबकि सामूहिक सुरक्षा को अंतिम शांति लाने के लिए एक कार्य पद्धति के रूप में स्वीकृत किया गया था। अगर आक्रमण के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरणों का एक संक्षिप्त अध्ययन किया जाए तब इस व्यवस्था के कार्य करने की पद्धति स्पष्ट हो जाएगी। जापान के द्वारा मंचूरिया पर किया गया हमला, एक बड़ी ताकत के द्वारा किए गए हमले की ओर महाशक्तियों के दृष्टिकोण का एक शानदार चित्रण है। 1911 की क्रांति के बाद चीन आंतरिक विवादों के कारण हिल उठा और पीकिंग सरकार देश के दूर दराज के प्रांतों पर बड़ी कम शक्ति का उपयोग कर पाती। इसी काल के दौरान चीन के मुख्य भूभाग पर जापान के मनसूबों के कारण नवम्बर 1921 में

वाशिंगटन सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में संपन्न की गई नौ शक्तियों की संधि के द्वारा सभी बड़ी शक्तियों ने चीन की अखण्डता तथा स्वतंत्रता का उल्लंघन न करने की स्वयं ही शपथ की। वाशिंगटन सम्मेलन के कुछ महीनों बाद चांग टू लिन के नेतृत्व में मंचूरिया स्वतंत्र हो गया। आगामी कुछ वर्षों में ही कुओमिंग तांग का दो गुटों में विभाजन हो जाने के बावजूद, चीन में राष्ट्रीय आंदोलन काफी तीव्र हो गया। जापान पूरब में एक शक्तिशाली राष्ट्र था और वह शक्तिशाली चीन को पचा नहीं सकता था और इसलिए जापान ने चीनी राष्ट्रवाद की प्रगति को रोकने के लिए शीघ्र ही चीन के शांटुग प्रदेश पर अधिकार कर लिया। चीन में जापान के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रवादी भावनाएँ और तीव्र हो गईं। इसी के साथ-साथ राष्ट्र संघ सभा की एक समिति ने लीग के सदस्यों से सिफारिश की कि वे मंचूरिया के नये शासक को मान्यता न दें। गैर-मान्यता प्राप्त मायूकुओ से भारी हर्जाने की सिफारिश भी की गई। जापान को यह भी स्वीकार्य न था और उसने मार्च, 1933 में राष्ट्र संघ की सदस्यता का परित्याग कर दिया।

घटनाओं के इस क्रम और मंचूरिया संकट के बाद से यह स्पष्ट हो गया कि विश्व के लिए ताकत की इस राजनीति का कोई अंत न था। महाशक्तियों की योजना में पूरब के इस प्रकार के नाटकों का यूरोप की राजनैतिक घटनाओं की तुलना में कोई महत्व न था। इसने पूर्णरूपेण स्पष्ट शब्दों में यह भी दिखा दिया कि राष्ट्र संघ विशेषकर बड़ी शक्तियाँ जापान जैसे उस शक्तिशाली राज्य के आक्रमण का विरोध करने के लिए तैयार न थीं जिसने राष्ट्र संघ प्रतिज्ञा-पत्र, कैलोग-ब्रियांड समझौते और नौ शक्तियों की संधि का उल्लंघन किया था।

9.6.1 अबीसिनिया (इथियोपिया) पर इटली का आक्रमण

अबीसिनिया के घटना चक्र ने भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के कार्य करने की पद्धति को स्पष्ट शब्दों में उस समय प्रदर्शित किया जब इसने दूसरे बड़े संकट का सामना किया। लिबेरिया के अतिरिक्त अबीसिनिया अफ्रीका में एक मात्र स्वतंत्र राज्य था और ऐसा समझा जाता था कि इसके अर्धविकसित भीतरी प्रदेश में काफी मात्रा में खनिज संपदा थी। दिसम्बर 1934 में अबीसिनिया की सेनाओं तथा इटालियन सोमालिलैंड से एक सेना की छोटी टुकड़ी के बीच वलवल गाँव के पास कुछ झड़पें हुईं। इन झड़पों में इटली के कुछ सैनिक मारे गये जिसके कारण अबीसिनिया से एक क्षमा याचना तथा कुछ क्षतिपूर्ति की मांग की गई। अबीसिनिया ने इस मामले को राष्ट्र संघ के सम्मुख रखा। परिषद् के सम्मुख इस विषय पर वाद-विवाद होने के साथ ही यह सहमति हुई कि इस विवाद को 1928 की संधि के अंतर्गत इटली और अबीसिनिया को "स्थिर शांति एवं चिर स्थायी मित्रता" को करना पड़ा और दोनों सभी विवाद "समझौते तथा मध्यस्थता की एक प्रक्रिया" को देने को तैयार हो गये। इटली ने मध्यस्थ को नियुक्त करने के काम में देरी की और वलवल की घटना के फलस्वरूप उसके एक उद्देश्य की पूर्ति हो गई। इटली ने अपनी सेनाओं एवं सैनिक सामग्री का इरिट्रिया तथा इटालियन सोमालिलैंड में जमाव कर दिया। इसी के फलवस्वरूप अबीसिनिया की सरकार ने प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 51 को लागू करने की विनती की। परन्तु फ्रांस एवं ब्रिटेन के द्वारा इस समस्या को हल करने के लिए किए गए उनके प्रयास उनकी तुष्टीकरण की नीति का ही भाग था। अबीसिनिया पर 2 अक्तूबर, 1935 को इटली का हमला शुरू हुआ। 19 अक्तूबर को राष्ट्र संघ सभा ने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध तथा इटली को निर्यात किये जाने वाली युद्ध सामग्री पर रोक लगाने की सिफारिश की। आस्ट्रिया, हंगरी तथा अलबेनिया को छोड़कर लगभग सभी सदस्यों ने इन प्रतिबंधों का अनुमोदन कर दिया। परन्तु फ्रांस और ब्रिटेन की निष्क्रियता के फलस्वरूप एक बार फिर इटली को तुष्ट करने की प्रवृत्ति वाली होरे-लैंड योजना को अपनाया गया। ब्रिटेन के आंतरिक विरोध के कारण बाद में होरे-लैंड योजना का परित्याग कर दिया गया। परन्तु फ्रांस और ब्रिटेन की कार्यवाही से स्पष्ट था कि उन दोनों की इटली के साथ युद्ध करने की कोई इच्छा नहीं थी। इसी बीच इटली अबीसीनिया में लगातार आगे बढ़ता जा रहा था और पहली मई 1936 को अबीसीनिया का सम्राट देश से भाग गया। यद्यपि इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंधों को लागू कर दिया गया था और उसके व्यापार को नुकसान हो रहा था तथा उसके रिजर्व किये गये स्वर्ण का निष्कासन भी, परन्तु ये इटली को रोकने के लिए पर्याप्त उपाय न थे। यह स्पष्ट था कि केवल युद्ध ही इटली को रोक सकता था परन्तु फ्रांस एवं ग्रेट ब्रिटेन दोनों ही युद्ध छेड़ने के अनिच्छुक थे। इस समय स्थिति और भी खराब हो गई जबकि जुलाई 1936 में ग्रेट ब्रिटेन ने इटली के विरुद्ध लागू प्रतिबंधों को वापस लेने के लिए प्रस्ताव किया और इस पर सहमति भी दे दी गई। अबीसिनिया की समस्या का

विकास और राष्ट्र संघ में इसके प्रति अपनाई गई नीति से स्पष्ट था कि सामूहिक सुरक्षा की योजना कुछ अच्छे कार्य किये बिना ही एक बार फिर असफल हो गई।

एक बार फिर बड़ी शक्तियों ने इथियोपिया पर किये गये नग्न आक्रमण के विरुद्ध कोई निर्णायक कार्यवाही नहीं की। इस घटना से वह असहमति भी स्पष्ट होती है जो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था तथा सामूहिक रक्षा के बीच के अंतर के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकी। जर्मनी को रोके रखने की फ्रांस की चिंता ने निश्चय ही गठबंधन के तंत्र को जन्म दिया, और इसी कारणवश वह उस इटली के विरुद्ध की जाने वाली सामूहिक कार्यवाही में भाग लेने की अनिच्छा रखता था जिसके साथ उसने जर्मनी के विरुद्ध स्वयं ही गठबंधन किया था। अभी भी सामूहिक सुरक्षा के साथ प्रतिबद्धता राष्ट्रीय हित के साथ प्रतिबद्धता से अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी।

9.6.2 कोरिया संकट

1950 का कोरिया संकट नव-उदित संयुक्त राष्ट्र के लिए सामूहिक सुरक्षा में प्रयोग करने हेतु प्रथम प्रयास था। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में इसको ताकत की राजनीति का प्रभाव समाप्त करने के लिए प्रतीक के रूप में देखा गया। उत्तरी कोरिया ने 25 जून, 1950 को दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया। उसी दिन सोवियत संघ के प्रतिनिधि की अनुपस्थिति में सुरक्षा परिषद् ने यह घोषणा की कि शांति का उल्लंघन किया गया है। सुरक्षा परिषद् ने उत्तर कोरिया से कहा कि वह अपनी सेनाओं को वापस बुलाये और आगे अपने सदस्यों से कहा कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ की सभी प्रकार से सहायता करें। सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक के कुछ घंटे पूर्व ही संयुक्त राज्य अमेरिका सरकार ने घोषणा की कि 25 जून को सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव को लागू करने तथा दक्षिण कोरिया की सहायता करने के लिए वह पहले ही अपनी हवाई एवं समुद्री सेनाओं को भेज चुका है। बाद में उसी दिन सुरक्षा परिषद् ने भी स्वयं को अमेरिका की कार्यवाही के साथ संबंधित कर लिया। इसने यह भी मत दिया कि तत्काल सैनिक सहायता की आवश्यकता है और अपने सदस्यों का आह्वान किया कि आक्रमण का प्रतिरोध करने हेतु सभी प्रकार की मदद करें। सैनिक सहायता के रूप में 16 देशों ने अपनी सेनाओं को भेजा परन्तु मुख्य रूप से सेना भेजने वालों में संयुक्त राज्य अमेरीका, कनाडा और ग्रेट ब्रिटेन थे। सैन्य शक्ति का 90 प्रतिशत दक्षिण कोरिया और संयुक्त राज्य अमेरीका से आया। परन्तु इस समय से संयुक्त राष्ट्र के नाम पर संपूर्ण कार्यवाही संयुक्त राज्य अमेरीका ने ही की। दक्षिण कोरिया संकट में "मुख भूमिका संयुक्त राज्य अमेरीका के द्वारा किये जाने के फलस्वरूप यह संदेह व्यक्त किया गया : क्या इस कार्यवाही को "सामूहिक सुरक्षा" का उपाय माना जाये। यहाँ पर यह भी गौर तलब है कि उत्तर कोरिया की सहायता सोवियत संघ के द्वारा की गई और अमेरिकी विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य सोवियत संघ गुट के प्रसार को रोकना था। इसलिए यहाँ पर कोरिया के इस संकट को संयुक्त राज्य अमेरीका और उन देशों के जो इस कार्यवाही से जुड़े थे के मुख्य शत्रु के विरुद्ध सामूहिक सैनिक रक्षा की कार्यवाही माना गया। लेकिन इस केस में सामूहिक सुरक्षा सफलतापूर्वक कार्यवाही कर सकती थी अगर नवम्बर 1950 में चीन ने हस्तक्षेप न किया होता। युद्ध में एक बड़ी शक्ति के खुले रूप से प्रवेश कर जाने के कारण कार्यवाही की संपूर्ण जटिलता संभावना से भी अधिक परिवर्तित हो गई। इस बड़ी शक्ति को पराजित करने के लिए सामूहिक सुरक्षा के प्रयास को बहुत अधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ी परन्तु बहुत अधिक शक्ति का यह प्रयास सम्मुख न आ सका और जिसका परिणाम यह हुआ कि कोरिया का विभाजन दो प्रभाव क्षेत्रों में निरंतर बना रहा। परन्तु इस प्रश्न का भी कोई उत्तर न दिया गया कि अगर दक्षिण कोरिया इस प्रकार का आक्रमण करता क्या तब तक अमेरीका इस प्रकार की कार्यवाही करता।

9.6.3 स्वेज़ संकट

मिस्र के द्वारा 1956 में स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिए जाने से उस पर इज़राइल, फ्रांस और ब्रिटेन ने जो संयुक्त आक्रमण किया, उसमें सामूहिक सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए एक-दूसरे प्रयोग का चित्रण भी हम कर सकते हैं। हमले के तुरंत बाद संयुक्त राष्ट्र सभा की एक आपातकालीन बैठक हुई, जहाँ पर तीन हमलावरों की तीखी भर्त्सना की गई। सभा ने एकता के साथ शांति योजना के लिए युद्ध विराम और सेनाओं की वापसी हेतु कहा। हमलावरों ने आश्चर्यजनक ढंग से सभा की माँग को मान लिया और अपनी सेनाओं को हटा लिया। सभी ने संघर्षरत क्षेत्र में एक संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन

सेना को तैनात करने की सिफारिश की। संयुक्त राज्य अमेरीका के विरोध और ब्रिटेन व फ्रांस की कार्यवाही का अपने देशों के अंदर तथा बाहर आलोचना तथा सोवियत संघ के हस्तक्षेप के सामान्य भय जैसे मुख्य कारणों से हमलावरों को अपनी सेनाओं को वापस बुलाना पड़ा। इज़राइल की अमेरीकी आर्थिक सहायता पर निर्भरता यहाँ पर एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण था। उपरोक्त चित्रण के प्रकाश में यह प्रश्न किया जाता है कि स्वेज़ नहर का मामला क्या वास्तव में सामूहिक सुरक्षा की सफलता का प्रतिनिधित्व करता है।

9.7 सामूहिक सुरक्षा और यथा-स्थिति

सामूहिक सुरक्षा को इस दृष्टिकोण से भी देखा गया है कि यह यथा-स्थिति को बनाए रखने का समर्थन करती है। क्या वास्तव में सामूहिक सुरक्षा के अंतर्गत किसी विशेष अवसर पर यथा-स्थिति को सुरक्षित बनाए रखने के लिए प्रयास किए गए हैं। यथा-स्थिति जो किसी समय में कहीं पर विद्यमान है, वह असमान एवं अनुचित हो सकती है। उदाहरणार्थ, राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा उस यथा-स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए थी जो 1919 में राष्ट्र संघ की स्थापना के समय विद्यमान थी। परंतु 1919 में बहुत से राष्ट्रों ने क्षेत्रीय यथा-स्थिति का विरोध किया था, पराजित एवं इटली जैसे विजयी दोनों प्रकार के राष्ट्र उस समय संतुष्ट न थे। इस प्रकार, सामूहिक सुरक्षा ने जिस शांति की हिमायत की थी, वह न्याय सहित शांति न थी अपितु न्याय से ऊपर शांति थी। जब शांतिपूर्ण परिवर्तन संभव न था तब सामूहिक सुरक्षा यथा-स्थिति की संरक्षक हो जाती। यथा-स्थिति को बनाए रखना वास्तव में सामूहिक सुरक्षा की प्रतिरोध प्रभाव के ऊपर निर्भरता की अपेक्षा प्रतिद्वंद्वी की अस्थायी कमज़ोरी का कार्य भी हो सकता है। यथा-स्थिति की प्रतिद्वंद्वी उस समय शुरू कर सकता है, जबकि वह पुनः ताकतवर हो जाए। इस प्रकार, यथा-स्थिति की हिमायत करने में सामूहिक सुरक्षा अल्पकालिक शांति को ही बढ़ावा दे सकती है और जो बाद में एक बड़े युद्ध में परिवर्तित हो सकती है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी की कार्यवाही उपरोक्त चित्रण का एक शानदार उदाहरण है। प्रथम विश्व युद्ध में पराजित हो जाने के बाद उसे एक ऐसी संधि करने के लिए बाध्य किया गया जिसको वह अनुचित मानता था। अपनी पराजय हो जाने के फलस्वरूप वह असहाय होकर किसी प्रकार से अपने इस अपमान को निगल गया। परंतु जैसे ही वह शक्तिशाली हो गया, उसने यथा-स्थिति को चुनौती दी और परिमाणस्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हो गया।

9.8 सामूहिक सुरक्षा—इसका भविष्य

पिछले कुछ दशकों से अधिक के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का इतिहास शांति प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा की प्रभावकारिता में विश्वास को पैदा करने के लिए प्रेरित नहीं करता। जिस ढंग से बहुत से विवाद युद्ध में बदल गए या उन्होंने शांति के लिए खतरा उत्पन्न किया, उससे स्पष्ट होता है कि सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था असफल हो चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि सदस्य राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों से ऊपर नहीं उठ पाए हैं और न ही उन्होंने चिर-स्थायी शांति के लिए प्रयास किए हैं।

राष्ट्र संघ प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई थी और ठीक अपने प्रारंभ से ही इसने शांति को बनाए रखने के लिए सिद्धांतों एवं नियमों का गलत ढंग से इस्तेमाल किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर रहने के कारण राष्ट्र संघ कमज़ोर पड़ गया, जबकि जापान एवं इटली जैसे राष्ट्रों ने इसके सिद्धांतों की भरपूर अवहेलना की। मंचूरिया की घटना के बाद जापान ने भी स्वयं को राष्ट्र संघ से अलग कर लिया। इसके साथ-साथ, वे यूरोपीय शक्तियाँ जो अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर शांति एवं स्थायित्व को स्थापित करने की दुहाई देती थीं, वे भी समय की आवश्यकता में अपनी अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरा करने में असफल रहीं। कुछ सदस्य-राष्ट्रों का अन्य सदस्य राष्ट्रों के विरुद्ध अविश्वसनीय दृष्टिकोण ने भी राष्ट्र संघ को अंतर्राष्ट्रीय संकटों में निर्णायक ढंग से हस्तक्षेप करने से रोका। फिर इन राष्ट्रों ने जो भी कदम उठाए उनके परिणामस्वरूप शांति का बार-बार उल्लंघन होता रहा। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विरोधियों के बीच शक्ति के वितरण ने भी राष्ट्र संघ समय के दौरान शांति को लागू करने में कठिनाई उत्पन्न की। राष्ट्र संघ

व्यवस्था के अंतर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक चुनौती हिटलर के जर्मनी की ओर से आई। एक प्रकार की चक्रिलता गतियमान हो गई थी। राष्ट्र संघ के द्वारा निर्णायक रूप से कार्यवाही करने की अनिच्छा ने उन फासीवादी शासकों को उत्साहित किया जिन्होंने फिर दोबारा राष्ट्र संघ को कमज़ोर किया और यूरोप के इटली तथा जर्मनी में एवं सुदूर पूरब में जापान जैसे देशों में पुनः फासीवाद का हौसला बुलंद किया। शांति उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने में असमर्थता के फलस्वरूप विश्व युद्ध के पुनः प्रारंभ हो जाने के साथ-साथ अंततः राष्ट्र संघ भी धाराशायी हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के मलबे से विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने तथा आगामी पीढ़ियों को युद्ध विभिषिका से बचाने के लिए एक बार फिर प्रयास किए गए। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 1945 में की गई। राष्ट्र संघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ इसलिए अच्छी स्थिति में था कि लगभग सभी राष्ट्र इसके सदस्य हो गए। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धाराएँ 39-51, शांति के खतरों, शांति के उल्लंघन तथा आक्रमण के कार्यों के संदर्भ में विस्तृत कार्यवाही की स्पष्ट व्याख्याएँ करती हैं। लेकिन, पिछले कुछ दशकों में संयुक्त राष्ट्र के द्वारा किए गए कार्यों ने कुछ अपवादों को छोड़कर ज्यादा कुछ नहीं किया है। पिछले कुछ दशकों में कई बड़े युद्ध लड़े गए हैं। इनमें से महत्वपूर्ण लड़ाइयाँ अमेरीका की वियतनाम में कार्यवाही, अफगानिस्तान में रूस का हस्तक्षेप, ईरान-इराक युद्ध और विश्व के अनेक महाद्वीपों में बहुत-सी छोटी-बड़ी सैन्य झड़पें थीं। सामूहिक सुरक्षा के उपायों को लागू करने में संयुक्त राष्ट्र संघ का पिछला रिकार्ड अपेक्षाकृत भ्रामक रहा है। जहाँ एक ओर यह सामान्य धारणा बनी हुई है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक टिकाऊ शांति कायम करने में असफल हुआ है, फिर भी यह याद रखा जाना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्र उन राष्ट्रों के पूर्ण जोड़ से कुछ अधिक नहीं जिन राष्ट्रों ने इसका निर्माण किया है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र के प्रति इस प्रकार का तिरस्कार तभी उचित रहेगा जबकि इसको राष्ट्र-राज्यों के दर पर किया जाए।

मानकीय सिद्धांत के रूप में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा वास्तव में शांति कायम करने के एक श्रेष्ठ आमुख पर आधारित है। परंतु यह भी सत्य है कि राष्ट्र इसके लिए अयोग्य हैं और वास्तव में वे अपने राष्ट्रीय हितों से आगे की ओर देखने के लिए तैयार हैं ही नहीं। विश्व में सामूहिकता के परिवेश में सोचने की स्थूल अनिच्छा है। इसके फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा वास्तविकता से काफी दूर प्रतीत होती है, और जब तक राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व बना हुआ है तब तक इसकी आशा करना अवास्तविकता है, फिर भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को व्यावहारिक बनाया जा सकता है। वास्तव में यह कहना गलत न होगा कि जब सामूहिक व्यवस्था के कार्य करने के आदर्श को साकार कर लिया जाएगा तब यह विश्व सरकार की वास्तविकता का पर्यायवाची हो जाएगी। परंतु यह भी एक सच्चाई है कि राष्ट्र-राज्य मज़बूती से विद्यमान हैं और इनके लुप्त होने का कोई भी चिह्न दिखाई नहीं देता जिससे कि सामूहिक सुरक्षा अभी भी एक सपना बनी हुई है। वर्तमान राष्ट्र-राज्य व्यवस्था की मानसिकता के साथ-साथ वातावरण में वस्तुनिष्ठ परिवर्तन के बिना, सामूहिक सुरक्षा उपाय को लागू करने का विचार घोड़े के सम्मुख गाड़ी को खड़ी रखने के समान होगा। परंतु सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में यह सिद्धांत निश्चय ही निहित है कि युद्ध कहीं पर भी हो, वह प्रत्येक स्थान की व्यवस्था के लिए खतरा है। सामूहिक सुरक्षा को इस सिद्धांत में इसको सौंपे गए कार्य की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

9.9 सारांश

सामूहिक सुरक्षा, जिसके विषय में हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं, क्षैतिज आधार के उस सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार किसी एक राष्ट्र पर किया गया आक्रमण सभी राज्यों पर हमला माना जाएगा। यह इस वास्तविकता पर आधारित है कि युद्ध होते ही रहते हैं और उनको रोका जाना ही चाहिए। यह इस कारण से सामूहिक रक्षा से भिन्न है कि यह अंतर्राष्ट्रीय संगठन की परिधि के अंतर्गत ही कार्य करता है और सभी देशों को शामिल करता है। पिछले कुछ दशकों के अंतर्राष्ट्रीय रिश्तों का अवलोकन करने से स्पष्ट है कि सामूहिक सुरक्षा किसी भी आशाओं के अनुरूप वास्तव में कार्य नहीं कर पाई हैं और

इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकेतर राष्ट्र अपने सहायक राष्ट्रीय हितों को संपूर्ण मानव जाति के व्यापक हितों के लिए परित्याग करने की अनिच्छा रखते हैं।

9.10 शब्दावली

अनिश्चित : निश्चित नहीं, पूर्व में कोई जानकारी न हो

मूल अभिप्राय : विद्यमान होने का कारण

शब्दार्थ : शब्दों और वाक्यों के अर्थ से संबंधित

यथा-स्थिति : जैसा है

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मोरगेन्थो, हैंस जे. 1961, **पोलिटिक्स अमंग नेशन्स : स्ट्रगल फॉर वार एंड पीस,** अलफ्रेड ए, नौफ, न्यूयार्क

कार, ई. एच., 1947, **इंटरनेशनल रिलेशंस बीटवीन दी टू वर्ल्ड वार 1919-1939,** मैकमिलन लंदन

क्लोड, इनिज़ एल., 1971, **सोर्ड्स इन्टू प्लॉओशेयर्स : वि प्रोबलेम्स एंड प्रोग्रेस ऑफ इंटरनेशनल ऑर्गेनाइज़ेशन,** रेण्डम हाउस, न्यूयार्क

9.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का सार यह है कि किसी एक राज्य पर किया गया आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण समझा जाएगा। हमलावर के विरुद्ध शक्ति की प्रबलता के जमाव से ऐसी आशा की जाती है कि युद्धों को रोका जाएगा।

2) सामूहिक सुरक्षा कुछ धारणाओं पर आधारित हैं:
   1) सदस्यता की सार्वभौमिकता
   2) शक्ति का वितरण
   3) राष्ट्रीय हितों से आगे की ओर देखने की क्षमता
   4) सुरक्षा की एक समान अवधारणा
   5) उस हमलावर के विरुद्ध शक्ति की प्रबलता का जमा करने की क्षमता जिसने यथा-स्थिति को चुनौती देने का साहस किया हो।

बोध प्रश्न 2

1) सामूहिक सुरक्षा युद्ध को रोकने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठन की परिधि के अंतर्गत सभी राष्ट्रों का एक सामंजस्य है। इसके द्वारा शक्तिशाली एवं अदृश्य हमलावर के विरुद्ध शक्ति की प्रबलता का जमाव किया जाता है। जबकि सामूहिक रक्षा उसी दिशा में किया गया एक ऐसा प्रयास है जिसके अंतर्गत ठीक राष्ट्रों के एक गुट के द्वारा एक से अधिक या कम ज्ञात शत्रु के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है।

2) 1931 में मंचूरिया और 1935 में अबीसीनिया।

इकाई 10 क्षेत्रीय सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 राष्ट्र संघ के अंतर्गत क्षेत्रीय सुरक्षा
10.4 संयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन क्षेत्रीय सुरक्षा
10.5 कुछ उदाहरणों का अध्ययन
10.5.1 औस (ओ.ए.एस.)
10.5.2 नाटो
10.5.3 सीटो
10.5.4 वॉरसा पैक्ट
10.6 सारांश
10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.1 उद्देश्य

"सामूहिक सुरक्षा" एक अवधारणात्मक शीर्षक है। परंतु वास्तविक रूप में लागू करते समय इसके विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं। "क्षेत्रीय सुरक्षा" भी इसके व्यवहारिक रूप में लागू करने का एक विशेष स्वरूप है। संयुक्त राष्ट्र ने क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्थाओं के कार्य करने की परिकल्पना की है।

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आपको निम्न ज्ञात हो जाएगा:

- राष्ट्र की भाषा के अंतर्गत क्षेत्रीय सुरक्षा की अवधारणा के विषय में,
- क्षेत्रीय सुरक्षा एवं संयुक्त राष्ट्र के बीच में विभेद का, और
- क्षेत्रीय संगठनों पर कुछ उदाहरणों के अध्ययन के साथ विश्लेषण के बारे में॥

10.2 प्रस्तावना

क्षेत्रीय सुरक्षा शब्द से दो विभिन्न अवधारणाओं का बोध होता है–प्रथम, सुरक्षा की सामूहिकता या सार्वभौमिकता की अवधारणा से है और दूसरी, सार्वभौमिक सुरक्षा से भिन्न क्षेत्रीय सुरक्षा की अवधारणा से। परंतु कुछ विद्वानों का कहना है कि इस अवधारणा में स्वयं ही इस अर्थ में विरोधाभास है कि आज की दुनिया में क्षेत्र पर आधारित सुरक्षा नहीं हो सकती या शांति की तरह की सुरक्षा क्षेत्रों के संदर्भों में अविभाज्य है। फिर भी क्षेत्रीय सुरक्षा के विचार का प्रचलन है और इसको 1970 के दशक में ब्रेजनेव द्वारा प्रस्तावित एशियाई सामूहिक सुरक्षा के उदाहरण से देखा जा सकता है।

क्षेत्रीय सुरक्षा की अवधारणा एवं जरूरत यह महसूस करने से पैदा हुई है कि मानव जाति अभी भी एक सार्वभौमिक या विश्वव्यापी सुरक्षा ढाँचे के लिए तैयार नहीं है। यह भी महसूस किया गया कि निश्चित सुरक्षा के खतरों का सामना करने के लिए राष्ट्रों को एकताबद्ध करने वाले प्रयास पर्याप्त न होंगे। इन दोनों परिकल्पनाओं को चित्रित करने के लिए राष्ट्र संघ के उदाहरण को लिया जा सकता है। इस संस्था ने सार्वभौमिक सुरक्षा ढाँचे को स्थापित करने का प्रयत्न किया परंतु यह अपने प्रयासों में असफल हुआ। द्वितीय बिंदु को चित्रित करने के लिए 1945 के बाद के समय को लिया जा सकता है। फ्रांस, इंगलैंड तथा जर्मनी (पश्चिमी) जैसी तथाकथित विश्व की शक्तियों ने 1945 के बाद स्वयं को इतना अधिक कमजोर एवं भयभीत समझा कि अमेरीका के नेतृत्व में उन सभी ने संयुक्त रूप में एक सुरक्षा पैक्ट किया। इस क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था को नाटो के नाम से जाना जाता

है। क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था के कुछ अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। पहले हम 'क्षेत्रीय सुरक्षा' के दो पैत्रिक कारकों को विस्तृत रूप से परीक्षण करेंगे और ये दोनों कारक हैं—सुरक्षा अवधारणा की सार्वभौमिकता और इसके प्रति क्षेत्रीयता की दृष्टि।

10.3 राष्ट्र संघ के अंतर्गत क्षेत्रीय सुरक्षा

अतीत से ही विद्वानों ने शांति के सदाचारों का गुणगान किया है और युद्ध लड़ने के विरुद्ध चेतावनी दी है। परंतु मानव की प्रकृति ऐसी है कि युद्धों का परित्याग करना उसके लिए संभव नहीं हो सका है और न ही इन हजारों वर्षों में उचित शांति को लागू करना संभव हुआ। फिर भी, युद्धों को खत्म करने के लिए गंभीर प्रयास किए गए हैं, और प्रथम विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय शांति को बनाए रखने को संस्थागत किया गया। इस महान विनाश के बाद युद्ध के प्रभावों को आम जनता एवं राज नेताओं दोनों के द्वारा महसूस किया गया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षीतिज मंच पर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन जैसे राजनेता की उपस्थिति के साथ-साथ उच्च सैनिक तकनीकी के द्वारा इतिहास में व्यापक स्तर पर लोगों की, की गई हत्या ने विश्व को मामूली तौर पर सचेत करते हुए यह संभव बनाया कि एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था या राष्ट्र संघ के माध्यम से शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने का एक प्रयोग किया जाए।

राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र की बहुत सी धाराओं के अन्तर्गत इसने अपने सदस्य-राज्यों का आह्वान करते हुए कहा —(1) युद्ध न करने के उत्तरदायित्वों को स्वीकृत करना, (2) "राष्ट्र संघ के सभी सदस्य देशों की क्षेत्रीय अखण्डता एवं विद्यमान राजनीतिक स्वतंत्रता का बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सम्मान तथा रक्षा करना" (3) अगर कोई किसी दूसरे के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करता है तब इसको सभी सदस्यों के विरुद्ध हमला माना जाये, (4) राष्ट्रसंघ को सभी प्रकार की सहायता (आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक) उपलब्ध कराना जिससे कि वह युद्ध करके गलती करने वाले देश के विरुद्ध अनुशासन को लागू कर सके, (5) झगड़ों को मध्यस्थ आदि को सौंपना जिससे कि इनका शांतिमय समाधान सम्भव हो सके, और (6) निःशस्त्रीकरण का वातावरण निर्मित करना जिससे कि झगड़ों का शांतिपूर्ण निपटारा करने के लिये एक वातावरण बन सके।

परंतु जैसे-जैसे समय व्यतीत हुआ, यह स्पष्ट होने लगा कि अपनी पवित्र इच्छाओं के बावजूद भी राष्ट्र संघ इस कार्य को अन्जाम न दे पाया। राष्ट्र संघ के अधीन सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की मुख्य कमजोरियाँ यह थीं—1. कुछ बड़ी शक्तियों जैसे कि (संयुक्त राज्य अमेरिका) ने संगठन में शामिल न होकर अपने शानदार विचारों के लिए स्वयं को उत्तरदायित्व की धारण करने से अलग कर लिया, 2. कुछ बड़ी शक्तियाँ (जैसे—ब्रिटेन एवं फ्रांस) सैद्धांतिक निर्णय के प्रतिकूल थीं, परंतु दूसरी ओर उन्होंने राजनीतिक आवश्यकता के आधार पर निर्णय के विरुद्ध विश्वासघात किया, 3. कुछ बड़ी शक्तियाँ (जैसे—जर्मनी) को प्रारंभिक चरण में राष्ट्र संघ में शामिल नहीं किया गया जब कि दूसरी बड़ी शक्तियाँ (रूस) को बाद में निष्कासित कर दिया गया, 4. कुछ बड़ी शक्तियों (जैसे—इटली एवं जापान) ने असहाय सदस्यों के विरुद्ध नग्न हमला किया, और अंत में 5. जब परीक्षण का वह समय आया जिसमें छोटी शक्तियाँ राष्ट्र संघ के आज्ञा-पत्र/प्रतिबंधों को लागू करने के लिए दुःख सहने के लिए तत्पर थीं तब बड़ी शक्तियों ने अपने चेहरों को राष्ट्र संघ से दूर कर लिया तथा उन उत्तरदायित्वों को पूरा करने से इन्कार कर दिया जिनको एक समय उन्होंने स्वयं आलिंगन किया था। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सार्वभौमिक सुरक्षा व्यवस्था के उस सम्मान को धराशयी कर दिया गया, जिसका प्रतिनिधित्व राष्ट्र संघ करता था, और छोटे-बड़े राष्ट्र सभी अधिक से अधिक अपनी सुरक्षा के लिए अपने स्वयं के प्रयासों पर निर्भर करने लगे।

10.4 संयुक्त राष्ट्र के अधीन क्षेत्रीय सुरक्षा

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई परंतु राष्ट्र संघ के प्रयोग से जो अनुभव प्राप्त किए गए थे, उनको नहीं भुलाया गया। कुछ सचेत दृष्टिकोण को

अपनाया। कोई भी यह कह सकता है कि संयुक्त राष्ट्र ने एक संशोधित सामूहिक सुरक्षा की योजना को अपनाया परंतु सुरक्षा की यह योजना आवश्यक रूप से राष्ट्र संघ के अधीन योजना की भाँति ही थी। संयुक्त राष्ट्र की कुछ संस्थापक सदस्य सामूहिक सुरक्षा के तमाम क्षेत्र को पूर्णरूपेण संयुक्त राष्ट्र को सौंप देने के निर्णय पर काफी संदेह कर रहे थे और इसके वे कटु आलोचक भी थे। लैटिन अमेरिका के बहुत से देश अपनी स्वयं की क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था (ओस) को बनाए रखने के लिए ऐसे आश्वस्त थे जैसे कि उनका पूर्ण विश्वास संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के प्रयास विहीन एवं परीक्षण विहीन के विरुद्ध था। इन देशों ने एक दबाव गुट बनाते हुए 1945 में सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में निवेदन किया कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उस भाग को अलग कर दिया जाना चाहिए, जिसके अंतर्गत राष्ट्र संघ के अधिकतर कार्य के लिए क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के विशेष प्रावधानों की व्यवस्था की गई थी। यद्यपि उनका यह निवेदन माना नहीं गया, लेकिन उनके प्रस्ताव ने सदस्यों राष्ट्रों के लिए क्षेत्रीय आधार पर सैनिक सामूहिक सुरक्षा के विशेष प्रावधानों को काफी सीमा तक प्रभावित किया। इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 52 में कहा गया है:

"वर्तमान चार्टर में ऐसा कुछ नहीं है, जो क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की उपस्थिति या उन अभिकरणों के कार्य करने को अलग करता है, जो अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाए रखने का कार्य करता है, एवं ये क्षेत्रीय कार्यवाही के लिए उचित हैं, इस प्रकार की व्यवस्थाओं एवं अभिकरण को इस प्रकार से उपलब्ध कराया जाता है कि उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र के लक्षणों तथा सिद्धांतों के निरंतर अनुरूप हैं।"

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के इस महत्वपूर्ण प्रावधान की विस्तृत छानबीन करने से पूर्व, यह जानना उपयोगी रहेगा कि संयुक्त राष्ट्र की उत्पत्ति से पहले ही अमेरिकी राज्यों का संगठन (ओस) अस्तित्व में था। इस संगठन के सदस्यों की स्पष्ट इच्छा यह थी कि संयुक्त राष्ट्र के द्वारा बिना किसी विघ्न के यह निरंतर कार्य करता रहे। इसलिए धारा 52 में इन विशेष शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा गया कि "वर्तमान चार्टर में ऐसा कुछ नहीं है जो क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की उपस्थिति को अलग करता हो ···।"

धारा 52 के शेष भाग को हम अपनी सुविधा के लिए दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, ये क्षेत्रीय व्यवस्थायें या संस्थायें उन मामलों को देखेंगी, जो अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाए रखने से संबंधित हैं। परंतु यह काफी अपुष्ट है और शेष अस्पष्ट भाग से कुछ प्रश्नों के विषय में संदेह भी पैदा होता है जैसे कि "देखने से" क्या तात्पर्य है? क्या इसके अंदर सैन्य कार्यवाही निहित है या फिर यह साधारणतः राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्यवाही है। यह है, और क्या नहीं है, क्या वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के ये दोनों शब्द अलग-अलग हैं या इनको एक साथ माना जा सकता है? आगे इसमें यह कहा गया है कि ये कार्य "क्षेत्रीय कार्यवाही के लिए उचित" होने चाहिए। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है, क्या क्षेत्रीय और विश्व व्यापी कार्यवाहियों/समस्याओं के बीच स्पष्ट भिन्नताएँ हो सकती हैं? जैसा कि उदाहणार्थ, अरब देशों की इजराइल के विरुद्ध कार्यवाही या इजराइल की अरब देशों के विरुद्ध कार्यवाही को क्षेत्रीय समझा जाना चाहिए और क्या इसका दोनों महाशक्तियों अमेरिका तथा सोवियत संघ के साथ कोई लेना-देना नहीं है? दूसरे धारा 52 का यह भी कहना है कि "क्षेत्रीय व्यवस्थायें या अभिकरण या उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्यों तथा सिद्धांतों के सुरक्षा के साथ निरंतर अनुरूप होनी चाहिए।" जैसा कि सभी जानते हैं कि कूटनीतिक क्षेत्र में प्रकट करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है क्योंकि उसकी एकरूपता या अनुरूपता परिस्थितियों, कौशल और दृष्टिकोणों पर निर्भर करती है। धारा के इस भाग से कुछ विशेष नहीं बटोरा जा सकता है।

धरा 52 के समर्थन में जो कुछ भी कहा गया है उससे भी आगे धारा 53 एवं 54 दो और ऐसी धाराएँ हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् क्षेत्रीय संगठनों के लिए रपट देने या निरीक्षण करने वाली शक्ति है। इससे आगे कहा गया है कि क्षेत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत ··· सुरक्षा परिषद् के अधिकृत किए बिना कोई भी कार्यवाही लागू नहीं की जाएगी···" (धारा 53)। यह वास्तव में एक जटिल भाग है, जैसा कि 'ओस' से संबंधित भाग का आगे विवरण करते हुए हम पायेंगे कि सैनिक कार्यवाहियों को क्षेत्रीय व्यवस्था के आवरण के अंतर्गत किया जा सकता है और सुरक्षा परिषद् की जाँच-पड़ताल से यह कहकर चतुराई से बचा जा सकता है कि ये "लागू न करने वाली" कार्यवाहियाँ हैं। (उनका विवरण राजनयिक या शांति को बनाए रखना या आर्थिक निरीक्षण करना या गतिविधियों का पर्यवेक्षण करने के रूपों में किया जा सकता है।) स्थायी सदस्यों को वीटो पावर (निरस्त शक्ति) उपलब्ध होने के कारण सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों संयुक्त राज्य

अमेरिका या सोवियत संघ के द्वारा उस समय निरस्त किया जा सकता है, जबकि वे सुरक्षा परिषद् की जाँच-पड़ताल से परेशानी महसूस करते हैं। परंतु धारा 54 एक तरह से काफी लाभदायक है। क्योंकि यह मात्र माँग करती है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा की जाने वाली गतिविधियों के विरुद्ध में सुरक्षा परिषद् को सूचित करते रहना चाहिए।

ये तीनों धाराएँ 52, 53 तथा 54 संयुक्त राष्ट्र चार्टर के आठवें अध्याय को "क्षेत्रीय व्यवस्थाओं" के शीर्षक से बताती है। पूर्ववर्ती अध्याय में एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रावधान है, जो विशेष रूप से किसी भी राज्य के अंतर्निहित संप्रभु अधिकार को मान्यता प्रदान करता है, जिससे कि वह स्वंय की रक्षा करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक कार्यवाही कर सके (धारा 51)। आत्म-रक्षा के इस अधिकार पर कुछ प्रतिबंध भी लगाए गए हैं परंतु ये प्रतिबंध पर्याप्त होने की अपेक्षा नाममात्र के लिए अधिक हैं। लेकिन सभी राष्ट्रों को व्यक्तिगत या सामूहिक सुरक्षा के अधिकार को दिए जाने से संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था की सामूहिक सुरक्षा का अधार एवं ताकत समाप्त हो गई है। अगर इसको क्षेत्रीय संगठनों पर दिए गए प्रावधानों के साथ पढ़ा जाए तब यह स्पष्ट होता है कि संयुक्त राष्ट्र स्वयं अपने सदस्य राज्यों को किसी प्रकार की विश्वसनीय सुरक्षा प्रदान करने के आश्वासन को वहन नहीं कर सकता है और यह कि बहुत से राज्यों को अपनी सुरक्षा की देखभाल करने के लिए अपनी स्वयं की व्यवस्थाओं को करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है तथा वे ऐसा करने के लिए जब तक भी संभव हो सुरक्षा परिषद् को सामने रखते हैं।

खुल्लमखुल्ला या संयुक्त रूप से संयुक्त राष्ट्र के द्वारा अपने सदस्यों को सार्वभौमिक सुरक्षा का आवरण उपलब्ध कराने में असमर्थता स्वयं स्वीकृत की गई है। इसी कारणवश बहुत से राज्य उन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के अधीन जा चुके हैं जो क्षेत्रीय संबधताओं पर आधारित हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ये सभी हमारे अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। परंतु उनमें से कुछ निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं और हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) इस इकाई के अंत में दिए गए प्रारूप उत्तर के साथ अपने उत्तर की जाँच करें।

1) सामूहिक या क्षेत्रीय सुरक्षा उपलब्ध कराने में राष्ट्र संघ क्यों असफल हुआ?

.....

.....

.....

.....

2) राष्ट्र संघ के साथ-साथ सामूहिक सुरक्षा की असफलता से संयुक्त राष्ट्र ने क्या सीखा?

.....

.....

.....

.....

3) संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धाराओं 51, 52 एवं 53 सार तत्वों में भिन्नता बताइए।

.....

.....

.....

.....

10.5 कुछ उदाहरणों का अध्ययन

10.5.1 औस (ओ.ए.एस.)

विद्यमान क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्थाओं में अमेरीकी राज्यों का संगठन (औस) काफी महत्वपूर्ण

है। मूलतः इसकी स्थापना 1980 में इंटरनेशनल यूनियन ऑफ अमेरीकन रिपब्लिकन के रूप में की गई थी। इसका कार्य क्षेत्र वाणिज्य से आर्थिक, राजनयिक तथा अंततः सैनिक मामलों तक बढ़ गया। 1990 में न केवल इसका नाम ही बदल गया, बल्कि इसका कार्य क्षेत्र भी परिवर्तित हो गया और तब इसको वर्तमान नाम दिया गया। इसके आम सचिवालय की स्थापना की गई तथा 1967 में न केवल इसके चार्टर में अनेक संशोधन किए गए, जो 1970 में प्रभावी हुए। "औस" एक आम सभा के माध्यम से कार्य करता है, इस सभा की वर्ष में एक बार बैठक होती है। इसके कार्यपालिका संगठन को स्थायी परिषद् कहा जाता है और इसके अंतर्गत प्रत्येक सदस्य राज्य से प्रतिनिधि होता है तथा इस प्रतिनिधि को 'औस' में प्रत्येक देश का राजदूत कहा जाता है और इसका मुख्यालय वाशिंगटन डी.सी. में स्थित है। इसकी दूसरी ऐसी संस्थाएँ हैं जो अर्थव्यस्था सांस्कृतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, स्वास्थ्य एवं शैक्षिक मामलों से संबंधित है, आंतरिक अमेरीकी समस्याओं को हल करती हैं। इसका एक जनरल सचिवालय है जिसके अंतर्गत 2000 से अधिक लोग कार्यरत हैं, और इसका सर्वोच्च अधिकारी महा-सचिव है। इसका मुख्यालय भी वाशिंगटन डी.सी. में स्थित है। हमारे विचार से यह रेखांकित करना महत्वपूर्ण है कि संयुक्त राष्ट्र के बाह्य स्वरूप की नकल के साथ-साथ 'औस' के अंतर्गत सैनिक सम्मिश्रण भी निहित है। सितंबर 1947, में 'औस' के रिओ डी. जैनिरो सम्मेलन में पारस्परिक सहयोग की अन्याय अमेरीकी संधि (रिओ पैक्ट, 1947) की गई। इस संधि की धारा 6 के अनुसार, "किसी एक अमेरिकी देश के विरुद्ध किसी दूसरे देश द्वारा किए गए आक्रमण माना जाएगा।" इस प्रकार के अचानक किए गए आक्रमण की स्थिति में सभी को एक-दूसरे की सहायता करने का आह्वान किया गया है। रिओ पैक्ट में यह विशेषकर कहा गया है कि अगर समस्या का निदान करने में सभी प्रयास असफल हो जाते हैं तब दो-तिहाई मत प्राप्त हो जाने के बाद संपूर्ण औस के द्वारा अनिवार्य रूप से हमलावर देश के विरुद्ध सैनिक उपायों को लागू करना पड़ेगा। यदि सदस्य राज्य के ऊपर "सैन्य आक्रमण" नहीं किया गया है, परंतु "किसी दूसरे तथ्य या स्थिति से अमेरीका की शांति को भंग होने का खतरा हो" तब औस "संयुक्त उपायों" के द्वारा "किसी भी अमेरीकी राज्य की क्षेत्रीय अखंडता या संप्रभुता या राजनीतिक स्वतंत्रता को" बनाए रखने के लिए सहमत होगा।

अन्य क्षेत्रीय संगठनों की तुलना में 'औस' के द्वारा विशेष भिन्न प्रकार की सैन्य व्यवस्था प्राप्त कर ली गई है। इसमें एक दोष है—संयुक्त राज्य अमेरीकी के सिवाय औस का कोई भी ऐसा देश नहीं है जो सैनिक कार्यवाही कर सकता हो। दूसरे, संयुक्त राज्य अमेरीका किसी भी लैटिन अमेरीकी देश और सोवियत संघ को संभावित या सक्षम आक्रामक देश मान सकता है, जबकि औस के अन्य सदस्य देश न तो सोवियत संघ को अपने ऊपर आक्रमण करने वाला मान सकते हैं और न ही वे अमेरीका के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर सकते हैं यदि वह पैक्ट की अवहेलना करता है। उन सभी के लिए संयुक्त राज्य अमेरीका कभी सभी आक्रमक नहीं होगा। इसका एक साधारण कारण यह है कि औस अमेरीका के हाथ में एक ऐसा हथियार है, जिसका वह स्वयं ही प्रयोग करता है। इस सबसे सामूहिक सुरक्षा एवं क्षेत्रीय सुरक्षा एक मजाक बन कर रह गई है लेकिन दंभी राजनीति के वातावरण में यही सबसे अच्छा हो सकता है। अमेरिका के अनेक विद्वानों ने स्वतंत्र रूप से कहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने लैटिन अमेरीका के अनेक देशों के विरुद्ध औस का एक औजार के रूप में दुरुपयोग किया है, इन देशों ने अमेरीका के प्रस्ताव को नहीं माना (सेलने फ्रे—वूटर्स, 1969)। अमेरीका ने औस के अंदर नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में होने के कारण उसने संगठन का प्रयोग अपने हितों के लिए किया है और उसने अपनी इन कार्यवाहियों को राष्ट्र संघ की 'छानबीन' से भी बचा लिया (ऐ. लेरौये बेनट्ट, 1930)।

1954 के ग्वेटमाला, 1960 एवं 1965 में दोमिनीकन रिपब्लिक, 1960-62 के क्यूबा तथा 1990 में पनामा के मामलों में संयुक्त राज्य अमेरीका का हस्तक्षेप संदिग्ध प्रकृति की जाने वाली कार्यवाही हैं, परंतु इन कार्यवाहियों को न केवल औस से अधिकृत की जाने के बहाने किया गया बल्कि संयुक्त राष्ट्र के संदर्भों का भी दुरुपयोग हुआ। ऐ. लेरौय बेनेट्ट के अनुसार, बहुत से लैटिन अमेरीकी देशों ने "उत्तर के साम्राज्य" के तरीकों का विरोध किया है क्योंकि सामूहिक "शांति बनाए रखने" की कार्यवाहियों के बहाने आंतरिक अधिकार क्षेत्र का एक तरफा उल्लंघन किया गया और इन कार्यवाहियों के अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरीका राष्ट्र संघ के उत्तरदायित्व एवं कार्यवाही के क्षेत्र से छुटकारा दिलाने का दावा कर सका।

औस के इस नकारात्मक पक्ष के साथ-साथ यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि कुछ आंतरिक सीमाओं के बावजूद भी संगठन ने बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के कई आंतरिक समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान किया है और इस भाँति से इस संस्था की स्थापना के

पीछे बहुत से लक्ष्यों में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति हो गई। सदस्य देशों के बीच जिन महत्वपूर्ण झगड़ों का हल औस द्वारा किया गया वे इस प्रकार हैं–1948-49, 1955-56, 1959 में कोस्टारिका और निकारगुआ 1960-61 में दोमिनीकन रिपब्लिक एवं वेनजुएला, 1963-64, 1967 में वेनजुएला एवं क्यूबा, 1950 में दोमिनीकन रिपब्लिक एवं हैती का और 1964 में पनामा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का। इन सबके साथ-साथ औस ने इस क्षेत्र की आर्थिक एवं सामाजिक दरिद्रता को दूर करने के लिए भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

10.5.2 नाटो

रिओ पैक्ट के समय ही उत्तरी अटलांटिक संधि हुई (अप्रैल, 1949)। शीघ्र ही अचानक संधि का प्रसार एक संगठन की ओर हो गया। इस "संधि क्षेत्र" में सभी सदस्य देशों और यूरोप तथा उत्तरी अमेरीका को जोड़ने वाले अटलांटिक महासागर के भाग, परस्पर व्याप्त औस संधि क्षेत्र के भूभाग सम्मिलित हैं। पारंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड, बेल्जियम, लुजेम्बर्ग, आइसलैंड, इटली, पुर्तगाल, डेनमार्क, स्वीडन और नार्वे इसके सदस्य थे। बाद में 1951 में टर्की तथा यूनान को इसमें शामिल कर लिया गया जबकि पश्चिमी जर्मनी को इसमें 1955 में सम्मिलित किया गया। 1965 में राष्ट्रपति दि गौल ने फ्रांस को नाटो से अलग कर दिया लेकिन स्वयं में संधि को नकारा नहीं गया। यद्यपि अब इसके प्रभाव में कमी आई है, लेकिन नाटो ने अपने प्रारंभ के दिन से आज तक पश्चिमी यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरीका के बीच आर्थिक, राजनीतिक एवं सैनिक मामलों में एकता की ओर मजबूत करने में योगदान किया है।

नाटो की धारा 5, 1949

सभी दल यह सहमति करते हैं कि यूरोप या उत्तरी अमेरीका में किसी एक या अधिक पर होने वाले सैन्य आक्रमण को उन सभी के विरुद्ध आक्रमण माना जाएगा। और इसके फलस्वरूप वे यह सहमति करते हैं, यदि इस भाँति का सैन्य आक्रमण होता है, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की "धारा 51 के द्वारा मान्यता प्रदान किए गए व्यक्तिगत या सामूहिक आत्म-रक्षा के अधिकार का प्रयोग करते हुए उनमें से प्रत्येक व्यक्तिगत रूप से और दूसरे दलों की सहायता की जाएगी जिससे तत्काल आक्रमण का सामना किया जा सके, सैन्यशक्ति के प्रयोग को सम्मिलित करते हुए इस प्रकार की कार्यवाही पर विचार करना आवश्यक है जिससे कि उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की सुरक्षा को पुनः स्थापित किया एवं बनाए रखा जा सके।"

नाटो की स्थापना, (अ) पश्चिमी देशों की सुरक्षा के लिए रूसी खतरे को महसूस किए जाने, (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व के अंतर्गत एक साथ इन यूरोपीय देशों को आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से लाने की आवश्यकता और (स) अटलांटिक के उस पार अमेरिका के लिए, या यूरोप के लिए या फिर भविष्य की विश्व व्यवस्था के लिए "सामुदायिक भावना" को निर्मित करने जिसे कारणों से की गई। तत्कालिक प्रोत्साहन ट्रूमैन सिद्धांत (यूनान को सैनिक सहायता प्रदान करना आदि जैसे कार्यक्रम), मार्शल योजना (पश्चिमी यूरोपीय देशों की आर्थिक सहायता) और कोरिया युद्ध तथा बर्लिन की नाकेबंदी जैसी घटनाओं से उत्पन्न हुआ। कुल मिलाकर ये सभी एक ऐसी व्यापक योजना के अंग थे जिसका प्रारंभ संयुक्त राज्य अमेरिका के नेताओं के द्वारा सरकार के अंदर तथा बाहर से सोवियत संघ या साम्यवाद के खतरे को "रोकने" के लिए किया गया था। अन्य दूसरी संस्थाओं की भाँति ही नाटो ने भी अपनी स्वयं की एक कार्यव्यवस्था को विकसित कर लिया और इसका विकास इसके निर्माताओं की आशाओं से भी अधिक गति से हुआ। जिस पृष्ठभूमि में तथा जिस समझौते के मसौदे से इसका जन्म हुआ था उससे स्पष्ट है कि नाटो एक ऐसा सैनिक वाहन है जिसका संचालन संयुक्त राज्य अमेरिका को इसके पश्चिम यूरोपीय सदस्यों के सहयोग एवं स्वीकृति से करना है। यह उन सभी रक्षा समझौतों का भी अग्रदूत था जिनको संयुक्त राज्य अमेरिका अपने स्वयं के नेतृत्व के अधीन क्षेत्रीय आधार पर संपूर्ण "स्वतंत्र विश्व" में निर्मित किया। सेन्टो, सीटो, अन्जुस आदि की स्थापना नाटो के बाद हुई। इस प्रकार के समझौतों या गुटों को बनाने की इतनी अधिक उत्कंठा या इनको व्यापक बहुउद्देश्य करने का इससे पूर्व शायद ही प्रयास किया गया हो। ऐसा समझा गया कि नाटो की सैनिक एवं नागरिक नौकरशाही अपने महत्वपूर्ण वर्षों में संभवतः संयुक्त राष्ट्र से भी अधिक ताकतवर थी। इसका बजट संयुक्त राष्ट्रों से सैकड़ों गुणा अधिक था।

अमेरीकी जनता तथा सरकार नाटो के लिए निश्चित की गई भूमिका के बारे में बहुत स्पष्ट

नहीं थे। अर्नेस्ट हास के शब्दों में, "ऐसा प्रतीत होता है कि नाटो का एक संगठन के रूप में अर्थ एक गठबंधन तथा यूरोप को एक तरफा दी गई अमेरीकी गारंटी है।" कुछ के विचार से नाटो वाशिंगटन में निर्मित एक ऐसी गठबंधनीय व्यवस्था है जो भविष्य के यूरोप की फ्रांसीसी तथा जर्मन अवधारणाओं के विरुद्ध कार्य कर सकती हो।

हम नाटो के विषय में कहना बंद करें, इससे पूर्व यह उद्धृत करना महत्वपूर्ण है कि यह संरचनात्मक तथा कार्यात्मक दोनों ही रूप से जाँचनीय है। इसकी उच्चतम संस्था उत्तर अटलांटिक परिषद् है—इसके अंदर 15 सदस्य देशों के विदेश एवं रक्षा मंत्री सम्मिलित हैं और वे कार्यों को निपटाने तथा मत डालने के लिए वर्ष में दो बार बैठक करते हैं। सदस्य देशों के स्थायी प्रतिनिधियों का पद राजदूतों के समक्ष होता है तथा इसके कार्य का अवलोकन करने के लिए ये सप्ताह में एक बार परिषद् की बैठक करते हैं। परिषद् का अध्यक्ष नाटो का महासचिव ही होता है। परिषद् में निर्णयों को समानता के आधार पर लिया जाता है। और वे एक मत से होते हैं तथा यहाँ पर उन छोटे सहयोगियों को भी लाभ प्रदान किया गया है जिन पर सदा नेता के द्वारा दबाव नहीं डाला जा सकता। ऐसा तर्क दिया गया है कि नाटो की मजबूती या कमजोरी उन दो अति छोरों पर निर्भर करती है जो अटलांटिक के एक ओर या दूसरी ओर बैठे हुए समस्या का अवलोकन करते हैं। यदि यूरोप के देशों का प्रभाव नाटो पर अधिक प्रभावकारी होता है तब संयुक्त राज्य अमेरिका जनता का अनुचित चिल्लाना उचित ही है और यदि ठीक इसके विपरीत अमेरीका का प्रभाव अधिक हो जाता है, तब नाटो के यूरोप के सहयोगी देश यह कहेंगे कि नाटो अमेरीका के साहसिक घोड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पिछले कुछ समय से सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच तेजी के साथ संबंधों में बदलाव आ रहा है, जिसके फलस्वरूप कम्युनिस्ट साम्यवाद के विरुद्ध नाटो की सैनिक-राजनीतिक शक्ति में कुछ कमजोरी आई है। पूर्वी एवं पश्चिमी यूरोपीय देशों के बीच हुए हथियार नियंत्रण समझौतों और प्रतिबंधों में कमी के फलस्वरूप नाटो के साथ-साथ वारसा समझौते भी अनुपयोगी एवं व्यर्थ स्थिति तक पहुँच गए हैं। अक्टूबर 1990 में जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया से यह सुनिश्चित हो गया है कि यूरोप के ये दोनों एक दूसरे विरोधी सैनिक क्षेत्रीय संगठन मृतप्राय हो जाएँगे। हालांकि, कोई भी आशंका नहीं कर सकता कि जब इन दोनों का अंत हुआ तो इन दोनों क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों ने कोई योगदान ही नहीं किया। वास्तव में इन दोनों ने अपनी भूमिका का निर्वाह किया है और उत्तर-शीत युद्ध में सैनिक संगठनों की अपेक्षा ये राजनीतिक रूप से निरंतर अपनी भूमिका का निर्वाह करते रहेंगे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
2) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों के प्रारूपों के साथ करें।

1) औस तथा नाटो के अंतर्गत जो भिन्न-भिन्न क्षेत्र आते हैं, उनकी पहचान करिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) औस तथा नाटो को बनाने के लिए किसने प्रोत्साहित किया?

.....

.....

.....

.....

3) क्या वे अपने अधिकार क्षेत्र में एक समान थे?

.....

.....

.....

.....

4) संयुक्त राष्ट्र को जबाबदेही से औस ने स्वयं को कैसे बचाया?

.....

.....

.....

.....

5) नाटो को निश्चितता से एक क्षेत्रीय सुरक्षा संगठन क्यों नहीं माना जाना चाहिए?

.....

.....

.....

.....

10.5.3 सीटो

संयुक्त राज्य अमेरीका के नेतृत्व में हमारे अपने क्षेत्र में 1954 में क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था की स्थापना की गई और इसने भारत के हितों को गंभीरता से प्रभावित किया—इसको दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि संगठन कहा गया है (सीटो)। पहली बार शीत युद्ध को, जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच विद्यमान था, भारतीय उप-महाद्वीप में ला दिया गया। जैसा कि भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने संसद में कहा कि सीटो पाकिस्तान के लिए लाभकारी है (राजनीतिक तथा आर्थिक सहायता के साथ-साथ अति आवश्यक सैन्य सहायता पाकिस्तान प्राप्त कर रहा है, जिसकी उसको संयुक्त राज्य अमेरिका से अति आवश्यकता थी) तथा भारत के लिए हानिकारक (शीत युद्ध के बुखार को प्रवाहित करके भारत के विरुद्ध पाकिस्तानी आक्रमणकारिता को प्रोत्साहित किया जा रहा है) यहाँ पर एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सीटो को एक क्षेत्रीय सुरक्षा पैक्ट के रूप में कैसे व्यवस्थित नहीं किया गया? इसका एक कारण यह था कि इस समझौते के अंतर्गत एक समान भौगोलिक क्षेत्र को नहीं लिया गया था (व्यवहारिक तौर पर यह ईरान से पाकिस्तान होकर फिलीपीन्स तक फैला था) और दूसरे इसका कोई शक्तिशाली शत्रु भी न था, एक ऐसा वास्तविक या शक्तिशाली शत्रु जो समझौते के सभी सहयोगियों का एक समान हो। जैसा कि अमेरीका राज्य सचिव जॉन डूलेज ने प्रचारित किया था कि साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए पाकिस्तान के रूप में विश्वसनीय और महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया था लेकिन पाकिस्तान के प्रधानमंत्री चौधरी मोहम्मद अली ने बाडुंग सम्मेलन में चीनी प्रधानमंत्री चाउ-एन-लाई से कहा भी था कि पाकिस्तान को साम्यवादी चीन से कोई शत्रुता नहीं है परंतु वह सीटो के भिन्न उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को मस्तिष्क में रखते हुए सम्मिलित हुआ है अर्थात्, इसका तात्पर्य भारत से है। फिर भी, पाकिस्तान को जिस सहायता की उस समय अमेरिका से जरूरत थी उस सबको प्राप्त कर लेने के बाद वह सीटो का विरोधी हो गया और 1972 में उस समय उसने अपनी संबंधता को इससे निरस्त कर दिया जबकि उसने यह देखा कि 1965 तथा 1971 के भारत के साथ संघर्षों में अमेरीकी हथियार उसकी पर्याप्त रक्षा करने में असफल रहे थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी इसके विरुद्ध जवाबी कार्यवाही नहीं की तथा अपनी सहायता को अन्य कारणों से निरंतर जारी रखा जिसके बारे में यहाँ पर बहस नहीं की जा सकती।

फिर, यह रेखांकित करने के लिए महत्वपूर्ण है कि यह औस एवं नाटो के समान न था, सीटो में स्पष्ट लक्ष्यों व उद्देश्यों का अभाव था तथा इसमें संरचनात्मक एवं कार्यात्मक क्षमता भी न थी। 1960 के दशक के अंत में सीटो की असफलता उस समय स्पष्ट हुई जब वियतनाम में अमेरीका के युद्ध प्रयासों को राजनयिक तथा सैनिक समर्थन के प्रश्न पर इसके सहयोगी देशों (समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले) को सहयोग प्रदान करना था या नहीं। आठ सदस्य देशों में से मात्र चार देशों ने (आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, थाइलैंड और फिलिपीन्स) संयुक्त राज्य अमेरिका की इच्छा पर दक्षिणी वियतनाम की मदद की। फ्रांस, वियतनाम में अमेरीकी नीति से असहमत था, जिससे कि उसने स्वयं को 1966 में वियतनाम के प्रश्न पर होने वाली सीटो की कार्यवाहियों से अलग कर लिया। पाकिस्तान न

केवल अमेरीकी वियतनाम नीति से असहमत था बल्कि उसने वियतनाम के साथ शांति करने की मांग की। प्रधानमंत्री विल्सन हेराल्ड के नेतृत्व में ब्रिटेन ने उत्तरी वियतनाम के हनोई और हैफोंग में स्थित तेल भंडार पर अमेरीका के साथ मिलकर बमबारी करने के लिए सहमति दी। अमेरीका के लिए यह बड़ी ही दुःखदायी कहानी थी, क्योंकि कठोर नीति निर्धारकों ने अपने स्वयं के विदित प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध एक दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी एशियाई ढांचे की वकालत की। सीटो अब एक घायल संगठन है।

कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय संगठन

नाम	संक्षिप्त नाम	स्थापना वर्ष
अरब लीग	—	1945
अमेरीकी देशों का संगठन (प्रारंभ में, अमेरीकी रिपब्लिकों का अंतर्राष्ट्रीय प्रकरण)	औस (ईयौर)	1948 1890
उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन	नाटो	1949
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा संधि संगठन	अन्जूस	1952
दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक रक्षा संधि संगठन		
वारसा संधि संगठन	वारसा संधि	1955
केंद्रीय संधि संगठन (पहले बगदाद समझौता)	सेन्टो	1959 (1955)
अफ्रीका एकता संगठन	औयू	1963
क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोशिएशन	सार्क	1985

10.5.4 वारसा पैक्ट

संयुक्त राज्य अमेरिका, लैटिन अमेरिका, यूरोप एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के बाद अब हम सोवियत संघ के विषय में बताएँगे कि ऐतिहासिक रूप से रूसियों को अपने पश्चिम अर्थात् पूर्वी यूरोप की ओर से आक्रमण का भय बना रहता है। इस प्रकार का अंतिम आक्रमण 1941 में जर्मनी के शासक हिटलर की नाजी सेनाओं ने लाल सेनाओं पर किया था और पहले कुछ महीनों के लिए नाजी सेनाओं ने सोवियत संघ पर एक आसान-सी विजय हासिल कर ली थी। 1945 में जर्मनी की पराजय के बाद भी सोवियत संघ के नेतागण इससे व्याकुल थे कि कहीं बदले की भावना से जर्मनी पुनः उनके देश पर आक्रमण न कर दे और दूसरे, उनको यह भी चिंता थी कि "स्वतंत्र दुनिया" का गठबंधन अमेरीकी नेतृत्व में अपने पश्चिमी यूरोपीय सहयोगियों की सहायता से उस क्षेत्र में साम्यवाद के प्रभाव को रोकने या उसको पलटने के लिए भी आक्रामक कार्यवाही कर सकता था। नाटो की स्थापना, जिसका संचालन अमेरीका ने सोवियत संघ के प्रसारवाद को जकड़ने के लिए किया, ने मास्को को यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि वह अच्छी प्रकार से रक्षात्मक कार्यवाही को करे। 1955 में पश्चिमी जर्मनी के नाटो में शामिल हो जाने के पश्चात् सोवियत संघ के पास कोई विकल्प नहीं रह गया था सिवाय इसके कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप के खतरे के विरुद्ध वह अपनी सुरक्षा के अधिकार को बनाए। वारसा में यूरोप के साम्यवादी देशों के बीच एक संक्षिप्त बातचीत के बाद 14 मई, 1955 को पौलैंड की राजधानी वारसा में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साथ साम्यवादी देशों अर्थात् पौलैंड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, अलबेनिया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया और बल्गेरिया के बीच आपसी सहयोग के समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। कम से कम कागजों पर ऐसा प्रतीत होता था कि वारसा संधि संगठन नाटो के लिए एक जवाबी कार्यवाही थी, विशेषकर उस समय जबकि दोनों के विवरण की शब्दावली में बहुत से शब्द समान दिखाई पड़ते थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मास्को वाशिंगटन की चाल को उलटा करता प्रतीत होता था और कुल मिलाकर इसी कारणवश ऐसा था भी। फिर भी, नाटो तथा वारसा के क्षेत्रीय सुरक्षा की व्याख्याओं में काफी अंतर है।

प्रथम, दोनों के स्वरूपों में असमानता है, जबकि नाटो एक सैन्यात्मक तथा अटलांटिक पार संगठन है परंतु, वारसा संधि संगठन जमीन से जुड़े राज्यों के आपसी मित्रतापूर्ण समझौतों की शृंखलाओं का परिणाम था और इन सभी देशों पर एक ही दिशा में निर्देशित साम्यवादी दल का शासन था। दूसरे, संरचनात्मक रूप से वारसा संगठन अधिक केंद्रीकृत था और इसकी बैठकें कभी-कभी तथा पूर्ण रूप से गुप्त होती थीं। इसके दो महत्वपूर्ण अंग हैं: एक नागरिक अधिकारियों के अधीन या (दल के उच्च अधिकारियों, विदेशी और रक्षा मंत्रियों)

और यह नीहित निर्धारण के महत्वपूर्ण निर्णयों को करती थीं। दूसरे अंग में सेना के सर्वाच्च अधिकारी थे, जो वारसा के सैन्य बलों का एकीकृत रूप से नेतृत्व करते थे। तीसरे, व्यवहार एवं कार्यप्रणाली में नाटो का वाशिंगटन की ओर जो झुकाव था, उसकी तुलना में वारसा का मास्को की ओर से कहीं अधिक झुकाव था। वास्तव में, वारसा सैन्य बलों को कई बार मास्को के द्वारा हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पौलैंड में जन विद्रोहों को कुचलने तथा दमन करने के लिए लागू किया गया। वारसा मित्र देशों के संयुक्त सैन्य बलों का प्रयोग विदेशी शत्रु या हस्तक्षेपकर्त्ता के विरुद्ध करने के स्थान पर उनका प्रयोग आंतरिक असंतोष को दबाने के लिए किया गया और इसके बावजूद भी इसको क्षेत्रीय या सामूहिक सुरक्षा संगठन माना जाता रहा। चौथे, वैधानिक दृष्टिकोण से भी वारसा पैक्ट का आधार नाटो से भिन्न प्रकार का था। संयुक्त राज्य अमेरीका तर्क प्रस्तुत करता है कि यद्यपि उसको अधिकतर गलत ढंग से रखा जाता, किंतु संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में नाटो तथा अन्य संगठनों को संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51 के अंतर्गत उपायों के रूप में ही बनाया गया है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि न तो औस को और न ही नाटो को तथा न इस प्रकार के अन्य संगठनों को ठीक से, "सामूहिक आत्म-रक्षा उपायों" के शीर्षक के अंतर्गत रखा जा सकता है। न तो इन संगठनों को बनाने में संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51 के अनुच्छेद की आवश्यकता है न तो उन सबको संगठनों में समावेशित किया गया है और न ही, इनका राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के प्रति कोई उत्तरदायित्व है। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका के दावे को या फिर आत्म-हित के तर्क को यह कहते हुए स्वीकृत कर लिया जाता है कि धारा 51 के अंतर्गत यह उचित है परंतु, यह संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सातवें अध्याय 8 के अंतर्गत असफल हो जाएगा। यह महत्वपूर्ण है कि वारसा पैक्ट संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की भिन्न धाराओं तथा अध्यायों पर आधारित है। ये धाराएँ हैं: क्षेत्रीय व्यवस्थाओं पर अध्याय आठ की धारा 53 और परिवर्तनीय सुरक्षा व्यवस्थाओं पर सातवें अध्याय के अंतर्गत धारा 107। बाद के इन प्रावधानों के अंतर्गत (धारा 53 तथा 107) क्षेत्रीय संगठनों को सुरक्षात्मक गतिविधियाँ प्रारंभ करने से पूर्व सुरक्षा परिषद की अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता है। (धारा 107 में विशेषकर सैनिक गतिविधियों के पुराने युद्ध शत्रु अर्थात् जर्मनी के द्वारा पुनर्जीवित करने की स्थिति पर विचार किया गया है), जबकि इससे पूर्व की धारा 51 संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देश के आत्म-रक्षा के अंतर्निहित संप्रभु अधिकार के विषय में विवरण देती है और सुरक्षा परिषद के सम्मुख मामला जाने से पूर्व भी सदस्य देश व्यक्तिगत या सामूहिक सैन्य उपायों से स्वयं की रक्षा कर सकता है। लेकिन ताकत की राजनीति में इन नियमों का पालन करने के स्थान पर उल्लंघन ही हुआ है। यह उल्लंघन दो बड़ी शक्तियों की अवधारणा के कारण और अधिक हुआ है (जैसा कि वे दोनों संयुक्त राष्ट्र के सर्वोच्च संरक्षक हों) न कि दो विपरीत विरोधों या अचानक मतभेदों के कारण।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
2) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिए प्रारूप उत्तरों के साथ करें।

1) सीटो असफल क्यों थी?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नाटो एवं वारसा पैक्ट में क्या-क्या मुख्य अंतर हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) विश्व के नक्शे पर सीटो, वारसा पैक्ट और नाटो के सदस्य राज्यों की पहचान कीजिए।

.....

.....

.....

.....

10.6 सारांश

ऐसा कहा जाता है कि हलवे के स्वाद को उसके खाने के बाद ही जाना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सभी क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों की कहानियों का सार यह है कि ये वास्तव में क्षेत्रीय सुरक्षा के हितों को पूरा नहीं करते अपितु, उन देशों के हितों को पूरा करने का साधन बन जाते हैं जो इन संगठनों के पीछे मुख्य संचालक होते हैं। यह संयुक्त राज्य अमेरीका तथा सोवियत संघ के उदाहरणों में देखा जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन संगठनों के सदस्य देशों को लाभ प्राप्त होता है परंतु, ये लाभ द्वितीय स्तर के या फिर मिथ्यात्मक होते हैं। कहे जाने वाले इन क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों में कोई एक समान प्रतिमान नहीं हैं, वे अक्सर आर्थिक, राजनीतिक और दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नों से जालबद्ध होते हैं। समय-समय पर इन संगठनों को विश्व या सार्वभौमिक सुरक्षा हितों को प्रोत्साहित करने के साधन के रूप में चित्रित किया गया है और कभी-कभी इनकी यह कहकर प्रशंसा की गई है कि ये उन विश्व संगठनों के विकल्प हैं जिनको आदर्श एवं दुर्गम माना गया है। इन सबके बावजूद भी इस आशंका में कुछ सच्चाई भी है कि "यूरोपीय सुरक्षा" इसके लिए किसी अन्य क्षेत्र की भी सुरक्षा "सार्वभौमिक सामूहिक सुरक्षा" के नये सिद्धांतों की संयुक्त राष्ट्र के द्वारा की गई परिकल्पना की तुलना में अधिक आधारित है।" "(इलटन औटवाटर, केन्ट फोर्स्टर और जान एस. प्राइबल, 1967)। कुछ अधिक निराशाजनक रूप में न कि कुछ अधिकार के साथ इनिस क्लोवे जूनियर निराशाजनक रूप से समापन करते हुए कहता है: "क्षेत्रीय अभिकारकों की भूमिका से संबंधित राष्ट्र संघ चार्टर की मूलभूत अवधारणाओं को तोड़ डाला गया है। इस प्रकार के अभिकारकों के न नकारात्मक और न ही सकारात्मक उपयोग सुरक्षा परिषद के द्वारा किये गये हैं और यही हाल के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की महत्वपूर्ण विशेषता हो गई है" (1964)।

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

इनिस एल. क्लोडे जूनियर, 1971, **सोर्डस इन्टू प्लोशेयर्स: वि प्रोब्लेम्स एंड प्रोग्रेस ऑफ इंटर नेशनल ऑर्गनाइजेशन**, रेंडॉम, लंदन।

- - - , - - - , - - - ,1962, **पावर एंड इंटरनेशनल रिलेशन्स**, रेण्डम हाऊस, लंदन।

ए. लैरौय बैन्नेट्ट, 1988, **इंटरनेशनल ऑर्गनाइजेशन प्रींसिपल्स एंड इसूज**, प्रिन्टिक हाल, उनग्ले वूड विलिफ्फस।

रिचार्ड ए. फॉक एंड राइरिल ई. ब्लैक (संपादन), **वि फ्यूचर ऑफ इंटरनेशनल लीगल ऑर्डर**, प्रिंसटॉन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटॉन।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) बड़ी शक्तियों की ओर से युद्ध विरोधी उपायों को लागू करना एक पवित्र इच्छा बनी रही परंतु इसको व्यावहारिक रूप में परिवर्तित नहीं किया गया। उचित नियमों को बनाया नहीं गया, कोई सैनिक सहायता प्रदान नहीं की गई, उल्लंघन करने वालों के

विरुद्ध गंभीर आर्थिक प्रतिबंध लगाए ही नहीं गए और हमलावर अपने प्रहारों के साथ आक्रमण करते रहते हैं।

2) वीटो-पावर को बड़ी शक्तियों को नकारात्मक रूप से इस भाँति कार्य करने के लिए दिया गया कि कोई भी बड़ी शक्ति सबकी इच्छाओं के विरुद्ध कार्य न कर सके। सुरक्षा परिषद को शांति स्थापित करने के लिए सेना को तैनात करने का जो उत्तरदायित्व दिया गया था, वह कुछ जटिल समस्याओं को हल करने में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था अपने सभी सदस्यों के बीच गहन एवं उन्मुक्त परामर्श को काफी प्रोत्साहित करती है। राष्ट्र संघ की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र लगभग संपूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व करता है।

3) धारा 51 विशेष रूप से सदस्य देशों के आत्म-रक्षा के संप्रभु अंतर्निहित अधिकार को व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से उपयोग करने की मान्यता प्रदान करती है। इस प्रकार किए गए उपाय की सूचना सुरक्षा परिषद को देनी होती है और सुरक्षा परिषद के निर्णय के द्वारा इसका अनुमोदन हो जाने पर इसको आगे की कार्यवाही के रूप में लागू किया जा सकता है।

धारा 52 क्षेत्रीय संगठनों की स्थापना का विवरण करती है। इनको चार्टर के उद्देश्यों एवं सिद्धांतों के अनुसार की गई कोई भी कार्यवाही उस क्षेत्रीय क्षेत्र के लिए उचित होनी चाहिए। क्षेत्रीय संगठनों की सीमाओं के अंतर्गत झगड़ों के शांति पूर्ण समझौतों को प्रोत्साहित किया जाए।

धारा 53 सुरक्षा परिषद को अधिकृत करती है कि किसी भी क्षेत्रीय सुरक्षा संगठन की सेवाओं का उपयोग करते हुए, वह जिस कार्यवाही को उचित समझे उसे लागू करे।

बोध प्रश्न 2

1) औस : अमेरीकी गोलार्द्ध और अटलांटिक महासागर।
नाटो : अमेरीकी भू-भाग और बीच में अटलांटिक महासागर के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप।

2) दिखावटी रूप में "आत्म-सहायता" की भावना और संयुक्त राष्ट्र सिद्धांतों लेकिन वास्तव में साम्यवादी प्रभाव के प्रसार तथा सैनिक आक्रमण तक का भय। आर्थिक सुधार के दूसरे स्तर के लक्ष्य भी थे।

3) दोनों में संयुक्त राज्य अमेरीका की उपस्थिति के साथ-साथ अटलांटिक महासागर उन दोनों में समान रूप से विद्यमान है।

4) (अ) औस के द्वारा की गई किसी भी सैनिक कार्यवाही को शांति बनाए रखने का कार्य कहे जाने पर सुरक्षा परिषद् की जाँच से बचा जा सकता है। (ब) औस के निर्माण को धारा 52 की अपेक्षा धारा 51 के अंतर्गत उचित ठहराया गया, और (स) संयुक्त राज्य अमेरिका यह सुनिश्चित करता है कि वह सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग करके औस की कार्यवाही को सुरक्षा परिषद् के निरीक्षण से बचा जा सकता है।

5) नाटो को संयुक्त राष्ट्र चार्टर की धारा 51 एवं धारा 52 के अंतर्गत बनाया गया। इसके अतिरिक्त, यह किसी एक क्षेत्र का भी निर्माण नहीं करती।

बोध प्रश्न 3

1) सीटो का कोई एक सहमत समान शत्रु नहीं है, कुछ अपना शत्रु सोवियत संघ को मानते हैं, कुछ चीन को, कुछ वियतनाम को और कुछ भारत आदि को। दूसरे, यह सम्विदा या एकाताबद्ध क्षेत्र न था।

2) उनकी इस इकाई के भाग 1.5.4 के अंत में उद्धृत किया गया है।

3) इसको स्वयं करें।

इकाई 11 राष्ट्र संघ

इकाई की रूपरेखा

11.1 उद्देश्य
11.2 प्रस्तावना
11.3 राष्ट्र संघ की स्थापना
11.4 राष्ट्र संघ के उद्देश्य एवं लक्ष्य
11.5 राष्ट्र संघ का संगठन
  11.5.1 सभा
  11.5.2 परिषद्
  11.5.3 सचिवालय
  11.5.4 अधिकार-पत्र व्यवस्था
  11.5.5 अंतर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय
11.6 राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ
  11.6.1 संघर्ष का निराकरण
  11.6.2 अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन
11.7 राष्ट्र संघ का मूल्यांकन
  11.7.1 राष्ट्र संघ में संवैधानिक कमी
  11.7.2 संयुक्त राज्य अमेरिका की सदस्यता का न होना
  11.7.3 मूल्यांकन
11.8 सारांश
11.9 शब्दावली
11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.1 उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अभी हाल के इतिहास में 1918-1939 के बीच का वर्ष महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है। युद्ध की चिन्ताएँ, शांति के भविष्य को लेकर उत्तेजना, आशाओं की हताशा और बार-बार युद्ध का दोहराना, इस संक्षिप्त समय में एक-दूसरे के बाद ये सब होता रहा। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको ज्ञात हो जाएगा :

- उन अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों का जिनमें राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई,
- राष्ट्र संघ के उद्देश्यों, लक्ष्यों एवं सरंचना का,
- राष्ट्र संघ की सापेक्ष सफलताओं तथा असफलताओं का, और
- राष्ट्र संघ के महत्व का।

11.2 प्रस्तावना

राष्ट्र संघ मानव इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। युद्धों को रोकने और सभी के लिए सामूहिक सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिए, अंतर्राष्ट्रीय स्तर को मानव के द्वारा स्थापित यह प्रथम महत्वपूर्ण संस्था थी। यद्यपि, यह अपने प्रतिज्ञाबद्ध उद्देश्यों में पूर्णरूपेण सफलता प्राप्त न कर पायी, लेकिन यह महत्वपूर्ण प्रयोग, मानव जाति की आगामी पीढ़ियों के लिए एक संपन्न एवं लाभदायक अनुभव छोड़ गयी।

11.3 राष्ट्र संघ की स्थापना

20वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों ने यूरोप के राष्ट्रों को भयंकर तनावों की चपेट में देखा। युद्ध असंभावी प्रतीत होता था, और जिस समय वास्तविक रूप में युद्ध छिड़ गया, तब कोई भी

राष्ट्र स्वयं को असुरक्षित स्थिति में रखना नहीं चाहता था। अंत में हथियारों को पूरी व्याकुलता के साथ प्राप्त किया गया। एक समान विचार वाले राष्ट्र समान खतरे को समझकर एक पग आगे बढ़ गए, उन्होंने रक्षा संधियाँ संपन्न कीं और इस प्रकार के गठबंधन बनाए यदि किसी एक पर आक्रमण होता है तब शेष उसकी सहायता को पहुँच सकें। इन गठबंधनों में सबसे प्रसिद्ध त्रिराष्ट्रीय गठबंधन था, जो जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया तथा इटली के बीच हुआ था। त्रिगुट संधि ब्रिटेन, रूस तथा फ्रांस के बीच हुई। जर्मनी ने संधि के उत्तरदायित्वों के प्रति संकीर्णता एवं अपमानपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए अपने-स्वयं के गठबंधन से सहयोगियों को दबोच लिया और इसको अवशोषित करा लिया।

इन प्रवृत्तियों को यूरोप और दूसरे स्थानों पर शांतिविदों तथा राजनेताओं ने एक गंभीर चुनौती के साथ देखा। सरकार, नेतागणों के साथ-साथ अन्य व्यक्तिगत समूहों ने शांति को बनाए रखने तथा झगड़ों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा करने के लिए अनेक योजनाओं को प्रस्तुत किया। इस संदर्भ में तत्कालीन प्रस्ताव संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की ओर से प्रस्तुत किया गया और इसी ने राष्ट्र संघ की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त किया।

जनवरी, 1918 में वुडरो विल्सन ने कांग्रेस को संबोधित करते हुए अपने प्रसिद्ध "चौदह सूत्रों" को प्रस्तुत किया। ये अमेरिकी सरकार के युद्ध उद्देश्य भी थे। इन "चौदह सूत्रों" के आखिरी सूत्र में निम्नलिखित शब्दों राष्ट्र संघ के निर्माण की परिकल्पना की गई थी:

"छोटे-बड़े राष्ट्रों की समान रूप से राजनीतिक स्वतंत्रता तथा क्षेत्रीय अखंडता की आपसी गारंटियाँ देने के उद्देश्य के लिए विशेष प्रसंविदाओं के अंतर्गत राष्ट्रों के एक आम संघ की स्थापना की जानी चाहिए।"

विल्सन के इन "चौदह सूत्रों" में कुछ मामूली परिवर्तन करके इनको मित्र शक्तियों के युद्ध उद्देश्यों के रूप में मान लिया गया। इस प्रकार, मित्र राष्ट्रों की सरकारों के मुखियाओं ने स्वयं को एक सुरक्षा संगठन की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध कर लिया।

पेरिस शांति सम्मेलन

युद्ध के संभावित अंत को देखते हुए 18 जनवरी, 1919 को पेरिस में एक शांति सम्मेलन बुलाया गया। यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें कहा गया कि राष्ट्र संघ के लिए योजनाएँ शांति संधियों का एक अखंड भाग होंगी, और राष्ट्र संघ के संविधान का एक विस्तृत मसौदा तैयार करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की जाएगी। मसौदा तैयार करने वाले 19 सदस्य आयोग का अध्यक्ष राष्ट्रपति विल्सन को बनाया गया और इस आयोग में दो सदस्य विश्व की बड़ी शक्तियों तथा नौ को प्रत्येक छोटे राज्यों से लिया गया था। आयोग की योग्यतापूर्ण सहायता संयुक्त राज्य अमेरिका के डेविड हंटर मिलर तथा ब्रिटेन के सेसिल हर्स्ट के द्वारा की गई। इस आयोग ने प्रतिज्ञापन का संयुक्त मसौदा प्रस्ताव तैयार किया और यह भविष्य में की जाने वाली कार्यवाही के लिए काम करने लायक दस्तावेज हो गया।

फरवरी 1919 के मध्य तक आयोग का प्रतिज्ञा-पत्र मसौदा तैयार था। तब इसको तटस्थ तथा छोटे देशों के प्राथमिक सम्मेलन के सम्मुख टिप्पणियों एवं सुझावों के लिए रखा गया। विल्सन ने सोचा कि अपने देश में वापस लौटकर अपनी जनता की प्रतिक्रिया को इस समय जानना उपयोगी रहेगा। राष्ट्र संघ के विचार पर संयुक्त राज्य अमेरिका में एक मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। इस विचार का विरोध करने वालों में सीनेट के बहुत से सदस्य प्रमुख थे और इन सदस्यों ने प्रतिज्ञा-पत्र में बहुत से सदस्यों ने संशोधनों को सम्मलित करने के लिए दबाव डाला। उनमें निम्न अधिक महत्वपूर्ण थे:

1) प्रतिज्ञा-पत्र उत्तरदायित्वों के साथ मुनरो सिद्धांत की अनुरूपता को विशेष रूप से उद्धृत किया जाए,
2) राष्ट्र संघ की सदस्यता को छोड़ने के अधिकार को मान्यता,
3) उन मामलों के सिवाय जिनको प्रतिज्ञा-पत्र या शांति संधि की शर्तों द्वारा मुक्त रखा गया हो, मत डालने की आवश्यकता में सर्वसम्मति को अनिवार्य किया जाए,
4) घरेलू समस्याओं में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध रक्षोपाय किये जाएँ।

कुछ दूसरे मामूली सुधारों के साथ-साथ आयोग इन सुझावों को शामिल करने के लिए सहमत हो गया। प्रतिज्ञा-पत्र के अंतिम मसौदे को 28 अप्रैल, 1919 को शांति सम्मेलन के प्राथमिक अधिवेशन के सम्मुख रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्र तथा समर्थित समझौतों को

सर्वसम्मति से पारित कर दिया गया। कार्यवाहक महासचिव सर एरिक ड्रू मॉण्ड के सचिवालय कर्मचारियों को भर्ती करने तथा राष्ट्र संघ अंगों के अधिवेशनों को उद्घाटित करने के कार्य को तैयार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। अस्थायी मुख्यालय को लंदन में स्थापित किया गया। राष्ट्र संघ ने 10 जनवरी, 1920 को औपचारिक रूप से कार्य शुरू कर दिया।

11.4 राष्ट्र संघ के उद्देश्य एवं लक्ष्य

राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में एक प्रस्तावना और 26 धाराएँ निहित थीं और इनमें उन उच्च आदर्शों को लिखा गया, जिनका इसने समर्थन किया था।

राष्ट्र संघ की प्रस्तावना से निम्नलिखित सामान्य उद्देश्यों की जानकारी होती है:

1) अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को प्राप्त करना, और
2) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना।

अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति

प्रतिज्ञा-पत्र की 26 धाराओं में से 10 में उन उपायों का विवरण है, जिनके द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त करना है। यद्यपि, प्रतिज्ञा-पत्र ने युद्ध को अवैध घोषित नहीं किया, फिर भी इसका लक्ष्य झगड़ों का शांतिपूर्ण निपटारा करते हुए युद्धों को रोकना था। किसी भी आक्रमणकारी को, जो प्रतिज्ञा-पत्र का उल्लंघन करते हुए युद्ध को शुरू करे, सभी सदस्यों की शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही का सामना करना था।

राज्यों के बीच के झगड़ों को बातचीत के द्वारा निपटाया जाने की बात की गई थी। असफल होने पर, उनको मध्यस्थता, न्यायिक निपटारे या राष्ट्र संघ की परिषद को विचार के लिए देने का प्रावधान था। तब झगड़ाग्रस्त राज्यों को इसके लिए सहमत होना था कि वे कम से कम तीन माह तक युद्ध नहीं करेंगे जब तक कि झगड़े की सुनवाई करने वाली संस्था निर्णय नहीं कर देती। यह याद रखा जा सकता है कि प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 14 ने राष्ट्र संघ को झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के लिए भी अधिकृत किया है।

प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 16 में उस देश के विरुद्ध कार्यवाही को लागू करने का प्रावधान है, जो आक्रामक हैं। सामूहिक कार्यवाही के अंतर्गत लगाए जाने वाले प्रतिबंध भी काफी कठोर थे। प्रतिज्ञा-पत्र के उत्तरदायित्वों के उल्लंघन को सभी दूसरे सदस्यों के विरुद्ध युद्ध के कार्य रूप में परिभाषित किया गया। दोषी राज्य को तत्काल एवं पूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक अलगाव की स्थिति में रखना था, और इस पर होने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष खर्च को सभी सदस्य राज्यों द्वारा समान रूप से वहन किया जाना था। इस प्रकार के उपायों को स्वतः एवं अपरिहार्य होना था। परिषद् को ऐसे सैन्य प्रतिबंधों को अनुमोदित करने की शक्ति प्रदान की गई थी, जिसमें एक अंतर्राष्ट्रीय सैन्य बल को राष्ट्रीय योगदान का आवंटन भी शामिल था।

इस विचार से कि युद्धों का कारण मारक हथियारों की आपूर्ति था, राष्ट्र संघ ने यह अनुमोदित करना उचित ही समझा कि सभी राष्ट्रों को राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुरूप सबसे कम बिंदु तक अपने हथियारों को रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा-पत्र के द्वारा प्राइवेट उद्योग के हथियारों के निर्माण की आलोचना की गई और इसको समाप्त करने के प्रयास भी किए।

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना

राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में यह काफी बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया है कि वह संस्था को बहुमुखी एवं बहु उद्देशीय रूप से विकसित करने का इच्छुक है। प्रतिज्ञा-पत्र ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग की आवश्यकता को मान्यता प्रदान की तथा उन क्षेत्रों की पहचान की, जिन पर तुरंत ध्यान देने की जरूरत थी:

अ) स्वयं-शासित न होने वाले देशों को तुरंत राहत देना,
ब) महिला एवं बच्चों के दमन-चक्र को रोकना

स) नशीली दवाइयों के उपयोग को रोकना,
द) हथियारों के व्यापार को रोकना,
ध) सूचनाओं एवं पारगमन की स्वतंत्रता देना,
भ) सभी देशों के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के समान अवसर उपलब्ध कराना,
प) बीमारियों की रोकथाम एवं उन पर नियंत्रण करना।

इन सभी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञा-पत्र ने किसी विशेष तंत्र की व्यवस्था नहीं की। फिर भी, एक या एक से अधिक संगठनों की स्थापना के लिए एक वायदा किया गया था, जिससे कि पुरुषों महिलाओं और बच्चों के लिए श्रम की दूरगामी एवं मानवीय परिस्थितियों को प्राप्त किया जा सके (धारा 23) और वर्साय सौंध के एक भाग के रूप में एक स्वतः अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना की गई।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग आप अपने उत्तर के लिए करें।
2) इकाई के अंत में दिये प्रारूप उत्तर के साथ अपने उत्तर की जाँच करें।

1) वे क्या परिस्थितियाँ थीं, जिनके अंतर्गत राष्ट्र संघ की स्थापना हुई?

.....

.....

.....

.....

2) प्रतिज्ञा-पत्र में उल्लेखित राष्ट्र संघ के उद्देश्य एवं लक्ष्यों का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

11.5 राष्ट्र संघ का संगठन

प्रतिज्ञा-पत्र के द्वारा तीन मुख्य अंगों—सभा परिषद् और स्थायी सचिवालय की रचना की गई। अब हम उनकी बनावट, शक्तियों तथा कार्यों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

11.5.1 सभा

प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 3 इस संस्था के क्षेत्र एवं उद्देश्य को निर्देशित करती है। सभा राष्ट्र संघ का प्रतिनिधित्व अंग थी। इसके अंतर्गत इसके सभी सदस्य थे तथा यह एक स्थायी संस्था के रूप में कार्य करती थी। यह एक राज्य को एक मत देने की व्यवस्था पर आधारित थी। इसकी बैठक [illegible] अंतराल के बाद लगातार या जब भी आवश्यकता पड़ती जनेवा में होती थी तथा जनेवा राष्ट्र संघ का मुख्यालय था।

प्रतिज्ञा-पत्र में सभा की निम्नलिखित शक्तियों एवं कर्त्तव्यों को शामिल किया गया था:

अ) राष्ट्र संघ में सदस्यों को प्रवेश देना,
ब) बजट पर नियंत्रण,
स) परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव करना,
द) परिषद् के सदस्यों के चुनाव एवं काल के बारे में नियमों को बनाना,
ड) संधियों में संशोधन करने के लिए योजनाओं का प्रारंभ करना। सभा छः समितियों का गठन करके अपने कार्य का विकेंद्रीकरण करती थी तथा ये छः समितियाँ—(1) संवैधानिक एवं वैधानिक प्रश्नों (2) तकनीकी संगठनों (3) हथियारों में कमी (4) बजट एवं वित्त (5) सामाजिक एवं मानवीय प्रश्नों, और (6) राजनीतिक प्रश्नों को संपन्न करती थीं।

सभा के कार्यों को सामान्यतः चुनावी, संवैधानिक एवं विचारणीय में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। यह (क) परिषद के अस्थायी सदस्यों को एक वर्ष के लिए, (ख) राष्ट्र संघ के अतिरिक्त सदस्यों, (ग) राष्ट्र संघ के महासचिव, (घ) न्याय के स्थायी न्यायालय के 15 जजों और राष्ट्र संघों के अंतर्गत तकनीकी तथा विशेष समितियों के बहुत से सदस्यों का चुनाव या उनकी नियुक्ति या उनको नामजद या अनुमोदन करना।

सभा के संवैधानिक कार्यों में परिषद् की सहमति से राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में संशोधन करना भी शामिल था। इस उद्देश्य के लिए सभा का साधारण बहुमत पर्याप्त था।

अपनी "विश्व संसद" की स्थिति को बनाये रखने के लिये सभा को विचारणीय कार्यों को भी पूर्ण करना पड़ता था। यह अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने से संबंधित सभी समस्याओं पर विचार करती थी। यह राष्ट्र संघ वार्षिक बजट का भी अनुमोदन करती थी, जिसे सचिवालय के द्वारा तैयार किया जाता था।

11.5.2 परिषद्

राष्ट्र संघ की परिषद् सभा की कार्यकारी समिति थी। प्रतिज्ञा-पत्र ने अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान को परिषद् का स्थयी सदस्य, तथा चार अन्य राष्ट्र संघ के सदस्यों को अस्थायी सदस्य बनाया था। परिषद् को बड़े कठोर उत्तरदायित्वों की एक सूची सौंपी गयी थी। विशेष रूप से, इनको हल करने की आशा की गई थी :

अ) झगड़ों का मैत्रीपूर्ण समाधान,

ब) प्रतिज्ञा-पत्र का उल्लंघन करने वाले सदस्य को राष्ट्र संघ से निष्कासित करना,

स) आज्ञाओं का निरीक्षण करना,

द) सचिवालय के लिये कर्मचारियों की नियुक्तियों का अनुमोदन करना,

भ) राष्ट्र संघ के मुख्यालयों को एक स्थल से दूसरे स्थान को ले जाने का अधिकार,

ध) निःस्त्रीकरण की योजनाओं को बनाना,

न) झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे तथा प्रतिबंधों को लागू करने के लिये तरीकों की संस्तुति करना,

ल) राष्ट्र संघ के किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिये खतरों पर विचार करना।

सभा एवं परिषद् दोनों में वैधानिक विधियाँ

राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 5 निर्दिष्ट करती थी कि सभा एवं परिषद् के निर्णयों को उपस्थित सभी सदस्यों के सहमति की आवश्यकता पड़ती थी। इस सर्वसम्मति का वास्तविक तात्पर्य यह था कि सभा या परिषद् की बैठकों में प्रत्येक सदस्य को किसी भी निर्णय को निरस्त करने का अधिकार था। निश्चय ही इस नियम के कुछ अपवाद भी थे। यह नियम निर्णयों पर ही लागू होता था न कि संस्तुति पर।

परिषद् और सभा को प्रदान की गई सीमित शक्ति के संदर्भ में जैसा कि मुख्यतः स्पष्ट है कि प्रतिज्ञा-पत्र के निर्माताओं ने सभा की अपेक्षाकृत परिषद् पर अधिक बल दिया। लेकिन व्यवहारिक तौर पर सभा पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया (ए. लीरॉय बैनेट, इन्टरनेशनल ऑर्गनाइजेशन, 1980)। अपनी पहली बैठक 1920 से ही सभा ने प्राथमिकता प्राप्त की और प्रभुताओं के स्थापित कर दिया जिससे की परिषद् की अपेक्षा इसका महत्व बढ़ गया। परिषद् की रिपोर्ट को व्यापक बहस, विश्लेषण एवं आलोचना का आधार माना जाता था इसलिये ऐसी मान्यता बन गई कि परिषद् सभा के प्रति उत्तरदायी थी। सभा महासचिव से एक वार्षिक रिपोर्ट के द्वारा अवलोकन करने के लिये भी कहती थी, जिससे कि राष्ट्र संघ की सम्पूर्ण गतिविधियां अपने परिसर के अन्तर्गत आ जाती थीं।

11.5.3 सचिवालय

प्रतिज्ञा-पत्र की धारा 6 के द्वारा राष्ट्र संघ के एक सचिवालय के निर्माण की व्यवस्था की गई थी। इसके सर्वोच्च पदाधिकारी महासचिव, उप-महासचिव और दो सहायक अधीनस्थ

सचिव थे। सचिवालय के पदाधिकारियों का चुनाव महासचिव के द्वारा, "बहुत से राज्यों के बीच पदों के उचित बंटवारे के साथ" व्यवसायिक प्रतियोगिता के आधार पर किया जाता था।

सचिवालय के प्राथमिक कार्य व्यापकता तथा महत्व में काफी विचारणीय थे।

अ) आर्थिक, विधि, राजनीतिक, पारगमन, अल्पसंख्यकों अधिकार पत्रों, निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य आदि समस्याओं के बारे में सूचनाएँ एवं आँकड़े एकत्रित करना।

ब) राष्ट्र संघ के सदस्यों के बीच सम्पन्न हुए अंतर्राष्ट्रीय समझौतों एवं संधियों को पंजीकृत तथा प्रकाशित करना। कोई भी समझौता या संधि तब तक पालनीय नहीं मानी जाती थी, जब तक उसको पंजीकृत न कर दिया जाता था।

यह दावा किया गया कि राष्ट्र संघ को जो सफलता प्राप्त हुई उसका मुख्य कारण स्थायी सचिवालय का कार्य था। परिषद् और सभा के द्वारा किये गये निर्णयों को विस्तृत कार्य रूप देना इसी ने सुनिश्चित किया।

प्रतिज्ञा-पत्र में दिशा निर्देश नियम बना लिये गये थे। ऐसा प्रथम महासचिव, सर एरिक ड्रमौण्ड के प्रयासों की बदौलत हुआ। सर एरिक ड्रमौण्ड ने पूर्ण वफादारी के साथ, 1919 से 1939 के 20 वर्षों तक लगातार संगठन की सेवा की थी। उन्होंने स्वयं को एक राजनीतिक नेतृत्व प्रदान करने वाले की अपेक्षा स्वयं को एक सक्षम प्रशासन उपलब्ध कराने वाले की भूमिका तक सीमित कर लिया था। उन्होंने योग्यतापूर्ण ढंग से राष्ट्र संघ की विभिन्न प्रकार की गतिविधियों में सामंजस्य स्थापित किया, सचिवालय को संगठित एवं निर्देशित किया, परिषद् तथा सभा की सहायक सेवाओं को अन्तिम रूप प्रदान किया और उनके निर्देशों को एक महान नागरिक सेवक की भाँति निष्पक्षता एवं सक्षमता से लागू किया।

11.5.4 अधिकार-पत्र व्यवस्था

अधिकार-पत्र व्यवस्था को यद्यपि अब भूला दिया गया है, लेकिन यह राष्ट्र संघ की इतनी अधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी कि राष्ट्र संघ के द्वारा इसके सभी पक्षों का निरीक्षण किया जाता था। संक्षेप में, इसका तात्पर्य था कि औपनिवेशिक शक्तियाँ स्वयं को संरक्षक समझती थीं, और वे अपने उपनिवेशों को अपनी पैतृक देखभाल के लिये संरक्षित समझते थे। इन शक्तियों को अपने उपनिवेशों या उपार्जनों या संरक्षितों को इस प्रकार से विकसित करना चाहिए था कि वे स्वयं आत्म निर्भरता को प्राप्त कर सकते तथा अति शीघ्र संभावित समय पर स्वतंत्रता को प्राप्त करते। लेकिन किसी भी औपनिवेशिक शक्ति अर्थात्, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा दक्षिण अफ्रीका ने इस उत्तरदायित्व का गंभीरता के साथ निर्वाह नहीं किया। लेकिन उन्होंने प्रतिज्ञा-पत्र की उदृत भावनाओं की अवमानना करते हुए उन सभी ने अपने अधीन जनता का शोषण, दमन तथा नुकसान किया। इराक, लेबनान, टोगोलैण्ड और नामिबिया में अधिकार-पत्र प्रशासन के नाम पर फ्रांस, ब्रिटेन तथा दक्षिण अफ्रीका ने दुष्टतम उपनिवेशवाद का इस्तेमाल किया। परंतु ये उपनिवेशवाद कुछ ही दृष्टांत हैं।

शुमां के शब्दों में, "अधिकार-पत्र का खोखली विडम्बना के रूप में उपहास किया गया, और निराशवादियों तथा कुटिल मनुष्यों ने सभी जगह पर इस व्यवस्था को भेड़ की खाल में छुपे हुए साम्राज्यवादी भेड़ियों का स्वरूप बताकर "पाखण्डी मनुष्य" जैसी गालियाँ दी।"

11.5.5 अंतर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय

एक आभूषण के समान राष्ट्र संघ के जो उपहार अभी भी जीवित हैं उनमें अंतर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय है—अब इसको अच्छी प्रकार से न्याय का अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय कहा जाता है। राष्ट्र संघ की परिषद् ने फरवरी 1920 में प्रस्तावित अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के नियमों का निर्माण करने के लिये 10 महत्वपूर्ण जजों की एक समिति का गठन किया। उनके प्रारूप नियमावली को 1920 में ही पारित कर दिया गया और न्यायालय का अन्ततः 1922 में उद्घाटन हो गया।

अंतर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय में 11 न्यायाधीश तथा 4 उप-न्यायाधीश थे। नियमावली की धारा 9 उद्घोषित करती थी कि संस्था सभ्यता के मुख्य स्वरूपों और विश्व की प्रमुख वैधानिक व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती है। न्यायाधीशों की स्वतंत्रता तथा

निष्पक्षता को सुनिश्चित करने के लिये, उनका चुनाव मध्यस्थ के स्थायी न्यायालय के सदस्यों के राष्ट्रीय समूहों के द्वारा नामजद की गई प्रत्याशी सूची से परिषद् एवं सभा की सहमति से किया गया था। न्यायाधीशों का समय 9 वर्षों का होता था। उनको, उनके साथी न्यायाधीशों के सर्वसम्मति मत के सिवाय और किसी भी प्रकार से नहीं हटाया जा सकता था। नियमावली की धारा 9 ने उनको कूटनीतिक विशेषाधिकार तथा स्वतंत्रताएँ प्रदान की थीं। उनको दुबारा भी चुना जा सकता था। न्यायालय ने हेग में शांति महल से कार्य किया। अंतर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के पास तीन प्रकार के न्यायाधिकार थे—स्वैच्छिक, अनिवार्य और सलाहात्मक। नियमावली की धारा 36 में कहा गया—"न्यायालय के न्यायाधिकार में वे सभी मामले आते थे, जिनको दलों ने इसके पास भेजा और वे सभी मामले जो विशेषकर संधियों तथा कार्यरत परम्पराओं के कारणवश पैदा होते थे।"

निम्नलिखित में सभी वैध मामलों से संबंधित को नियमावली की धारा 36 ने न्यायालय के अनिवार्य न्यायाधिकार में उद्धृत किया :

अ) किसी भी संधि को परिभाषित करना,

ब) अंतर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी प्रश्न,

स) अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध का उल्लंघन,

द) अंतर्राष्ट्रीय अनुबंध के उल्लंघन के लिये हुए नुकसान की भरपाई करना।

इन उपरोक्त मामलों के साथ, न्यायालय उन झगड़ों या समस्याओं के बारे में अपना सलाहात्मक मत दे सकता था, जिनको इसे परिषद् या सभा के द्वारा भेजा गया हो। लेकिन न्यायालय के सलाहात्मक मत को मानने के लिये बाध्यता नहीं थी, लेकिन वैध मामलों में उनको सामान्यतः सम्मान के साथ देखा जाता था।

अंतर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय का अस्तित्व 1922 से 1939 तक कायम रहा और इस काल के दौरान इसने लगभग 80 मामलों को निपटाया। इन मामलों को एक तरफा लागू करने या विशेष समझौते के द्वारा लागू करने के लिये उद्धृत किया गया। इनके साथ-साथ इसने लगभग 30 मामलों में सलाहात्मक मत भी दिया, जिसको कि राष्ट्र संघ परिषद को भेजा गया।

ग्रांट गिलमौर के अनुसार, जो मामले न्यायालय को भेजे गये वे अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण न थे। वे अनाटकीय, कारखाने को चलाने वाले अप्रदर्शनीय ऐसे मामले थे, जिनको किसी भी न्यायालय में अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय में प्राथमिक स्तर हल किया जाता है। वे ऐसे मामले थे, जिनको लागू करने पर राज्यों को कुछ नुकसान होने का डर था।"

11.6 राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ

सब कुछ कहने एवं करने पर, राष्ट्र संघ एक शक्तिशाली संगठन बनने के स्थान पर एक उच्च आदर्श वाला संगठन बन गया। उच्च बोझिल सिद्धांत एवं उद्देश्य समकालीन विश्व के परम्परागत तथा अनुदार राजनेताओं के कारण (कुछ को छोड़कर) ठीक से कार्य न कर पाये। अगर हम इसकी उपलब्धियों का बहुत क्षेत्रों में गूढ़ता के साथ विश्लेषण करें, तब हम इसकी असफलताओं के कारणों का पता लगा सकते हैं।

11.6.1 संघर्ष का निराकरण

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सफलता को इस आधार पर निश्चित किया जाता है कि वे संघर्षों एवं झगड़ों का निराकरण करने में सक्षम हैं या नहीं और युद्ध को टालने की उनकी उपयोगिता पर। राष्ट्र संघ की स्थापना के साथ यह आशा की गई थी कि यह नया संगठन राजनीतिक एवं सैनिक संघर्षों को नियंत्रित करने की स्थिति में होगा। राष्ट्र संघ के यंत्र का उपयोग इसके प्रथम दशक के काल में कम से कम 30 झगड़ों को सुलझाने में किया गया और इनमें से अधिकतर का संतोषजनक समाधान निकाल लिया गया। यह सफलता इसलिये

प्राप्त हुई थी कि सभी परिस्थितियों में छोटी मध्यम शक्तियाँ सम्मिलित थीं और बड़ी शक्तियों की इच्छा तथा योग्यता के कारण बिना किसी युद्ध के निपटारा करने के लिये पर्याप्त दबाव डाला जा सका।

जिन झगड़ों का राष्ट्र संघ के द्वारा सफलतापूर्वक समाधान किया गया वे थे—टर्की-इराक का सीमा संघर्ष (1924), ग्रीक-बुल्गेरिया का सीमा विवाद (1925) और वियना पर अधिकार को लेकर पोलैण्ड एवं लिथुआनिया के मध्य विवाद (1926)। ये विवाद काफी गंभीर घटनाओं का रूप ग्रहण कर सकते थे परन्तु इनको सफलतापूर्वक हल कर लिया गया। इसका धन्यवाद राष्ट्र संघ के द्वारा किये गये प्रयासों एवं प्रदर्शित किये दृढ़ निश्चय को जाता है। शांति को कम से कम संघर्षों एवं नुकसान के साथ तत्परता से लाया गया।

परन्तु राष्ट्र संघ की कठिन परीक्षा उस समय हुई जबकि, विवादों में बड़ी शक्तियाँ सन्निहित थीं। 1931 के प्रारम्भ में पूरब में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमणों की एक श्रेणी का प्रारम्भ कर दिया, उस समय राष्ट्र संघ की योग्यता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाने लगा। प्रारम्भ में राष्ट्र संघ की परिषद् ने और फिर बाद में सभा ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि बड़ी शक्तियाँ अपने स्वार्थी कारणों एवं व्यक्तिगत हितों से जापान के विरुद्ध बल का प्रयोग करने के लिये तैयार न थी। विश्वव्यापी हितों पर संकीर्ण राष्ट्रीय हित मंडराने लगे थे।

इस प्रकार, अपनी पहली बड़ी परीक्षा में राष्ट्र संघ कमजोर एवं प्रभावहीन साबित हुई। शायद यह कहना गलत न होगा कि राष्ट्र संघ की जापान के प्रति कमजोर नीति ने न केवल इटली तथा जर्मनी जैसे देशों को बल्कि, अन्य देशों का भी आक्रामक प्रवृत्तियों के साथ इस प्रकार के अभियानों को छेड़ने के लिये प्रोत्साहित किया और इनमें उनको सफलता भी प्राप्त हुई।

राष्ट्र संघ के एक अन्य गंभीर चुनौती इटली का इथियोपिया पर आक्रमण था, जिसने न केवल तात्कालिक खतरा उत्पन्न किया बल्कि अचानक राष्ट्र संघ के सम्मान को भी धराशायी कर दिया। इथियोपिया इटली के दो उपनिवेश पूर्वी अफ्रीका में स्थित थे और इटली इथियोपिया के बीच से एक रेलवे लाइन को स्थापित कर इन दोनों उपनिवेशों को जोड़ना चाहता था। जिस समय मुसोलिनी ने इथियोपिया पर आक्रमण का आदेश दिया, उस समय वह अपनी सहायता के लिये राष्ट्र संघ के पास दौड़ा। अक्तूबर 1935 में, राष्ट्र संघ ने इटली के विरुद्ध प्रतिबंधों को लागू करने के लिये एक प्रस्ताव को पारित कर दिया। इटली को दी जाने वाले ऋणों तथा उधारों को प्रतिबंधित कर दिया गया था, इटली से आयात करने पर पाबंदी लगाई गई, कुछ निश्चित कच्चे पदार्थों का इटली को होने वाले निर्यात को रोक दिया गया और राष्ट्र संघ के सदस्यों के बीच पारस्परिक सहायता के प्रावधान को बदल दिया गया, जिससे कि इस प्रकार प्रतिबंधों को लागू किया जा सके। यह घटना इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि इतिहास में प्रथम बार किसी एक अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करने वाले के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था ने आर्थिक प्रतिबंधों को लागू किया। इटली के आर्थिक बहिष्कार के राष्ट्र संघ के इस आह्वान में समर्थन प्रदान करके अपने साहस का परिचय दिया यद्यपि, इस बहिष्कार के कारण उनके हितों की काफी हानि हुई। लेकिन बड़ी शक्तियों ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में काफी असमर्थता का परिचय दिया। ये बड़ी शक्तियाँ इटली को निर्यात करने वाले तेल पर प्रतिबंध लगाने में असफल रहीं बल्कि उन्होंने राष्ट्र संघ को हमलावर इटली के विरुद्ध सैनिक दबाव डालने से भी रोकने की कोशिश की। हैती के प्रतिनिधि एलफ्रेड नेमोर्स ने राष्ट्र संघ में इस पर हुई ऐतिहासिक बहस में भाग लेते हुए विश्व राजनेताओं में एक अच्छी भावना उत्पन्न हो, इसके लिये अपील करते हुए कहा: "बड़े या छोटे, ताकतवर या कमजोर, नजदीक या दूर, श्वेत या रंगीन, हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि एक हम भी किसी के इथियोपिया बन जाएँगे।" लेकिन हैती के प्रतिनिधि की यह अपील बहरे राष्ट्रों के कानों पर कोई असर न डाल सकी। राष्ट्र संघ की जिस नयी भावना का ढिंढोरा इतना अधिक पीटा गया था, उसे वाष्पित होने में कोई समय न लगा, और विश्व वापस गुप्त कूटनीति अवसरवादी गठबंधन तथा शक्ति संतुलन कायम करने के विचार की दलदल में फिसल गया।

इथियोपिया के उदाहरण में सामूहिक सुरक्षा के परीक्षण को युद्ध काल के दौरान की वास्तविकताओं के प्रकाश में समझने की आवश्यकता है। उस समय का यूरोप का राजनीतिक वातावरण सामरिक गठबंधनों एवं संधियों के प्रति अधिक चिन्तित था। फ्रांस राष्ट्र संघ की किसी भी प्रकार की कार्यवाही का समर्थन नहीं करता था क्योंकि वह जर्मनी के

विरुद्ध इटली का समर्थन प्राप्त करना चाहता था। ब्रिटेन ने भी इस मामले में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता न दिखाकर अपना अधिक लाभ समझा, वह व्यर्थ में इटली को नाराज करना नहीं चाहता था। फ्रांस और ब्रिटेन दौनों यूरोप में हिटलर की बढ़ती शक्ति को संतुलित करने के लिये एक संघ को बनाने में अधिक रुचि रखते थे और इसलिये उन्होंने राष्ट्र संघ से बाहर इटली के साथ अपना सम्पर्क बनाये रखा। अमेरिका, जर्मनी तथा जापान अपनी स्वयं की सुविधाओं के लिये राष्ट्र संघ के सदस्य भी न थे।

इस नग्न आक्रमण के प्रति राष्ट्र संघ की असमंजस्यता एवं आयोग्यता से यह प्रतीत हुआ कि दूसरों को भी राष्ट्र संघ के उन नियमों को तोड़ने के लिये प्रोत्साहन मिला जिनका राष्ट्र संघ के लिये महत्व था। "इतिहास में प्रथम बार एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन के द्वारा आर्थिक प्रतिबंधों को लागू करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। लेकिन इथियोपिया के उदाहरण का चित्रण यह दिखाता है कि आक्रमण, प्रतिज्ञा-पत्र, संगठन, संस्था, विधि एवं निर्णयों से अधिक निश्चयात्मक था।"

11.6.2 अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन

फिर भी, कई ऐसे अन्य क्षेत्र थे, जिनमें राष्ट्र संघ ने काफी सफलता प्राप्त की। श्रम, स्वास्थ्य, आर्थिक एवं वित्तीय पुनर्निर्माण, सम्पर्क एवं पारगमन, बौद्धिक सहयोग, सामाजिक और मानवीय कार्य, अंतर्राष्ट्रीय विधि का संकलन तथा अल्पसख्यकों की सुरक्षा—ये वह क्षेत्र थे जिनमें राष्ट्र संघ ने काफी सफलता के साथ सुधार एवं विकसित करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिये, शरणार्थियों के साथ-साथ पांच लाख युद्ध बंदियों को उनके देश वापस भेजकर राष्ट्र संघ ने सामाजिक एवं मानवीय क्षेत्र में एक शानदार कार्य किया। 1926 में राष्ट्र संघ ने दासत्व को समाप्त करने के लिये एक प्रसंविदा को पारित किया। राष्ट्र संघ ने महिलाओं तथा बच्चों के दमन चक्र को समाप्त करने के लिये कानून पारित कर एक मूलभूत कार्य को सम्पन्न किया। शिशु कल्याण समिति के निर्माण का परिणाम यह हुआ कि विवाह की आयु को बढ़ाने, कानूनी स्तर प्रदान करने और अवैध बच्चों को संरक्षकता एवं सुरक्षा प्रदान करने तथा अंधे बच्चों को ट्रेनिंग देने जैसे मामलों में एक सहमति को प्राप्त कर लिया गया।

राष्ट्र संघ की गतिविधियों के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण उपलब्धि अफीम एवं नशीली दवाइयों के बहाव का दमन करना था। 1923 के एक सम्मेलन के द्वारा यह तय किया गया कि उचित प्रमाण पत्रों के बिना देशों के द्वारा नशीली दवाइयों का आयात नहीं किया जायेगा इस सम्मेलन ने एक स्थायी नियंत्रण बोर्ड की रचना की जिसे राज्यों के नशीली पदार्थों की वैधानिक आवश्यकताओं का निरीक्षण करना था।

अंतर्राष्ट्रीय विधि संहिताकरण के क्षेत्र में राष्ट्र संघ परिषद् ने 1924 में न्यायाविदों की एक समिति का गठन अंतर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण पर एक रिपोर्ट देने के लिये किया। इस समिति ने महसूस किया कि राष्ट्रीयता, क्षेत्रात्मक पानी, कूटनीतिक विमोचन एवं विशेषाधिकारों आदि से जुड़े क्षेत्रों में संहिताकरण की आवश्यकता थी। इस उद्देश्य के लिये 1930 में सभा ने हेग में एक सम्मेलन भी बुलाया। यद्यपि, इस सम्मेलन से कुछ भी निश्चित न निकला, लेकिन फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस संदर्भ में आगे की प्रगति की आधारशिला रख दी गई थी और जैसा कि राज्य इसके लिये तैयार भी थे।

राष्ट्र संघ की गतिविधियों का उपरोक्त विवरण, चुनिंदा एवं संक्षिप्त है, फिर भी, यह स्पष्ट होता है कि गैर राजनयिक एवं गैर सैन्य क्षेत्रों में इसकी उपलब्धियाँ शानदार थीं।

11.7 राष्ट्र संघ का मूल्यांकन

राष्ट्र संघ की आडम्बरपूर्ण व्यवस्था का निर्माण बड़े प्रयासों के साथ किया गया, लेकिन यह बड़ा ही दुःखदायी है कि यह अपनी योजनाओं एवं आशाओं में असफल हुआ। यद्यपि, इसने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने में आंशिक रूप से सफलता प्राप्त की लेकिन अपने दूसरे लक्ष्य अर्थात्, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने में यह असफल रहा। यह "लोकतंत्र के लिये विश्व को सुरक्षित बनाने" और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों से युद्ध को समाप्त करने में असफल हुआ। एक दशक के बाद, इस बात के चिह्न स्पष्ट रूप दिखायी पड़े कि अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने के लिये राष्ट्र संघ एक उचित संस्था न थी और दो

दशक के बाद जिस समय द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ हुआ, उस समय राष्ट्र संघ बिना किसी की टिप्पणी के समाप्त हो गया। राष्ट्र संघ की इस असफलता के कारणों को भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विश्लेषित किया है।

11.7.1 राष्ट्र संघ में संवैधानिक कमी

जिन विशेष प्रकार की परिस्थितियों में राष्ट्र संघ अस्तित्व में आया, उन्होंने इसके संस्थापकों को ऐसा समय प्रदान नहीं किया, जिससे कि वे राष्ट्र संघ की उचित अवयव संगठन एवं कार्यशैली के विषय में शांति एवं फुरसत से विचार कर पाते। समय के दबाव में राष्ट्र संघ के संविधान का प्रारूप तैयार करने वाले राजनेताओं ने इसके विवरण में बहुत सी कमियों एवं विरोधाभासों को छोड़ दिया। भवन का जल्दी से जल्दी निर्माण किया गया और इस साहसिक खोजनीय साधन के कार्य करने की परेशानियों का चित्र उस समय कोई भी स्पष्ट रूप से देख नहीं पाया।

सर्वसम्मति का नियम
राष्ट्र संघ की सभा या परिषद् की किसी भी बैठक में निर्णय करने के लिये सभी सदस्यों की सहमति आवश्यक थी, लेकिन ऐसा प्रक्रिया संबंधी मामलों में नहीं होता था तथा उनको बहुमत के आधार पर तय किया जा सकता था। कम से कम कहने को यह सर्वसम्मति का नियम अनुचित था। अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा से जुड़ा शायद ही ऐसा कोई प्रश्न होगा जिस पर सभी राष्ट्र एक समान रूप से सोचते हों।

परिषद् एवं सभा का अधिकार क्षेत्र
सभा एवं परिषद् के बीच के अधिकार एवं कार्यों में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची गई थी। फलस्वरूप, उत्तरदायित्वों को दूसरे पर डाल देने की प्रवृत्तियाँ देखने में आईं या ऐसी स्थितियाँ दिखाई दीं जिनमें कोई देश एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने के लिये दूसरों को दबा कर रखता था।

महासचिव
महासचिव किसी भी गंभीर स्थिति पर अपने प्रयासों के बल पर न तो सभा का और न ही परिषद् का ध्यान केन्द्रित करा सकता था। वह परिषद् या सभा की बैठक उसी स्थिति में बुला सकता था यदि संबंधित पक्ष उसको विवाद या संकट के अस्तित्व की सूचना दें।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का मन्दन
सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था राष्ट्र संघ की व्यवस्था का मूलभूत आधार थी, लेकिन कुछ राष्ट्रों के दबाव के कारण उसका इतना अधिक स्तर गिरा कि वह उपहास की स्थिति तक पहुंच गई। उदाहरणार्थ 1922 में ब्रिटेन के इशारे पर धारा 16 की निम्नलिखित नई परिभाषा की गई :

अ) प्रत्येक सदस्य राज्य यह सुनिश्चित करने के लिये स्वतंत्र था कि एक विशेष स्थिति में प्रतिज्ञा-पत्र का उल्लंघन हुआ है या नहीं, और तभी वह प्रतिबंधों को लगाने के लिये एक अनुबंध के अधीन आता।

ब) यदि राष्ट्र संघ की परिषद् ने यह सुनिश्चित कर लिया कि प्रतिज्ञा-पत्र के अनुबंध का उल्लंघन हुआ तब वह सदस्यों को सूचित करेगी, लेकिन सदस्य-राज्य इसको मानने के लिये बाध्य न होंगे। फिर भी, यदि सरकारें परिषद् की राय को स्वीकृत कर लें, लेकिन वे यह तय करने के लिये स्वतंत्र होंगे कि किस स्वरूप के प्रतिबंधों को लागू किया जाये अर्थात्, सैनिक आर्थिक या कूटनीतिक और प्रतिबंधों को धीरे-धीरे या तत्काल लागू किया जा सकता था।

स) किसी एक सदस्य-राज्य के द्वारा युद्ध प्रारम्भ कर दिये जाने का तात्पर्य यह नहीं था कि राष्ट्र संघ के सभी सदस्य-राज्यों के साथ स्वतः ही युद्ध की स्थिति बन जायेगी।

यही वह मंदन था कि सामूहिक सुरक्षा को मंचूरिया पर जापान के आक्रमण और इथियोपिया पर इटली के बलात्कार को रोकने के लिये जिस समय सामूहिक सुरक्षा वास्तविक परीक्षण के लिये रखी गयी, तब वह असफल हो गई।

11.7.2 संयुक्त राज्य अमेरिका की सदस्यता का न होना

संयुक्त राज्य अमेरिका की जनेवा से अनुपस्थिति के बहुत से कारण दिये गये।

कुछ के अनुसार, अमेरिकी जनता प्रतिज्ञा-पत्र के द्वारा लागू किये गये अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों को ग्रहण करने के लिये तैयार न थी। युद्ध ने अमेरिकी जनता के मुख में इतना खराब स्वाद छोड़ा था कि वे अपने को शामिल करने के कारणों को समाविष्ट करने में अक्षम थे। संयुक्त राज्य ने बदले में अपने यूरोपीय मित्रों से सामान्य अमेरिकी नागरिक के लिये कुछ भी प्राप्त नहीं किया था।

राष्ट्र संघ में संयुक्त राज्य अमेरिका शामिल न हो इसका अभियान मुख्य रूप रिपब्लिकन पार्टी ने प्रारम्भ किया था। इस दल के थ्यौडोर रूजवेलट, हॉवर्ड टाफ्ट, एलिहु रूट और हेनरी कैबोट लौज जैसे नेतागण एक समय राष्ट्र संघ की वकालत करने वालों में से थे लेकिन जिस समय डेमोक्रेटिक दल के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने पेरिस शांति सम्मेलन के लिये जो प्रतिनिधि मंडल भेजा उसमें रिपब्लिकन दल के किसी भी नेता को प्रतिनिधि नहीं बनाया गया। रिपब्लिकनवादियों ने इसका बदला लेने का निश्चय किया और प्रतिज्ञा-पत्र सहित उसके कार्यक्रम को "मृत" करने की कसम खायी। और यही वह कारण था कि जब संधि को पारित करने के लिये सीनेट में भेजा गया तब वह वहां पर पारित होने में असफल रही क्योंकि सीनेट में रिपब्लिकन दल का बहुमत था।

संयुक्त राज्य अमेरिका की अनुपस्थिति राष्ट्र संघ के लिये एक बड़ा धक्का था। उसकी उपस्थिति एक प्रशमनकारी प्रभाव की भांति काम करती लेकिन उसकी अनुपस्थिति ने राष्ट्र संघ के परामर्शों में ईर्ष्या उत्पन्न की। उसके बिना, राष्ट्र संघ शक्ति की राजनीति का अखाड़ा बन गया।

11.7.3 मूल्यांकन

राष्ट्र संघ की असफलता पर टिप्पणी करते हुए मौरगन्थाओ (पोलिटिक्स अमंग नेशन्स, 1973) कहते हैं, "अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं शांति को बनाये रखने की राष्ट्र संघ की अयोग्यता प्रभुता का स्वाभाविक परिणाम थी क्योंकि संप्रभु राष्ट्रों के नीति नियम एवं नीतियां राष्ट्र संघ की अंतर्राष्ट्रीय सरकार के नैतिक तथा राजनयिक उद्देश्यों के ऊपर अपना प्रभुत्व बनाये रखने में सफल रहीं।" यह कई प्रकार से सही मगर चालाकीपूर्ण मूल्यांकन है। इस परीक्षण के प्रभाव में, राष्ट्र संघ न तो एक असफलता थी और न एक दुखान्त। लेकिन राष्ट्र संघ के जिन क्रांतिकारी विचारों की स्थापना की गई थी उनको बड़ी शक्तियाँ और लोग स्वीकार करने को तैयार न थे। पहले राष्ट्र संघ के निर्माण और फिर इसके समाप्त होने का प्रयोग–समय या प्रयास की बर्बादी नहीं की। राष्ट्र संघ का प्रयोग व्यापक स्तर पर लोगों और राजनेताओं के लिये काफी शिक्षाप्रद था। द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ जाने से राष्ट्र संघ की भावना के अनुरूप ही अंतर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता एवं अनिवार्यता को और पुख्ता किया। राष्ट्र संघ एक प्रकार से पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप में अभिव्यक्त हुआ। राष्ट्र संघ के सभी उद्धृत सिद्धांतों को उस समय दोबारा कहा गया एवं पुनः लिखा गया जबकि संयुक्त राष्ट्र का निर्माण हुआ। 1935-45 के युद्ध के बाद राष्ट्र अधिक परिपक्व एवं अधिक बुद्धिमान हो गये हैं। राष्ट्र संघ एक विचार एवं एक संस्था दोनों के रूप में अब काफी अर्थपूर्ण हो गया है। इस प्रकार, राष्ट्र संघ न तो एक दुखान्त था और न एक असफलता–यह ऐसा उपयोगी प्रयोग था कि इसने संयुक्त राष्ट्र के अचानक उत्थान की एक मजबूत आधारशिला रखी।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तरों के लिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

2) अपने उत्तर की जांच प्रारूप उत्तर से करें, जो इस इकाई के अन्त में दिया गया है।

1) राष्ट्र संघ परिषद् की क्या-क्या शक्तियां एवं अधिकार क्षेत्र थे?

.....

.....

.....

.....

2) राजनयिक एवं गैर-राजनयिक क्षेत्रों में राष्ट्र संघ की मुख्य उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

.....

.....

.....

.....

3) सामूहिक सुरक्षा के उपायों को लागू करने में राष्ट्र संघ की प्रभावहीनता का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

11.8 सारांश

राष्ट्र संघ का अस्तित्व युद्ध काल (1920-1939) से पहले के समय में था। इसने 10 जनवरी, 1920 को औपचारिक रूप से अपना कार्य शुरू किया। इसका लक्ष्य युद्ध को रोकना तथा शांति को प्रचारित करना था। इसने राजनीतिक स्वतंत्रता तथा छोटे एवं बड़े राज्यों की क्षेत्रीय अखण्ड़ता की पारस्परिक गारन्टियों की परिकल्पना की थी। इसको राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के कार्यक्रम के अनुसार बनाया गया था और इस कार्यक्रम की उत्पत्ति 18 जनवरी, 1919 को पेरिस शांति सम्मेलन में दिये गये सुझावों से हुई थी। यदि किसी भी देश पर आक्रमण होता है तब सभी देश आक्रामक के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करेंगे। हमलावर के विरुद्ध आर्थिक एवं सैनिक प्रतिबंध लगाये जाने वाले थे और उसको राजनीतिक अलगाव का भी सामना करना पड़ता। राज्यों के बीच विवादों को शांतिपूर्ण बातचीत के द्वारा हल करने की आशा की गई थी। तीन संगठनों सभा, परिषद्, तथा स्थायी सचिवालय की स्थापना राष्ट्र संघ के बहुत महत्वपूर्ण अवयवों के रूप में की गई थी। राष्ट्र संघ ने अधिकार-पत्र व्यवस्था को विकसित किया। अधिकार-पत्र व्यवस्था के द्वारा औपनिवेशिक शक्तियों से ऐसी आशा की गई थी कि वे अपने उपनिवेशों को संरक्षण प्रदान करने का कार्य करेंगी। अंतर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की स्थापना उन संधियों को परिभाषित करने के लिये की गई थी, जिन पर राज्यों के बीच हस्ताक्षर किये जाते थे।

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने के क्षेत्र में राष्ट्र संघ ने प्रशंसनीय उपलब्धियाँ प्राप्त की। इसने अपने अस्तित्व के प्रारंभिक दशक में लगभग 30 विवादों को हल किया। लेकिन अन्य मामलों के संदर्भ में, विशेषकर महाशक्तियों से संबंधित अपनी भूमिका में राष्ट्र संघ असफल साबित हुई। इसकी उपलब्धियाँ वास्तविक होने के स्थान पर काल्पनिक अधिक थीं। 1945 में संयुक्त राष्ट्र के स्वरूप में इसकी पुनः अभिव्यक्ति हुई।

11.9 शब्दावली

त्रिगुट गठबंधन : यह रक्षात्मक गठबंधन था, जिसको प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और इटली ने बनाया था।

त्रि-मित्र राष्ट्रों का गठबंधन : रक्षात्मक गठबंधन जिसको प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व फ्रांस, ब्रिटेन एवं रूस ने बनाया।

मित्र शक्तियाँ : यह एक ऐसा समूह था, जिसमें अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैंड प्रथम विश्व युद्ध के दौरान शामिल थे।

अधिकार-पत्र व्यवस्था : इसको अब बिल्कुल ही भुला दिया गया है, लेकिन राष्ट्र संघ के प्रारंभिक काल में, अधिकार-पत्र व्यवस्था का तात्पर्य यह था कि औपनिवेशिक शक्तियाँ स्वयं को अपने उपनिवेशों का संरक्षक मानती थीं।

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैनेट, ए. लिरोय, 1980, **इंटरनेशनल ऑर्गेनाइजेशन प्रिंसिपल्स एंड इश्यूज़, प्रेंटिस हॉल:** ऐनग्लेवूड (एन. जे.)।

गुप्ता, डी. सी., 1914, **दी लीग ऑफ नेशन्स,** विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

मैरगंथाओ, हैंस जे., 1973, **पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स, स्ट्रगल फॉर वार एंड पीस,** एलफ्रेड के., नॉफ, न्यूयार्क।

11.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रथम विश्व युद्ध के अंत में जर्मनी की पराजय फ्रांस, ब्रिटेन तथा यू. एस. ने प्रतिशोध के लिए पराजित जर्मनी पर निःशस्त्रीकरण एवं युद्ध हर्जाने को थोप दिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन का आदर्शवाद उनके 14 सूत्रों में निहित था।

"शक्ति संतुलन" तथा "गुप्त कूटनीति" के तरीकों को समाप्त करने का आग्रह किया गया।

यूरोप एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में बुद्धिजीवियों के प्रयासों के कारण नई विश्व व्यवस्था का प्रसार हुआ।

2) 11.4, 11.4.2 और 11.4.4, 22 के विवरण में उद्धृत।

बोध प्रश्न 2

1) 11.5.2 के विवरण में उद्धृत।

2) 11.6.2 के विवरण में उद्धृत।

3) बड़ी शक्तियों के द्वारा एक सामूहिक चेतना का निर्माण करने में असमर्थता।

जर्मनी, इटली, एवं जापान के उपेक्षापूर्ण रवैया के कारण फ्रांस, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका शक्ति राजनीति को करते रहे।

किसी भी आक्रामक राज्य के विरुद्ध एक व्यवस्थित अंतर्राष्ट्रीय सामूहिक उपायों की योजना बनाने एवं लागू करने के लिए वैधानिक, संगठनात्मक एवं सैनिक औजार उपलब्ध नहीं थे।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)

ऐच्छिक पाठ्यक्रम

सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

खंड

5

फासिवाद का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली पर उसका प्रभाव

इकाई 12

फासिवाद का उदय 5

इकाई 13

तृतीय रीश (Reich) की विदेश नीति 20

इकाई 14

द्वितीय विश्व युद्ध 37

खंड 5 फासिवाद का उदय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली पर उसका प्रभाव

परिचय

इस खण्ड में तीन इकाइयाँ हैं। सभी इकाइयों का जोर मुख्य रूप से फासिवाद और उसके उदय पर तथा इस बात पर है कि फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी किस प्रकार अपने विदेशी सम्बन्धों को संचालित करते हैं। फासिस्ट एवं नाजी डिक्टेटरों द्वारा उत्पन्न किये गये खतरों पर भी इन इकाइयों में बल दिया गया है। इस प्रकार इस खंड में दिये गये विचार दूसरे खण्ड (इकाई 4) तथा चौथे खण्ड (इकाई 9 और 11) से सम्बन्धित हैं। प्रथम विश्व युद्ध के अंत में पेरिस कान्फ्रेन्स में जो शान्ति समझौता हुआ था उसने जितनी समस्याओं का समाधान किया उससे अधिक समस्याएं पैदा कीं। जिस तरीके से एक 'अध्यादेशित शान्ति' जर्मनी पर थोपी गयी वह, तथा इटली में उसकी 'विकृत विजय' की प्रतिक्रियाओं ने मिलकर इटली में फासिवाद और जर्मनी में नाजीवाद को जन्म दिया। इन दोनों देशों में प्रतिष्ठापित अधिनायकवाद का न तो संसदीय प्रजातंत्र में तथा न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिमय तरीके से सुलझाने में विश्वास था। उन्होंने जातिवाद एवं आक्रामक राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया। उन्होंने उन अन्तर्राष्ट्रीय 'वादों' को परित्यक्त कर दिया जो उन्हें असुविधाजनक लगते थे। इसके अलावा उन्होंने नये गठजोड़ और समझौते कर लिए। वे राष्ट्र ही अधिकांश में लीग ऑफ नेशन्स की असफलता तथा द्वितीय विश्व युद्ध को आरम्भ करने के लिए उत्तरदायी थे।

इकाई 12 में इटली में उदित हुए फासिज्म और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है। एक संक्षिप्त उल्लेख जर्मनी में नाजी अधिनायकवाद के उदय और स्पेन में फासिस्ट जनरल फ्रेन्कों की विजय के सम्बन्ध में भी किया गया है। मुसोलिनी द्वारा अपनायी गयी आक्रामक एवं विस्तारवादी नीतियों का दिग्दर्शन कराया गया है। इकाई 13 का सम्बन्ध एकान्तिक रूप से थर्ड राइक से है। इसका संस्थापन कैसे हुआ? हिटलर की नीतियाँ क्या थीं तथा उनका क्रियान्वयन उसने किस तरह किया?
नाजी जर्मनी की विदेशी नीति का निर्माण तथा क्रियान्वयन किस प्रकार किया गया? द्वितीय विश्व युद्ध अधिकांश में जर्मन आक्रामकवाद एवं ब्रिटेन की तुष्टिकरण की नीति का परिणाम था। इकाई 14 में द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों पर ही प्रकाश नहीं डाला गया है बल्कि, एक संक्षिप्त विवेचन 'धुरी राष्ट्रों' की हार का भी किया गया है। इसमें युद्ध काल की कूटनैतिक गतिविधियों पर विचार किया गया है तथा विश्व युद्ध के दौरान तथा शीघ्र उसके बाद स्थाई शांति को प्राप्त करने के प्रयत्नों की भी चर्चा की गयी है।

इकाई 12 फासिवाद का उदय

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 यूरोप में फासिस्टवाद
  12.2.1 अत्यावश्यक लक्षण
  12.2.2 इटली, जर्मनी और स्पेन में फासिस्टवाद
12.3 इटली में फासिस्टवाद का उदय
  12.3.1 फासिस्टवाद के उदय के कारण
  12.3.2 मुसोलिनी—समाजवादी से फासिस्ट
  12.3.3 इटली को फासिस्ट बनाना
12.4 फासिस्ट इटली की नीतियाँ
  12.4.1 फासिस्ट इटली की उल्लेखनीय घरेलू नीतियाँ
  12.4.2 अतिवादी राष्ट्रवाद : अल्टो एडिग
  12.4.3 फासिस्ट इटली की विदेश नीति के आधार
  12.4.4 मुसोलिनी की प्रारंभिक विदेशी नीति
12.5 अबीसीनिया एवं अलबानिया को हड़पना
  12.5.1 वालवाल की घटना
  12.5.2 इटली-अबीसीनियन युद्ध
  12.5.3 स्पेन और आस्ट्रिया
  12.5.4 इटली और अलबानिया
12.6 सारांश
12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में इटली में प्रथम विश्व युद्ध के बाद के काल में फासिवाद के उदय का वर्णन है। बेनिटो मुसोलिनी ने फासिवाद का प्रतिष्ठापन किया। आगे चलकर इसी प्रकार नाजी जर्मनी हिटलर के अधिनायकवाद के अन्तर्गत आया।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित बातो के लिए योग्यता अर्जित कर लेंगे।

- फासिवाद के अर्थ और प्रकृति का स्पष्टीकरण करना
- फासिवाद के उदय के कारणों को पहचानना
- फासिस्ट अधिनायकवाद के संस्थापना को समझाना
- फासिस्ट इटली की विदेश नीति के आधारों की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

12.1 प्रस्तावना

एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में फासिवाद मुसोलिनी से जुड़ा है जो अन्तर्युद्ध काल में इटली का डिक्टेटर था। मार्क्सवाद एवं व्यक्तिवाद जैसी दूसरी राजनैतिक विचार धाराओं के विपरीत फासिवाद एक सिद्धान्त न होकर केवल कर्म-संकुल कार्यक्रम मात्र था। इसका प्रादुर्भाव इटली और जर्मनी के प्रति की गयी अन्याय की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। पेरिस के शांति सम्मेलन की शर्तों के कारण जर्मनी अपने को अपमानित महसूस करता था। उधर इटली इस बात से असंतुष्ट था कि मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर उसने युद्ध में जो योग दिया था उसका समुचित पारितोषिक उसे नहीं मिला था। इसलिए इन देशों के लोगों की यह कामना थी कि उनकी सरकारें अधिक आक्रामक नीति अपनायें ताकि उनका राष्ट्रीय महत्व प्रतिष्ठापित हों।

वास्तव में जब फासिस्ट शक्तियाँ सत्ता में आयीं तो उन्होंने एक कठोर नीति का अनुसरण करना शुरू कर दिया तथा विदेशी कार्यों में एक ऐसा दृष्टिकोण रखा जो अधिक सहयोगी वृत्ति पर आधारित नहीं था।

फासिवाद ने योरोपीय प्रणाली को कई प्रकार से खतरे में डाला। फासिवाद का सिद्धान्त क्या है? इटली में

और बाद में जर्मनी में दूसरा उद्भव किन कारणों से एवं किस प्रकार हुआ? फासिवाद के उदय के लिए बहुत से कारण उत्तरदायी हैं। इन कारणों को मुसोलिनी एवं हिटलर के व्यक्तित्वों से भी मदद मिली है, जो आगे चलकर इटली और जर्मनी के तानाशाह बने। दोनों विश्व युद्धों के बीच फासिवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित किया। इस प्रभाव की समता में दूसरा कोई अन्य अकेला कारण खड़ा नहीं रह सकता था। आप देखेंगे कि फासिवाद द्वितीय विश्व युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण कारण बना।

12.2 यूरोप में फासिवाद

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फासिवाद एक सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जो मूल रूप से एक प्रकार के कार्य-संकुल कार्यक्रम पर आधारित था। यह कार्यक्रम इटली में लागू किया गया जब मुसोलिनी के नेतृत्व में वहाँ फासिस्ट पार्टी सत्ता में आयी! आगे चलकर ऐसे कार्यक्रम हिटलर की नाजी पार्टी ने जर्मनी में भी अपनाये। 'फासिज्म' शब्द का मूल लैटिन शब्द 'फासिस्यो' है, जिसका अर्थ 'लकड़ियों का एक समूह' होता है। प्राचीन रोम में लकड़ियों का समूह (बन्डल) और कुल्हाड़ी अधिकार के प्रतीक माने जाते थे। लकड़ियों का समूह **अनुशासन और एकता** का द्योतक था, जबकि कुल्हाड़ी शक्ति का प्रतीक थी। इस प्रकार फासिवाद का मुख्य ध्येय खोये हुए गौरव एवं राष्ट्र सम्मान को पुनः प्राप्त करना था। यह कार्य वे सैनिक शक्ति और सैनिक क्षमता से करना चाहते थे। राष्ट्रीय मान-सम्मान से उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विस्तृत स्तर पर पुनर्शस्त्रीकरण के साधन को उन्होंने महत्वपूर्ण माना।

फासिस्ट कार्यक्रम की प्रमुख बातों का हम यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना चाहेंगे।

12.2.1 अत्यावश्यक लक्षण

फासिस्ट लोगों का दृष्टिकोण प्रबल रूप से राष्ट्रवादी था। वे इटली को उतना ही मज़बूत बनाना चाहते थे जितनी वह प्राचीन रोमन साम्राज्य के दिनों में थी। परन्तु उनका राष्ट्रवाद संकुचित था। वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तार की तथा शक्ति राज्य की वकालत करते थे। फासिवाद की विचारधारा के अनुसार राज्य और राष्ट्र चरम नैतिक तत्व हैं। इस प्रकार आक्रामक राष्ट्रवाद फासिवाद का सबसे महत्वपूर्ण धर्म था।

फासिवाद संसदीय प्रजातंत्र का विरोधी था। फासिवादी प्रजातंत्र को एक कमज़ोर स्वरूप वाली शासन पद्धति मानते थे जो उलझनमयी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के अयोग्य थी। फासिवाद किसी भी तरह का विरोध नहीं सह सकता था। वे पार्टी और नेता के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता की भावना के समर्थक थे। मुसोलिनी को उनका **Il ड्यूस** घोषित किया गया जिसका अर्थ नेता होता था। ऐसा कुछ भी नहीं किया जा सकता था जो उसकी इच्छा के विरुद्ध होता था। दूसरे शब्दों में फासिवाद एक दल के सर्वसत्तात्मक शासन में विश्वास रखता था।

फासिवादी विभिन्न रूपों वाले समाजवाद के घोर विरोधी थे। वे साम्यवादियों से घृणा करते थे और साम्यवादी खतरे से विश्व को सुरक्षित करना चाहते थे। स्वतन्त्र उद्यम के वे पक्षधर थे। उनका कार्यक्रम पूंजीवादियों से समर्थित था पर फासिस्ट व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं थे तथा वे अहस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे। वे नहीं चाहते थे कि व्यक्ति इस स्थिति को प्राप्त करे जिससे वह राज्य को ललकार सकें। वे शक्तिरहित राज्य के इच्छुक नहीं थे। इन कारणों से फासिस्ट राज्य निरंकुश, सर्वशक्तिसंपन्न और सर्व-व्यापक था।

फासिस्ट लोग अन्तर्राष्ट्रीयवाद या विश्व क्रम के विरुद्ध थे। उनका राष्ट्रवाद चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। निहितार्थ रूप में लीग ऑफ नेशन इस योग्य न था जिसे फासिस्ट इटली अपना सहयोग प्रदान करें। इसके बावजूद मुसोलिनी लीग ऑफ नेशन्स के प्रति दिखावटी भक्ति रखता रहा जब तक उसने इथियोपिया पर हमला नहीं कर दिया।

फासिस्ट युद्ध के पक्षधर थे। निशस्त्रीकरण में उनका विश्वास नहीं था। शस्त्रों की सहायता से ही युद्ध सफलतापूर्वक लड़े जा सकते हैं। इस प्रकार युद्ध को महत्व से मंडित किया गया। मुसोलिनी ने लिखा "केवल युद्ध ही मानव की शक्तियों को चरम सीमा पर ले जा सकता है और उन व्यक्तियों पर अभिजन्यता की मोहर लगा सकता है जिनमें युद्ध को अपनाने की शक्ति हो" इस प्रकार मुसोलिनी और उसके समकक्षी हिटलर ने अपनी सीमाओं का विस्तार युद्ध के माध्यम से किया।

इस प्रकार फांसिवाद का कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं है। एक सिद्धान्त के रूप में इसने "सैन्य स्वरूप वाले राष्ट्रवाद" का पक्ष लिया है। यह शक्ति के प्रयोग में विश्वास करता है तथा साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को और उन्नत रूप देना चाहता है तथा विशाल स्तर पर पुनर्शस्त्रीकरण का समर्थक है। इसने प्रजातंत्र को नकार दिया और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्ति के साधनों से सुलझाने की बात अस्वीकार कर दी। फासिवाद एक 'अनुदार प्रतिक्रिया' थी जो समाजवाद के उठते हुए ज्वार के विरुद्ध थी। फासिवाद निरंकुशवादिता का धर्म था। जिसकी परिभाषा मुसोलिनी ने निम्न प्रकार से दी थी: "सभी राज्य में, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं, और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं।"

12.2.2 इटली, जर्मनी और स्पेन में फासिवाद

फासिवाद पहले इटली में प्रकट हुआ जब मुसोलिनी ने फासिस्ट पार्टी का संगठन कर उसे सत्ता से संयुक्त किया। इटली के लोग विश्वयुद्धोत्तर काल में अपनी सरकारों के कार्य से निराश हो चुके थे जो उनके राष्ट्रीय समाज की रक्षा नहीं कर पायी तथा राष्ट्रीय स्वार्थों की पूर्ति नहीं कर सकीं। इसके अतिरिक्त देश में वामपंथियों द्वारा भड़कायी हुई मजदूर अशांति के कारण दरार पड़ गयी थी। इस परिस्थिति में मुसोलिनी ने स्वयंसेवकों की एक बड़ी सेना तैयार की। इसे सैनिक प्रशिक्षण दिया गया और लोगों की राष्ट्रीय भावना उद्वेलित की गयी ताकि वे इस सेना की सहायता करें। आन्तरिक शांति और बाहरी गौरव के लिए बनाए गये कार्यक्रम से लोग प्रभावित हुए। वे संघबद्ध होकर मुसोलिनी के आसपास एकत्रित हुए जिसने सत्ता को अधिगृहित करने की धमकी दी। इस परिस्थिति में राजा विक्टर एमानुऐल तृतीय ने मुसोलिनी को मंत्रीमंडल बनाने को कहा। मुसोलिनी ने 31 अक्टूबर, 1922 में मंत्रीमंडल का निर्माण किया। उसने शीघ्र सभी प्रकार के विरोधों का अंत कर दिया और अधिनायकवादी शक्तियां प्राप्त कर लीं। फासिवाद 1943 तक इटली के कार्यों का नियंत्रक रहा।

जब हम फासिवाद के उदय पर विचार करते हैं तो साधारणतया हम इटली में फासिस्टों द्वारा सत्ता ग्रहण तक अपने को सीमित कर लेते हैं। लेकिन जर्मनी एवं स्पेन में भी इसी विचारधारा तथा कार्यक्रम को मानने वाले समूह सत्ता में आये। नेशनल सोशलिस्ट पार्टी (या नाजी पार्टी) हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में 1930 ई. के प्रारम्भ में सत्तायुक्त हुई। पेरिस कोन्फ्रेन्स में इंग्लैण्ड, फ्रान्स और उनके सहायकों द्वारा जर्मनी का जो अपमान और प्रताड़ना की गयी उसकी उपज नाजीवाद था। इटली के फासिस्टों की तरह हिटलर की नाजी पार्टी ने भी पुनर्शस्त्रीकरण का, युद्ध का एवं शांति सन्धियों के संशोधन का पक्ष लिया। फासिस्टों की तरह नाजी भी संसदीय प्रजातंत्र, समाजवाद, लीग ऑफ नेशन्स और झगड़ों के शांतिमय निपटारे के विरुद्ध थे।

जर्मनी में हिटलर की डिक्टेटरशिप के संस्थापना के तत्काल बाद इसी प्रकार की साहसिकता के सबल चिन्ह कुछ दूसरे योरोपीय देशों में भी देखे गये। फ्रांस में सन् 1935-36 में इटली (मुसोलिनी के आगमन से पूर्व) की तरह की परिस्थितियों का बोलबाला रहा। इस समय दक्षिणपंथियों एवं वामपंथियों में इतनी गहरी शत्रुता थी जिसके कारण अधिनायकतंत्र के प्रादुर्भाव की संभावना बढ़ गयी थी। सभी प्रजातंत्रीय भावना के लोगों द्वारा सामयिक कदम उठाये जाने के कारण इन परिस्थितियों पर काबू पाया गया। इस कार्य में वामपंथियों, समाजवादियों और साम्यवादियों का भी सहयोग रहा जिन्होंने जनप्रिय मोर्चे का संगठन किया। इसने सन् 1936 अप्रैल, मई में हुए चुनावों में विजय प्राप्त की। इस संघ (फ्रंट) ने लिओन ब्लूम के नेतृत्व में सरकार का गठन किया।

पड़ोस में ही बेल्जियम में प्रायः इसी समय तक फासिवादी संघ डेगरेल के नेतृत्व में बना जिसने हिंसा और अशिष्टता के बीज जन जीवन में बोये। इसने फ्रांस के साथ बेल्जियम के गठजोड का विरोध किया क्योंकि फ्रांस ने साम्यवादी विचारधारा वाले सोवियत यूनियन से गठजोड़ कर लिया था। उनके प्रभाव के कारण बेल्जियम ने घोषणा कर दी कि वह तटस्थ राष्ट्र की अपनी पूर्व-स्थिति को पुनः प्राप्त कर रहा है। इसे बेल्जियम द्वारा लोकार्नो गठजोड़ से सम्बन्ध तोड़ने की संज्ञा दी गयी। यद्यपि फासिस्टवादी बेल्जियम में सत्ता प्राप्त नहीं कर सके तथापि इसके लिए उन्होंने महत्वपूर्ण प्रयत्न किये।

रूमानिया में एक फासिस्ट पार्टी का संगठन जो आइरन गार्ड के नाम से मशहूर थी कोर्नेल्यू कोडरेन्यू के नेतृत्व में किया गया। यह पार्टी देश में प्रचलित आर्थिक संकट की प्रतिक्रिया के रूप में उदित हुई थी। इसके साथ रूमानियन सरकार का पूर्ण कुप्रबन्ध भी इसके लिए उत्तरदायी था। इटली के ब्लैक शर्ट (फासिस्टों) और जर्मन स्टोर्म ट्रूपर्स (नाज़ी झंझा वाहिना) की तरह आइरन गार्डों ने जनतंत्रीय राजनीतिज्ञों पर आक्रमण का संगठन किया। साथ-साथ यहूदियों और श्रमिक वर्गों पर भी आक्रमण किया। रूमानिया के राजा कैरोल फासिस्टों को कूचलने में असफल रहे। अन्त में उसने अपनी स्वयं की तानाशाही स्थापित करली।

पोलैंड में भी फासिस्टवाद के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखायी दे रहे थे। सन् 1937 में पोलैंड की सरकार का गठन फासिस्ट आदर्श पर किया गया और इसे 'राष्ट्रीय एकता का शिविर' माना गया। एक तरफ सरकार और दूसरी ओर कृषक एवं मज़दूरों में एक खुले संघर्ष का सूत्रपात हुआ। गृह युद्ध तभी टला जब सरकार ने चुनाव सम्बन्धी सुधारों की घोषणा की। जर्मनी से प्रतिपल बढ़ते हुए खतरे के कारण स्थिति पर काबू पाया गया एवं लोगों में सद्भाव का पुनः संस्थापन हुआ।

स्पेन किसी प्रकार अपने को बचा न सका। सन् 1923 में अधिनायकतंत्र की स्थापना जनरल प्राइमोडी रिवेश द्वारा की गयी। स्पेन में अराजकता इतनी फैल गयी थी कि रिवेश ने गहरी निराशा के कारण 1930 में त्यागपत्र दे दिया। अगले साल राजा अलफोन्सों तेरहवें (XIII) ने राजगद्दी छोड़ दी और एक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गयी। लेकिन निर्वाचित सरकार भी देश में शांति स्थापना के कार्य में असफल सिद्ध हुई। स्पेन में फ्रांस की तरह सन् 1935 में वामपंथी पोपुलर फ्रंट के पक्ष में मतदान किया। इससे देश संकट और वेग से गहरा हो उठा। बहुत बड़ी संख्या में सैनिक अधिकारी खुले तौर से सरकार को धमकी देने लगे। उनका कहना था कि अगर राष्ट्रपति अजैना की सरकार देश में फैली अशांति को दूर नहीं कर सकी तो शांति संस्थापन के लिए सेना सत्ता को अपने हाथ में ले लेगी। विद्रोह से डरकर अजैना ने अनेकों अधिकारियों को सेवानिवृत्त कर दिया तथा अनेकों का स्थानान्तरण दूर के स्थानों में कर दिया। ऐसा ही एक अधिकारी जनरल फ्रैंको था जिसे कनैरी आईलैंड में भेजा गया था। 12 जुलाई, 1936 के दिन एक पुलिस के सिपाही की स्पेन के फासिस्टों द्वारा हत्या कर दी गयी। इसके बदले में शीर्षस्थ फासिस्ट नेता काल्वो सोटेलो को पुलिस के लोगों ने मार डाला। यह स्पेन में गृह युद्ध भड़काने की निशानी थी। उस घटना के कुछ दिनों बाद जनरल फ्रैंको स्पेनिश मोरक्को में पहुँचा तथा स्पेन में विद्रोह की घोषणा कर दी गयी।

फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी ने उन विद्रोहियों को बहुत बड़ी मात्रा में आर्थिक एवं सैनिक मदद की जिनका नेतृत्व जनरल फ्रैंकों कर रहा था। सोवियत यूनियन ने केन्द्रीय सरकार की मदद की। यह गृह युद्ध जो प्रायः तीन वर्षों तक चला मार्च 1939 में समाप्त हो गया। इसमें फासिवादियों को निर्णायक जीत हासिल हुई। जिनका नेता जनरल फ्रैंको था। इस प्रकार स्पेन, इटली और जर्मनी के शिविर में सम्मिलित हो गया।

इस प्रकार, कम से कम तीन यूरोप के देशों ने फासिवाद को अन्तर्युद्धकाल में स्वीकार कर लिया। इटली इनमें अग्रगामी था और इसका नेता मुसोलिनी फासिवाद का प्रथम पक्षधर था। यही कारण है कि फासिवाद सामान्य रूप से इटली और मुसोलिनी से संबंद्ध रहा है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) नीचे के स्थान का उपयोग अपने उत्तर के लिए करें।
ii) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच करें।

1) नीचे के कथन सही हैं या गलत :
   क) एक फासिवादी के लिए राज्य ही सब कुछ है और व्यक्ति कुछ भी नहीं है। (सत्य/असत्य)
   ख) राजनैतिक सिद्धान्तों के रूप में फासिवाद और नाजीवाद दो अलग-अलग विचारधाराएं हैं (सत्य/असत्य)
   ग) अन्तर्युद्धकाल में फासिवादी दल इटली, जर्मनी और स्पेन में सत्ता से संयुक्त हुए। (सत्य/असत्य)

2) फासिवाद को सर्वप्रथम कहाँ और क्यों स्वीकार किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.3 इटली में फासिवाद का उदय

आपने फासिवाद के अर्थ के बारे में पढ़ लिया है। फासिस्टों द्वारा इटली और जर्मनी में अपनाये गये कार्यक्रम को भी समझ लिया है। हमने कहा कि फासिवाद के पीछे कोई विचारधारा नहीं है। यह कुछ परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी। हमने अति संक्षिप्त रूप से इस बात पर भी विचार कर लिया है कि कैसे और किस प्रकार फासिवाद को इटली और बाद में जर्मनी ने अपनाया। इस खण्ड में हम इटली में फासिवाद के उदय के कारणों को विस्तार से समझेंगे तथा दूसरी गृह तथा विदेशी नीतियों का अध्ययन करेंगे।

12.3.1 फासिवाद के उदय के कारण

इटली ने सन् 1882 में जर्मनी और हंगरी के द्वैध गठजोड़ में अपने आपको शामिल कर इस द्वैध गठजोड़ को त्रिपक्षीय गठजोड़ में परिवर्तित कर दिया था। यह संगठन रूस-फ्रांस के विरुद्ध था पर इटली स्थायी रूप से आस्ट्रिया-हंगरी का साथ देने को समुत्सुक नहीं था। जिनके साथ उसके कुछ सीमा सम्बन्धी विवाद चलते थे। इटली की यह महत्वाकांक्षा थी कि लिबिया को, जो उत्तरी अफ्रीका में था, अपने साम्राज्य में शामिल करले। जब फ्रांस और इटली को यह आश्वासन दे दिया कि वह उसके इस उद्देश्य में बाधक नहीं होगा तो इटली ने सन् 1902 में फ्रांस से वादा किया कि अगर फ्रांस और जर्मनी में युद्ध छिड़ा तो वह फ्रांस के विरुद्ध नहीं लड़ेगा। इटली ने अपने आपको औपचारिक रूप से त्रिपक्षीय गठजोड़ से अलग नहीं किया। जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा तो इटली ने अपनी तटस्थता घोषित की। इतना होते हुए भी इटली के लोगों में युद्ध में भाग लेने के प्रश्न पर खासा मतभेद पैदा हो गया। समाजवादी दल ने जिसके 80 सदस्य इटली की संसद के सदस्य थे, सरकार की तटस्थता की नीति का समर्थन किया। लेकिन ऐसे भी बहुत लोग थे, जिनमें पूंजीपति, शस्त्रनिर्माता और दक्षिणपंथी राजनैतिक संघ थे, जो युद्ध में भाग लेने के पक्षधर थे। अंत में लंदन की गुप्त संधि जो 28 अप्रैल, 1919 में इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच संपन्न हुई, के फलस्वरूप इटली ने सहयोगी राष्ट्रों के पक्ष में तथा केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। इस गुप्त संधि में इटली से यह वादा किया गया कि अगर सहयोगी राष्ट्र यह युद्ध जीत जाते हैं तो इटली को जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के कुछ भाग दे दिये जायेंगे। जिन क्षेत्रों को देने का वादा किया गया उनमें दक्षिणी टाइरोल ब्रेनर दर्रे तक शामिल था। इसके अलावा ट्राइस्ट, फीयूम, गैरिसिया और कई डालमेशियन टापू थे। इस प्रकार, अपने क्षेत्रीय विस्तार की आशा में इटली त्रिपक्षीय समझौते से अलग होकर 23 मई, 1915 में युद्ध शामिल हो गया।

युद्ध के बाद इटली विजयी हुआ। युद्ध के अंतिम चरणों में इटली के लोगों ने सहयोगी राष्ट्रों की विजय के लिए महत्वपूर्ण योगदान किया। फिर भी इटली को युद्ध के तत्काल बाद यह पता चल गया कि जितना उसने सोचा था उससे अधिक युद्ध का मूल्य उसे चुकाना पड़ा था। यह अन्दाज लगाया गया कि प्रायः 7,00,000 इटालियन सिपाही युद्ध में मारे गये और प्रायः 10 लाख घायल हो गये। उसकी आर्थिक हानियाँ और भी विचलित करने वाली थी। इन परिस्थितियों में इटली की अंतिम आशा पेरिस में होने वाली शांति कान्फ्रेन्स थी। उसने आशा की थी कि वादा किये गये सभी भू-भाग उसे मिलेंगे। लेकिन यह नहीं हुआ। उसके स्वप्नों को साकार करने के काम में विल्सन का आदर्शवाद बाधक बन गया। इटली के लोगों ने इस धोखाधड़ी के लिए इंग्लैण्ड और फ्रांस पर दोषारोपण किया। वे भावनात्मक रूप से विचलित हो उठे जब उनको यह ज्ञात हुआ कि उन्हें फीयूम से भी वंचित किया जा रहा है। इस प्रकार जबकि पेरिस कान्फरेन्स चल रही थी इटालियन कवि गेब्रीले डी अन्युनजिओं ने राज्य-विप्लव का संगठन किया और एक युवाओं के समूह (काली कमीज वाले स्वयं सेवी) का नेतृत्व करते हुए एक किराये की नाव लेकर फीयूम पर अधिकार कर लिया। पेरिस कान्फ्रेन्स ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। प्रधानमंत्री और लेण्डो जो इटली को इस शांति वार्ता में न्याय दिलाने को असफल सिद्ध हुआ था सन् 1920 में पद से हटा दिया गया और उसकी जगह गियोलिटी ने ली। नये प्रधानमन्त्री ने कवि के अतिवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं किया। गियोलिटी ने रेपालों में सन् 1920 में युगोस्लोविया के साथ एक संधि की और फीयूम युगोस्वोविया को लौटा दिया। गियोलिटी सरकार के इस कार्य ने उसे देश में बड़ा अप्रिय बना दिया। यही आगे चलकर फासिवाद के उदय का एक मुख्य कारण बना।

दूसरी बात, जिसने गियोलिटी सरकार को जनता की दृष्टि में अप्रिय बना दिया वह अल्वानिया की समस्या थी। अल्बानिया एड्रियाटिक समुद्र के पार एक छोटा सा देश था। दूसरे दो महत्वपूर्ण पड़ौसी देशों में यूनान और युगोस्लोविया थे।

युद्धकाल में अल्बानिया पर सहयोगी राष्ट्रों ने कब्जा कर लिया था। युद्ध के बाद इटली अल्बानिया को एक अधिदेश प्राप्त क्षेत्र मान कर शासन करना चाहता था। पेरिस कान्फ्रेन्स ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया। यही नहीं वह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया गया जिसमें अल्बानिया को यूनान, युगोस्लोविया और

इटली में बांटने की बात कही गयी थी। लेकिन इटालियन फौजों ने अल्बानिया पर अपना कब्जा जारी रखा। 1920 में मध्यकाल तक इटली में अनेकों आंतरिक समस्यायें उभर आयीं जिनके परिणामस्वरूप प्रधानमन्त्री गियोलिटी इस बात के लिए विवश हो गये कि अपनी सेना अल्बानिया से हटा लें। इस कार्य ने इटली के लोगों को और भी परेशान कर दिया।

इसके अतिरिक्त निकटपूर्व के अनेक क्षेत्र का अधिकांश भाग इटली को देने का वादा 1915 में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने किया था वह या तो यूनान को दिया गया था या उसे टर्की को रखने की इजाज़त दे दी गयी। अफ्रीका में अधिदेश प्राप्त क्षेत्र (मैन्डेटस) ब्रिटेन-फ्रांस और बेल्जियम ने स्थापित किये जो पूर्वकाल में जर्मन उपनिवेश थे। इटली को कोई उपनिवेश नहीं दिया गया। उसे सिर्फ अपने उपनिवेश लिबिया और सोमालीलैण्ड के क्षेत्रों के विस्तार की इजाजत दी गयी। देश के विदेशी दावों के इस कुप्रबन्ध ने इटली के लोगों में भरपूर निराशा का संचार किया। इटली में तत्कालीन प्रचलित मनोदशा का दिग्दर्शन इस वाक्यांश से होता है: "विकलांगजीत"

इटली की आर्थिक स्थिति भी अव्यवस्थापूर्ण थी। लाखों लोगों की सेना से छट्नी हुई। बेकारी, बजट घाटा और आवश्यक वस्तुओं की कीमत में तीव्र गति से वृद्धि हुई। समाजवादी ताकतों के उदय के लिए ये परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। 1919 के संसदीय चुनाव में समाजवादियों को 156 स्थान प्राप्त हुए पर वे बहुधा सरकार के कार्यवाही के विरुद्ध मत देते थे। जिससे संसदीय गतिरोध पैदा हो जाता था। दूसरी ओर साम्यवादी और उनसे सहानुभूति रखने वाले लोग समय-समय पर आन्दोलन चलाते थे और प्रदर्शन करते रहते थे। 1919 और 1920 के समय 35 लाख कार्यकारी दिनों की हानि हुई जिनके कारण हड़तालें, तालाबन्दी और आन्दोलन थे।

इन खतरों का सामना करने में सरकार पूरी तरह असमर्थ थी। अगर संसदीय जनतंत्र समस्याओं को सुलझाने में असफल सिद्ध होता है तो साम्यवाद ऐसा कोई विकल्प नहीं दे सकता। इसने इटालियन समाज, तथा अर्थव्यवस्था में एक सामान्य अशान्ति को भड़काया। इस संक्रान्ति काल में फासिस्ट नेतृत्व लोगों में यह विश्वास पैदा कर सकता था कि इटली को एक ऐसी सरकार की आवश्यकता है जो मजबूत तथा प्रभावशाली, राष्ट्रवादी हो तथा जो मार्क्सवाद के प्रति वचनबद्ध नहीं हो। इस पृष्ठभूमि में बेनेटो मुसोलिनी ने सत्ता का अधिग्रहण किया और इटली में फासिस्ट शासन की स्थापना की।

12.3.2 मुसोलिनी समाजवादी से फासिस्ट

बेनिटो मुसोलिनी का जन्म सन् 1883 में हुआ था। प्रारम्भ में वह अपने पिता के समाजवादी विचारों से प्रभावित था। वह स्विट्जरलैण्ड गया और बाद में ऑस्ट्रिया गया पर अपनी विद्रोहात्मक गतिविधियों के कारण उसे इन देशों को छोड़ना पड़ा।

ऑस्ट्रिया से आने के बाद मुसोलिनी ने कुछ समय तक समाजवाद का प्रचार-प्रसार किया। जब 1914 में युद्ध शुरू हो गया तो मुसोलिनी ने अपने देश की तटस्थता की नीति का समर्थन किया। 1915 तक उसने अपने समाजवादी विचारों को छोड़ दिया और युद्ध में इटली के शामिल होने की मांग का समर्थन करने लगा।

शांति संधियों का उसने प्रबल विरोध किया। उसने भूतपूर्व कर्मचारियों एवं अपने मित्रों तथा उन सभी लोगों की जिन्होंने 1914-15 के काम में इटली के युद्ध में शामिल होने की वकालत की थी, एक मीटिंग बुलाई।

उसने फासिस्ट दल की तरह उनको संगठित किया और इटली के लिए न्याय प्राप्ति का आह्वान किया ताकि उनको समाजवादियों, साम्यवादियों तथा कमज़ोर सरकार से मुक्ति मिल सके।

अधिकांश फासिस्ट धनी संपत्ति वाले वर्ग से आये थे। व्यापारियों के जवान लड़के, बेकार भूतपूर्व सैनिक, और असंतुष्ट व्यवसायी और बहुसंख्यक विद्यार्थी मुसोलिनी के उत्साही सहायक एवं समर्थक बन गये। फासिस्ट साम्यवादियों के पूर्णतया विरोधी थे। उन्हें धन अधिकांश रूप से पूंजीपतियों से प्राप्त होता था। 1920-21 के दौरान देश में गृह युद्ध की स्थिति बनी हुई थी। जब मुसोलिनी लोगों में यह विश्वास जमा रहा था कि उनका भविष्य उसके और उसके दल के साथ सुरक्षित है, सरकार एक शान्त और मूक दर्शक बनी हुई थी। प्रधानमंत्री गियोलिटी जुलाई, 1921 में त्याग पत्र देने को मजबूर हुआ। दूसरे, इसके बाद लुईगी फैक्टा प्रधानमंत्री बना जो अपने पूर्ववर्ती की तरह निर्बल था।

12.3.3 इटली को फासिस्ट बनाना

हमने देखा है कि इटली ने युद्ध में अपनी सफलता को "विकलांग विजय" की संज्ञा प्रदान की थी। इटली के लोग युद्ध से जो प्राप्त हुआ उससे असंतुष्ट थे। शांति सम्मेलन के तत्काल बाद गृह युद्ध की परिस्थितियों का विकास हुआ और वे इटली में फैल गयीं। इस अराजकतापूर्ण स्थिति में फासिस्ट विजयी होकर उभरे। जब मुसोलिनी को 1921 में मंत्री के रूप में सरकार में शामिल होने को कहा गया तो उसने यह कहकर इन्कार कर दिया "फासिवाद सरकार में सेवा के दरवाजे से प्रविष्ट नहीं होगा।" सितम्बर, 1922 में मुसोलिनी ने यह नारा दिया "रोम चलो" लेकिन वह स्वयं राजा के खिलाफ कुछ भी कहना या करना नहीं चाहता था। फासिस्ट शक्तियां राजा की सहायता से शक्ति प्राप्त करना चाहते थे। यही बात आगे चलकर घटित हुई।

1920-21 के समय हजारों युवा फासिस्टों को सैनिक प्रशिक्षण दिया गया। उन्होंने खास तरह की काली कमीज पोशाक अपनाई। आपको स्मरण होगा कि कवि डी अनुन्जिओं के स्वयं सेवकों ने (जिन्होंने 1919 में फियूम पर अधिकार कर लिया था।) भी काली कमीज पहने थी। मुसोलिनी के काली कमीज वाले अनुयायी अधिकतर सशस्त्र थे। दिसम्बर, 1922 में नेपल्स में होने वाली फासिस्ट कांग्रेस में मुसोलिनी ने घोषणा की कि सत्ता को फासिस्टों द्वारा अधिगृहित कर लिया जायेगा क्योंकि वे देश को विघटित होते नहीं देख सकते। उसने फासिस्ट युवकों को आदेश दिया कि वे रोम की ओर बढ़ें और सत्ता छीन लें। वे हजारों की संख्या में रोम पर छा गये। मुसोलिनी ने नेपल्स से मिलान की गाड़ी (ट्रेन) पकड़ी।

प्रधानमन्त्री लुइगी फैक्टा ने राजा को सलाह दी कि वे मार्शल ला की घोषणा कर दें और सेना को देश में शांति संस्थापन का काम करने दें। राजा ने इस परामर्श को ठुकरा दिया। लुइगा फैक्टा ने प्रधानमन्त्री के पद से त्याग पत्र दे दिया और राजा ने मुसोलिनी को नई सरकार बनाने को आमंत्रित किया। 30 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी ने इटली के प्रधानमंत्री के रूप में सत्ता संभाली। मंत्रीमण्डल के 15 मंत्रियों में केवल 4 फासिवादी थे। इसके बावजूद मुसोलिनी सारे देश में एक पार्टी की फासिस्ट तानाशाही स्थापित करने में समर्थ हुआ।

मुसोलिनी को प्रधानमन्त्री संसद के बहुमत के बिना बनाया गया था। पर, यह पूर्णतया संवैधानिक था। राजा में यह शक्ति निहित थी कि वह एक सरकार की नियुक्ति कर सके। मुसोलिनी सरकार को उसने वैधानिक रूप से नियुक्त किया था। सत्ता प्राप्ति के तत्काल बाद मुसोलिनी ने संसद की स्वीकृति प्राप्त कर ली वह 1923 के अंत तक अपने प्रस्तावों को संसद से स्वीकृत कराये बिना शासन करता रहा। ये निरंकुश और तानाशाही शक्तियाँ थीं। इसी बीच सभी प्रांतीय पद फासिस्टों को दे दिये गये। इसके बाद मुसोलिनी ने एक नया निर्वाचन कानून बनवाया। इसमें यह व्यवस्था थी कि एक आम चुनाव में जिस किसी पार्टी को बहुमत मिलेगा वह संसद में कुल सीटों की दो तिहाई सीटें प्राप्त कर सकेगी। शेष सीटें बाकी दलों में उनके मत प्राप्ति के अनुपात में विभाजित की जायेंगी। इस निर्वाचन कानून को बनवाकर मुसोलिनी ने संसद को भंग कर दिया। अप्रैल, 1924 में चुनाव हुए और जैसी आशा थी, फासिस्टों ने डाले गये वोटों का पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया। इस प्रकार, उनको संसद में दो तिहाई सीटें प्राप्त हो गयी। मुसोलिनी का अब व्यवस्थापिका समाज पर एवं प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण हो गया।

गियाकोमों मैटियोटी के नेतृत्व वाला समाजवादी दल संसद में प्रमुख विरोधी दल था। 1924 के चुनावों के बाद मैटियोटी ने धमकी दी कि वह सरकार के दुष्कर्मों को उजागर कर देगा तथा यह भी उजागर कर देगा कि किस प्रकार चुनावों में धांधली की गयी है। कुछ दिनों के बाद उसका मृतक शरीर जंगल में पड़ा पाया गया। इससे लोगों को विश्वास हो गया कि कोई व्यक्ति मुसोलिनी और उसकी सरकार की आलोचना करने का साहस नहीं कर सकता। अधिकांश विरोधी दलों के सदस्यों ने संसद के बहिष्कार का निर्णय लिया। उनकी सीटें खाली घोषित कर दी गयीं। मुसोलिनी देश का निरंकुश शासक बन गया। धीरे-धीरे शासन के सारे आलोचकों को खत्म कर दिया गया।

1926 तक सारे स्थानीय निकायों को उनके राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। मुसोलिनी सिर्फ राजा के प्रति उत्तरदायी रहा। अब वह संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं था। सभी खबरों पर नियंत्रण लगा दिया गया। मुसोलिनी सभी सशस्त्र सेनाओं का सेनापति बन गया। फासिस्ट पार्टी के नये सदस्य को एक शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। "बिना प्रश्न किये II ड्यूस के आदेशों का पालन करना।" सभी विरोधी दलों का औपचारिक रूप से सन् 1926 में उन्मूलन कर दिया गया। सिर्फ फासिस्ट पार्टी ही वैधानिक रूप से स्वीकृत पार्टी रही।

फासिवाद इटली में सामने के दरवाजे से प्रविष्ट हुआ था। मुसोलिनी की तानाशाही को स्थापित करने के लिए संवैधानिक रास्ता अपनाया गया था। राजशाही को सुरक्षित रखा गया पर सारी शक्तियां तानाशाह में

निहित हो गयीं। मृत्यु दंड जो 1888 में समाप्त कर दिया गया था, 1931 में फिर से लागू कर दिया गया। यह दंड उनको मिलता था जो राजा के जीवन पर या महारानी, राजकुमार और प्रधानमन्त्री पर हमला करते थे।

समय-समय पर फासिस्ट तानाशाही अपने को मजबूत बनाती गयी। मुसोलिनी ने एक नये प्रकार के राज्य का विचार विकसित किया। एक निगम मंत्रालय (मिनीस्ट्री ऑफ कोरपोरेशन) की स्थापना की गयी। कानून के द्वारा 13 सभायें (सिन्डीकेट्स) बनाई गयीं। इनमें से 6 मालिकों की सभाएं और 6 कर्मचारियों की सभाएं थीं। एक सभा बौद्धिक वर्ग की थी। इन सभाओं का कोई सम्बन्ध समाजवादी धारणा वाले श्रमिक संघवाद से नहीं था। उन्हें किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में शामिल होने की छूट नहीं थी। हड़तालों और तालेबन्दी पर रोक लगा दी गयी। किसी भी ऐसी गतिविधि पर पूर्ण रोक लगा दी गयी जो साम्यवाद से समानता रखती थी।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे के स्थान का उपयोग अपने उत्तर के लिए करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर की जाँच करें।

1) प्रथम विश्व युद्ध में इटली की विजय फासिज्म के उदय के लिए किस प्रकार जिम्मेवार है?

.....

.....

.....

.....

2) "फासिवाद इटली में सामने के दरवाजे से प्रविष्ट हुआ" स्पष्ट विवेचन करें।

.....

.....

.....

.....

12.4 फासिस्ट इटली की नीतियाँ

हमने देख लिया है कि किस प्रकार मुसोलिनी ने फासिस्ट डिक्टेटर के रूप में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। यद्यपि फासिस्ट इटली की गृह एवं विदेशी नीति के विशद विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है तो भी घरेलू क्षेत्र में इस फासिस्ट शासन की निर्दयता के कुछ उदाहरण देना समुचित होगा। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विद्यार्थी के रूप में आपको फासिस्ट इटली की विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों की जानकारी होनी चाहिए।

इस कारण से हम संक्षेप में इटली की विदेशी नीति के मूलाधारों का विवेचन करेंगे और इस बात पर भी विचार करेंगे कि मुसोलिनी ने इस नीति का किस प्रकार क्रियान्वयन किया।

12.4.1 फासिस्ट इटली की मुख्य गृहनीतियाँ

फासिवाद ने दो महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कारकों की पदोन्नति की। ये थे—(क) अनुशासन, और (ख) शामीवाद (Semitism) का विरोध। मुसोलिनी ने अनुशासन एवं आज्ञाकारिता के विषय को सामने रखा। उसका नारा था "विश्वास करो, आज्ञा का पालन करो, लड़ो।" फासिस्टवाद का अगला कारक शामीवाद का विरोध था। उन्होंने इटली की जाति की परिशुद्धता का पक्ष लिया। यह तर्क दिया गया कि यहूदी इटालियन जाति के नहीं हैं। यहूदियों को इटली के लोगों की पाठशालाओं से बहिष्कृत किया गया। उन तमाम यहूदियों को जो प्रथम विश्व युद्ध के बाद इटली में प्रविष्ट हुए थे (चाहे उन्होंने इटालियन नागरिकता प्राप्त कर ली थी) देश छोड़ने का आदेश दिया गया। यहूदियों को फासिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। यहूदी व्यवसायियों को नये व्यापार के अनुज्ञापत्र (लाईसेन्स) देने बन्द कर दिये गये "इटालियन आर्यों" और यहूदियों में विवाह सम्बन्धों पर रोक लगा दी गयी। यह रोक इटालियन अधिकारियों के साथ विदेशियों के विवाह पर भी लागू की गयी।

पोप पायस ग्यारहवां (XI) ने इन जातिवाद के कार्यों का तीव्र विरोध किया पर फासिस्ट सरकार ने उनके विरोध की उपेक्षा कर दी।

12.4.2 अतिवादी राष्ट्रवाद : अल्टो एडिग

अतिवादी राष्ट्रवाद फासिस्ट नीति का एक प्रमुख स्तम्भ था। दक्षिणी टिरोल इस नीति का एक उदाहरण था। दक्षिणी टिरोल के सारे क्षेत्र को शांति सम्मेलन ने इटली को दे दिया था। इस क्षेत्र में केवल टेरिनों ही शामिल नहीं था जिसमें सामान्य तथा इटालियन लोग रहते थे किन्तु प्रांत का शेष भाग भी सम्मिलित था जहाँ प्रायः 25 लाख जर्मन रहते थे। शांति संधि के बाद दक्षिणी टिरोल के गैर इटालवी वाशिंदों के साथ वादा किया गया था कि "उनकी भाषा और सांस्कृतिक संस्थाओं को पूरा सम्मान दिया जायेगा" लेकिन मुसोलिनी के सताये जाने के बाद इटालवीकरण की नीति का अनुसरण पूर्ण धर्मान्धता के साथ किया गया। इटालवी भाषा को सरकारी भाषा बना दिया गया।

गांवों के, कस्बों के, नदियों और घाटियों के जर्मन नामों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। उन सब को नये नाम दिये गये। सभी नागरिकों को जिनमें वृद्ध स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे नये इटालियन नाम स्वीकार करने पड़े जिनको सरकारी राजपत्र में प्रकाशित किया गया। यहाँ तक कि दक्षिणी टिरोल का नाम बदलकर उसे अल्टो-एडिग का नाम दिया गया।

इस धर्मान्धपूर्ण कार्यों का आस्ट्रिया एवं जर्मनी द्वारा बारबार विरोध किया गया। मुसोलिनी ने इस विरोध की निन्दा की और उन्हें अपने देश के आन्तरिक कार्यों में "हस्तक्षेप" की संज्ञा दी। नाजी पार्टी के जर्मनी में सताये जाने के बाद भी यह पार्टी मुसोलिनी पर इटालवीकरण की नीति का परित्याग करने के लिए दबाव नही डाल सकी। वस्तुतः इस बात से सबको सहमत कर लिया गया था कि जो इटालियन नाम नहीं रखना चाहते वे देश छोड़ सकते हैं और जर्मनी को परिव्रजन कर सकने हैं।

12.4.3 फासिस्ट विदेशी नीति के आधार

फासिस्टवाद शक्ति और अनुशासन के सिद्धान्तों पर आधारित था। इटालवी विदेशी नीति का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। आधुनिक ढंग के नवीन हथियारों से लैस एक बड़ी सेना की सहायता से इटली नये उपनिवेश स्थापित करना चाहता था। वह अपने साम्राज्य का विस्तार भी करना चाहता था। मुसोलिनी इस बात पर कृत-निश्चय था कि वह इटली की प्रतिष्ठा में वृद्धि करे और अपने देश को अधिक से अधिक सशक्त बनाए।

मुसोलिनी अपने देश की जनसंख्या भी बढ़ाने को उत्सुक था। फासिस्ट विदेशी नीति का दूसरा उद्देश्य भूमध्य सागर में एक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त करना था। मुसोलिनी ने घोषणा की कि भूमध्य सागर ब्रिटेन और फ्रांस के लिए एक रास्ता था। जबकि यह इटली के लिए अति महत्वपूर्ण था। इस पर भी भूमध्य सागरीय क्षेत्र इटालवी साम्राज्य का एक अंग बनने के बदले उसके लिए प्रायः एक कारागृह बन गया था। मुसोलिनी का दृढ़ निश्चय भूमध्य सागरीय क्षेत्र की ओर बढ़ने का था जिसके बिना इटली अर्द्ध स्वतंत्र था। इटालियन उद्देश्य इस तरह प्रतीत हुआ कि वह लिबिया को सुडान के रास्ते इथोपिया से संयुक्त करना चाहता है। इससे इटली का उत्तरी साम्राज्य जुड़ जाता और भूमध्य सागर भारतीय समुद्र से संपर्कित हो जाता।

भूमध्य सागर इटली के प्रमुख स्वार्थों का तर्कसंगत क्षेत्र रहा है। जब मुसोलिनी ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह सामान्यतया ब्रिटेन के उचित पक्ष के साथ रहे पर फिर भी भूमध्य सागरीय क्षेत्र को लेकर दोनों में गंभीर मतभेद थे। यह कहकर कि भूमध्य सागर इटली के लिए **अतिमहत्वपूर्ण** था मुसोलिनी ने बलपूर्वक घोषित किया कि उसका देश अपने ही समुद्र में इंग्लैण्ड का कैदी बना हुआ है। उसने इसे "रोमन समुद्र" के नाम से पुकारा। ब्रिटेन ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि भूमध्य सागर केवल उनके लिए एक लघुमार्ग (शोर्टकट) मात्र है। उन्होंने उसे अपनी "मुख्य धमनीय मार्ग" बताया।

12.4.4 मुसोलिनी की प्रारंभिक विदेशी नीति

मुसोलिनी की विदेशी नीति का मुख्य उद्देश्य क्षेत्रीय विस्तार था। शांति संधियों ने "इटली के स्वार्थों को नुकसान" पहुँचाया था। मुसोलिनी इटली की जनसंख्या में वृद्धि चाहता था। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिक क्षेत्र की आवश्यकता थी।

फासिस्ट शासन के प्रारंभिक वर्षों में मुसोलिनी की विदेशी नीति को उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त हुई।

रहोडस और डोडेसिनीज के टापू जो इटली को यूनान को 1920 में स्थानांतरित करने पड़े (मुसोलिनी के सत्ता में आने के पूर्व) मुसोलिनी ने लौसाने की सन्धि से वापिस प्राप्त कर लिए। इस सन्धि पर हस्ताक्षर सन् 1923 में हुए थे।

कोरफ्यू की घटना ने कुछ समय तक एक उलझनमय स्थिति का खतरा पैदा कर दिया था। अल्बानिया की सीमा के प्रश्न का सलटारा नवम्बर, 1921 में राजदूतों के सम्मेलन में कर दिया गया था। इस निर्णय ने अल्बानिया की सीमा की उसी प्रकार पुष्टि कर दी थी जैसी वह सन् 1913 में थी लेकिन उसकी सीमाओं के वास्तविक निर्धारण का काम एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को सौंप दिया गया। अल्बानिया और यूनान के बीच की सीमाओं के निर्धारण काल में इटली के जनरल टेलिनी और उसके कुछ सहायक मारे गये। मुसालिनी ने इस अपराध के लिए यूनान को दोषी करार दिया। इटली ने यूनानी टापू कोरफ्यू पर बमबारी की तथा 31 अगस्त, 1923 को उस पर अधिकार कर लिया। इस संकटावस्था का सलटारा राजदूतों एक के सम्मेलन में किया गया। इसमें ग्रेट ब्रिटेन ने मुख्य रूप से पहल की थी।

इटली अल्बानिया में गहरे रूप से दिलचस्पी लेता था। इटली और युगोस्लाविया की प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र अल्बानिया बना हुआ था। अल्बानिया में 1925 में एक विद्रोह फूट पड़ा जिसका नेतृत्व अहमद बे जोगू कर रहा था। वह बेलग्रेड में एक शरणार्थी की तरह रह रहा था। विद्रोह में उसकी सफलता और अल्बानिया के राष्ट्रपति पद पर उसके चुनाव ने इटली के रुख को अल्बानिया के प्रति कड़ा कर दिया।

अन्त में सन् 1926 में एक सन्धि टिराना में इटली और अल्बानिया के बीच हुई। सत्ता में आने के बाद जोगू ने इटली की आर्थिक सहायता को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया और इटली और अल्बानिया के बीच नवम्बर 1926 में परस्पर सहयोग की सन्धि पर (ट्रीटी ऑफ टिराना पर) हस्ताक्षर करने पर सहमत हो गया। लेकिन यह सन्धि दो असमानों के बीच थी। अल्बानिया वास्तव में इटली का संरक्षित भाग बन गया।

हमने देखा है कि फियूम इटली और यूगोस्लाविया के बीच एक संघर्ष का स्थायी स्रोत रहा है। बाल्कन प्रदेश में अपने क्षेत्रीय तथा व्यापारिक विस्तार के लिए इटली फियूम को अत्यावश्यक मानता था। मुसोलिनी ने ऐसे समझौते का प्रयत्न किया जो उसके हक में पड़ता था। जनवरी, 1924 में एक सन्धि रोम में इटली और युगोस्लाविया के बीच संपन्न हुई जिसके अनुसार इटली को फियूम का कस्बा मिला और दूसरे आसपास का क्षेत्र युगोस्लाविया के पास रहा। इससे घर तथा बाहर मुसोलिनी की छवि काफी सुधरी। इतना होते हुये भी इटली और युगोस्लाविया के बीच के झगड़े बिना निबटारे के ही रहे। हिटलर के जर्मनी में सत्ता में आने के बाद दोनों देशों के सम्बन्ध और भी बिगड़ गये।

इटली को एक और कूटनैतिक विजय प्राप्त हुई जब उसको टैन्जीअर शहर के अन्तर्राष्ट्रीयकृत प्रशासन में एक भाग मिला। पेरिस सम्मेलन के समय से ही फ्रांस और इटली के सम्बन्ध खराब चल रहे थे। इटली ने फ्रांस के क्षेत्र कोर्सिका और नाईस को मांगा। इन दोनों के बीच सम्बन्ध और खराब हो गये जब फ्रांस ने फासिस्ट विरोधी तत्वों को शरण दी। दोनों शक्तियों में केन्द्रीय यूरोप एवं दक्षिण-पूर्वी यूरोप में अपना वर्चस्व स्थापित करने में प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी।

1926 तक फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और रूमानिया से गठजोड़ स्थापित कर चुका था। उसने बेल्जियम से गठजोड़ किया जो उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में है। यह कार्य पेरिस सम्मेलन के तत्काल बाद संपन्न हुआ। इटली ने आस्ट्रिया और हंगरी पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। फ्रांस के सहायक शांति सन्धियों को तथा यथास्थिति को बनाये रखने में दिलचस्पी रखते थे। दूसरी ओर इटालियन खण्ड शांति सन्धियों का संशोधन और पुनर्निरीक्षण चाहता था। उन्हें "संशोधनवादी शक्तियों" के नाम से जाना जाता था। जबकि फ्रांसिसी गुट "यथास्थिति वाले देश" के रूप में जाना जाता था।

1926 में इटली और अल्बानिया के बीच सन्धि हुई जिससे इटली और युगोस्लाविया के बीच सम्बन्ध और भी खराब हो गये। फ्रांस ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और 1927 में युगोस्लाविया से एक सन्धि कर ली। यह सन्धि उन्हीं आधारों पर थी जिन पर चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया के साथ सन्धि की गयी थी। इससे फ्रांस और सभी तीनों शक्तियों के सम्बन्धों का चक्र पूरा हो गया जिन्होंने मिलकर "लघुमित्र भाव" का निर्माण किया था। इटली-फ्रांस-युगोस्लाविया संधि को "फ्रांस के द्वारा इटली के विरुद्ध युगोस्लाविया को दी गयी एक गारंटी" के रूप में लेता था। फ्रांस और इटली के सम्बन्ध जुलाई, 1934 तक तनावपूर्ण रहे जब आस्ट्रिया के नाजियों द्वारा नाजीकरण एवं आस्ट्रिया को जर्मनी में अंतिम रूप से मिलाने की एक असफल चेष्टा की गयी थी। इटली और फ्रांस दोनों का स्वार्थ आस्ट्रिया को स्वतंत्र रखने में था। इससे दोनों प्रतिद्वन्द्वी अचानक एक दूसरे के नजदीक आ गये।

जनवरी 1933 में जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ। इससे दोनों तानाशाहों के निकट के सम्बन्धों में वृद्धि हुई। यह प्रतीत हुआ कि फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी यूरोप की सुरक्षा को गंभीर खतरा पैदा कर देंगे।

एक समय मुसोलिनी ने सुझाव दिया कि इटली, जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जायें जो यूरोप के सभी प्रश्नों का निर्णय कर सके। वह यह चाहता था कि अगर लीग के निशस्त्रीकरण के प्रयत्न असफल सिद्ध हो जाते हैं तो जर्मनी को पुनः सशस्त्र होने की छूट दी जाये। यह चार शक्तियों का समझौता जिस पर आखिरकार हस्ताक्षर किये गये अब फीका पड़ गया था, क्योंकि फ्रांस ने प्रारम्भिक प्रस्ताव का विरोध किया। लेकिन हिटलर ने अपने उत्साह की अधिकता में जुलाई 1934 में आस्ट्रिया पर स्थानीय नाजियों के माध्यम से अधिकार करने का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया इटली का प्रभाव क्षेत्र रहा था। इटली नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया जर्मनी में विलीन किया जाये। इस प्रकार, आस्ट्रिया फासिस्ट नेताओं के बीच झगड़े की जड़ साबित हुआ। इन परिस्थितियों में फ्रांस और इटली एक दूसरे के अधिक नजदीक आ गये और जनवरी, 1935 में इन्होंने रोम में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते से मुसोलिनी यह समझने लगा कि साम्राज्यवादी चेष्टाओं के विरुद्ध फ्रांस उसका पक्ष लेगा।

इसके अतिरिक्त इटली को उत्तरी अफ्रीका के फ्रांसीसी उपनिवेश ट्यूनिसिया में कुछ छूटें भी दी गयीं। मुसोलिनी ने यह दावा किया कि रोम समझौते के विचार-विमर्श के समय फ्रांस के विदेश मंत्री ने इटली को यह वचन दिया था कि अगर पूर्वी अफ्रीका में इटली अबीसीनिया (इथिओपिया) से कुछ रियासतें प्राप्त कर लें तो फ्रांस को कोई ऐतराज नहीं होगा। इस वादे की शर्तें गुप्त रखी गयीं। आगे चलकर फ्रांस ने इस वादे का जो अर्थ इटली ने लगाया था उसे अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि अबीसीनिया में कोई दिलचस्पी न दिखाने का उसका वादा सिर्फ आर्थिक छूटों तक सीमित था। लेकिन इटली ने आगे चलकर 1935 में रोम के गुप्त वादे के आधार पर अबीसीनिया के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही आरम्भ कर दी।

फ्रांस और इटली के सम्बन्धों में सुधार का प्रतिकूल असर फ्रांस-युगोस्लाविया मैत्री सम्बन्धों पर पड़ा। यही नहीं, उसके सम्बन्ध पोलैंड से भी पहले जैसे मधुर नहीं रहे। पोलैंड जर्मनी के नजदीक चला गया जब उन दोनों के बीच अनाक्रमण समझौता जनवरी, 1934 में संपन्न हो गया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाएं।

1) उन दो महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कारकों का वर्णन करें जो फासिवाद ने प्रस्थापित किये।

.....

.....

.....

.....

2) फासिवादी विदेश नीति के मूलाधार क्या थे?

.....

.....

.....

.....

12.5 अबीसीनिया और अल्बानिया को मिलाना

पहले भाग में आपने संक्षिप्त रूप में घरेलू प्रश्नों के सम्बन्ध में मुसोलिनी के दृष्टिकोण के बारे में पढ़ा है। इसके साथ फासिस्ट इटली की विदेश नीति की प्रकृति और विदेशी मामलों में इटली की प्रारंभिक गतिविधियों के बारे में भी पढ़ा है। लेकिन इटली ने दूसरे देशों की भूमि को हड़पने या उस पर आक्रमण करने का काम उस समय तक शुरू नहीं किया था जब तक जर्मनी ने आक्रामक रुख अख्तियार नहीं कर लिया। 1935 में इटली ने पहली बड़ी पर अघोषित लड़ाई अबीसीनिया (इथोपिया) से लड़ी और उसे हराकर अबीसीनिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस भाग में हम इटली की विदेश नीति के साम्राज्यवादी स्वरूप के बारे में विचार करेंगे।

12.5.1 वाल वाल की घटना

मुसोलिनी की विदेशी नीति पर आक्रामक राष्ट्रवाद और अन्ध साम्राज्यवाद का वर्चस्व था। 5 दिसम्बर, 1934 को वाल वाल की घटना अबीसीनिया और इटालियन सोमालीलैण्ड की सीमा पर घटी। यद्यपि अवीसीनिया के लोग इसमें बड़ी संख्या में मारे गये तथापि इटली ने इस संघर्ष के लिए अबीसीनिया को दोषी ठहराया और उससे क्षमा प्रार्थना करने एवं हानि की पूर्ति करने के लिए बड़ी रकम की मांग की। अवीसीनिया ने इस संघर्ष के लिए अपनी जिम्मेवारी मानने से इन्कार कर दिया और प्रार्थना की कि यह झगड़ा पंच फैसले से तय किया जाये जिसका विधान 1928 की इटली अबीसीनिया संधि में किया गया है। चूँकि इटली ने अवीसीनिया के दृष्टिकोण को मानने से इन्कार कर दिया अतः अबीसीनिया ने ऐसी स्थिति में लीग से इस झगड़े को निबटाने का अनुरोध किया।

अबीसीनिया ने औपचारिक रूप से 3 जनवरी, 1935 को लीग से प्रार्थना की। लीग के पंचायत से झगड़े का समाधान करने वाले आयोग ने (आर ब्रिटेशन कमीशन) 3 सितम्बर, 1935 को अपना सर्वसम्मत निर्णय घोषित किया तथा दोनों पक्षों को सीमा संघर्ष के दोष से मुक्त कर दिया।

इसी बीच झगड़े को इस प्रकार निबटाने के प्रयत्न किये गये जिससे इटली संतुष्ट हो जाये और अबीसीनिया की स्वतंत्र सत्ता बनी रहे। जून, 1935 में ब्रिटेन के मंत्री एन्टनी ईडन ने रोम में यह सुझाव दिया कि ब्रिटेन ब्रिटिश से पालीलैंण्ड से जीइला बन्दरगाह अबीसीनिया को सुपुर्द कर देगा और इसके बदले में अबीसीनिया को इस बात के लिए राजी किया जायेगा कि यह अपना ओगाडेन का दक्षिणी प्रांत इटली को सौंप दे। इस प्रस्ताव को मुसोलिनी ने सरसरी तौर पर अस्वीकार कर दिया। इसका कारण यह बताया गया कि जीइला को प्राप्त कर अबीसीनिया लाभ की स्थिति में रहेगा। जो क्षेत्र इटली को दिया जा रहा है वह समुचित नहीं है। जब इटली ने अबीसीनिया की सीमाओं पर दबाव बढ़ाया तो ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधि मंडल अगस्त माह में पेरिस में मिले और उन्होंने सुझाव दिया कि इटली को आर्थिक आज्ञापत्र (मैन्डेट) लीग के अन्तर्गत दिया जाये जिसके अन्तर्गत वह अबीसीनिया का आर्थिक एवं प्रशासनिक संगठन कर सके। दूसरे शब्दों में यह "आज्ञापत्र" एक प्रकार से अबीसीनिया पर बिना लड़ाई के नियंत्रण के लिए एक पर्दा था। इस प्रस्ताव को भी मुसोलिनी ने अस्वीकार कर दिया।

12.5.2 इटली-अबीसीनिया युद्ध

सितम्बर, 1935 तक इटली ने विशाल स्तर पर आक्रमण की तैयारियाँ पूर्ण कर ली थीं। मुसोलिनी इस बात के लिए कृत-संकल्प था कि "फ़ासिस्ट साम्राज्य" का विस्तार "इटालवी शस्त्रों के गौरव" से किया जाये। लीग ऑफ नेशन्स की समझौता समिति की रिपोर्ट को जिसमें अबीसीनिया के अन्तर्राष्ट्रीय विकास की एक योजना सुझाई तथा इटली के "सविशेष स्वार्थों" की बात स्वीकार की गयी थी, मुसोलिनी ने सरसरी तौर पर अस्वीकृत कर दिया यद्यपि हेलसिलासी ने इसे सिद्धान्त रूप से मंजूर कर लिया था।

"सैनिक समाधान" की मुसोलिनी की योजना अंत में 3 अक्टूबर, 1935 को क्रियान्वित की गयी। इटालवी सेना ने अबीसीनिया पर पूर्व (सोमालीलैंण्ड) तथा पश्चिम (एरीट्रिया) से हमला किया। इस आक्रमण का वहाना इस बात को बताया गया कि अबीसीनिया के द्वारा उसके दो पूर्वी अफ्रीका के उपनिवेशों पर आक्रमण को पहले से रोकने के लिए यह आक्रमण किया गया है। कोई भी आदमी, इटली के इस बहाने पर विश्वास नहीं करता था। अबीसीनिया के सम्राट ने लीग की कौन्सिल का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जिसने इस पर तत्काल विचार करना शुरू कर दिया।

इटली द्वारा अबीसीनिया पर किये गये आक्रमण की लीग ने तत्काल भर्त्सना की। कौंसिल का शीघ्र अधिवेशन हुआ और एक समिति शीघ्र नियुक्त की गयी जिसने 7 अक्टूबर को अपनी रिपोर्ट पेश कर दी। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि इटली ने "युद्ध का आश्रय लीग की कन्वेन्ट की धारा 12 की पूर्व उपेक्षा करते हुए लिया है" इसने इटली को आक्रामक घोषित कर दिया। इटली ही कौंसिल का एक एकमात्र सदस्य था जिसने विरोध किया। इस प्रकार सबसे पहली बार अबीसीनिया पर आक्रमण के समय कौंसिल ने सामूहिक सुरक्षा की धाराओं को लागू किया।

इसके तत्काल बाद असेम्बली की बैठक हुई जिसने कौंसिल के निर्णय की पुष्टि कर दी। असेम्बली ने एक समिति नियुक्त की जो कन्वेन्ट की धारा 16 के तहत नियुक्त की गयी थी। (इसमें आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने का प्रावधान था)। इस समिति ने कई आर्थिक प्रतिबन्ध इटली के विरुद्ध लगाने की सिफारिश की ताकि वह अपने आक्रमण से पीछे हट जाये। इन प्रस्तावों की पुष्टि असेम्बली द्वारा कर दी

गयी तथा अधिकांश सदस्यों ने इसे स्वीकार किया। सबसे पहली बार लीग ने किसी राष्ट्र को आक्रामक घोषित किया और उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लिया। यह कदम सविशेष रूप से इसलिए महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि दोषी राज्य इटली बड़ी शक्तियों में एक था। इटली को लीग द्वारा इस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं थी क्योंकि उसमें ब्रिटेन और उसके नये मित्र, फ्रांस का वर्चस्व था। मन्चूरिया खतरे के समय जो निरुत्साही दृष्टिकोण अपनाया गया था इटली उसी तरह के दृष्टिकोण की आशा करता था पर ब्रिटेन और फ्रांस ने वह गलती नहीं दोहराई। इससे उसके और उसके दो यूरोपीय मित्रों में एक दरार पैदा हो गयी।

जो प्रतिबन्ध इटली के विरुद्ध लगाये गये थे, वे इतने पर्याप्त नहीं थे जो इटली को अधिकृत प्रदेशों को मुक्त करने को बाध्य कर दें। प्रथम, प्रतिबन्ध आधे मन से लगाये गये थे तथा इनको लागू करने में उत्साह नहीं था। दूसरे, कुछ लीग के सदस्यों जैसे अस्ट्रिया और हंगरी ने इन सीमित प्रतिबन्धों को अपने विश्वासी सहायक के विरुद्ध लागू करने की बात मानने से इन्कार कर दिया। इसके अतिरिक्त जर्मनी ने 1935 में लीग से अपने आप को अलग कर लिया था और इस प्रकार इटली के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने को बाध्य नहीं था। हिटलर ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। उसे हाल ही में खोया मित्र फिर मिल गया था जिसे उसने आस्ट्रिया के प्रश्न को ठीक तरह से व्यवस्थित न कर पाने के कारण खोया था। अबीसीनिया की सेना ने कुछ समय तक इटली की सेना का कड़ा मुकाबला किया। लेकिन 1936 के मध्य तक इटालवी सेना विजयी हुई और अबीसीनिया की राजधानी आदिस अब्बाबा में 5 मई, 1936 को प्रविष्ट हो गयी।

इस विजित देश को 9 मई, 1936 को औपचारिक रूप से इटालवी साम्राज्य में मिला लिया गया और इटली के राजा को अबीसीनिया का सम्राट घोषित कर दिया गया। ब्रिटेन और फ्रांस साहसहीन और हतबुद्धि हो बैठे। न तो वे कोन्वेन्ट की रक्षा कर सके तथा न इटली की मित्रता रख सके। लीग को भी एक बड़ा धक्का लगा, और जर्मनी (बिना युद्ध में भाग लिए) मुख्य रूप से लाभ की स्थिति में रहा। उसने इटली की मित्रता को पुनः प्राप्त कर लिया जिसके कारण रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी का अन्त में निर्माण हुआ।

12.5.3 स्पेन और आस्ट्रिया

अबीसीनिया युद्ध के तत्काल बाद इटली स्पेन के गृह युद्ध (जुलाई, 1936-मार्च, 1939) में उलझ गया। इटली और जर्मनी ने गृह युद्ध में दखल दिया और जनरल फ्रांको की विद्रोही सेना की मदद की। यह सब लीग की खुले आम अवहेलना के रूप में किया जा रहा था। एक धुरी इटली और जर्मनी के बीच में इस युद्ध के समय बनी और पुष्ट हुई जिसका परिणाम फासिस्टों की विजय के रूप में हुआ। प्रधानमंत्री चेम्बरलेन द्वारा भूमध्य सागर के प्रश्न पर मुसोलिनी को संतुष्ट करने के लिए गंभीर प्रयत्न किये गये तो भी फासिस्ट धुरी बराबर मजबूत होती रही और विश्व शांति के लिए एक खतरा बन गयी।

12.5.4 इटली और अलबानिया

अलबानिया जो बाल्कन प्रायद्वीय में सबसे छोटा था, इटली की विदेशी नीति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। 1912-13 के बाल्कन युद्ध के बाद अल्बानिया का उदय एक नये राज्य के रूप में हुआ था। प्रथम विश्व युद्ध के समय अल्बानिया तटस्थ रहा था पर उसके क्षेत्र का युद्धभूमि के रूप में इस्तेमाल आस्ट्रियन, इटालियन और सर्व लोगों ने किया था। पेरिस शांति सम्मेलन में इटली ने अल्बानिया पर शासन सम्बन्धी आज्ञा पत्र (मैन्डेट) प्राप्त करने का प्रयत्न किया लेकिन उसकी बात नहीं मानी गयी। 1922 में एक प्रांतीय सरकार अलबानिया में बैठाई गयी। बाद में अलबानिया लोग का सदस्य बना।

अल्बानिया की सीमा का निर्धारण अंतिम रूप से केवल 1926 में हो सका। काम चलाऊ सरकार देश में फैली अशांति पर नियंत्रण नहीं पा सकी। इस सरकार के बाद मुस्लिम सरदार अहमद जोगू प्रधानमंत्री बने (1922-1934)। उन्हें हार्वड में शिक्षित बिशप नोली ने 1924 में निकाल बाहर किया। चूँकि नोली शांति स्थापना के काम में असफल रहा अतः जोगू ने फिर सत्ता संभाली और जनवरी, 1925 में अलबानिया गणतन्त्र घोषित किया गया। 1928 में जोगू प्रथम राजा घोषित कर दिया। जब 1939 में इटली ने अलबानिया पर अधिकार कर लिया तो जोगू देश छोड़कर भाग गया। इन वर्षों के दौरान इटली ने अल्बानिया के घरेलू अन्तर्राष्ट्रीय कामों में महत्वपूर्ण भाग अदा किया।

जब 1928 में जोगू ने अपने आपको राजा घोषित कर दिया तो उसने दृढ़तापूर्वक स्वतंत्रता की घोषणा की और इटली विरोधी भावनायें अलबानिया में उत्साहित की गयीं। बाद में 1932 में जोगू ने इटली के साथ कस्टम यूनियन बनाने के प्रस्ताव को अमान्य करार दे दिया और 1933 में इटालवी लोगों द्वारा नियंत्रित तमाम प्राइवेट स्कूलों को बन्द कर दिया। अगले कुछ महीनों में राजा ने यह प्रयत्न किया कि उसकी सेना में

इटालवी अधिकारियों के प्रभाव को कम किया जाये। इसमें उसे असफलता मिली। जल्दी ही दोनों देशों के सम्बन्ध खराब होने लगे। 1938 के अन्त तक इटली अबीसीनिया का मालिक बन चुका था और स्पेन में जनरल फ्रांको की विद्रोही सेना पर उसका पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो चुका था। रोम-वर्लिन-टोक्यो धुरी ने उसकी स्थिति को मज़बूत बनाया। वह अल्बानिया में किसी प्रगति की बाधा को स्वीकार नहीं कर सकता था।

अप्रैल, 1939 तक यूरोप के आकाश में युद्ध के बादल मंडराने लगे थे। जर्मनी ने आस्ट्रिया को अपने में मिला लिया था और चेकोस्लोवाकिया का अंग-अंग कर दिया गया था। 1939 के गुड फ्राइडे के दिन इटालवी फौजों ने अलवानिया के किनारे पर हमला किया और अलबानिया की राजधानी तिराना में घुस गयीं। अलवानिया की सेना द्वारा बहुत कम प्रतिरोध किया गया। इटली का राजा विक्टर एमानुएल तृतीय अल्वानिया का राजा घोषित हुआ। इसके पूर्व उसने अबीसीनिया के सम्राट की उपाधि प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार, अप्रैल, 1939 तक इटालवी साम्राज्य का विस्तार अफ्रीका और यूरोप में हो गया था।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाएं।

1) लीग ऑफ नेशन्स ने इटली के विरुद्ध जो प्रतिबन्ध लगाये थे उनकी कमियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

2) अबीसीनिया युद्ध का परिणाम क्या हुआ?

.....

.....

.....

.....

12.6 सारांश

फासिस्ट तानाशाही का सर्वप्रथम संस्थापना इटली में हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के समय इटली ने युद्ध में ब्रिटेन फ्रांस और अमेरिका के पक्ष में भाग लिया। जब 1915 में इटली युद्ध में शामिल हुआ उसके साथी देशों ने उससे वादा किया कि युद्ध के बाद यूरोप और अफ्रीका में शत्रु के कई क्षेत्र उसे दे दिये जायेंगे। इतना होते हुए भी बहुत से वादे पूरे नहीं किये गये। इसका कारण प्रेसिडेन्ट विल्सन का दृष्टिकोण था। इससे इटली परेशान हो गया और उसने अपनी विजय को "विकलांग विजय" की संज्ञा दी। इसके अतिरिक्त इटली की आन्तरिक राजनैतिक तथा आर्थिक हालत युद्ध के बाद इतनी शोचनीय थी, कि कोई भी सरकार इनका प्रबन्ध ठीक से नहीं कर सकती थी। इस परिस्थिति में मुसो लेनी ने अपनी "काली कमीज" वाले फासिस्ट स्वयं सेवकों का नेतृत्व किया और सत्ता हथिया ली। अक्टूबर, 1922 में उसे प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। उसने शीघ्र एक दल की तानाशाही स्थापित कर ली।

मुसोलिनी के उदाहरण का अनुसरण हिटलर ने जर्मनी में किया जिसकी नाजी पार्टी ने एक तानाशाही शासन की स्थापना 1933 में की। मुसोलिनी और हिटलर दोनों ने फासिस्टों की स्पेन के गृह युद्ध में जीतने में तथा एक पार्टी के शासन को स्थापित करने में मदद की।

फासिस्टों के पास अच्छी प्रकार से परिभाषित सिद्धान्त नहीं था। फासिस्टवाद सिर्फ कार्य-संकुल एक ब्रांड था। प्रारम्भ में यह समाजवाद के विरुद्ध था तथा इसी प्रकार संसदीय जनतंत्र के भी विरुद्ध था। इसे निहित स्वार्थी तथा पूंजीपतियों से मदद मिलती थी। यह अतिवादी राष्ट्रवाद का समर्थक था और अपने उद्देश्य की पूर्ति शक्ति से करने में विश्वास रखता था। इसने शांति और निशस्त्रीकरण को अस्वीकार कर दिया। फासिवाद युद्ध का प्रसंशक था और शस्त्रों की शक्ति को गौरव प्रदान करता था। विदेशी मामलों में फासिवाद आक्रामक कार्य करता था। इसने अबीसीनिया के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही की और इस

असहाय देश को अपने में मिलाया ही नहीं किन्तु इस प्रक्रिया में लीग को भी छोड़ दिया। फासिस्ट इटली ने स्पेन के गृह युद्ध में बाधा दी और फासिस्ट शासन स्थापित करने में मदद दी। इसके बाद इटली ने अलबानिया को भी अपने आप में मिला लिया। इसी बीच फासिस्ट इटली ने नाजी जर्मनी और साम्राज्यवादी जापान से मिलकर एक धुरी बनाई। इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी अधिकांशतया द्वितीय विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी बनीं।

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लैंगसेम, डब्लू.सी : 1971. *दी वर्ल्ड सिन्स 1919* न्यूयार्क, दी मैकमिलन पब्लिशिंग कंपनी.

अलब्रेच्ट कैरी : 1958. *ए डिप्लोमेटिक हिस्ट्री ऑफ यूरोप सिन्स दी कांग्रेस ऑफ वियना,* न्यूयार्क एण्ड इवेन्स्टन, हार्पर एण्ड रॉर पब्लिशर्स.

कार, इ.एच. : 1963. *इन्टरनेशनल रिलेशन्स बिटविन दी टू वर्ल्ड वारस,* लंदन, मैकमिलन एण्ड कंपनी लिमिटेड.

धर, एस.एन. : 1982. *इन्टरनेशनल रिलेशन्स एण्ड वर्ल्ड पोलिटिक्स सिन्स 1919,* न्यू देहली एण्ड लुधियाना, कल्याणी पब्लिशर

ज्होनसन पाल : 1983. *ए हिस्ट्री ऑफ दी मॉडर्न वर्ल्ड फ्रोम 1917 टू 1980, दी* लंदन, वाइडेनफेल्ड एण्ड निकलसन.

शूमैन, फ्रैडरिक एल. 1969. *इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, न्यूयार्क,* मैकग्रॉ-हिल बुक कंपनी.

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क) सत्य
   ख) असत्य
   ग) सत्य

2) प्रथम विश्व युद्ध के कुछ वर्षों बाद इटली अपनी युद्ध की प्राप्तियों से असंतुष्ट हुआ। इटली की अर्थव्यवस्था का बुरा हाल था और साम्यवादी हड़तालों का संगठन कर रहे थे। जिसने उत्पादन पर प्रभाव डाला। सरकार कमजोर थी और परिस्थितियों पर नियंत्रण पाने में असमर्थ थी।

बोध प्रश्न 2

1) वे तमाम क्षेत्र जिनको इटली को देने का वादा इंग्लैण्ड और फ्रांस द्वारा किया गया था उसे नहीं दिये गये। इटली की युद्ध प्राप्तियाँ अपर्याप्त थीं। जिसने लोगों को मुसोलिनी के पक्ष की ओर उन्मुख कर दिया, जिसने इटली के गौरव को पुनः प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की।

2) मुसोलिनी ने मंत्री बनने से इन्कार कर दिया था यद्यपि फासिस्टों के पास सिर्फ 35 सीटें थीं। तब उसने सत्ता को हथियाने का आदेश दिया और वह प्रधानमंत्री बना दिया गया।

बोध प्रश्न 3

1) (क) अनुशासन (ख) शामीवाद का विरोध
2) शक्ति, अनुशासन, शस्त्रास्त्र, युद्धप्रिय राष्ट्रवाद, युद्ध

बोध प्रश्न 4

1) तेल पर प्रतिबन्ध नहीं, सैनिक प्रतिबन्ध नहीं, लीग के गैर-सदस्य जैसे जर्मनी ने प्रतिबन्ध नहीं लगाये।
2) अबीसीनिया हारा और इटालवी साम्राज्य में मिला लिया गया; लीग ऑफ नेशन्स कमजोर हो गयी; फ्रांस ने इटली की मित्रता खो दी; इटली नाज़ी जर्मनी के और भी नजदीक चला गया।

इकाई 13 तृतीय रीश (Reich) की विदेश नीति

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 हिटलर तथा तृतीय जर्मन साम्राज्य (थर्ड राइक)
  13.2.1 हिटलर का सत्ता ग्रहण करना
  13.2.2 तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति के मूल आधार
13.3 सार प्रदेश की जर्मनी को पुनः प्राप्ति से पहले की विदेश नीति
  13.3.1 हिटलर द्वारा प्रारंभिक वर्षों में शांति प्रियता का आडंबर (दिखावा)
  13.3.2 तृतीय जर्मन साम्राज्य की प्रारंभिक विदेश नीति का पड़ोसियों पर प्रभाव
13.4 रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी
  13.4.1 संधियों का खण्डन (अस्वीकरण)
  13.4.2 आंग्ल-जर्मन नौ-सेना समझौता
  13.4.3 अबीसीनिया तथा स्पेन
  13.4.4 धुरी का निर्माण
13.5 आक्रमण तथा विस्तार
  13.5.1 आस्ट्रिया पर अधिकार
  13.5.2 चेकोस्लोवाकिया का विनाश
  13.5.3 डेंजिग तथा पोलैण्ड
13.6 सारांश
13.7 शब्दावली
13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में जर्मनी की विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों तथा उस के क्रियान्वयन के ढंग का विवेचन किया गया है। हिटलर ने तृतीय जर्मन साम्राज्य की स्थापना की तथा उसने ऐसी नीति का अनुसरण किया जिसमें पहले की गई सभी संधियों का अस्वीकरण कर दिया गया। दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण विजय तथा जर्मन राष्ट्र का विस्तार उसकी नीति के अंग थे।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप अग्रांकित तथ्यों को समझने में सक्षम होंगे—

- आप तृतीय जर्मन साम्राज्य की नीतियों पर हिटलर के व्यक्तित्व के प्रभाव को समझ पायेंगे।
- आप नाजी जर्मनी की विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों तथा मूल आधारों को जान पायेंगे (तृतीय जर्मन साम्राज्यक)
- आप नाजी जर्मनी की विदेश नीति का उसके पड़ोसियों पर पड़ने वाले प्रभाव का विवेचन करने में सक्षम होंगे।
- आप उन संधियों के अस्वीकरण और नये गठजोड़ों के संस्थापन का वर्णन करने में समर्थ होंगे।
- आप यह समझ पायेंगे कि आस्ट्रिया को किस प्रकार आतंकित करके तृतीय जर्मन साम्राज्य के अधीन कर लिया था।
- आप इस तथ्य पर विचार करने में सक्षम होंगे कि किस चतुराई से चेकोस्लोवाकिया का विनाश किया गया तथा कैसे सोवियत जर्मन अनाक्रमण समझौते का समापन हुआ।

13.1 प्रस्तावना

जर्मनी में एडॉल्फ हिटलर द्वारा नाजी तानाशाही स्थापित करने के पश्चात् 1933 में तृतीय जर्मन साम्राज्य (थर्ड राइक) की स्थापना की गयी। वर्साय की संधि, जोकि जर्मनी पर 1919 में थोपी गयी थी, हिटलर उसका कटु आलोचक था। हिटलर उस संधि को समाप्त करने हेतु कृत संकल्प था। 30 जनवरी, 1933 को हिटलर जर्मनी का 'चान्सलर' (प्रधानमंत्री) बना। 'चान्सलर' बनने से बहुत पहले अपनी आत्मकथा में (1924 में जबकि हिटलर ने जेल में "मेरा संघर्ष" नामक अपनी आत्मकथा लिखी) लिखा था कि—

1) फ्रांस, जर्मनी का प्रथम श्रेणी का शत्रु था।
2) साम्यवाद एक भयंकर बुराई है।
3) यहूदी अपराधी थे।
4) जर्मनी का विस्तार पूर्व की तरफ होना चाहिए, जोकि प्रत्यक्षतः पोलैण्ड तथा सोवियत संघ की कीमत पर ही संभव था।
5) सभी जर्मन लोगों को एक ही साम्राज्य में सम्मिलित होना चाहिए।
6) इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए युद्ध एक महत्वपूर्ण साधन था।
7) इंग्लैण्ड तथा इटली को जर्मनी का सहयोगी होना चाहिए।

जब वह सत्ता में आया तब उसने सभी विरोधियों का सफाया कर दिया। उसने जातिवाद की वकालत की तथा यहूदियों पर अत्याचार किया। साम्यवादियों को कैद कर लिया अथवा उन पर मुकदमें चलाये और तृतीय जर्मन साम्राज्य की स्थापना की।

तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति का प्रतिपादन (सूत्रीकरण) हिटलर द्वारा अपनी आत्मकथा "मेरा संघर्ष" (मीन कैम्प) में उल्लिखित आधारों पर किया। यह आत्मकथा हिटलर ने 1924 में लिखी जब कि वह जेल में था। प्रारंभ में हिटलर ने आडम्बर (दिखावा, बहाना) किया कि वह सभी पड़ोसियों के साथ शांतिपूर्वक रहना चाहता है और यह कि युद्ध की वास्तव में आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन यह आडंबर केवल कुछ समय और लेने हेतु कोशिश मात्र था ताकि गुप्त शस्त्रीकरण कार्यक्रम प्रभावशाली ढ़ंग से आगे बढ़ाया जा सके। इसके साथ ही हिटलर अन्य मामलों में जल्दबाजी नहीं करना चाहता था जब तक कि सार प्रान्त को पुनः प्राप्त न कर लिया जाये। जब यह कार्य (सार प्रान्त को वापिस लेने का) 1935 में पूरा हो गया तब हिटलर ने आडंबर का परित्याग कर दिया तथा जर्मनी द्वारा किये गये अन्तर्राष्ट्रीय वायदों (दायित्वों) का खण्डन करना प्रारंभ कर दिया अर्थात्, उन्हें अस्वीकार करना प्रारंभ कर दिया। उसने वर्साय की संधि की सैन्य शर्तों की अवहेलना कर दी और बाद में स्वेच्छा से ही राइन प्रदेश का समझौता (लोकार्नो समझौता) सम्पन्न किया। पांच वर्ष की अल्प अवधि में ही तृतीय जर्मन साम्राज्य का आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के अधिकांश भाग पर अधिकार करते हुए विस्तार किया गया। अन्ततः पोलैण्ड पर विजय प्राप्त करने के प्रयास हेतु तृतीय जर्मन साम्राज्य ने अपने कट्टर प्रतिद्वन्द्वी सोवियत संघ के साथ भी एक अस्थाई समझौता किया। 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ कर दिया। इस इकाई में आप तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति के मूल आधारों (मूल तत्वों) का अध्ययन करेंगे तथा यह भी पढ़ेंगे कि किस प्रकार से इस विदेश नीति का संचालन किया गया जिससे कि यह विदेश नीति द्वितीय विश्व युद्ध का कारण बनी।

13.2 हिटलर तथा तृतीय जर्मन साम्राज्य (थर्ड राइक)

नाजीवाद फासीवाद की दूसरी किस्म थी। अर्थात् नाजीवाद, फासीवाद का एक अन्य प्रभेद अथवा प्रकार था। दोनों का ही शक्ति, युद्ध विस्तार, एवं अतिराष्ट्रीयतावाद में विश्वास था। जब इटली में मुसोलिनी फासीवाद का संचालन कर रहा था तब एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी में एक शक्तिशाली तृतीय जर्मन साम्राज्य स्थापित करने का दायित्व अपने ऊपर लिया। दोनों देशों में सर्वसत्तावाद प्रचलित था और दोनों ही देशों पर आकर्षक व्यक्तित्व वाले तानाशाहों का आधिपत्य था। वीमर गणराज्य, जो कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी में स्थापित किया गया था, देश की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ था। हालांकि गस्टाव स्ट्रेसमेन (जर्मनी का विदेश मंत्री 1924-29) के गत्यात्मक नेतृत्व में जर्मनी ने सोजन्यशील राष्ट्रों की पंक्ति में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। यह तब संभव हुआ जब जर्मनी ने फ्रांस तथा बेल्जियम से मिलने वाली अपनी सीमाओं को मान्यता देने तथा राइन प्रदेश को विसैन्यकृत रखने का वचन उसने 1925 की लोकार्नो संधि के माध्यम से दिया और पश्चिमी शक्तियों ने उसे 1926 में राष्ट्र संघ में सम्मिलित होने की अनुमति दी। जर्मनी की मौद्रिक समस्या का समाधान इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के सक्रिय सहयोग से डेव्स योजना (1924) द्वारा किया गया तथा क्षतिपूर्ति के मुद्दे का समाधान यंग योजना (1924) द्वारा किया गया था। इतना सब कुछ होते हुए भी जर्मनी एक विसैन्यकृत राष्ट्र बना रहा। उसकी वायु सेना पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। उसकी सेना कमजोर थी और नौ सेना शक्तिविहीन थी। जर्मनी को एक विशाल धन राशि क्षतिपूर्ति के रूप में चुकानी थी। जर्मन लोग अपने आपको अपमानित महसूस करते रहे तथा वे यह भी मानते रहे कि उनके विरुद्ध भेद-भावपूर्ण नीति अपनाई जा रही है। लाखों जर्मन अल्प संख्यकों के रूप में रह रहे थे। और विशेष कर ये पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया में रह रहे थे। यह वही परिस्थिति है जिसका लाभ एडॉल्फ हिटलर ने अपने प्रभावशाली भाषणों में जर्मनों को एक गौरवशाली भविष्य देने के वायदे के द्वारा उठाया। विश्व को आर्थिक मंदी की समस्या हिटलर के लिए ईश्वर की तरफ से एक भेंट के रूप में आयी।

उसने देश की दुर्व्यवस्था के लिए जर्मनी की पूर्ववर्ती सरकारों पर दोषारोपण किया तथा चान्सलर (प्रधानमंत्री) बनने के अपने लक्ष्य को जनवरी, 1933 में प्राप्त कर लिया। एक बार जब उसने सत्ता प्राप्त कर ली तो अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों के कार्यान्वयन हेतु उसने एक सुनियोजित रणनीति तैयार की।

13.2.1 हिटलर का सत्ता ग्रहण करना

हिटलर का सत्ता आरोहण जो कि आस्ट्रियायी मूल के एक अज्ञात व्यक्ति का जर्मनी के शक्तिशाली तानाशाह के रूप में सत्ता ग्रहण करना था, वास्तव में उल्कापात की भांति था। अर्थात्, हिटलर का सत्ता आरोहण एक अति-साधारण व्यक्ति का अत्यन्त शक्तिशाली तानाशाह बन जाना था, जो कि वास्तव में आश्चर्य चकित करने वाला तथ्य था। हिटलर का राजनीतिक जीवन उस समय प्रारंभ हुआ जबकि वह 1920 में सेना की नौकरी छोड़कर "जर्मन वर्कर्स पार्टी" बनाने में जुट गया। यह पार्टी आगे चलकर "नेशनल सोसियलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी" कहलाने लगी। बाद में हिटलर इसे "नेशनल सोसियलिस्ट" अथवा नाजी पार्टी कहा करता था।

नवम्बर, 1923 में उसने बवेरिया में एक असफल विद्रोह का प्रयास किया। उसे 25 फरवरी को बन्दी बना लिया गया तथा उस पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया हालांकि हिटलर ने अपने मुकदमें को राजनीतिक विजय के रूप में बदल दिया। उसने न्यायालय को कहा कि "ऐसी कोई चीज है ही नहीं जोकि 1918 के विश्वासघातियों के विरुद्ध बड़ा देशद्रोह हो"। उसे पांच वर्ष की कैद की सजा सुनाई गई लेकिन नौ महीने से भी कम समय जेल में रहने के बाद दिसम्बर 1924 में उसे जेल से रिहा कर दिया गया। जेल में उसे 'मेरा संघर्ष' (मीन केम्प) लिखना प्रारंभ कर दिया था।

हिटलर के कारावास की अवधि में नाजी पार्टी को अवैध घोषित कर दिया गया तथा इसका नेतृत्व विघटित होने लगा। फरवरी, 1925 में नाजी पार्टी का पुनः गठन किया गया तथा इसकी शक्ति एवं लोकप्रियता में शीघ्र ही वृद्धि हुई। जुलाई, 1932 के चुनावों में नाजी पार्टी ने जर्मनी की लोक सभा (राइक स्टाग) के 608 स्थानों में से 230 स्थानों पर विजय प्राप्त की। 1931 से ही वैधता की उसकी नीति के लाभदायी परिणामों का काफी समय इन्तजार करने के पश्चात हिटलर को राष्ट्रपति ने जर्मनी का चांसलर (प्रधानमंत्री) बनने के लिए आमंत्रित किया। पद ग्रहण करने के तुरन्त पश्चात उसने सम्पूर्ण शक्ति को अपने हाथों में संकेन्द्रित कर लिया।

हिटलर का जनवरी 1933 में सत्ता में आगमन पूर्णतः संवैधानिक था। 27 फरवरी, 1933 को संसद भवन (राइक स्टाग बिल्डिंग) में भयंकर आग लग गई। हिटलर ने इस अपराध के लिए साम्यवादियों पर दोषारोपण किया तथा उनमें से बहुतों को गिरफ्तार कर लिया। हिटलर का उद्देश्य साम्यवादियों की साख गिराना था। हालांकि आलोचकों ने दावे के साथ कहा कि लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए आग हिटलर ने स्वयं लगवाई। शीघ्र अनुक्रम में उसने कई कानून बनाये जो कि राज्य के विभिन्न अंगों तथा सरकार-विधायिका, आरक्षी, कार्यपालिका आदि को नियंत्रित करने में उसके काम आये। राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मृत्यु के पश्चात् राष्ट्रपति तथा चान्सलर (प्रधानमंत्री) के पदों को मिलाकर एक कर दिया गया। 14 अगस्त को उसने जनमत संग्रह करवाया जिसमें उसने मंत्री परिषद द्वारा उसे "फ्यूरर" तथा "चान्सलर" बनाये जाने के कार्य पर राष्ट्र की जनता की राय जानी। इस जनमत संग्रह में 38 मिलियन (3 करोड़ 80 लाख) लोगों ने पक्ष में 'हां' कहा। एक नये कानून की आवश्यकता पड़ी जिससे कि सशस्त्र सेनायें "फ्यूरर" (हिटलर की नयी पदवी) के प्रति निष्ठा की नयी शपथ ले सकें। हिटलर अब राज्य का अध्यक्ष था, सरकार का प्रधान था, सेना का अध्यक्ष था— वास्तव में वह राष्ट्र ही बन गया था। अर्थात्, हिटलर जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया था।

13.2.2 तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेशनीति के मूल आधार

नाजी भी हीगल की भांति राज्य को महिमामंडित करते थे तथा इस बात पर बल देते थे कि राज्य की सेवा करना व्यक्ति का दायित्व है। व्यक्ति की स्वतंत्रता राष्ट्रनायकों —श्रेष्ठामानों की आज्ञा का स्वेच्छा से पालन करने में ही निहित है। उसकी (हीगल की) मान्यता थी कि शक्तिशाली और शक्तिविहीन के मध्य जो शाश्वत संघर्ष है उसमें शक्तिशाली की ही विजय होती है। अतः इस शाश्वत खेल में शक्ति ही आदि और अन्त है। राज्य इस शक्ति के लिए एक साधन मात्र है — इसके लिए जिन विशेषताओं को महत्व दिया जाता है वे हैं— अनुशासन, एकता और बलिदान। इतिहास की व्याख्या उत्कृष्ट शक्ति करती है न कि आर्थिक कारक। इतिहास में जाति की भूमिका केन्द्रीय रही है न कि वर्ग की। मानव में जो असमानतायें हैं वे "मनुष्य से वेसे ही अलग होने वाली नहीं हैं जैसे जन्म और मृत्यु" तथा "उसी तरह अपरिवर्तनीय है

जिस प्रकार कि गणितीय सच्चाईयां।" वह सामान्य मनुष्य के प्रति अविश्वास रखता था क्योंकि उसके अनुसार वह (सामान्य आदमी) तर्क नहीं करता है। और उससे भी कम, सृजनात्मक आलोचना करता है। प्रजातंत्र, इसीलिए मूर्खों और कायरों की सरकार है।

हिटलर ने "मेरा संघर्ष" (मीन केम्प) में यूरोप में नये क्षेत्र प्राप्त करने पर बल दिया, जिससे कि जर्मन लोगों के लिए काफी जगह प्राप्त करना सुनिश्चित हो सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उसने कहा कि जर्मन साम्राज्य (राइक) को सैन्य मैत्री स्थापित करनी चाहिए क्योंकि "एक संधि, जिसका उद्देश्य युद्ध नहीं है, वह बेकार है।" उसने तर्क दिया कि कोई भी देश तब तक जर्मनी के साथ मैत्री करना पसन्द नहीं करेगा जब तक कि जर्मनी उसे सैनिक सहायता न दे सके। इसलिए जर्मन विदेश नीति के सम्मुख तात्कालिक कार्य राष्ट्र को एक शक्तिशाली सशस्त्र सैनिक शक्ति के रूप में परिवर्तित करना था। इंग्लैण्ड तथा इटली को हिटलर ने जर्मन साम्राज्य के भावी मित्रों के रूप में देखा। उसने लिखा कि "फ्रांस जर्मनी का कट्टर शत्रु है और हमेशा रहेगा। जर्मनों को फ्रांस के साथ एक सक्रिय तथा अंतिम संघर्ष हेतु संलग्न हो जाना चाहिए।' दूसरे शब्दों में अलसासलोरेन को वापिस लेने के लिए जर्मनी को युद्ध प्रारंभ कर देना चाहिए।

लेकिन, क्षेत्र का वास्तविक लाभ सोवियत संघ की कीमत पर होगा। हिटलर ने सोवियत संघ के साम्यवादी शासकों के प्रति अपनी नापसंदगी को छुपाकर नहीं रखा। इस प्रकार तृतीय, जर्मन साम्राज्य की विदेशनीति इन दृष्टियों से तैयार की गई थी— इसका लक्ष्य फ्रांस से शत्रुता था, यहूदियों और साम्यवादियों का विनाश, तथा यूरोप के अन्दर जर्मनी का विस्तार—जो कि सोवियत संघ की कीमत पर हो।

हिटलर ने विजय और तानाशाही का अपना सिद्धान्त तैयार किया। उसके अनुसार सब जातियों में से श्वेत जाति (व्हाइटरेस) सर्व श्रेष्ठ थी तथा सब श्वेत जातियों में से आर्य अर्थात् जर्मन सर्वश्रेष्ठ थे। लेकिन इन जर्मनों में भी एक विशिष्ट वर्ग नाजी पार्टी जो कि सर्वोत्कृष्टता का प्रतिनिधित्व करती है, श्रेष्ठ है। इस नाजी पार्टी में भी एक नायक "फ्यूरर" है जो सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए जर्मन जाति को विश्व विजय करने तथा अन्य जातियों को अपने अधीन करने का अधिकार है। अतः किसी भी राष्ट्र को स्वतंत्रता का स्वाभाविक अधिकार नहीं है। तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद एवं राष्ट्र संघ की बातें बेवकूफी का नमूना है।

हिटलर के लिए लोगों में सबसे महत्वपूर्ण एकता जातीय एकता थी। उसके लिए सबसे पवित्र दायित्व उस एकता को संरक्षित करने और पवित्र बनाने का था। नाजीवाद इसलिए शक्ति के लिए सरल दावे का पक्षकर्ता था जो केवल संबंधों को स्वीकृति देता है। वे सम्बन्ध दूसरों पर अधिकार करने के हैं और वह एक ही तर्क को जानता है जो शक्ति का है।" जर्मन लोगों के एकीकृत समूह को जो "विदेशी शासन" के नीचे रह रहे हैं, उनको अपरिहार्य रूप से तीसरे जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत निश्चय ही लाना होगा। दूसरी ओर यहूदी जो "बुराई के अवतार" थे उनका समूल नाश होना आत्यावश्यक है।

हिटलर के साम्यवाद विरोध के पीछे दो कारण थे:

1) वह अपने सभी विरोधियों को एक जाति और एक वर्ग में रखता था। उसने कहा था कि यहूदी "अक्रियात्मक है या सृजनात्मक नहीं हैं। वे दूसरों के श्रम पर पलने वाले हैं, निर्दयी हैं तथा लालची और स्वार्थी हैं।" मार्क्सवाद के लिए वे ही लोग जिम्मेदार हैं।
2) दूसरे, जर्मनी के लोगों को एकीकृत करने के लिए कुछ आदमियों से घृणा करना और उन्हें डरना आवश्यक है। यहूदी इस भाग को अदा करने के लिए समुचित हैं। यहूदी जाति जो अन्तर्राष्ट्रीय रूप से बिखरी पड़ी है, उसे सृजनात्मक जातियों को गंभीरतम खतरे के मूर्त रूप में निश्चित किया जा सकता है।

लाखों यहूदी, प्रजातांत्रिक एवं साम्यवादी जानबूझ कर पाश्विक ढंग से मृत्यु के घाट उतार दिये गये। ऐसे कानून पास किए गये जिन्होंने शिक्षा, रोजगार सम्पत्ति के अधिकार और विवाह के कार्यों में यहूदियों के विरुद्ध भेदभाव को जन्म दिया।

नाजी दर्शन के अन्तर्गत शक्ति का पूर्ण रूप से "सैद्धांतिकरण" कर दिया गया। हिटलर ने कहा "शाश्वत युद्ध में मानवता महान् हो गई है और आगे चलकर कहा कि "शाश्वत शांति से यह नष्ट हो जायेंगी। हिटलर के सैन्यवाद में राष्ट्रीय जीवन का हर पक्ष सैनिक ढंग से संगठित किया गया था और उसमें सैनिक भावना भर दी गयी थी।

इस प्रकार नाजी विदेश नीति की बाइबिल यह थी कि हर दूसरी शक्ति को चोट मार कर नष्ट कर दिया जाय। संशोधन वादी आक्रमण का उद्देश्य यह था कि खोये हुए प्रदेशों को जीता जाय, जो कि राष्ट्र संघ (लीग) के मार्फत नहीं हो सकता तथा निशस्त्रीकरण और शांतिवाद से भी नहीं हो सकता। हिटलर की

विदेश नीति का मूल उद्देश्य जर्मनी के लिए एक महाद्विपीय आधार प्राप्त करना था ताकि अपनी मातृभूमि में वह विशाल क्षेत्र को सम्मिलित कर सके। उपनिवेशों में नहीं जबकि ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यवादी भवन पिरामिडों की तरह थे जो अपने आधार पर खड़े थे। अमेरिका का आधार अपना महाद्वीप था और उससे उसे आन्तरिक शक्ति प्राप्त होती थी। हिटलर इसी तरह का जर्मनी के लिए महाद्वीपीय आधार चाहता था जो उसे रूस के फैले हुए प्रदेशों में मिलता। लेकिन इसके पहले कि यह तय किया जा सके फ्रांस जो "जर्मनी को एक शक्ति के रूप में नहीं देखना चाहता, उसे कुचला जाना जरूरी था। इस प्रकार जर्मन विदेश नीति के मुख्य आधार ब्रिटेन और इटली से मित्रता स्थापित करना तथा फ्रांस और सोवियत रूस को दण्ड देना था और क्षेत्रीय रूप से यूरोप में पूर्व की ओर बढ़ना था। इसके अलावा यहूदियों का सर्वनाश और तमाम जर्मन लोगों को तीसरे जर्मन साम्राज्य से जोड़ना भी एक आधार था।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये हुए आदर्श उत्तरों से मिलाएं।

1) जर्मन आर्यों की जातिगत श्रेष्ठता के सम्बन्ध में हिटलर के दृष्टिकोण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

2) तीसरे जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति के सिद्धांतों में सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

13.3 सार प्रदेश की जर्मनी को पुनः प्राप्ति से पहले जर्मनी की विदेश नीति

पिछली इकाई में आपने पढ़ा है कि सार का संपन्न कोयला खनिज क्षेत्र लीग आफ नेशन्स के प्रभाव क्षेत्र प्रशासन के अन्तर्गत दे दिया गया था। इस बात की इजाजत दे दी गयी थी कि उसकी कोयले के खानों का दोहन एवं उपयोग फ्रांस द्वारा किया जाए। ये व्यवस्थायें वर्साय की संधि में की गयी थीं जो 15 वर्षों तक की अवधि में लागू रह सकती थी। इस अवधि के बाद सार में एक जनमत को जानने का आयोजन किया जाना था ताकि लोगों को अपना भविष्य स्वयं निर्णित करने का अवसर प्राप्त हो सके। जनमत संग्रह में उनको तीन विकल्प दिये जाने थे।

1) जर्मनी के साथ पुनर्एकीकरण,
2) लीग ऑफ नेशन्स के प्रशासन में स्थायी रूप से रहना, और,
3) फ्रांस से संबद्ध होना।

सार के लोगों ने बहुत बड़े बहुमत से जर्मनी के साथ एकीकृत होने के पक्ष में मतदान किया। सार के जनमत संग्रह के पूर्व हिटलर ऐसी कोई बात करना नहीं चाहता था जिससे जर्मनी के विरुद्ध कदम उठाये जाने की संभावना बनती तथा जर्मन साम्राज्य के साथ सार को जुड़ने के काम में देरी होती। दूसरे, नाजी जर्मनी ने देश के गुप्त शस्त्रीकरण की प्रक्रिया शुरू कर दी थी और हवाई शक्ति की भी प्रस्थापना कर दी गयी थी। 'मीनकेम्प' में वर्णित नीतियों के क्रियान्वयन का प्रयत्न हिटलर शुरू नहीं करना चाहता था जब तक उसे अपने पास पर्याप्त शक्ति होने का विश्वास नहीं हो जाता। उस समय तक वह यह बहाना बनाते रहना चाहता था कि अधिक क्षेत्र को चाहने की घोषित नीति को वह छोड़ चुका है। तीसरे, 1919 की शांति व्यवस्था में जर्मनी के प्रशिया का एक भाग पोलैण्ड को दे दिया गया था जो समुद्र तक पहुंचने का उसका एक गलियारा बन जाती। पूर्वी प्रशिया अब भी जर्मनी के साथ था पर पोलैण्ड के गलियारा के कारण अलग पड़ता था। हिटलर के मुख्य उद्देश्यों से एक पश्चिमी प्रशिया से पुनर्गठजोड़ व्यवस्था। इसके लिए पोलैण्ड तथा उसके मित्र फ्रांस से विरोध करना पड़ता। हिटलर ने यह बहाना करने का निश्चय किया कि वह

पोलैण्ड से युद्ध नहीं करना चाहता ताकि पोलैण्ड सैनिक दृष्टि से तैयारी नहीं कर सके तथा कमजोर राष्ट्र बना रहे।

13.3.1 हिटलर द्वारा प्रारंभिक वर्षों में शांति प्रियता का आडम्बर (दिखावा)

चांसलर होने के बाद विदेश नीति पर अपने माप दण्ड में हिटलर ने विश्व को आश्वासित करने का प्रयत्न किया कि नाजी जर्मनी केवल काम और शांति को चाहता है। 'राइकस्टाग' की विशेष बैठक में जो मई, 1933 में आयोजित हुई, हिटलर ने आक्रमण के सभी इरादों से तथा विस्तार की नीति से इन्कार किया। उसने वर्साय की संधि की कटु आलोचना से अपनी बात प्रारंभ की। पर इसी प्रभाव पूर्ण ढंग से उसने युद्ध की निन्दा की। उसने कहा कि विदेशी लोगों के जर्मनीकरण की उसकी कोई इच्छा नहीं है। उसने जर्मनी के पूर्ण निशस्त्रीकरण, रहाइन लैण्ड के विसैन्यीकरण और वर्साय की संधि के परिपालन के उदाहरण दिये। इतना होते हुए भी उसने जर्मन साम्राज्य को दूसरी बड़ी शक्तियों के समकक्ष माने जाने की मांग की तथा उनसे अनुरोध किया कि वे निशस्त्रीकरण की अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करें। अपनी सुरक्षा के लिए जर्मन साम्राज्य अनाक्रमण संधि करने को तैयार था।

जर्मनी का निशस्त्रीकरण सम्मेलन से वहिर्गमन हो गया तथा अक्टूबर, 1933 में राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) से भी अलग हो गया। लेकिन उसी दिन हिटलर ने फ्रांस से अनुरोध किया कि वह बीती बातों को भुला दे। उसने कहा "मैं जब गंभीरतापूर्वक यह घोषणा करता हूं तो समस्त जर्मन जनता की ओर से बोलता हूं कि हम शत्रुता को दूर करने की सच्ची भावना से प्रभावित हैं: सभी मानवता के लिए यह एक अतिशय महत्वपूर्ण घटना होगी अगर दोनों देश सदा के लिए शक्ति का प्रयोग अपने सामान्य जीवन से दूर कर दें .....!" उसने आगे चलकर कहा..... "जर्मन लोग इसके लिए तैयार हैं।" सार के लौटाने के बाद केवल पागल व्यक्ति दोनों राज्यों के बीच युद्ध की संभावना व्यक्त कर सकता है। हिटलर यहां तक आगे बढ़ा कि उसने सोवियत संघ को भी आश्वासित किया। फरवरी, 1934 में उसने जर्मनी द्वारा रूस पर संभावित आक्रमण के सुझाव की ही हंसी उड़ाई। उसका तर्क था कि ऐसे किसी हमले की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसकी जन संख्या में वृद्धि रुक गयी है। शक्ति संभालने के बाद उसके द्वारा युद्ध की भावना की खुली आलोचना को देखते हुए उसके "मेरा संघर्ष" (मीनकेम्प) में प्रदर्शित विचारों को अनेक देशों ने सिर्फ एक निराश कैदी की धमकी माना। 'मीनकेम्प' में विवर्णित विदेश नीति के उद्देश्यों और खुले रूप से घोषित उद्देश्यों में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध था। लेकिन वास्तव में यह एक सुचिंतित नीति की चाल थी। चूंकि तीसरे जर्मन साम्राज्य को पोलैण्ड को एक बड़ा शिकार बनाना था इसलिए हिटलर ने उस देश को आत्म सन्तुष्ट रखने का निश्चय किया। चूंकि पोलैण्ड के पास कोई विश्वसनीय मित्र नहीं था अतः जर्मनी से पुनर्निकटता के विचार का उसने स्वागत किया और स्वेच्छा से जनवरी, 1934 में जर्मन-पौलैण्ड अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इससे जर्मन समाचार पत्रों द्वारा पोलैण्ड के विरुद्ध किया जाने वाला प्रचार बन्द होता गया और "लीग ऑफ नेशन्स" के विचारणीय विषयों से जर्मन अल्पमत की शिकायत गायब हो गयी। यह सच है कि इस संधि में पोलैण्ड को सिर्फ अनाक्रमण के लिए दस वर्ष की अवधि की प्रतिज्ञा की गयी थी। इसके बावजूद जैसा कि बाद की घटनाओं ने साबित किया जर्मन साम्राज्य सिर्फ समय प्राप्त करना चाहता था ताकि वह पोलैण्ड पर हमला करने के पूर्व वह आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को हड़प जाये।

13.3.2 तीसरे जर्मन साम्राज्य की प्रारंभिक विदेश नीति का पड़ोसियों पर प्रभाव

जर्मनी में नाजी क्रांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक परिवर्तनकारी घटना सिद्ध हुई। गैथोर्नी-हार्डी के अनुसार जर्मन शक्ति का हिटलर के नेतृत्व में पुनर्जीवन वह महत्वपूर्ण घटना थी जिसने विश्व को आवृत कर लिया। यद्यपि हिटलर ने यह बहाना किया कि वह शांति चाहता है पर उसके कार्य इसके विपरीत थे। जर्मनी में गुप्त शस्त्रीकरण की प्रक्रिया तेज की गयी। जर्मनी का निशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा अक्टूबर, 1933 में 'लीग ऑफ नेशन्स" से बर्हिगमन से उन लोगों को बड़ा धक्का लगा, जो यह विश्वास करने लगे थे कि 'मीनकेम्प' में प्रचारित विचारों में अब हिटलर की कोई दिलचस्पी नहीं है। जबकि अमेरिका और ब्रिटेन में सिर्फ नैतिक क्रोध था, फ्रांस तथा रूस में चिन्ता और डर छाया हुआ था। यही भावना " लिटिलएन्टेन्ट" देशों में तथा ईटली में थी। इस प्रकार जब अमेरिका और ब्रिटेन की विदेश नीतियों में सिर्फ आंशिक सामंजस्य थे लेकिन अवशिष्ट देशों की विदेश नीति में दूरगामी परिवर्तन अति अपरिहार्य हो गये थे।

पूर्वी यूरोप के तीन देशों में गठजोड़ था। ये देश थे— चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगेस्लाविया। इस गठन को "लिटिलएन्टेण्ट" कहा जाता था। और इसका उद्देश्य यथास्थिति बनाये रखना था तथा शांति संधियों के पुनर्निरीक्षण से बचना था जिससे उनकी क्षेत्रीय एकता का विघटन हो जाता। फ्रांस "लिटिलएन्टेन्ट" का सहयोगी था पर उस पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं रहा जा सकता था क्योंकि वह स्वयं

नाजी जर्मनी से भयभीत था। हिटलर के पद भार सम्भालने के समय "लिटिलएन्टेन्ट" के देशों के विदेश मंत्री जिनेवा में निशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग ले रहे थे। उन्होंने शीघ्र एक समझौता कर लिया जिसमें सामान्य हित के मामलों में बार-बार एक दूसरे से सलाह मशविरा करने की बात थी। उन्होंने तीन विदेश मंत्रियों की एक स्थायी समिति का निर्माण किया। आपको स्मरण होगा कि वर्साय की सन्धि ने आस्ट्रिया को जर्मनी से संयुक्त करने की बात पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। अब चूंकि तीसरे जर्मन साम्राज्य का संस्थापन हो चुका था, यह डर बना हुआ था कि हिटलर आस्ट्रिया को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और संघ का निर्माण करेगा (अंशुलुस)। जबकि "लिटिलएन्टेन्ट" के देशों में आस्ट्रो-जर्मन एकीकरण पर सहमति थी, उनके बीच विवरणों में मतभेद थे। इस प्रकार का संघ चेकोस्लोवाकिया को घेर कर खतरा पैदा कर देता जहां 30 लाख से अधिक का मजबूत जर्मन अल्पमत हिटलर का पक्ष करता था। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया आस्ट्रिया को स्वतंत्र देश रखना चाहता था और "अंशुलुस" (संघ) से डरता था। वह आस्ट्रिया के इटली से एकीकरण को इससे अधिक अच्छा मानता था अगर आस्ट्रिया को अपनी स्वतंत्रता खोनी ही है। दूसरी ओर युगोस्लाविया के सम्बन्ध इटली से भी मैत्रीपूर्ण नहीं थे। वह भी स्वतंत्र आस्ट्रिया को पसन्द करता था तथा आस्ट्रिया और इटली के संघ से भय खाता था अगर आस्ट्रिया की स्वतंत्रता के बचे रहने की कोई सूरत नहीं हो। रूमानिया को कोई चिन्ता नहीं थी। वह भी स्वतंत्र आस्ट्रिया को अधिक पसन्द करता था पर उसकी चिन्ता का मुख्य कारण सोवियत रूस था जो उसके क्षेत्रों पर दावा कर सकता था।

पिछली इकाई में आपने पढ़ा है कि कई तरह से नाजीवाद फासिस्टवाद के समान था। इसलिए मुसोलिनी ने मार्च, 1933 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के समक्ष प्रस्ताव रखा कि ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली चार शक्तियों के बीच एक समझौता हो जाये ताकि शांति संधियों के पुर्निरक्षण का रास्ता साफ हो तथा जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण की औपचारिकता पूर्ण हो। इससे जर्मनी को बड़ी शक्ति का पद मिल जाता। इससे फ्रांस और उसके छोटे सहयोगियों जैसे "लेटिलएन्टेन्ट" के देशों और पोलैण्ड के मध्य विवाद खड़ा हो जाता। ये प्रस्ताव फ्रांस को मान्य नहीं थे। ब्रिटेन और जर्मनी भी इस बारे में पूर्णतया आश्वस्त नहीं थे। अन्त में सुक्षम रूप से जुलाई, 1933 में चतुःशक्ति समझौता संपन्न हुआ। जिसमें सिर्फ चारों शक्तियों के आपस में सलाह मशविरा करने की बात थी तथा जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण का इसमें कोई उल्लेख नहीं था। साम्यवादियों एवं यहूदियों के प्रति हिटलर की घोषित शत्रुता की भावना के कारण सोवियत रूस की विदेश नीति को पुनर्स्थापित करना अति आवश्यक हो गया था। वहां यहूदियों का दल के एक भाग पर वर्चस्व था। 1929 तक सोवियत संघ ने यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों से अपने सम्बन्धों का सामान्यीकरण कर लिया था पर अमेरिका ने अपने आप को रूसियों से अलग रखा। 1932 के पतझड़ में यह बात साफ हो गयी थी कि नाजी जर्मन गणतंत्र के लिए एक शक्तिशाली खतरा बन गये थे और सुदूर पूर्व में जापान ने मंचूरिया पर विजय हासिल कर ली थी। इस प्रकार 1932 में सोवियत रूस ने फ्रांस और इटली से अनाक्रमण संधि कर ली। 1933 के शुरुआत में हिटलर जर्मनी में सत्ता में आया। और जापान ने "लीग आफ नेशन्स" को छोड़ने का निश्चय किया। दो विरोधी शक्तियों को सोवियत रूस को व्यवस्थित करना था। इस दृष्टिकोण से फ्रांस और सोवियत रूस ने अनेकों अंधिघोषणाओं में शांति संधि के संशोधन की बात का विरोध किया तथा दोनों देश और भी नजदीक आये तथा उन्होंने अपने बीच सैनिक गठजोड़ की योजना बनायी। जापानी खतरे ने अमेरिका को रूस के निकट ला दिया क्योंकि दोनों को जापान का डर था। नवम्बर, 1933 में लिटविनोव (रूस के विदेश मंत्री) ने अमेरिका की यात्रा की तथा उसे कई आश्वासन दिये। इन्हें ध्यान में रखते हुए अमेरिका ने रूस को मान्यता प्रदान कर दी। इन परिवर्तनों के बाद फ्रांस ने "लीग" के सदस्यों को प्रोत्साहित किया कि वे सोवियत रूस को "लीग" के सदस्य के रूप में स्वीकार कर ले। यह 1934 में किया गया। लीग की कौन्सिल का रूस स्थायी सदस्य बन गया और इस विश्व संस्था की आलोचना उसने बन्द कर दी। 1935 में सोवियत रूस ने दो अलग-अलग समझौते किये, एक फ्रांस से तथा दूसरा चेकोस्लोवाकिया से।

हिटलर के सत्ता में आने के बाद फ्रांस ने सन् 1935 में इटली से समझौता किया। इसे रोम का समझौता या लेवल-मुसोलिनी समझौता कहा गया। इस समझौते का मुख्य कारण यह था कि नाजियों ने जुलाई, 1934 में आस्ट्रिया में सत्ता को हथियाने की असफल चेष्टा की थी। हिटलर आस्ट्रिया को जर्मनी से मिलाने के लिए बेचैन था। इसके प्रोत्साहन देने पर आस्ट्रिया के नाजियों ने सत्ता हथियाने का प्रयत्न किया और इस प्रक्रिया में आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री (चांसलर) डोलफस को 25 जुलाई, 1934 को मार डाला। इटली इस प्रयत्न पर भौचक्का रह गया और उसने आस्ट्रिया को तत्काल सहायता पहुंचाई, पर दिन के अस्त होने के पूर्व आस्ट्रिया की सेनाओं ने नाजियों को पराजित कर दिया तथा सरकार फिर पूरी शक्ति में आ गयी। डा. शुसनिग आस्ट्रिया के नये चांसलर बने। बहुत वर्षों से आस्ट्रिया इटली का सहयोगी था और इटली उसकी नीतियों का पथ प्रदर्शन करता था। जबकि सिद्धांत रूप से हिटलर और मुसोलिनी एक मत के थे पर मुसोलिनी आस्ट्रिया को अपने नियंत्रण से नहीं निकलने देना चाहता था। साथ ही वह यह भी नहीं चाहता था कि उसकी स्वतंत्रता न रहे और वह जर्मनी का भाग बन जाये। इस दृष्टिकोण के कारण मुसोलिनी

जुलाई, 1934 के बाद हिटलर का विरोधी बन गया और उसने अपने आप को शीघ्रता से फ्रांस के नजदीक कर लिया जो जर्मनी से सभी देशों की स्वतंत्रता के परिरक्षण तथा शांति संधियों के समर्थन में था। यद्यपि युगोस्लाविया जो फ्रांस का सहयोगी तथा इटली से डरा हुआ था, फ्रांस और इटली में गठजोड़ को पसन्द नहीं करता था। वो भी रोम समझौते पर एक नई मित्रता को पैदा करने के लिए हस्ताक्षर किये गये। इस प्रकार जर्मनी आस्ट्रिया को मिलाने के अपने पहले प्रयत्न में असफल हुआ। इस प्रक्रिया में उसने फासिस्ट इटली को अपना विरोधी बना लिया और इस प्रकार फ्रांस और इटली में समझौते का मार्ग प्रशस्त कर दिया। रोम समझौता इस प्रकार तीसरे जर्मन साम्राज्य की नीति की आस्ट्रिया में विफलता का परिणाम था।

हमने मई, 1935 में फ्रांस और सेवियत रूस के बीच एक समझौते की ओर इंगित किया है। तीसरे जर्मन साम्राज्य का नेतृत्व फ्रांस और सोवियत रूस के मध्य खुली शत्रुता का संकेत प्रदान कर रहा था। इस दृष्टिकोण ने फ्रांस और सोवियत रूस को एक दूसरे के और भी नजदीक ला दिया ब्रिटिश सरकार की पूर्ण जानकारी एवं स्वीकृति से उन्होंने मई, 1935 में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसमें यह व्यवस्था थी कि बिना किसी उत्तेजना के कारण हुए हमले के समय दोनों एक दूसरे को सहयोग देंगे। दोनों सैनिक रूप से सहयोगी बन गये। चेकोस्लोवाकिया जो एक छोटी शक्ति था तथा जर्मनी एवं सोवियत रूस के बीच फंसा था, जर्मन विस्तारवाद का शिकार हो सकता था। सुडेडन लैण्ड में 30 लाख से अधिक जर्मन लोग थे। यह चेकोस्लोवाकिया का एक भाग था। हिटलर उन्हें तीसरे जर्मन साम्रज्य से जोड़ना चाहता था। चेकोस्लोवाकिया "लिटिलएन्टेन्ट" का सदस्य था और फ्रांस का घनिष्ट सहयोगी था। जर्मनी के विदेश नीति निर्माण कर्ताओं की दृष्टि में यह एक आन्तरोग (अपेन्डिक्स) था जिसे हटाने के लिए शल्य चिकित्सा की आवश्यकता थी। इस प्रकार उसके विरुद्ध शक्ति के प्रयोग की यह एक चेतावनी थी। यह देखते हुए सोवियत रूस उसकी सुरक्षा सुनिश्चित करने को आगे आया। 6 मई, 1935 को सोवियत रूस और चेकोस्लोवाकिया में एक समझौता हुआ जिसमें यह व्यवस्था रखी गयी कि बिना किसी कारण के चेकोस्लोवाकिया पर हुए हमले के समय रूस सहायता देगा पर शर्त यह है कि ऐसे समय में फ्रांस भी सैनिक सहायता दे।

इस प्रकार तीसरे जर्मन साम्राज्य ने प्रारंभ के काल में अपने शत्रुओं के बीच गहरे सम्बन्धों को प्रोत्साहन दिया। उदाहरण के लिए, फ्रांस और सोवियत यूनियन के बीच इसके साथ ही उसने फ्रांस और इटली के मध्य पुनर्समझौते तथा गठजोड़ का रास्ता साफ कर दिया। "लिटिलएन्टेन्ट" के देशों ने अपनी एकता की प्रतिज्ञा की और चेकोस्लोवाकिया ने फ्रांस और रूस दोनों से सहायता की प्रतिज्ञा प्राप्त की। इसी बीच अमेरिका ने रूस को मान्यता प्रदान कर दी और उसके साथ कूटनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे में स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गए उत्तरों से मिलाएँ।

1) 1933-35 में तीसरे जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति का फ्रांस और सोवियत रूस पर क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) तीसरे जर्मन साम्राज्य ने फ्रांस और इटली तथा सोवियत रूस और अमेरिका के सम्बन्धों पर किस प्रकार प्रभाव डाला?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी

आपने हिटलर के शांति के वहानों तथा मित्रता के वारे में अव तक जो पढ़ लिया है उसने तृतीय जर्मन साम्राज्य के प्रारंभिक वर्षों में किये थे। बाद में तृतीय जर्मन साम्राज्य ने अपने आपको निशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग कर लिया तथा "लीग ऑफ नेशन्स" से सन् 1933 में अलग हो गया। इसका कारण यह था कि "लीग" के प्रसंविदा (काविनेन्ट) के अनुसार दूसरी शक्तियों ने अपने शस्त्रों में कमी नहीं की।

हिटलर ने अब ऐसी विदेश नीति का अनुसरण शुरू कर दिया जो "मीनकेम्फ" पर आधारित थी-यथा-साम्यवाद-विरोध, शामीवाद-विरोध और जर्मन साम्राज्यवाद को वढ़ावा। 1933-37 के बीच तीसरे जर्मन साम्राज्य ने केवल साथी तानाशाह मुसोलिनी से मित्रता ही नहीं की, सैन्यवादी जापान तथा ब्रिटेन से भी मित्रता की जो शांति हर कीमत पर चाहते थे।

13.4.1 सन्धियों का खंडन (अस्वीकरण)

फरवरी, 1935 में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने जर्मनी के सामने कुछ प्रस्ताव रखे। इनमें केन्द्रीय समझौते और पूर्वी समझौते पर हस्ताक्षर करने की बात सम्मिलित थी। पहले समझौते का अर्थ एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना था तथा आस्ट्रिया और उसके पड़ोसी देशों को इस पर हस्ताक्षर करने थे। दूसरे समझौते पर फ्रांस, जर्मनी और सोवियत रूस को हस्ताक्षर करने थे। जिसमें हर दूसरे से तीसरे शक्ति के आक्रमण के विरुद्ध आश्वासित करना था। यह भी प्रस्तावित किया गया कि सात लोकार्नो शक्तियों को जिनमें जर्मनी भी सम्मिलित था, यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि अगर इसमें से किसी पर हवाई हमला होता है तो आक्रमण के शिकार देश को दूसरे देश सहायता देंगे। यह समझौता "ऐयरलोकार्नो" के नाम से जाना गया। जर्मनी ने केवल "एयरलोकार्नो" के प्रति इच्छा दिखायी क्योंकि इससे उसे हवाई शक्ति स्थापित करने का मौका मिल जाता। हिटलर जो ब्रिटेन द्वारा अपने आपको और भी सशस्त्र करने के कारण झुंझलाया हुआ था, अपनी मुकावले या प्रतिरोध की नीति पर उतर आया। 9 मार्च, 1935 को हिटलर ने घोषणा की कि जर्मनी ने अब तक एक हवाई शक्ति की स्थापना कर ली है। वर्साय की संधि में हवाई शक्ति पर जो रोक लगी थी उसके बावजूद यह कार्य किया गया।

9 मार्च, 1935 एक महत्वपूर्ण दिन साबित हुआ, जब जर्मनी ने अपनी संधि के प्रति कर्तव्य पालन की भावनाओं का खुला प्रत्याख्यान किया। कुछ दिनों बाद हिटलर ने घोषणा की कि जर्मनी वर्साय की संधि की सैनिक धाराओं से अब बंधा हुआ नहीं है। तीसरे जर्मन साम्राज्य ने लामबन्दी का आश्रय लेने का निर्णय लिया जिससे संधि द्वारा स्वीकृत सेना से अधिक संख्या में सेना रख सके। हिटलर ने शांतिकालीन सेना की संख्या 36 डिविजन तय कर दी या 5,50,000 सैनिक तय कर दिये। इससे जर्मनी को फ्रांस से समकक्षता हासिल हो जाती। हिटलर, ब्रिटेन की अपनी नाविक शक्ति के प्रति भावनाओं से परिचित था इसलिए उसने अपनी नौसैनिक शक्ति को ब्रिटेन की नौसैनिक शक्ति का 35% करने की अपनी इच्छा व्यक्त की। अनुषांगिक रूप से इसका अर्थ फिर फ्रांस से समकक्षता स्थापित करना था क्योंकि उसकी जल सेना की क्षमता ब्रिटेन की जल सेना की क्षमता के 35 प्रतिशत के बराबर थी।

वर्साय की संधि की धाराओं के प्रत्याख्यान से फ्रांस में भारी चिन्ता पैदा कर दी। उसने लीग की परिषद की विशेष बैठक बुलाने की मांग की ताकि जर्मनी के कदम पर विचार किया जाए। ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के नेता अप्रैल, 1935 में स्ट्रेसा में मिले। तीनों शक्तियों ने एक प्रस्ताव का प्रारूप तैयार किया जिसे लीग की परिषद् में रखा जाना था ताकि संधि की धाराओं के प्रत्याख्यान के कारण जर्मनी की परिनिन्दा की जाये। इसे कौंसिल ने विधिवत स्वीकार कर लिया। यद्यपि जर्मनी के विरुद्ध कोई दण्डात्मक कार्य नहीं किया गया तथापि इसने तीसरे जर्मन साम्राज्य में बड़ी नाराजगी उत्पन्न कर दी।

हमने पूर्व में कहा है कि मई, 1935 में फ्रांस और सोवियत रूस ने किसी पर अकारण हमला होने की सूरत में एक दूसरे की सहायता करने सम्बन्धी सैनिक गठजोड़ स्थापित किया था। आगे चलकर इसी माह एक सैनिक समझौता सोवियत संघ और चेकोस्लोवाकिया में हुआ। इन समझौतों से हिटलर नाराज हुआ। उसने इस वात को समझ लिया कि ये समझौते उसके आक्रामक इरादों पर रोक लगाने के लिए हैं। हिटलर के विरोध के वावजूद फ्रांस की संसद ने 27 फरवरी, 1936 को इस समझौते की पुष्टि कर दी। हिटलर ने फ्रांस पर दोषारोपण करते हुए कहा कि फ्रांस ने अपने कार्य से लोकार्नो संधि को प्रभावहीन तथा अनावश्यक कर दिया है। इसलिए 7 मार्च, 1936 को जर्मनी ने स्वेच्छा से की गई लोकार्नो संधि की भर्त्सना की और घोषणा की कि वह अब इस बात के लिए अनुबन्धित नहीं है कि रहाइनलैण्ड को विसैन्यीकृत रखे। यह लोकार्नो एवं वर्साय की संधियों का अतिक्रमण था। एक बार फिर फ्रांस क्रुद्ध हुआ तथा उसकी यह

भावना बनी कि जर्मन आक्रमण के लिए वह अनावृत हो गया है। लेकिन ब्रिटेन की प्रतिक्रिया शान्त एवं ठण्डेपन की थी। तीसरी स्ट्रेसा शक्ति (इटली) को अब कोई चिन्ता नहीं थी। क्योंकि वह अबीसीनिया (इथोपिया) के विरुद्ध एक लड़ाई अब तक लड़ चुका था और जैसा कि आपने इकाई 12 में देखा है जर्मनी ने उसके विरुद्ध कोई क़दम नहीं उठाया। इस प्रकार जर्मनी ने फासिस्ट तानाशाह को अपने पक्ष में कर लिया था। इस प्रत्याख्यान की निंदा लीग की परिषद् ने भी की पर जर्मनी के विरुद्ध किसी कार्यवाही का प्रस्ताव नहीं रखा गया। इस प्रकार हिटलर ने अपने कार्य से एक बार में ही जर्मनी को अधिक सुरक्षित और फ्रांस को आक्रमणीय, चेकोस्लोवाकिया को चिन्तित बना दिया कि उसे फ्रांस की सहायता जर्मन हमले की दशा में नहीं मिलेगी और इस प्रकार वर्साय की संधि को नष्ट करने के लिए एक और कदम उठा दिया। इस बीच हिटलर ने फ्रांस और बेल्जियम के साथ एक नई संधि पर हस्ताक्षर करने की इच्छा प्रकट की जिसके अनुसार सीमा से बराबर दूरी के क्षेत्र का विसैन्यीकरण किया जा सके। फ्रांस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। रहाइनलैण्ड का फिर सैन्यीकरण कर दिया गया और जर्मन सेनाओं ने मजबूती से इस क्षेत्र में अपने को प्रस्थापित कर लिया।

13.4.2 आंग्ल-जर्मन नौसेना समझौता

आपने इस बारे में पढ़ा है कि हिटलर ने वर्साय की संधि का प्रत्याख्यान मई, 1935 में कर दिया था पर ब्रिटेन के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वह अपनी जल सेना को रोयल ब्रिटिश जल सेना का 35 प्रतिशत करने को तैयार है। दिलचस्प बात यह है कि हिटलर ने इस विकल्प को चुना कि वह अपनी सेना को फ्रांस जितनी बड़ी रखे। इस समय ब्रिटेन अपनी विदेश नीति के बारे में इतना अनिश्चित था कि उसके बहुत से निर्णय आत्म-विरोधी प्रतीत होते थे। 1935 में स्ट्रेसा सम्मेलन में ब्रिटेन ने फ्रांस और इटली के साथ मिल कर जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण नीति की आलोचना की थी। उसने लीग की परिषद् में अन्य देशों के साथ एक प्रस्ताव रखा और उसे स्वीकृत करवा लिया। इसके तत्काल बाद ब्रिटेन ने जर्मनी से 18 जून, 1935 से एक जल सेना संधि की जिसके अन्तर्गत जर्मनी की जल शक्ति ब्रिटेन की जल शक्ति का 35 प्रतिशत होना स्वीकार कर लिया गया। इससे प्रकट हुआ कि ब्रिटेन ने जर्मनी द्वारा वर्साय संधि के उल्लंघन को अनदेखा कर दिया था। दूसरी ओर फ्रांस ने अपने अबुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टिकोण से जर्मनी को बड़ी सेना रखने के लिए उत्तेजित कर दिया। इसके साथ हवाई सेना तथा जल सेना भी थी जो उसकी स्वयं की जल सेना के बराबर थी। ब्रिटेन की यह प्राप्ति लाभकारी होती अगर उसे फ्रांस और इटली से मशविरा करके प्राप्त किया जाता। यह समझौता तृतीय जर्मन साम्राज्य के लिए एक उपलब्धि थी और हिटलर की विदेश नीति की अद्भुत सफलता थी। इतना होते हुए भी ब्रिटेन के लिए तानाशाह के तुष्टिकरण की नीति अपनाने की एक शुरुआत थी।

13.4.3 अबीसीनिया और स्पेन

जर्मनी ने अपने आपको फासिस्ट इटली से दूर कर लिया था, जबकि उसने आस्ट्रिया के नाजियों के माध्यम से जुलाई, 1934 में आस्ट्रिया को तृतीय जर्मन साम्राज्य में मिलाने का प्रयास किया। आस्ट्रिया के चांसलर डोलफस की हत्या से मुसोलिनी झुंझलाया। इससे फ्रांस और इटली में आशा के विपरीत मित्रता स्थापित हो गयी (रोम अकार्ड)। जर्मनी के लिए यह एक प्रकार से धक्का था। इटली ने जिसे फ्रांस की सहायता का पूरा विश्वास था, अबीसीनिया को जीतने का निश्चय किया। स्ट्रेसा (अप्रैल, 1935) में यह तय हुआ कि किसी को ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे **यूरोप की शांति विचलित हो**। प्रकारान्तर से पूर्वी अफ्रीका में वास्तव में शांति में खलल पड़ सकती थी। इसके पूर्व 1935 में मुसोलिनी को यह आश्वासन था कि अगर इटली अबीसीनिया में कई छूटें चाहता है तो फ्रांस इन्हें अनुचित नहीं मानेगा। इस प्रकार जब आक्रमण वास्तव में शुरू हुआ (इकाई 12) इटली ने यह आशा नहीं की कि फ्रांस लीग "आफ नेशन्स" में उसके विरुद्ध मत देगा। फ्रांस ने, यद्यपि बिना इच्छा के अपने मित्र इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये। हिटलर के लिए यह एक अवसर था जिसका उसने पूरा उपयोग किया या जिसको उसने कसकर पकड़ा। जर्मनी अब लीग का सदस्य नहीं था। इसलिए वह लीग के इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के निर्णय से बंधा नहीं था। तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति ने इटली को अपने पक्ष में करने का निर्णय किया। इटली को व्यापार और वाणिज्य के पूर्ण अवसर प्रदान किये गये। इटली जर्मनी में कोई भी चीज बेच या खरीद सकता था। इससे सारा समीकरण बदल गया। इटली की नैतिक और साधनात्मक सहायता करके जर्मनी ने अपने आपको फासिस्ट तानाशाह का प्रिय बना लिया इससे दोनों के बीच बढ़े हुए सहयोग का मार्ग साफ हो गया।

जर्मनी और इटली में और भी सहयोग का अवसर 1936 में ही आया। अबीसीनिया की लड़ाई मई में समाप्त हो गयी और जुलाई में स्पेन में गृह युद्ध शुरू हो गया, जिसमें कम से कम तीन विदेशी शक्तियों ने

अपने आपको उलझा लिया। विद्रोहियों का नेतृत्व एक फासिस्ट पक्षीय सेना का सेनापति कर रहा था जिसका नाम फ्रांको था। उस समय की स्पेन की सरकार सोवियत पक्षीय वाम पंथी नेताओं के हाथ में थी। यह गृह युद्ध प्रायः तीन साल चला और 1936 के प्रारम्भ में समाप्त हुआ। गृह युद्ध के दौरान सोवियत रूस ने राष्ट्रपति अजाना की कानून से संस्थापित सरकारों को सहायता दी पर सोवियत रूस के भाग लेने से पूर्व जर्मनी और इटली इससे सम्बन्धित हो गये थे। वास्तव में मुसोलिनी ने फ्रांको को आदमी ही नहीं दिये, अपितु साधनात्मक सहायता भी दी जिसमें टैंक और हवाई जहाज शामिल थे। तृतीय जर्मन साम्राज्य भी इसी तरह विद्रोहियों को सहायता पहुंचाने में दृढ़ था यद्यपि यह इटली की तरह मुक्तहस्त से सहायता नहीं पहुंचा रहा था। इतने पर भी जर्मनी और इटली ने एक दूसरे से सहयोग रखते हुए विद्रोहियों को हर संभव सहायता दी जिसके कारण गृह युद्ध में जनरल फ्रांको को विजय हासिल हुई। फ्रांको की विजय जर्मनी की एकमात्र विजय नहीं थी किन्तु यह उसकी विदेश नीति की विजय थी, जिस से वह इटली से गहरी समझबूझ, सहयोग तथा गठजोड़ स्थापित करने में सफल हुआ जिससे आगे चल कर रोम बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ।

13.4.4 धुरी का निर्माण

हमने देखा है कि हिटलर ने मुसोलिनी की कृतज्ञता अबीसीनिया युद्ध के समय निष्पक्ष रह कर प्राप्त कर ली थी तथा उसने व्यापारिक प्रतिबन्ध भी नहीं लगाये थे। जुलाई, 1936 में आस्ट्रिया और जर्मनी में एक बड़ा समझौता हुआ जिसमें आस्ट्रिया ने घोषणा की कि जर्मन आस्ट्रिया है। यह हिटलर के अहं की भावना को संतुष्ट करने के लिए था। बदले में जर्मनी ने आस्ट्रिया को उसकी स्वतंत्रता का आश्वासन दिया था तथा दोनों देशों ने एक दूसरे की घरेलू बातों में दखल न देने की प्रतिज्ञा की थी। इससे मुसोलिनी संतुष्ट हो गया जो आस्ट्रिया की स्वतंत्रता बनाये रखने की गहरी इच्छा रखता था। आस्ट्रिया तथा जर्मनी के बीच का समझौता दोनों तानाशाहों के बीच सम्बन्धों के सुधार के लिए पहला मूर्त फल था। यह समझौता वस्तुतः हिटलर के लिए एक लाभ था क्योंकि वह **'अंचलुस'** के बारे में इटली के भय को दूर करने में समर्थ हुआ था। अब वह आस्ट्रिया के नाजीकरण की ओर मर्यादित ढंग से बढ़ सकता था। स्पेन में गृह युद्ध में भी नाजी जर्मनी की नीति स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय लाभ की ओर झुकी हुई थी। जबकि मुसोलिनी ने इटली के शस्त्रों को स्पेन में खर्च कर दिया हिटलर ने इसका उपयोग अपने वायुयानों, टैंकों तथा दूसरी युद्ध सामग्री के परीक्षण में किया। इस प्रकार हिटलर शक्ति में बढ़ा और मुसोलिनी जर्जर हो गया।

भूमध्यसागर को लेकर इटली के ब्रिटेन से गहरे मतभेद थे इसलिए उसने इटली-जर्मनी समझौते के विचार का स्वागत किया। 25 अक्टूबर, 1936 को जर्मनी और इटली के समझौते पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर हुए जिसके द्वारा जर्मनी ने अबीसीनिया में इटली के साम्राज्य को स्वीकार किया तथा इसके बदले में मुसोलिनी से कुछ आर्थिक छूटें प्राप्त की। दोनों शक्तियों ने अपना निश्चय घोषित किया कि स्पेन की क्षेत्रीय एवं औपनिवेशिक एकता की रक्षा की जायेगी और साम्यवाद के विरुद्ध यूरोप की सभ्यता की रक्षा की जायेगी तथा डैन्यूब के क्षेत्र में आर्थिक रूप से एक दूसरे से सहयोग किया जायेगा। मुसोलिनी ने रोम-बर्लिन-सन्धि को एक ऐसी धुरी कहा, जिसके चारों ओर सभी यूरोप के राज्य एक दूसरे से सहयोग, मेल-मिलाप की इच्छा से संजीवित होकर तथा शांति की भावना से प्रेरित होकर संयुक्त रूप से कार्य कर सकें।

रोम-बर्लिन धुरी के निर्माण के तत्काल बाद जर्मनी ने जापान से कोमिन्टर्न विरोधी सन्धि की जिसमें निश्चय किया गया कि साम्यवाद के विरुद्ध लड़ा जाये। यद्यपि नाम नहीं लिया पर यह गठजोड़ वस्तुतः सोवियत रूस के तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विरुद्ध था। अगले साल अर्थात् नवम्बर, 1937 में इटली भी कोमिन्टर्न विरोधी संधि में शामिल हो गया जिससे यह रोम-बर्लिन टोक्यो धुरी में परिणत हो गया। तीनों देशों ने अब निश्चय किया कि वे आक्रामक समूह के रूप में काम करेंगे। वास्तव में स्पष्टतया यह एक सैनिक गठजोड़ नहीं था पर इसके इरादे साफ थे। जर्मनी की प्रेरणा से लीग ऑफ नेशन्स के तीन पूर्व सदस्य जुड़ गये थे ताकि लोकतांत्रीय क्रम को नष्ट कर दिया जाये और युद्ध या अत्याचार के द्वारा अपनी इच्छा दूसरों पर थोप दी जाये। इस प्रकार 1937 के अन्त में जर्मनी इटली का आस्ट्रिया के मामले में चुप करने में सफल हुआ तथा साथ ही दो दूसरे सैन्य प्रवृत्ति वाले या आक्रामक देशों से संबद्ध होने में सफलता प्राप्त की। उसकी अन्य सफलता ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति का प्रारंभ करने तथा आक्रमण और विस्तार की नीति के क्रियान्वयन में था।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाएं।

1) वर्साय-की संधि की सैनिक धाराओं के प्रत्याख्यान का क्या परिणाम हुआ?

.....

.....

.....

.....

2) रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी कैसे बनी और इसका उद्देश्य क्या था?

.....

.....

.....

.....

13.5 आक्रमण तथा विस्तार

जर्मनी 1937 के अन्त तक उन नीतियों को वास्तविक गंभीरता से प्रारम्भ करने के लिए तैयार थां, जो कि हिटलर द्वारा "मेरा संघर्ष" (मीनकेम्प) नामक ग्रन्थ में उद्घोषित की गयी थी। तृतीय जर्मन साम्राज्य का अल्पकालिक रूप से प्रमुख उद्देश्य था—आस्ट्रिया पर अधिकार करना, चेकोस्लोवाकिया का विघटन करना, सुडेटन लैण्ड पर कब्जा करना और डेंजिग एवं पश्चिमी प्रशिया को पोलैण्ड से पुनः प्राप्त करना। इस साम्राज्य का दीर्घ कालिक वास्तविक उद्देश्य था—फ्रांस एवं सोवियत संघ को हराना और संपूर्ण यूरोप पर जर्मन आधिपत्य स्थापित करना। चूंकि ब्रितानिया के प्रधानमंत्री उस समय तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण कर रहे थे और वास्तव में हिटलर 1938 में फ्रांस तथा ब्रितानिया को अपनी शर्तों (आदेशों) पर चलने को मजबूर कर रहा था। फरवरी, 1938 में दृढ़ इच्छा शक्ति वाले ब्रितानवी विदेश मंत्री अंथनी इडन को त्याग पत्र देने के लिए मजबूर किया गया ताकि जर्मनी अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को आसानी से क्रियान्वित कर सके।

13.5.1 आस्ट्रिया पर अधिकार

आस्ट्रिया के जर्मनी में विलय को हिटलर सर्वोच्च प्राथमिकता समझ रहा था। हिटलर के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु इटली की सहमति अनभिव्यक्त रूप में आस्ट्रो-जर्मन समझौते तथा स्पेन में हिटलर-मुसोलिनी सहयोग के माध्यम से प्राप्त हो गयी। 11 फरवरी, 1938 को हिटलर ने आस्ट्रिया के चांसलर डॉ. शुशनिग को अतिआवश्यक विचार-विमर्श हेतु बुलाया तथा उन्हें कहा गया कि नाजी नेता सेस-इनक्वार्ट को आस्ट्रिया का गृह मंत्री बनाया जाये। आस्ट्रिया की नाजी पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया कि राजनीतिक प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध लगा रहेगा। सेस-इनक्वार्ट के गृह मंत्री बनते ही आस्ट्रिया के नाजियों की हिम्मत बढ़ गई। उन्होंने आस्ट्रिया के चांसलर के विरुद्ध तथा हिटलर के पक्ष में खुले प्रदर्शन करना प्रारंभ कर दिया। शीघ्र ही आस्ट्रिया में अव्यवस्था फैल गयी। आस्ट्रिया के चांसलर शुशनिग अपने आपको असहाय परिस्थिति में महसूस करने लगे। आस्ट्रिया के स्वतंत्र करवाने के मामले में मुसोलिनी भी हिटलर से भली-भांति जुड़ा हुआ था। निराशा की इस घड़ी में आस्ट्रिया के चांसलर ने घोषणा की कि रविवार 13 मार्च, 1938 को आस्ट्रिया में जनमत संग्रह करवाया जायेगा ताकि नागरिक यह निर्णय कर सकें कि क्या वे अपनी स्वाधीनता बनाये रखना चाहते हैं? हिटलर इस घोषणा से चिढ़ गया क्योंकि वह जानता था कि आस्ट्रिया के नागरिक वास्तव में स्वाधीनता के पक्ष में मत देंगे। अतः 11 मार्च, 1938 को आस्ट्रिया में जनमत संग्रह न करवाने हेतु चेतावनी दी गयी और यदि ऐसा न किया गया तो जर्मन सेना के आस्ट्रिया में प्रवेश की धमकी दी गयी। नाजी नेता सेस-इनक्वार्ट को आस्ट्रिया का नया चांसलर बनाया गया तथा जनमत संग्रह रोक दिया गया। नये चांसलर ने तत्काल जर्मन सेना को आस्ट्रिया में व्यवस्था के पुनर्स्थापन हेतु "आमंत्रित" किया। हिटलर अपने नुमाइंदे सेस-इनक्वार्ट के माध्यम से "आस्ट्रिया पर अधिकार करने से पूर्व ही उसे निशस्त्रीकृत करवा चुका था"। सेस-इनक्वार्ट के "आमंत्रण" ने आक्रमण को

औपचारिक रूप दिया। गैथोरने हार्डी ने जर्मनी की इस कार्यवाही को "आस्ट्रिया के बलात्कार" की संज्ञा दी है। आस्ट्रिया को ओसमार्क घोषित किया गया तथा इसे तृतीय जर्मन साम्राज्य का एक प्रान्त बना दिया गया। 10 अप्रैल को सम्पूर्ण जर्मनी तथा ओसमार्क (पहले का आस्ट्रिया) में जनमत संग्रह करवाया गया। लोगों ने दोनों (जर्मनी तथा ओसमार्क) के संघ बनने के पक्ष में मत दिया। शीघ्र ही जर्मन साम्राज्य का बेरहम दमन चक्र प्रारंभ हो गया। आस्ट्रिया के भूतपूर्व चांसलर शुशनिग को बन्दी बना लिया गया तथा उसके प्रतिनिधि (उपचांसलर) ने आत्महत्या कर ली। लाखों यहूदी या तो देश छोड़ कर भाग गये अथवा उन्हें जेलों तथा नजर बन्दी शिविरों (कन्सनट्रेशन केम्पस्) में बंद कर दिया गया या उन्हें नाजियों ने मार डाला। हिटलर की प्रमुख अभिलाषा पूरी हो चुकी थी। तृतीय जर्मन साम्राज्य का अब विस्तार हो चुका था तथा इसकी सीमाएं चेकोस्लोवाकिया के अधबीच में से जाने लगी थी। अर्थात् आधा चेकोस्लोवाकिया तृतीय जर्मन साम्राज्य की सीमा के अन्दर आ गया था। हिटलर का अगला शिकार चेकोस्लोवाकिया था जहां 30 लाख (3 मिलियन) जर्मन अल्पसंख्यकों के रूप में आराम से रह रहे थे। लेकिन हिटलर ने इनके बारे में यह कहना प्रारंभ कर दिया कि इन जर्मन लोगों पर चेकोस्लोवाकिया में अत्याचार हो रहा है तथा इन्हें न्याय मिलना चाहिए।

13.5.2 चेकोस्लोवाकिया का विनाश

जब आस्ट्रिया पर जर्मनी का अधिकार हो गया तब चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन आक्रमण का खतरा प्रत्यक्ष रूप से मंडराने लगा। मार्च, 1938 में "अंशलस" (संघ) के पश्चात् हिटलर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपने अगले शिकार—चेकोस्लोवाकिया की ओर संचालित कर दी। लेकिन यह कार्य जर्मनी के लिए आसान नहीं था क्योंकि चेकोस्लोवाकिया फ्रांस तथा सोवियत संघ से संधिबद्ध था। फ्रांस तथा सोवियत संघ जर्मन आक्रमण के समय चेकोस्लोवाकिया को सैन्य सहायता देने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए अपने उद्देश्य को (चेकोस्लोवाकिया के विनाश का) प्राप्त करने के लिए हिटलर ने धमकियां देने तथा उत्तेजित करने की नीति अपनाई। तृतीय जर्मन साम्राज्य ने सुडेटन लैण्ड में रहने वाले जर्मन अल्पसंख्यों का बहाना बनाया। हिटलर जर्मन अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव किये जाने की बातें करने लगा। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के फलस्वरूप सूडेटन लैण्ड पर नियंत्रण होने से संम्पूर्ण केन्द्रीय यूरोप पर प्रभाव सुनिश्चित था। तृतीय जर्मन साम्राज्य ने हेलीन (सूडेटन नेता) के माध्यम से एक अतिरिक्त गंभीर संकट उत्पन्न किया तथा जर्मन संचार माध्यमों ने सूडेटन लैण्ड में रहने वाले जर्मनों के दमन के विरुद्ध चेकोस्लोवाकिया को चेतावनी देना प्रारंभ कर दिया। हिटलर ने सूडेटन लैण्ड वासियों को अपने राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजित करने की व्यवस्था की। इस दौरान इंग्लैण्ड तथा फ्रांस दोनों ही चेकोस्लोवाकिया के लिए जर्मनी से युद्ध में उलझने से डरने लगे। उन्होंने अपनी कुख्यात तुष्टीकरण की नीति को प्रारंभ कर दिया। मनगढ़ंत झूठ के माध्यम से फ्रांसीसी विदेश मंत्री बोन्नेट ने ऐसी परिस्थितियां तैयार कीं जिनमें फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को दिये गये अपने वादे को न निभाने का निर्णय किया तथा हिटलर को मनमानी करने की अनुमति दे दी।

इसी भांति ब्रितानवी प्रधानमंत्री चेम्बर लेन भी, जिनका प्रमुख उद्देश्य युद्ध को टालना था, हिटलर को चेकोस्लोवाकिया के एक भाग पर अधिकार जमा लेने की अनुमति देने की हद तक तुष्ट करने लगे। चेकोस्लोवाकिया के कर्ता-धर्ता नेतागण सूडेटन लैण्ड को पृथक होने देने के प्रति अनिच्छुक थे लेकिन उन्हें फ्रांस तथा ब्रितानिया के भयादोहन (ब्लेकमेल) के आगे झुकना पड़ा। हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर सैन्य समाधान थोपने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। अन्ततः चेम्बर लेन के आग्रह पर हिटलर फ्रांस, ब्रितानियां, जर्मनी तथा इटली के नेताओं का एक सम्मेलन करने के लिए राजी हो गया। इस सम्मेलन में चेकोस्लोवाकिया के भविष्य के सम्बन्ध में विचार-विमर्श होना था। इस सम्मेलन में एक समझौता किया गया जो कि "म्यूनिख पैक्ट" के नाम से जाना जाता है। इसमें जर्मनों के बाहुल्य वाले क्षेत्रों को चेकोस्लोवाकिया से हस्तान्तरित करने का प्रबन्ध किया गया। इन क्षेत्रों का हस्तान्तरण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की देख-रेख में होना था तथा चेकोस्लोवाकिया की नई सीमाओं के सम्बन्ध में चार शक्तियों (फोर पावर्स) को प्रत्याभूत (गारंटी) देनी थी। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि चेकोस्लोवाकिया के भाग्य का निर्णय वहां की सरकार के साथ विचार-विमर्श किये बिना किया गया। इस प्रकार "चेकलोगों (चेकस) के लिए जो सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की गई थी वह सामूहिक भयादोहन द्वारा हटाई गई ताकि शांति बनी रहे।" अर्थात् चेकों के लिए जो सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी वह शांति बनाये रखने हेतु समाप्त कर दी गई। अगले दिन चेकोस्लोवाकिया का भाग्य-अस्त उस समय हो गया जब जर्मन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और उन स्थानों पर अधिकार कर लिया जहां के लिए उन्हें आदेश दिये गये थे। इस प्रकार म्यूनिख समझौते की स्याही सूखने से पहले ही जर्मनी ने इस समझौते का उल्लंघन कर दिया क्योंकि जर्मनी ने सूडेटन लैण्ड के हस्तान्तरण का निरीक्षण करने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के गठन के लिए कभी अनुमति नहीं दी। तृतीय जर्मन साम्राज्य का और विस्तार हो गया। हिटलर अपनी मनमानी कर रहा था और आंग्ल-फ्रांसीसी प्रयास निरर्थक थे।

म्यूनिख सम्मेलन जर्मनी की आक्रमक विदेश नीति की पराकाष्ठा एवं ब्रितानिया द्वारा अपनाई गई तुष्टीकरण की नीति का एक ऐतिहासिक सीमा चिह्न था।

चूंकि पोलैण्ड तथा हंगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के उन हिस्सों को प्राप्त करने के लिए दबाव डालना प्रारंभ कर दिया था जहां कि पोलिश तथा हंगेरिअन मूल के अल्पसंख्यक बसे हुए थे। इससे चेकोस्लोवाकिया का विखंडन अवश्यंभावी हो गया था। लेकिन हिटलर तो इतने में ही संतुष्ट नहीं था। उसने चेकोस्लोवाकिया के सर्वनाश को प्रोत्साहित किया। उसने चेकिया प्रान्त को तृतीय जर्मन साम्राज्य के अधीन हो जाने के लिए भयभीत किया। इस प्रकार हिटलर का उद्देश्य चेकोस्लोवाकिया का सर्वनाश करना था और इस कार्य में उसे 15 मार्च, 1939 को सफलता मिली।

13.5.3 डेंजिग तथा पोलैण्ड

आस्ट्रिया तथा सूडेटन लैण्ड को हड़प कर, बोहेमिया एवं मोराविया (चेकिया प्रांत) को [illegible] संरक्षित राज्य बनाने के पश्चात् अपने आपको हथियारों से पुनः सुसज्जित करके जर्मनी पोलैण्ड के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए तैयार था। जैसा कि आप जानते हैं पुराने जर्मन शहर मेमल पर लियुआनिया का नियंत्रण था, डेंजिग राष्ट्र संघ के नियंत्रण में एक स्वतंत्र शहर था और पश्चिमी प्रशिया पोलैण्ड के पास था और वह उसका उपयोग समुद्र तक पहुंचने के अपने रास्ते/गलियारे के रूप में करता था। अब इन्हें पुनः प्राप्त करने की बारी थी। 1934 में जर्मनी ने पोलैण्ड के साथ 10 वर्षों के लिए आक्रमण समझौता किया था, लेकिन एक बार जब हिटलर ने आगे बढ़ने की ठान ली तब वह समझौता अर्थहीन हो गया। 23 मार्च, 1939 को जर्मन सैनिक टुकड़ियों ने चुपचाप मेमल पर अधिकार कर लिया। पोलैण्ड को कहा गया कि वह डेंजिग को पुनः जर्मन साम्राज्य के साथ मिलने दे और पोलिश गलियारे (पोलिश कॉरीडार) में से पूर्व से पश्चिम तक राजमार्ग (सड़क) बनाने दे और इस गलियारे में से एक रेलवे लाईन बनाने दे। पोलैण्ड ने दोनों ही मांगों को अस्वीकार कर दिया।

हिटलर आशान्वित था कि वह एक बार पुनः म्युनिख समझौते जैसा समाधान यहां भी निकल जायेगा। लेकिन तानाशाहों के प्रति किसी भी प्रकार के तुष्टीकरण के प्रति इस समय ब्रितानवी जनमत विरोध में था। अतः ब्रितानिया की सरकार ने अपनी नीति बदली तथा "शांतिमोर्चा" (पीस फ्रन्ट) बनाने में जुट गई। हालांकि हिटलर ने ब्रितानवी प्रयासों को "युद्धमोर्चा" (वार फ्रन्ट) कह कर निन्दा की। जैसे ही पोलैण्ड तथा जर्मनी के बीच तनाव घनीभूत होने लगा, 31 मार्च, 1939 को ब्रितानिया ने घोषणा की कि पोलैण्ड की स्वतंत्रता को खतरा उत्पन्न होने की स्थिति में यदि पोलैण्ड की सरकार अपनी सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से इसका विरोध करने का निर्णय करती है तो बृहत्तर ब्रितानिया (ग्रेट ब्रिटेन) उसे हर संभव सहायता देगा। दूसरे शब्दों में, पोलैण्ड पर आक्रमण की स्थिति में ब्रितानिया ने उसे पूर्ण सैनिक सहायता देने का वचन दिया। बाद में जब इटली ने अलबानिया पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया तब ब्रितानिया ने ऐसा ही वचन (जैसा कि पोलैण्ड को दिया था) ग्रीस तथा रूमानिया को दिया। फ्रांस ने भी इन तीनों देशों (पोलैण्ड, ग्रीस, रूमानिया) को सहायता का आश्वासन दिया। बाद में ब्रितानिया तथा तुर्की (टर्की) ने एक दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। 27 अप्रैल को ब्रितानिया ने घोषणा की कि वह अनिवार्य सैन्य भर्ती प्रारंभ करेगा। अगले दिन (28 अप्रैल) को तृतीय जर्मन साम्राज्य ने 1934 में किये गये जर्मन पोलिश अनाक्रमण समझौते को समाप्त कर दिया तथा इसके साथ ही 1936 में की गई आंग्ल-जर्मन (एंगलो-जर्मन) नौ सेना संधि को भी समाप्त कर दिया। पोलैण्ड पर आक्रमण करने तथा युद्ध प्रारंभ होने की पृष्ठभूमि अब तैयार हो चुकी थी।

ऊपर वर्णित मात्र दो समझौतों को समाप्त करने से ही हिटलर संतुष्ट नहीं हुआ था। वह अपनी स्थिति को मजबूत बनाना चाहता था। 7 मई, 1939 को जर्मनी तथा इटली ने घोषणा की कि दोनों देशों ने रोम-बर्लिन धुरी (रोम-बर्लिन एक्सिस) को विधिवत सैन्य सहायता देने के समझौते के रूप में परिवर्तित करने का निर्णय किया है। अर्थात् रोम-बर्लिन धुरी को विधिवत परस्पर सैन्य सहायता देने के समझौते के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इसी प्रकार जर्मनी तथा इटली ने तथाकथित "फौलादी समझौता" (स्टील पेक्ट) किया। इस समझौते में यह तय किया गया कि—

1) जब दोनों देशों के हितों को खतरा उत्पन्न होगा तब वे परस्पर विचार-विमर्श करेंगे।
2) दोनों देश युद्ध काल के उद्देश्य से आर्थिक सामंजस्य बनाये रखेंगे तथा
3) यदि दोनों देश युद्ध में उलझ जाते हैं तब युद्ध के अन्त तक लड़ते रहेंगे।

यह समझौता रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक दोनों ही प्रकार का था। इसके बाद पोलैण्ड तथा जर्मनी दोनों ने ही युद्ध के लिए तैयारियां प्रारंभ कर दी। 23 अगस्त, 1939 को तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति को

असाधारण सफलता उस समय मिली जब सोवियत रूस ने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता किया। इस प्रकार अगस्त, 1939 में हस्ताक्षरित सोवियत जर्मन अनाक्रमण समझौते ने सम्पूर्ण शक्ति समीकरणों को बदल दिया।

इस पृष्ठभूमि के पीछे यह तथ्य था कि हिटलर ने पोलैण्ड पर अपना निर्णय थोपने का संकल्प लिया। ब्रितानिया के वे सम्पूर्ण प्रयास धराशायी हो गये जिनके माध्यम से वह जर्मनी को एक शांतिपूर्ण समाधान पर पहुंचने हेतु मनाने के लिए कर रहा था। पोलैण्ड पर रखी गयी जर्मनी की शर्तों को पूरा करना संभव नहीं था। युद्ध अवश्यंभावी हो गया था। एक सितम्बर, 1939 को जर्मन सशस्त्र सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। दो दिन पश्चात् ब्रितानिया तथा फ्रांस ने पोलैण्ड को दिये गये अपने वायदे को पूरा करने के लिए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, अन्ततः जर्मनी एक समाधान थोपने में असफल रहा तथा उसे युद्ध का सामना करना पड़ा।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1) आस्ट्रिया में जर्मन नीति की सफलता का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) ब्रितानिया के "शांति मोर्चे" का तृतीय जर्मन साम्राज्य द्वारा किस प्रकार प्रतिकार किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 सारांश

जर्मनी पर एक दल-राष्ट्रीय समाजेवादियों (नेशनल सोसियलिस्ट्स-नाजियों) का शासन तथा नाजी नेता अडॉल्फ हिटलर की तानाशाही 1933 में स्थापित हुई। हिटलर ने जो कि "फ्यूरर" (नेता) कहलाने लगा, अपनी पुस्तक "मेरा संघर्ष" (मीनकेम्प) के आधार पर तृतीय जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति को स्वरूप प्रदान किया। 'मेरा संघर्ष' नामक पुस्तक में गृहनीति तथा विदेश नीति दोनों नीतियों की रूपरेखा दी गई थी। इन नीतियों में यहूदियों तथा साम्यवादियों के प्रति एक समान घृणा भरी हुई थी। हिटलर ने थोपी हुई वर्साय की संधि की निन्दा की। उसने जर्मन अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा की। हिटलर ने स्वीकार किया कि यूरोप के बाहर जर्मन साम्राज्यवाद के दिन समाप्त हो गये। लेकिन उसने वचन दिया कि यूरोप में वह जर्मनी का विस्तार करेगा। हिटलर उन सभी क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करना चाहता था जो कि जर्मनी से छिन गये थे।

प्रारंभ में तृतीय जर्मन साम्राज्य ने जनवरी, 1934 में पोलैण्ड के साथ एक अनाक्रमण समझौता किया। यह समझौता पोलैण्ड को मित्र बनाने के लिए नहीं किया गया था। बल्कि यह समझौता इसलिए किया गया था कि पोलैण्ड जर्मनी के संभावित आक्रमण के समय असावधान बना रहे। पहले अक्टूबर, 1933 में जर्मनी ने निरस्त्रीकरण सम्मेलन से अपने आपको अलग कर लिया तथा राष्ट्र संघ को छोड़ दिया। 1935 में सार प्रान्त में जनमत संग्रह करवाया गया। 90 प्रतिशत लोगों ने सार को जर्मनी के साथ पुनः मिलाने के पक्ष में मत दिया। हिटलर ने एक मार्च, 1935 को सार को पुनः प्राप्त कर लिया। तृतीय जर्मन साम्राज्य ने वर्साय संधि की शर्तों की अवज्ञा करते हुए जर्मनी का पुनर्शस्त्रीकरण करना प्रारंभ कर दिया। जैसे-जैसे दोनों फासिस्ट शक्तियों अर्थात् इटली तथा जर्मनी आतंकवादी तथा आक्रामक नीतियों का अनुसरण करती गयीं वैसे-वैसे ही वे एक दूसरे के निकट आती गईं और इन्होंने 1936 में रोम-बर्लिन धुरी (रोमबर्लिन एक्सिल) का गठन कर

लिया। कुछ ही महीनों बाद जर्मनी तथा जापान ने "एण्टी-कोमिन्टर्न" समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह समझौता सोवियत संघ तथा साम्यवाद के विरुद्ध था। 1937 में जब इटली भी "एण्टी-कोमिन्टर्न" समझौते में सम्मिलित हो गया, तब रोम-बर्लिन धुरी रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी में परिवर्तित हो गई।

तृतीय जर्मन साम्राज्य ने उग्र राष्ट्रवादी नीति का अनुसरण किया तथा 1936 से 1939 के मध्य कई भौगोलिक क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। मार्च, 1936 में जर्मनी ने 1925 में किये गये लोकार्नो समझौते को अस्वीकार कर दिया। मार्च, 1938 में तृतीय जर्मन साम्राज्य ने छल कपट के माध्यम आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् चेकोस्लोवाकिया में रहने वाले जर्मन अल्पसंख्यकों को भड़का कर वहां समस्या पैदा की गई। हिटलर को तुष्ट करने की ब्रितानिया की नीति के फलस्वरूप म्यूनिख सम्मेलन में चेकोस्लोवाकिया का भाग्यास्त हो गया। जर्मन सेना ने चेकोस्लोवाकिया के सूडेटन लैण्ड प्रान्त पर एक अक्टूबर को अधिकार कर लिया। इसके तुरन्त पश्चात् जर्मनी ने मेमल पर अधिकार कर लिया तथा पोलैण्ड को डेंजिग तथा पश्चिमी प्रशिया का गलियारा लौटाने के लिए कहा गया। पोलैण्ड ने लौटाने से मना कर दिया। बाद में जर्मनी तथा सोवियत संघ ने 23 अक्टूबर, 1939 को एक अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर किये। तृतीय जर्मन साम्राज्य पोलैण्ड में समस्या उत्पन्न करता रहा तथा एक सितम्बर, 1939 को उसने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारंभ था। जर्मन विदेश नीति का मूल आधार उग्र राष्ट्रीयता, प्रतिशोध एवं विस्तार था तथा इसने 1939 से 1945 के मध्य विश्व में भयंकर तबाही मचा दी।

13.7 शब्दावली

थर्ड राईक (तृतीय जर्मन साम्राज्य) : इस शब्द का प्रयोग हिटलर ने अपने द्वारा स्थापित शासन के लिए किया जो कि उसने वीमर गणतन्त्र के पतन के पश्चात् 1933 में स्थापित किया। "राइक" का शाब्दिक अर्थ साम्राज्य है। "थर्डराईक" (तृतीय जर्मन साम्राज्य) "एक साम्राज्य" था जो कि "केशर II राइक" (केशर के द्वितीय साम्राज्य) से भिन्न था।

रिपेरेशन (क्षतिपूर्ति) : प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी को अपनी पराजय के पश्चात् मित्र राष्ट्रों की नागरिक जनता तथा सम्पत्ति को जर्मनी द्वारा पहुंचायी गई क्षति को पूरा करने के लिए जर्मनी को एक विशाल धनराशि क्षतिपूर्ति हेतु देनी निश्चित की गई। उसे "रिपरेशन" अथवा क्षतिपूर्ति या हर्जाना राशि कहा जाता है।

नॉन-अग्रेशन पेक्ट (अनाक्रमण समझौता) : दो देशों के मध्य किया गया वह समझौता अनाक्रमण समझौता (नॉन-अग्रेशन पैक्ट) कहलाता है जिसमें कि एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण न करने का समझौता (करार अथवा "पेक्ट") हो जाता है।

सेन्ट्रल पेक्ट (केन्द्रीय समझौता) : एक समझौता जिसका प्रस्ताव इटली ने रखा था और उस पर आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली तथा अन्य केन्द्रीय यूरोपीय शक्तियों को हस्ताक्षर करने थे और उन्हें आस्ट्रिया की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु अहस्तक्षेप का वचन देना था।

इस्टर्न पेक्ट (पूर्वी समझौता) : एक समझौता जिसके अधीन फ्रांस सोवियत संघ तथा जर्मनी को हर तीसरे हस्ताक्षरकर्ता द्वारा आक्रमण की स्थिति में एक दूसरे को प्रत्याभूति (गारंटी) देने का प्रस्ताव था। इस प्रस्ताव को जर्मनी ने ठुकरा दिया।

एयर लोकार्नो : एक प्रस्ताव कि यदि सातों लोकार्नो शक्तियों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेलजियम, इटली, पोलैण्ड, जर्मनी तथा चेकोस्लोवाकिया) में से किसी पर भी हवाई हमला हो जाने की स्थिति में रक्षात्मक हवाई सहायता देने हेतु सातों शक्तियां वचनबद्ध हों।

"अंशलस" : एक जर्मन शब्द जिसका अर्थ संघ है। आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ राजनीतिक संघ 1938 में बना जबकि हिटलर ने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लेंगसम, डब्ल्यू.सी. : 1971, *दि वर्ल्ड सिन्स 1919*, न्यूयार्क, दि मैकमिलन पब्लिशिंग कं.।

अल्ब्रेट-केरी : 1958, *ए डिप्लोमैटिक हिस्ट्री ऑफ यूरोप सिन्स दि कांग्रेस ऑफ वियना*, न्यूयार्क एण्ड इवास्टन, हारपर एण्ड रॉव पब्लिशर्स।

कार, इ.एच.; 1963, *इण्टरनेशनल रिलेशंस बिटवीन दि टू वॅल्ड वारस्*, लंडन, मेक मिलन एण्ड कं. लि.।

धर, एस.ए,.: 1982, *इण्टरनेशनल रिलेशंस एण्ड वल्ड पॉलिटिक्स सिन्स 1919*, न्यू दिल्ली एण्ड लुधियाना, कल्याणी पब्लिशर्स।

जॉनसन, पॉल: 1983, *हिस्ट्री ऑफ दि मॉडर्न वल्ड फ्रॉम 1917 टू दि 1980 ज.*, लंदन, वीडन फील्ड एण्ड निकल सन्।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अत्यन्त महत्वपूर्ण लोगों में जाति पर आधारित मैत्री/सहयोग या एकता, आर्य जाति अनार्यों से श्रेष्ठ, यहूदी पाप के अवतार थे, जर्मनी को अन-उत्पादक, शोषक, लालची, स्वार्थी यहूदियों को समाप्त कर देना चाहिए।
2) उग्र राष्ट्रीयता, ब्रितानिया एवं इटली के साथ मैत्री, फ्रांस से शत्रुता, पूर्व की तरफ विस्तार, जर्मनों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत पुनः मिलाना, पुनर्शस्त्रीकरण करना, और युद्ध का गौरवगान करना।

बोध प्रश्न 2

1) फ्रांस तथा सोवियत संघ परस्पर निकट आये, उन्होंने 1932 में अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर किये, पूर्वी समझौते (इस्टर्न पैक्ट) का प्रस्ताव रखा, मई, 1935 में फ्रांस-सोवियत संधि की तथा सोवियत-चेकोस्लोवाकिया संधि को भी मई, 1935 में प्रोत्साहित किया।
2) जुलाई, 1934 में जर्मनी द्वारा अस्ट्रिया के नाजीकरण के प्रयास के फलस्वरूप जनवरी, 1935 में रोम का समझौता (रोम एकोर्ड) हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.) ने सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) को मान्यता प्रदान की तथा राजनीतिक सम्बन्धों की स्थापना की।

बोध प्रश्न 3

1) इंग्लैण्ड (यू.के.) फ्रांस, इटली ने "स्ट्रेसा फ्रण्ट" बनाया, राष्ट्र संघ की परिषद् ने जर्मनी की निन्दा की फ्रांस सोवियत मैत्री संधि (फ्रेन्को-सोवियत एलाइन्स) हुई, आंग्ल-सोवियत नौ सैनिक समझौते (एंग्लो-सोवियत नेवल एग्रीमेंट) पर हस्ताक्षर किये गये।
2) तीन अलग-अलग समझौतों का परिणाम, धुरी रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक दोनों प्रकार की, मुख्य रूप से उनके भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तार, सैन्यवाद तथा उग्रराष्ट्रीयता पर आधारित, प्रमुख रूप से फ्रांस तथा सोवियत संघ के विरुद्ध।

बोध प्रश्न 4

1) जर्मनी ने 1935 में इटली से मैत्री स्थापित की, 1936 के आस्ट्रिया-जर्मन समझौते ने आस्ट्रिया की स्वतंत्रता का आश्वासन दिया, जब आस्ट्रिया एकाकी हो गया अथवा अलग-थलग हो गया तब उसे भयभीत किया गया, आस्ट्रिया को तृतीय जर्मन साम्राज्य के अधीन कर लिया गया।
2) एंग्लो-जर्मन नौ सैनिक समझौते की समाप्ति द्वारा, और पोलिश-जर्मन अनाक्रमण संधि, इटली के साथ फौलादी समझौता (स्टील पेक्ट) करके, तथा सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि।

इकाई 14 द्वितीय विश्व युद्ध

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण एवं उसका प्रारंभ
  14.2.1 युद्ध का प्रारंभ
  14.2.2 अमेरिका और रूस में मित्र भाव
14.3 धुरी शक्तियों का पतन
  14.3.1 जर्मनी एवं इटली की पराजय
  14.3.2 जापान की पराजय
14.4 स्थायी शांति की समस्या
  14.4.1 युद्धकालीन घोषणाएँ
  14.4.2 युद्धकालीन सम्मेलन
14.5 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शांति संस्थापना
  14.5.1 शांति सन्धियां
14.6 सारांश
14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में द्वितीय विश्व युद्ध पर विचार किया गया है जो सितम्बर, 1939 में प्रारम्भ हुआ और जिसका अन्त अगस्त, 1945 में हुआ जब अमेरिका ने दो अणु बमों का प्रयोग किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस बात के योग्य होंगे:

- द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों को पहचानना।
- इस बात का वर्णन करना कि द्वितीय विश्व युद्ध किस प्रकार शुरू हुआ और किस प्रकार अमेरिका और रूस इसमें सहयोगी बने।
- युद्ध के समय की कूटनैतिक गतिविधियों का स्मरण करना।
- युद्ध के अंत में शांति सन्धियों पर हस्ताक्षर करने के प्रयत्नों के परिणामों पर विचार करना।

14.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध पोलैण्ड पर सितम्बर, 1939 को जर्मनी द्वारा किये गये आक्रमण के साथ प्रारम्भ हो गया। इसके पूर्व दो परम्परागत शत्रु जर्मनी और रूस ने अनाक्रमण संधि कर अपने बीच पोलैण्ड को बांटने का मार्ग प्रशस्त करा लिया था। एक ओर सोवियत रूस और दूसरी ओर ब्रिटेन एवं फ्रांस में समझौते के प्रयास निष्फल हो चुके थे। वास्तव में, सोवियत यूनियन और जर्मनी तथा जर्मनी और ब्रिटेन में गुप्त बातचीत समकालीन रूप से चल रही थी। पिछली इकाई में आपने पढ़ा है कि किस प्रकार ब्रिटेन और फ्रांस ने रूस को उनकी इच्छा के अनुसार चलने वाला मान लिया था और इस बात का जरा भी प्रयत्न नहीं किया कि उसके साथ सैनिक गठजोड़ स्थापित किया जाए। इससे सोवियत जर्मन समझौते का तथा जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण का मार्ग प्रशस्त हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ माह पूर्व ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ने पोलैण्ड को आश्वासन दिया था कि अगर उस पर आक्रमण हुआ और उसने उसका प्रतिरोध करने का निर्णय लिया तो ब्रिटेन एवं फ्रांस उसे हर संभव मदद देंगे। इस प्रकार जब युद्ध को बचाने एवं पोलैण्ड की रक्षा करने के प्रयत्न असफल हो गये और जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तो 3 सितम्बर, 1939 को ब्रिटेन एवं फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसके तत्काल बाद कुछ दूसरे देशों ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया था पर सोवियत संघ या कुछ समय तक अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की। कुछ समय तक इटली युद्ध में तटस्थ रहा पर अन्त में जून, 1940 में जर्मनी के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हो गया। जर्मनी द्वारा कई देशों के विरुद्ध निर्णायक विजय प्राप्ति के

बाद उसने 22 जून, 1941 को सोवियत रूस के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। इससे रूस सहयोगी राष्ट्रों (मित्र राष्ट्र) के शिविर में आ गया। जब 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्ल हार्बर पर बम वर्षा कर दी तो अमेरिका अंत में युद्ध में सम्मिलित हो गया। यह युद्ध एक तरफ मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ, अमेरिका और उनके मित्रों) तथा दूसरी और धुरी शक्तियों (जर्मनी, इटली, जापान) के बीच हुआ।

इस युद्ध का अंत क्रम से इटली, जर्मनी और जापान द्वारा बिना शर्त समर्पण के साथ हुआ।

इस इकाई में आप उन परिस्थितियों के बारे में पढ़ेंगे जिनमें द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ और उन कारकों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करेंगे जो युद्ध के लिए उत्तरदायी थे। आप उन विभिन्न कूटनैतिक गतिविधियों के बारे में भी पढ़ेंगे जो उस समय चल रही थी। साथ ही युद्ध के दौरान हो रहे सम्मेलनों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे। इस इकाई में सैनिक कार्यवाहियों तथा विभिन्न लड़ाइयों के विवरणों से हमारा सम्बन्ध नहीं है। इस इकाई का अन्त हम विजित शक्तियों के साथ शांति संधियों के प्रयत्नों के प्रसंग के साथ करेंगे।

14.2 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण एवं उसका प्रारम्भ

आपने पढ़ा है कि द्वितीय विश्व युद्ध सितम्बर; 1939 में शुरू हुआ, जबकि जर्मनी ने पोलैण्ड पर हमला कर दिया, ब्रिटेन और फ्रांस ने इसके फलस्वरूप जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इससे यह प्रभाव पैदा होता है कि युद्ध का कारण पोलैण्ड का झगड़ा रहा है। यह आंशिक रूप से सत्य है। पोलैण्ड की समस्या वास्तव में युद्ध का तात्कालिक कारण थी पर और भी बहुत से कारण थे जिनके कारण इस प्रकार की परिस्थिति बनी जिसमें युद्ध अवश्यम्भावी बन गया। हमें युद्ध के तत्कालीन और दूरगामी कारणों पर अब विवेचन करना चाहिए।

वर्साय की सन्धि

1919 में पेरिस सम्मेलन में यह प्रयत्न किया गया था कि एक ऐसी विश्व व्यवस्था का निर्माण किया जाए जो न्याय और शांति और निशस्त्रीकरण पर आधारित हो। पर वर्साय की सन्धि के रूप में अंतिम रूप से जो कुछ उभर कर आया वह निर्देशित शांति सन्धि थी जो जर्मनी पर लादी गयी थी। जिन विजेताओं ने युद्ध में भाग लिया था उनके उद्देश्यों में ईमानदारी नहीं थी। फ्रांस इस बात पर तुला हुआ था कि 1871 की जर्मनी द्वारा उसे दी गयी पराजय का बदला चुकाया जाए।

एक सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में जर्मनी को जो सम्मान मिलना चाहिए था वह उसे नहीं दिया गया। 7 मई, 1919 में जर्मनी को शांति सन्धि का प्रारूप दे दिया गया और उसे कहा गया कि तीन सप्ताह में वह अपने सुझाव प्रस्तुत कर दे। जब इस सन्धि की शर्तों के बारे में घोषणा की गयी, जर्मनी में तूफान सा आ गया। जर्मनी ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि वह अकेला ही युद्ध के लिए दोषी है। जर्मनी ने कई एतराज किये और अनेकों परिवर्तन सुझाये। एक परिवर्तन को छोड़कर और सारे एतराज अमान्य कर दिये गये और अंत में जर्मनी को मजबूर किया गया जिसके फलस्वरूप 28 जून, 1919 को उसने शांति सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। जर्मन लोगों ने इसे "अधिदेश" (डिक्टेट) की संज्ञा दी और अपने अपमान और निरादर को सहन नहीं कर सके।

जर्मनी को समुद्र पार के सभी उपनिवेशों से वंचित कर दिया गया और यूरोप में भी उसका क्षेत्र काफी कम कर दिया गया था। पोलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम और दूसरे देशों को जर्मनी की हानि के बल पर लाभ हुआ। जर्मनी की सेना और जल सेना काफी कम कर दी गई। उसे आदेश दिया गया कि वह कोई वायु सेना नहीं रखे। जर्मनी को युद्धोपराध का दोषी माना गया और क्षतिपूर्ति के लिए विजेताओं को बहुत बड़ी राशि देने का वादा करने पर मजबूर किया गया। वर्साय की संधि ने जर्मनी का अंग-भंग कर डाला और उसका बेहद अपमान किया। अब जर्मनी का मौका था कि वह इस अपमान का बदला ले। हिटलर केन्द्रीय मंच पर आया और उसने अपने स्वाभिमानी देशवासियों का नेतृत्व किया ताकि वे अपने अपमान का बदला ले सकें। इससे द्वितीय विश्व युद्ध का मार्ग प्रशस्त हो गया।

सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की विफलता

सामूहिक सुरक्षा प्रणाली वह प्रशंसनीय आदर्श था जिसके प्रति विश्व के नेताओं ने प्रथम विश्व युद्ध के अंत में अपने आप को प्रतिबद्ध कर लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण के शिकार को सुरक्षा प्रदान करना इसका उद्देश्य था और इसकी पूर्ति के साधन सामूहिक थे। इस प्रकार, लीग ऑफ नेशन्स की कोवेनेन्ट में यह व्यवस्था थी कि आक्रमण की अवस्था में लीग के सदस्य देश अपने कदम उठाकर आक्रमण को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दें। यह सामूहिक कदम या तो आक्रामक के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर या फिर

इस तरह के आक्रमण के शिकार देश का सैनिक सहायता देने के रूप में उठाया जा सकता था।

अन्तर्युद्ध के दिनों में यह साबित हो गया था कि लीग एक प्रभावहीन संगठन है। अगर एक बड़ा देश छोटे देश के विरुद्ध युद्ध छेड़ देता है या उसे हड़प जाता है तो लीग प्रभावहीन साबित होती है। सन् 1931 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया और 1932 के प्रारम्भ तक उसके मन्चूरिया प्रांत पर कब्जा कर लिया। जापान बड़ी चतुरता से लीग को आश्वस्त करता रहा कि मंचूरिया में उसका कार्य आत्मरक्षा के रूप में है। वहाँ जापानी लोगों के जीवन और उनकी संपत्ति की रक्षा करने को आक्रमण नहीं माना जा सकता। जापान ने उसे जो स्वयं लीग का एक स्थायी सदस्य था, मन्चूरिया में एक कठपुतली मन्युकुओं शासन की स्थापना करने को अग्रसर हुआ। जब लीग ने राष्ट्रों को आदेश किया कि वे मन्युकुओं को स्वीकृति प्रदान नहीं करें। जापान ने लीग छोड़ दी पर विजित प्रदेश पर अपना अधिकार नहीं छोड़ा।

आगे चलकर 1935 में इटली ने अबीसीनिया को युद्ध में पराजित किया और मई, 1935 में उसे औपचारिक रूप से इटालवी साम्राज्य में मिला लिया। इसे आपने विस्तार से इकाई 12 में पढ़ लिया है कि किस प्रकार लीग ने सामूहिक सुरक्षा प्रणाली लागू करने की चेष्टा की, इटली को आक्रामक घोषित किया और उसके विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की। इन सबका कोई अर्थ नहीं निकला क्योंकि इटली के विरुद्ध कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की गयी। इसका कारण इटली का स्वयं का एक बड़ी शक्ति होना तथा लीग का स्थायी सदस्य होना था। इसी प्रकार कमजोर लीग ऑफ नेशन्स ने जर्मनी के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाए जब उसने वर्साय सन्धि (1935) की सैनिक धाराओं को प्रत्याख्यान किया या लोकार्नो समझौते का उल्लंघन किया जो उसने स्वयं अपनी इच्छा से हस्ताक्षरित किया था तथा रहाइनलैण्ड का पुनर्सैन्यीकरण कर लिया। (1936) या जिस समय उसने आस्ट्रिया को हड़प लिया (1938) और चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया (1938-39)। सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की विफलता दूसरे महायुद्ध के फूट पड़ने का एक बड़ा कारण है।

निःशस्त्रीकरण की असफलता

पेरिस शांति सम्मेलन में इस बात पर सहमति हुई थी कि विश्व शांति को तभी आश्वासित किया जा सकता है जब सभी राष्ट्र अपने शस्त्रों को कम करें तथा उन्हें अपनी सुरक्षा की आवश्यकता के अनुरूप ही रखें। इसका अर्थ था आक्रामक स्वरूप वाले शस्त्रों को नष्ट कर दिया जाए। शस्त्रों में कमी की योजना बनाने का काम लीग ऑफ नेशन्स को सौंपा गया। लीग ने एक अस्थायी संयुक्त आयोग 1920 में बनाया जो कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाया क्योंकि फ्रांस ने निशस्त्रीकरण के पूर्व सुरक्षा पर आग्रह किया। 1925 में एक प्रारंभिक आयोग (प्रीपरेट्री कमीशन) बनाया गया। प्रभावशाली राष्ट्रों के परस्पर विरोधी विचारों के कारण वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकी कि कौन से शस्त्र आक्रामक एवं कौन से सुरक्षात्मक हैं। अन्त में बिना किसी प्रकार का प्रारंभिक कार्य किये फरवरी, 1932 में एक निशस्त्रीकरण सम्मेलन का जिनेवा में अधिवेशन किया गया। एक बार फिर पारस्परिक अविश्वास और संदेह के कारण सम्मेलन विफल हो गया।

जर्मनी का निशस्त्रीकरण वर्साय की संधि के द्वारा कर दिया गया था। विजेता देशों का निशस्त्रीकरण बाद में होना था। वे वास्तव में कभी भी निशस्त्रीकरण नहीं चाहते थे। इस कारण जर्मनी ने अक्टूबर, 1933 में घोषणा कर दी कि वह निशस्त्रीकरण सम्मेलन और लीग ऑफ नेशन्स दोनों को छोड़ रहा है। आगे चलकर सन् 1935 में जर्मनी ने औपचारिक रूप से घोषणा की कि वह वर्साय संधि की सैनिक धाराओं से अब बंधा हुआ नहीं है। दूसरे देशों के पास बहुत बड़ी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र की भयंकर दौड़ शुरू होने के लिए वह एक अग्रदूत बन गया। इससे सशस्त्र युद्ध का मार्ग तैयार हो गया। निशस्त्रीकरण की असफलता द्वितीय विश्व युद्ध के बड़े कारणों में से एक है।

विश्व का आर्थिक संकट

विश्व आर्थिक संकट का प्रारंभ 1929 में हुआ जब अमेरिका के वित्तीय कुलों ने अचानक यूरोपीयन देशों को ऋण रोक दिया। इनमें से अधिकांश, खासकर जर्मनी, तीव्रगति से औद्योगिक प्रगति अमेरिकन ऋण की राशि के सहारे से कर रहे थे। सन् 1930-32 के काल में इस संकट का बड़ा दुष्प्रभाव पड़ा। इसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अधिकतम देशों की अर्थव्यवस्था पर दुष्प्रभाव डाला। जर्मनी सर्वाधिक दुष्प्रभावित देश था। वहाँ प्रायः 700,000 लोग बेकार हो गये। उसे यह घोषणा करने को बाध्य होना पड़ा कि वह क्षतिपूर्ति का और भुगतान नहीं करेगा। जर्मनी में आर्थिक संकट के दौरान एडोल्फ हिटलर की तानाशाही पनपी जिसके बारे में आपने पिछली इकाई में पढ़ा है। इसी बीच ब्रिटेन को भी स्वर्ण मानदण्ड को त्यागने जैसे कुछ कड़े कदम उठाने पड़े। जर्मनी, जापान, इटली ने इस आर्थिक संकट का फायदा उठाया और अलग-अलग आक्रामक रुख अख्तियार किया। उन्होंने अपने फासिस्ट दल बनाये जो अधिकांश रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के लिए जिम्मेदार थे।

रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी

प्रथम विश्व युद्ध के अन्त में यूरोप दो प्रतिद्वन्दी शिविरों में बंटा हुआ था। यह प्रक्रिया फिर दोहराई गयी जब जर्मनी, जापान और इटली ने एक गठजोड़ स्थापित कर लिया। यह गठजोड़ कम्युनिस्ट विरोधी समझौते के माध्यम से 1936-37 में हुआ था। फासिस्ट एवं साम्यवादी शक्तियों का यह संगठन जो साधारणतया रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी के नाम से जाना जाता है, साम्राज्यवादी विस्तार का उद्देश्य रखता रहा। इन्होंने युद्ध को महिमामंडित किया और झगड़ों को शांति से सुलझाने के कार्य की भर्त्सना की। वे पश्चिमी राष्ट्रों को धौंस दिखाते थे और चीन, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, अल्बानिया और पोलैण्ड जैसे छोटे देशों का उत्पीड़न करते थे। उनके युद्ध जैसे कारनामों और आक्रमण का कोई दण्ड उन्हें नहीं मिलता था। धुरी राष्ट्रों के व्यवहार से खतरे का संकेत पाकर ब्रिटेन और फ्रांस एक दूसरे के और नजदीक आ गये और उन्होंने ब्रिटेन-फ्रांस-सोवियत फ्रन्ट खोलने की असफल चेष्टा की। यद्यपि फ्रांस और सोवियत संघ में एक गठजोड़ था तो भी हिटलर को संतुष्ट करने की इच्छा में फ्रांस और इंग्लैण्ड ने सोवियत संघ की उपेक्षा की और जब स्टालिन ने गैर-फासिस्ट शक्तियों में एक सैनिक समझौते की मांग की तो उन्होंने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। सोवियत संघ संदेही हो गया और जर्मनी से अनाक्रमण-संधि करके सारे विश्व को अचम्भे में डाल दिया। इससे पोलैण्ड पर जर्मन हमले का मार्ग प्रशस्त हो गया जिससे द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ। जब जर्मनी के साथ सोवियत संघ ने भी पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तो ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध की घोषणा कर दी।

राष्ट्रीय अल्पमत की समस्या

प्रथम विश्व युद्ध के बाद शांति समझौते की परिणति यूरोप में नये राष्ट्रीय-राज्यों के निर्माण में हुई। इनमें बड़ी संख्या में राष्ट्रीय अल्पमत वाले लोगों को बिना उनके हितों की देखभाल किए छोड़ दिया गया। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने "आत्म-निर्णय" के सिद्धान्त की वकालत की पर अनेकों युद्ध नीति सम्बन्धी विचारों के कारण इस सिद्धान्त का क्रियान्वयन ठीक प्रकार से नहीं हो सका। इस प्रकार बड़ी संख्या में जर्मन अल्पमत वाले लोगों ने अपने आपको पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में गैर-जर्मन लोगों के साथ पाया। रूसी अल्पमतवाले लोग भी थे जो पोलैण्ड और रूमानिया में थे तथा हंगरी के अल्पमत वाले लोग थे जिनकी पुष्टि पेरिस सम्मेलन के बाद संपन्न होने वाली अल्पमतीय संधियों के बाद भी हो गयी थी। प्रायः 75 लाख जर्मन विदेशी शासन के नीचे जीवन बिता रहे थे। चेकोस्लोवाकिया एवं पोलैण्ड में बसने वाले जर्मन लोगों के लिए अधिकारों की स्वीकृति की बात कहकर हिटलर ने इस स्थिति से फायदा उठाया और आक्रमण की तैयारी करने लगा। उसने आस्ट्रिया को हड़प लिया, चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर उसे नष्ट कर दिया गया और अंत में पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार अल्पमत वाले लोगों की समस्या भी महत्वपूर्ण बनी और युद्ध के एक बड़े कारण के रूप में सामने आयी।

ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा तुष्टिकरण

नाजी-फासिस्ट तानाशाहों के तुष्टिकरण पर आधारित विदेशी नीति द्वितीय विश्व युद्ध का एक बड़ा कारण बनी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन और फ्रांस की नीतियों में विरोध प्रतीत हुआ। शक्ति संतुलन का सिद्धान्त ब्रिटेन की विदेशी नीति का मुख्य आधार रहा है। ब्रिटेन को डर था कि बहुत शक्तिशाली फ्रांस विश्व के शक्ति के संतुलन को बिगाड़ देगा इसलिए उसने प्रारंभ के युद्धोत्तर वर्षों में जर्मनी की मदद की जब एक बार हिटलर जर्मनी में सत्ता में आ गया और इटली नाजी तानाशाह का सहायक हो गया तो ब्रिटेन ने शीघ्रता से फ्रांस से नजदीकी सम्बन्ध स्थापित कर लिए जिसे शत्रुता पूर्ण रुख रखने वाले जर्मनी के विरुद्ध सहायता की बहुत आवश्यकता थी। 1933 के बाद फ्रांस की विदेश नीति वस्तुतः ब्रिटिश विदेश नीति का एक विस्तार रही है। ब्रिटेन साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से चिंतित था। सोवियत संघ को ही प्रभावशाली ढंग से रोकना काफी नहीं था किन्तु तथाकथित जनप्रिय मोर्चों को जो फ्रांस और स्पेन में बने हुए थे, नष्ट करना भी आवश्यक था। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ब्रिटेन ने हिटलर और मुसोलिनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। फ्रांस ने शीघ्र उसका अनुसरण किया। इस तुष्टिकरण की नीतियों को बाल्डविन ने शुरू किया था जिसका आगे चलकर नेविले लेन ने 1938 में प्रभावशाली ढंग से अनुसरण किया। ब्रिटेन और फ्रांस की अबीसीनिया युद्ध के समय मुसोलिनी को सहायता देने की इच्छा के साथ-साथ लीग के प्रयत्नों में सहायक होना, म्यूनिख सम्मेलन में हिटलर के समक्ष उनका वास्तविक आत्मसमर्पण, और आस्ट्रिया एवं अल्बानिया जैसे कमजोर राष्ट्रों की रक्षा करने की उनकी अयोग्यता इस बात का स्पष्ट प्रमाण थीं कि ब्रिटेन और फ्रांस कमजोर हैं। इसी ने आगे चलकर युद्ध के लिए भूमि तैयार की।

पोलैण्ड पर जर्मन हमला

युद्ध का प्रकट और तात्कालिक कारण सितम्बर, 1939 को जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर किया गया आक्रमण था। इसके पूर्व सोवियत संघ के साथ ब्रिटेन और फ्रांस के गठजोड़ स्थापित करने के सभी प्रयत्न असफल हो चुके थे। हिटलर ने स्टालिन के साथ अनाक्रमण-संधि कर ली। यह सबसे अधिक अप्रत्याशित कदम था

क्योंकि कई वर्षों तक नाजी जर्मनी और सोवियत संघ में परस्पर घृणा का ही सम्बन्ध रहा था। अब पोलैण्ड को अपने दोनों में बांटने को समत्सुक होकर जर्मनी और रूस ने एक समझौते पर हस्ताक्षर करा दिए जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं करने की बात रखी गयी थी। तो भी जैसा कि बाद की घटनाओं से साबित हुआ इस समझौते को आलोचकों ने "पोलैण्ड के विरुद्ध एक सरल आक्रमण का समझौता" कहा। एक गुप्त समझौते में जो 1945 में उभरकर सामने आया, दोनों देशों ने इस बात का निश्चय किया था कि वे पूर्वी यूरोप का विभाजन अपने-अपने प्रभाव के क्षेत्रों के रूप में कर लेंगे। हिटलर ने अपनी सेना पोलैण्ड पर आक्रमण के लिए सितम्बर, 1939 को भेजी। जैसा आप जानते हैं, इंग्लैण्ड और फ्रांस ने पहले से ही पोलैण्ड को आश्वासन दे दिया था कि अगर हमला हुआ तो वे मदद करेंगें। उन्होंने अपने वादे का पालन किया और जर्मनी के विरुद्ध घोषणा कर दी। जबकि जर्मनी ने पोलैण्ड पर पश्चिम से हमला किया, सोवियत सेनाएं पूर्व से 17-18 सितम्बर, 1938 में पोलैण्ड में घुस गयी। पोलैण्ड को जर्मनी और सोवियत संघ में बांट लिया गया और सोवियत जर्मन सीमाएं तय कर दी गयीं। यह कार्य 28 सितम्बर, 1938 को सोवियत जर्मन संधि को संपन्न करके किया गया। इसी बीच दूसरे बहुत से देशों ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ये सब नाम मात्र की घोषणाएं थीं क्योंकि स्वयं ब्रिटेन और फ्रांस अभी युद्ध के लिए तैयारियों में व्यस्त थे जबकि पोलैण्ड को नष्ट किया जा रहा था।

14.2.1 युद्ध का प्रारंभ

जैसा कि हमने पूर्व में कहा है पोलैण्ड युद्ध का तात्कालिक कारण बना था। 23 मार्च, 1939 को जर्मन फौजों ने चुपचाप मेमेल (एक जर्मन शहर लेकिन लिथुआनिया के अधिकार में) पर अधिकार कर लिया। इसके पूर्व हिटलर ने लिथुआनिया से इस शहर को उसे समर्पित कर देने की बात कही थी। उसी दिन जर्मनी के विदेश मंत्री रिब्बेनट्रोप ने पोलैण्ड के राजदूत को बुलाया और उन शर्तों को निर्देशित किया जो जर्मनी पोलैण्ड पर लादना चाहता था। उसने मांग की कि डानजिग (जिसका अब तक नाजीकरण किया जा चुका था) को जर्मनी के साथ मिला दिया जाए और एक पूर्व-पश्चिम राजमार्ग और पोलिश गलियारे के आर-पार एक रेलमार्ग की इजाजत दी जाए ताकि पूर्वी एशिया जर्मनी से सीधा सम्पर्क रख सके। इसका वास्तविक अर्थ एक गलियारे के पार गलियारा बनाना था। हिटलर वास्तव में ब्रिटेन द्वारा दूसरी म्यूनिख गलती करने का अंदाज लगा रहा था जो नहीं की गयी। प्रधानमंत्री चेम्बर लेन ने सुस्पष्ट रूप से पोलैण्ड को ब्रिटेन की सहायता का आश्वासन दिया। बाद में जब इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर अल्बानिया (7 अप्रैल) को हड़प लिया तो ब्रिटेन ने इसी प्रकार का आश्वासन यूनान और रूमानिया को दिया। फ्रांस ने ब्रिटेन का अनुसरण किया और आश्वासन दिया। अंत में 27 अप्रैल को ब्रिटेन ने लामबन्दी की घोषणा कर दी। हिटलर ने इसका बदला दूसरे दिन लिया और 1934 के पोलिश जर्मन अनाक्रमण समझौते का प्रत्याख्यान कर दिया। साथ ही 1935 की ब्रिटिश-जर्मन जल-संधि को भी ठुकरा दिया। कोमिनटर्न विरोधी समझौते पर जर्मनी एवं जापान ने नवम्बर, 1936 में हस्ताक्षर किए और एक वर्ष बाद इटली भी इस समझौते में शामिल हो गया। इस प्रकार रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी इन तीन देशों के साम्यवाद को समाप्त करने के दृढ़ निश्चय की प्रतीक बनी। यह, वास्तव में एक साम्यवाद विरोधी गठजोड़ था।

अगस्त, 1939 तक हिटलर पोलैण्ड के प्रश्न को अपनी इच्छानुसार तय करने का निश्चय कर चुका था फिर भी वह किसी बहाने की तलाश में था। उसने दृढ़ निश्चयी ब्रिटेन के अस्त्र-शस्त्रों को कूटनैतिक ढंग से मरोड़ दिया जब हिटलर डैन्जिग के प्रश्न पर पोलैण्ड से सीधी बातचीत के लिए तैयार हो गया। हिटलर ने 29 अगस्त, 1939 में बर्लिन के ब्रिटिश राजदूत के मार्फत ब्रिटेन से कहा कि वह पोलैण्ड के शिष्टमंडल के बर्लिन पहुँचने की व्यवस्था करें। यह शिष्टमंडल पूर्ण शक्ति संपन्न होना चाहिए और इस बात के लिए अधिकृत होना चाहिए कि वह जर्मनी से बात करने एवं समझौता करने में समर्थ है। इस शिष्टमंडल को दूसरे दिन पहुँचना था। यह बहुत ही असाधारण मांग थी। सामान्यतया अंतर्राष्ट्रीय बातचीत के प्रारम्भ होने में काफी समय लगता है। किसी भी स्थिति में औपचारिक प्रस्ताव कूटनैतिक माध्यमों से पहले भेजे जाते हैं। इसके बाद विदेशी शिष्टमंडल को आमंत्रित किया जाता है। यह बात स्पष्ट थी कि हिटलर की इच्छा प्रश्न के शांतिमय हल की ओर नहीं थी। चूंकि पोलैण्ड का शिष्टमंडल स्पष्ट ही 30 अगस्त को नहीं पहुँच सकता था अतः जर्मनी ने बातचीत के सभी द्वार बंद कर दिये। इससे हिटलर को चिरप्रतिक्षित बहाना मिल गया जिससे वह पोलैण्ड पर योजना बद्ध रूप से हमला कर सके। 1 सितम्बर, 1939 के प्रातःकाल में युद्ध शुरू हो गया जब जर्मन सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 17 सितम्बर को सोवियत संघ ने पोलैण्ड पर हमला कर दिया पर न तो इटली और न अमेरिका इस समय तक युद्ध में शामिल हुए। इसी बीच ब्रिटेन और उसके सहायक युद्ध में उतर चुके थे। पर अभी भी शांति के लिए प्रयत्न जारी थे। जर्मनी पूर्ण युद्ध के लिए कृत-निश्चय था।

14.2.2 अमेरिका और रूस में मित्र भाव

जब युद्ध शुरू हुआ तो जर्मनी और इटली सहयोगी देश थे। किन्तु सोवियत-जर्मन अनाक्रमण समझौते से मुसोलिनी निराश हुआ। इटली जून, 1940 तक युद्ध में शामिल नहीं हुआ, जब फ्रांस पराजय और आत्मसमर्पण के कगार पर था। इटली युद्ध में जर्मन पक्ष की ओर से फ्रांस और उसके सहयोगी देशों के विरुद्ध शामिल हो गया। सोवियत संघ युद्ध में शामिल नहीं हुआ पर पोलैण्ड पर आक्रमण कर जर्मनी की सहायता करता रहा। आगे चलकर उसने फिनलैण्ड पर हमला किया और इसके परिणामस्वरूप उसे लीग ऑफ नेशन्स से निकाल दिया गया। स्टालिन ने हिटलर का विश्वास उस समय तक जारी रखा जब तक नाजी तानाशाह ने अधिकांश यूरोप के पड़ोसी देशों को हरा दिया और 22 जून, 1941 को सोवियत रूस पर हमला कर दिया। इसी बीच सोवियत रूस ने दबाव डालकर तीन बाल्टिक सागरीय देशों लटैविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया को सोवियत संघ में शामिल होने पर मज़बूर किया। इस प्रकार उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो गयी। स्टालिन ने उनके नेताओं से कहा था कि अगर वे सोवियत संघ में शामिल होने से इन्कार करते हैं तो जर्मनी उन्हें बरबाद कर देगा। सोवियत संघ ने रूमानिया को अपनी शर्तें मानने पर मज़बूर किया और उससे बेसरबिया और बुकोविना वापिस ले लिए। इस प्रकार मध्य 1941 तक सोवियत संघ युद्ध के लाभों को एकत्रित करने में संलग्न रहा तथापि उसने युद्ध में भाग नहीं लिया था।

हिटलर के सामने जून, 1940 में फ्रांस ने आत्मसमर्पण कर दिया। पर स्पेन के सम्बन्ध में हिटलर को यह सौभाग्य नहीं मिला। फ्रांको अपने देश को युद्ध से अलग रखने पर तुला हुआ था। चूँकि यह युद्ध हिटलर सोवियत रूस के सहयोग से लड़ रहा था, स्पेन सारे युद्धकाल में तटस्थ बना रहा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में जनभावना पूर्णरूप से युद्ध में शामिल होने के विरुद्ध थी। सन् 1937 में अमेरिका की कांग्रेस ने तटस्थता कानून (न्यूट्रेलिटी एक्ट) पास किया जिसके अनुसार सभी भावी युद्धरत राष्ट्रों को हथियार बेचे जाने की मनाही थी। जब युद्ध वास्तव में शुरू हो गया और जर्मनी प्रजातंत्रों को बमवर्षा कर नष्ट करने लगा तो अमेरिका की तटस्थ रहने की नीति शिथिल पड़ने लगी। नवम्बर, 1939 में कैश एण्ड केरी एक्ट पास किया गया। इससे युद्धरत राष्ट्र अमेरिकन अस्त्रों को खरीद सकते थे बशर्ते कि वे नकद भुगतान करें और हथियारों को अपने जहाजों में ले जाए। जब युद्ध खतरनाक मोड़ पर पहुँचा तो मार्च, 1941 में लैण्ड लीज एक्ट पास किया गया। इससे प्रेसिडेन्ट को ये अधिकार मिल गये कि वह किसी भी सुरक्षा की वस्तु को बेचने, बदला करने, उधार देने, लीज पर या दूसरी तरह दे सकता था। इस प्रकार अमेरिका मित्र देशों ब्रिटेन और चीन को अस्त्र-शस्त्र भेजने लगा। तीन माह बाद जब जर्मनी ने सोवियत रूस पर आक्रमण किया तो वह भी लैण्ड लीज के एक्ट के अन्तर्गत आ गया।

आप जानते हैं कि सोवियत जर्मन अनाक्रमण संधि जिस पर 1939 में हस्ताक्षर हुए, हिटलर की योजना के एक अंग के रूप में थी जिससे सोवियत संघ को जर्मनी के वास्तविक उद्देश्यों के बारे में अंधेरे में रखा जा सके। जैसे ही यूरोप प्रायःद्वीप में जर्मनी ने अपने शत्रुओं को परास्त कर दिया तो उसने रूस पर हमले की तैयारी करनी शुरू कर दी, पर स्टालिन आश्वस्त था कि जर्मनी सोवियत रूस पर हमला नहीं करेगा। चर्चिल, अमेरिकी दूतावास तथा स्वयं स्टालिन के अपने आदमियों ने स्टालिन को नाजी हमले की चेतावनी दी थी पर स्टालिन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। 22 जून, 1941 को जर्मनी ने सोवियत रूस पर वास्तव में हमला कर दिया। स्टालिन इस पर पूर्ण रूप से अचम्भित हो गया। सोवियत रूस ने सहयोगी देशों से सहायता मांगी। ब्रिटेन ने सोवियत रूस को अपने शिविर में सम्मिलित कर लिया। जुलाई में रूस और ब्रिटेन ने एक सैनिक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये।

जब सोवियत संघ एक विनाशकारी युद्ध का सामना कर रहा था, संयुक्त राज्य अमेरिका दिसम्बर, 1941 में युद्ध में शामिल होने को बाध्य किया गया जब जापान ने इसके नाविक अड्डे पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया। जापान और अमेरिका के सम्बन्ध कभी सामान्य नहीं रहे थे। जापान की सम्पत्तियाँ अमेरिका में जब्त कर ली गयीं। अगस्त, 1941 में अमेरिका ने घोषणा की कि थाईलैण्ड के विरुद्ध किसी प्रकार का जापानी कदम को वह गंभीरता से लेगा। सितम्बर में अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट और जापानी प्रधानमंत्री कोनोय में बातचीत हुई जो असफल सिद्ध हुई। अक्टूबर में कोनोय ने त्यागपत्र दे दिया और जनरल टाजो जापान के प्रधानमंत्री बने। उन्होंने खुले तौर से संघर्ष को बढ़ावा दिया। नवम्बर में ब्रिटेन ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने की प्रतिज्ञा की अगर अमेरिका उसके साथ लड़ाई में शामिल होता है। तनाव शीघ्र गति से बढ़ रहा था और युद्ध शीघ्र प्रारम्भ होने की बात प्रतीत हो रही थी। 6 दिसम्बर को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापानी सम्राट से शांति बनाये रखने के लिए सहयोग देने की एक व्यक्तिगत प्रार्थना की। शांति की बजाय अमेरिका पर दूसरे दिन बम वर्षा की गयी। 7 दिसम्बर, 1941 को प्रातःकाल में जापान ने बड़े अमेरिकन बेड़े पर जो पर्ल हार्बर में टिका था भारी बम वर्षा की। कुछ घंटों बाद जापान ने "संयुक्त राज्य अमेरिका

और ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध" युद्ध की घोषणा कर दी। दिसम्बर, 11 को जर्मनी और इटली दोनों ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इस प्रकार युद्ध दुनिया के सभी भागों में फैल गया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत मे दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1) द्वितीय विश्व युद्ध के किन्ही दो कारणों का विवेचन करो।

.....

.....

.....

.....

2) द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ की घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

14.3 धुरी शक्तियों का पतन

चूँकि, हम द्वितीय विश्व युद्ध का विवरण एक इकाई के रूप में दे रहे हैं इसलिए हम अति संक्षेप में धुरी राष्ट्रों इटली, जर्मनी, जापान की हार और उनके भूमिसात् होने का विवरण देना चाहेंगे। युद्ध के हार तथा जीत के विस्तृत विवरण से इस इकाई में हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। पर हम संक्षेप में यह विवरण देना उचित मानेंगे कि तीनों धुरी राष्ट्र कैसे पराजित हुए और सहयोगी राष्ट्र अंत में कैसे विजयी हुए।

14.3.1 जर्मनी एवं इटली की पराजय

यूरोप की दोनों फासिस्ट शक्तियों ने महाद्वीप के अधिकांश देशों को जीत लिया था। ब्रिटेन निरन्तर आक्रमण का शिकार बना हुआ था। सोवियत रूस का बड़ा भाग एवं तीनों बाल्टिक गणतन्त्र जर्मनी द्वारा बुरी तरह कुचल दिया गया था। 1943 में सहयोगी राष्ट्रों ने धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध प्रत्याक्रमण करने का निश्चय किया और अफ्रीका में इटालवी साम्राज्य का विनाश कर डाला। इस उद्देश्य की पूर्ति मई, 1943 तक हो गयी। इटली के लोग बेचैन हो उठे और ऐसा लगा कि यह फासिस्ट राज्य चकनाचूर हो जाएगा। सहयोगी राष्ट्रों ने "हुगकी अभियान" छेड़ा और उन्होंने सिसली के रास्ते इटली पर आक्रमण किया। यह एक पूर्ण प्रयास नहीं था क्योंकि इसके पीछे इटली को जर्मनी तथा बाल्कन प्रदेश पर बमबारी करने के लिए आधार के रूप में काम में लेना था। जुलाई, 1943 में भारी बम वर्षा के कारण बड़ी संख्या में इटालवी लोगों ने सिसली में आत्म-समर्पण कर दिया। जर्मन इस टापू की रक्षा नहीं कर सके। सिसली पर पृथक आक्रमण के कुछ दिनों बाद मुसोलिनी हिटलर से मिला और उसने अधिक जर्मन सहयोग मांगा, पर हिटलर ने इन्कार कर दिया। मुसोलिनी ने फासिस्ट ग्रान्ड कौंसिल की मीटिंग बुलाई जिसमें राजा से सेना की कमान सीधी संभालने को कहा गया। 23 जुलाई, 1943 को राजा विक्टर एमानुएल तृतीय ने मुसोलिनी को पद से हटा दिया और मार्शल बोडोग्लीओं के नेतृत्व में नयी सरकार बनाई। मुसोलिनी को गिरफ्तार कर लिया गया। इटली ने अंत में बिना शर्त 3 सितम्बर, 1943 को आत्म-समर्पण कर दिया और इसी दिन जर्मन रोम में प्रविष्ट हुए। मित्र राष्ट्र रोम पर 4 जुलाई, 1944 को ही अधिकार कर सके।

मित्र राष्ट्रों ने निर्णय किया कि जर्मनी को हराने के लिए उसके विरुद्ध दो मोर्चे खोले जाए। पूर्व से सोवियत संघ उसे दबा रहा था, पश्चिम में इंग्लैण्ड, अमेरिका और उनके सहयोगी देशों ने फ्रांस को मुक्त करने के लिए नोरमण्डी पर आक्रमण कर दिया। मार्च, 1944 तक धुरी राष्ट्रों की सेनाएं यूक्रेइन के अधिकांश भागों और रूस के दूसरे क्षेत्रों से हटा दी गयी थीं। साल के अंत तक सोवियत भूमि से जर्मनों को निकाल बाहर किया गया। जर्मनी के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चा 6 जून, 1944 में खोला गया। यह इंगलिश चैनेल से शुरू हुआ और इसके लिए 1 लाख 50 हजार अमेरिकन सैनिक हर माह अमेरिका से भेजे गये।

सहयोगी राष्ट्रों की सेनाओं ने फ्रांस को मुक्त करा लिया और 11 सितम्बर, 1944 को जर्मनी में घुस गयीं। यह घटना उनके हमले के सताणवें दिन को घटित हुई। शीघ्र इसके बाद हिटलर की वायु सेना ने लंदन पर भारी बम वर्षा की जो 1945 के प्रारम्भ तक जारी रही। चूँकि जर्मन पराजित होने लगे, हिटलर को खत्म करने के षडयन्त्र प्रारम्भ हुए। फरवरी, 1945 को आयोजित हुए याल्टा सम्मेलन में जर्मनी पर अंतिम आक्रमण की योजना बनायी गयी। ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस और अमेरिका ने चारों ओर से जर्मनी पर आक्रमण शुरू कर दिया सोवियत आक्रमण बिना रुके जारी था। जर्मन चांसलरी में जहाँ की भूमिगत सुरक्षा में हिटलर ने अपना अंतिम मुख्यालय बनाया था, बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। जब बाकी चीजें नष्ट हो गयीं, नाजी तानाशाह ने, जो अखिल विश्व पर राज करने के सपने संजो रहा था, 30 अप्रैल, 1945 को आत्महत्या कर ली। हिटलर ने डाकनिट्ज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था पर वह देश को बचाने के लिए कुछ नहीं कर सका। 5 मई, 1945 को उत्तरी-पूर्वी जर्मनी में तथा हालैण्ड में और डेन्मार्क में लड़ रहे जर्मन सेनापतियों ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। आस्ट्रिया की नाजी सेना ने अगले दिन आत्मसमर्पण कर दिया। अंत में 7 मई को डोकनिट्ज सरकार (जर्मनी की) ने बिना किसी शर्त के "रिच की सारी जमीन, समुद्र और वायु सेना" के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। यूरोप में यह युद्ध 8 मई, 1945 को समाप्त हो गया।

UGPS-04(13B)

14.3.2 जापान की पराजय

सहयोगी राष्ट्र इसके साथ-साथ पूर्व में जापान के विरुद्ध विजय प्राप्ति के लिए लड़ रहे थे। यहाँ बड़ा दायित्व अमेरिका पर था जो आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन, हालैण्ड और चीन से सहयोग कर रहा था। चीन 1937 से जापानी आक्रमण का शिकार रहा था। इस बात के प्रयत्न किये गये कि भारत होकर चीन को आवश्यक युद्ध सामग्री भेजी जाये। सहयोगी राष्ट्रों ने चीन को आधार मानकर जापान पर आक्रमण जारी रखा। जनरल मैकआर्थर ने इन युद्ध-क्रियाओं का संचालन किया। 1944 की पतझड़ में मित्र राष्ट्रों ने दो बड़े अभियान छेड़े। पहला लार्ड माउन्टबैटन के अधीन बर्मा पर पुनः विजय प्राप्त करना और चीन के साथ समुचित संचार-साधनों को खोलना था। दूसरे अभियान का संचालन जनरल मैक आर्थर ने किया। इसका उद्देश्य फिलीपीन टापुओं को मुक्त कराना था। जून, 1945 तक दोनों अभियान पूर्ण कर लिये गये। इन लड़ाइयों के सारे विवरण हम नहीं दे रहे हैं। पोट्सडम सम्मेलन में जिसका अधिवेशन जर्मनी में केन्द्रीय यूरोप के भविष्य का निर्णय करने के लिए हो रहा था जापान से जुलाई में कहा गया कि वह सभी जापानी फौजों के बिना शर्त समर्पण की घोषणा करे। जापान के लिए इसका विकल्प शीघ्र विनाश होगा। चूँकि सोवियत संघ जापान से युद्ध में शामिल नहीं था अतः उसने इन घोषणाओं पर हस्ताक्षर नहीं किये। जापान ने इस अंतिम निर्णय (अल्टीमेटम) को नहीं माना और लड़ाई जारी रखी। इस समय अमेरिका ने अणु बम का प्रयोग करने का निर्णय किया और उसके द्वारा जापान का बिना शर्त समर्पण प्राप्त करने की चेष्टा की।

6 अगस्त, 1945 को अमेरिका की वायु सेना ने पहला अणु बम मुख्य हिरोशिमा पर डाला और लक्ष्य क्षेत्र के आधे से अधिक भाग को नष्ट कर दिया। दो दिनों बाद (अगस्त 8) सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और मंचूरिया में आक्रमण शुरू कर दिया। इसने दक्षिण सखालिन (दोनों जापान के नीचे) पर भी आक्रमण किया। सोवियत रूस की सेना शीघ्र गति से आगे बढ़ी। 9 अगस्त, 1945 को दूसरा अणु बम नागासाकी पर डाला गया जिससे अपूर्व और अकल्पित विनाश हुआ। दूसरे दिन जापान ने शांति के लिए प्रार्थना की। युद्ध बंद हो गया पर आत्मसमर्पण के कागजातों पर युद्धपोत मिसूरी जहाज पर 2 सितम्बर, 1945 को हस्ताक्षर किये गये।

इस प्रकार जापान के अमेरिका के अधिकार में आने के साथ-साथ द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे के स्थल को अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) जर्मनी में नाजी तानाशाही का अन्त कैसे हुआ ?

.....

.....

.....

.....

2) जापान के आत्मसमर्पण की घटनाओं का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

14.4 स्थायी शांति की समस्या

द्वितीय विश्व युद्ध जर्मनी के मई में तथा जापान के अगस्त, 1945 में बिना शर्त समर्पण के साथ समाप्त हो गया। यह विश्व युद्ध प्रथम विश्व युद्ध से जो 1918 में समाप्त हुआ था, ज्यादा समय तक चलने वाला, अधिक महंगा और अधिक विनाशक सिद्ध हुआ। दोनों युद्धों की प्रकृति और विस्तार ही भिन्न नहीं थे पर शांति स्थापना के प्रयत्न भी बिल्कुल भिन्न थे। द्वितीय विश्व युद्ध के समय सहयोगी राष्ट्र के नेता गण अंतिम शांति संस्थापना की कार्यवाहियों की अग्रिम तैयारी के रास्ते पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। प्रथम विश्व युद्ध के समय यह स्थिति नहीं थी। सहयोगी शक्तियाँ अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन और सोवियत रूस इस बात का दृढ़ता से निश्चय कर चुके थे कि युद्ध को जीतने के लिए धुरी राष्ट्रों की चुनौती का सामना करना चाहिए पर एक ऐसी विश्व व्यवस्था की संस्थापना करनी चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय सहमति और सहयोग पर आधारित हो। इस उद्देश्य को सामने रखकर प्रधान सहयोगी शक्तियों ने अनेकों सम्मेलनों में इस पर विचार किया। अगले दो खण्डों (14.4.1 और 14.4.2) में इन महत्वपूर्ण घोषणाओं और सम्मेलनों का विवरण किया गया है।

चूँकि, सहयोगी राष्ट्रों में पूर्ण सहमति थी इसलिए इस बात की आशा की जा रही थी कि शांति संधियों के संपन्न होने में कोई बाधा नहीं आयेगी। लेकिन यह आशा पूरी नहीं हुई। विभिन्न विजित शक्तियों से अलग-अलग संधियाँ करनी पड़ीं। इन संधियों पर हस्ताक्षर करने में बहुत वर्षों का समय लगा। शांति संस्थापना की प्रक्रिया को शीघ्र पूर्ण करने के मार्ग में अमेरिका और रूस के बीच का "शीत युद्ध" बड़ा कारण बनकर उपस्थित हुआ। एक बात का यहाँ ध्यान रखा जाना चाहिए कि यद्यपि शांति संधियों पर युद्ध के शीघ्र बाद में हस्ताक्षर नहीं किये जा सके तथापि सहयोगी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में एक नये विश्व क्रम को स्थापित करने में सफल हुए।

14.4.1 युद्धकालीन घोषणाएँ

1) चार स्वतंत्रताएँ

संयुक्त राज्य अमेरिका हमेशा से ही गृह तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ आदेशों पर जोर देता रहा है। प्रेसिडेन्ट विल्सन ने प्रथम विश्व युद्ध के समय कई आदेशों की स्थापना की थी जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण आदर्श प्रसिद्ध "चौदह बिन्दुओं" में समाहित थे। इसी प्रकार, राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवैल्ट ने जनवरी, 1941 में कांग्रेस को एक संदेश में चार स्वतन्त्रताओं का सूत्रपात किया जो युद्ध के बाद सभी सभ्य राष्ट्रों का प्राप्तव्य उद्देश्य होना चाहिए। चार स्वतन्त्रताएं निम्नलिखित थीं। (i) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (ii) अन्तर्आत्मा और पूजा की स्वतन्त्रता (iii) अभाव एवं गरीबी से स्वतन्त्रता और (iv) डर से स्वतन्त्रता। अंतिम स्वतन्त्रता में निशस्त्रीकरण की भावना निहित थी ताकि भविष्य में हर राष्ट्र युद्ध के भय से मुक्त होकर शांति पूर्वक रह सके।

2) अटलांटिक चार्टर

इस प्रसिद्ध घोषणा को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल और अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 14 अगस्त, 1941 को जारी किया था। यद्यपि अमेरिका उस समय तक युद्ध में शामिल नहीं हुआ था पर उसकी सहानुभूति ग्रेट ब्रिटेन और सहयोगी राष्ट्रों के प्रजातन्त्र के प्रति थी। ये दोनों नेता अटलांटिक महासागर में प्रिंस ऑफ वेल्स जहाज पर किसी स्थान पर मिले और युद्ध के उद्देश्यों सम्बन्धी घोषणा की। यह घोषणा अटलांटिक चार्टर के रूप में जानी गयी। उसमे आठ सिद्धान्तों की घोषणा की गयी जो ब्रिटेन और अमेरिका के भावी विश्व क्रम के प्रयत्न के मूलाधार थे। चार्टर की प्रस्तावना में दोनों नेताओं ने कहा कि इनमें जो सिद्धान्त निहित हैं उनमें मानव जीवन के उज्जवल भविष्य की आशा है।

ये घोषणाएँ थीं :

1) सभी राज्यों की सार्वभौमिकता और आत्म निर्णय/स्वशासन के अधिकार के प्रति आदर की भावना।

2) दोनों शक्तियों का क्षेत्रीय विस्तार नहीं।
3) कम से कम लोगों की स्वतन्त्रता से अभिव्यक्त इच्छाओं के विरुद्ध नहीं।
4) सभी विजयी एवं विजित राष्ट्रों की आर्थिक साधनों के प्रति समान पहुँच।
5) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की अभिवृद्धि।
6) अभाव से उत्पन्न भय से स्वतन्त्रता।
7) युद्ध के भय से स्वतन्त्रता जिसके लिए सामान्य निशस्त्रीकरण और सभी के लिए सुरक्षा की स्थायी व्यवस्था को प्रोत्साहित करना।
8) सभी लोगों को जल-संचरण की स्वतन्त्रता।

अटलांटिक चार्टर ने केवल वह आधार ही नहीं दिया जिसके बल पर सहयोगी राष्ट्रों ने युद्ध लड़ा और जीता, बल्कि, भावी शांति को प्राप्त करने का आधार भी उपस्थित किया।

3) संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा

जो सिद्धान्त अटलांटिक चार्टर में निहित थे उन्हें आगे चलकर 26 सहयोगी राष्ट्रों ने 1 जनवरी, 1942 को पुनर्घोषित किया। जापान द्वारा पर्ल हार्बर पर हमले के बाद (जो दिसम्बर, 1941 में किया गया) अमेरिका भी युद्ध में ब्रिटेन और उसके सहयोगी देशों के पक्ष तथा जर्मनी एवं धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया। अमेरिका के नेतृत्व में इन 26 सहयोगी राष्ट्रों ने अपने आप को संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में घोषित किया और 1 जनवरी, 1942 को की गयी उनकी घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा के रूप में जानी गयी। इस घोषणा के द्वारा 26 संयुक्त राष्ट्रों ने अटलांटिक चार्टर को मानने की प्रतिज्ञा की तथा वादा किया कि किसी भी धुरी शक्तियों से अलग से कोई शांति संधि नहीं करेंगे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणीः i) नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग अपने उत्तरों के लिये करें।
ii) इकाई के अन्त में दिये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति द्वारा जनवरी, 1941 में घोषित चार स्वतन्त्रताओं का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

2) संयुक्त राष्ट्र संघ के जनवरी, 1942 के घोषणा-पत्र का क्या महत्व था?

.....

.....

.....

.....

14.4.2 युद्धकालीन सम्मेलन

युद्धकाल के समय कई सम्मेलन आयोजित किये गये जिनमें बड़ी शक्तियाँ सम्मिलित हुईं ताकि एक युद्ध नीति विकसित की जा सके जिसका सहारा लेकर युद्ध में विजय प्राप्त की जाए। कुछ दूसरे सम्मेलनों में एक नई विश्व संस्था को स्थापित करने पर विचार किया गया जो लीग ऑफ नेशन्स के स्थान पर स्थापित की जानी थी। कम से कम एक सम्मेलन में जो युद्ध के अंत में आयोजित किया गया विजित जर्मनी के साथ शांति संपन्न करने के संबंध में विचार हुआ।

1) कैसेब्लैंका सम्मेलन

राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधानमंत्री चर्चिल अपने सैनिक सलाहकारों के साथ 14-24 जनवरी, 1943 को मोरक्को के कैसेब्लैंका बन्दरगाह पर मिले। जनरल डि गॉले भी जो निष्कासित फ्रांस सरकार का अध्यक्ष था इस सम्मेलन में शामिल हुआ। यह निश्चय हुआ कि आजाद करने के पूर्व में इटली पर हमला कर उसे हराया जाए। यह भी तय हुआ कि संयुक्त राष्ट्र (सहयोगी राष्ट्र) धुरी राष्ट्रों से तभी शांति करेंगे जब वे बिना शर्त आत्मसमर्पण कर देंगे।

2) मास्को सम्मेलन

मास्को में 19 अक्टूबर से 30 अक्टूबर तक एक महत्वपूर्ण सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और चीन के विदेश मंत्रियों ने भाग लिया। यह तय किया गया कि जर्मनी की हार के बाद आस्ट्रिया की पुनर्स्थापना एक स्वतन्त्र सार्वभौम राष्ट्र के रूप में की जाएगी। इन नेताओं ने यह भी प्रतिज्ञा की कि इटली में एक प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना की जाएगी।

एक बड़ा निर्णय जो मास्को सम्मेलन में लिया गया वह यह था कि युद्ध के बाद एक नई विश्व संस्था की संस्थापना की जाएगी। सम्मेलन के अंत में जो विज्ञप्ति प्रकाशित हुई उसमें कहा गया था कि चारों राष्ट्र इस बात को स्वीकार करते हैं कि "यह आवश्यकता है कि सबसे पहले संभव तिथि पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना की जाए जो सभी शांति प्रिय राष्ट्रों की सार्वभौमिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित हो और जो सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों के लिए सदस्यता के लिए खुली हो। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करना हो। यह निश्चय किया गया कि चारों शक्तियाँ डुम्बार्टन ओक्स, वाशिंगटन (डी.सी.) में अगस्त, 1944 में एकत्रित होंगी और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का पूर्व-रूप तैयार किया जाएगा। इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र संघ को अस्तित्व में लाने का प्रथम औपचारिक निर्णय मास्को में 1943 में लिया गया।

3) काहिरा सम्मेलन

तीनों प्रमुख सहयोगी राष्ट्रों के शासनाध्यक्ष, रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन तेहरान सम्मेलन में मिले। नवम्बर 28 से दिसम्बर 1, 1943 इस सम्मेलन में तीनों बड़ी शक्तियों ने ईरान की स्वतन्त्रता, सार्वभौमिकता और क्षेत्रीय अखंडता के प्रति आदर रखने के लिए अपने आपको वचनबद्ध किया। तीनों नेताओं ने इस बात की भी प्रतिज्ञा की कि वे युद्ध में तथा परवर्ती शांति में मिलकर काम करेंगे। उन्होंने जर्मन खतरे का मुकाबला करने के लिए दूसरे देशों से सहयोग मांगा।

4) तेहरान सम्मेलन

तेहरान निर्णय का एक तीसरा भाग भी था। यह एक गुप्त समझौता था जो सिर्फ 1946 में प्रकाशित हुआ। यह तय किया गया था कि जर्मनी के विरुद्ध दूसरा युद्ध का मोर्चा नोरमण्डी में खोला जाएगा ताकि वह आसानी से अपनी सेनाओं को पूर्वी मोर्चे से पश्चिमी मोर्चे तक नहीं ले जा सके।

5) ब्रेटन वुड्स सम्मेलन

जुलाई, 1944 तक सहयोगी राष्ट्रों की विजय की संभावनायें उज्जवल हो गयी थीं। ब्रेटनवुड में जुलाई, 1944 को 44 सहयोगी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक बैठक आयोजित की गयी। यह निश्चय किया गया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की जाए जिससे युद्ध के बाद विश्व के पुनर्निमाण और विकास में सहायता प्राप्त हो सके।

6) डुम्बारटन ओक्स सम्मेलन

हमने ऊपर पढ़ा है कि मास्को सम्मेलन ने एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन को उत्पन्न करने का निर्णय किया था। इसे संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम दिया जाना था। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ और चीन के प्रतिनिधि डुमबारटन ओक्स में जो वाशिंगटन (डी.सी) के पास है। अगस्त 21 से 7 अक्टूबर, 1944 तक मिले ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तैयार किया जा सके। डुम्बारटन ओक्स सम्मेलन ने निर्णय लिया कि सैन फ्रांसिस्को में अप्रैल, 1945 में एक सम्मेलन आयोजित करने की सिफारिश की जाए ताकि चार्टर को पूर्ण कर उसका अधिग्रहण किया जा सके। यह आशा की गयी [illegible] के उस समय तक जर्मनी आत्मसमर्पण कर देगा।

7) क्यूबैक सम्मेलन

प्रधानमंत्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने 11 सितम्बर, 1944 को क्यूबैक में एक बैठक आयोजित की। उन्होंने इस बात के विवरण तैयार किये कि जर्मनी की हार के बाद उसके किन-किन क्षेत्रों को किन-किन प्रमुख सहयोगी राष्ट्रों के द्वारा अधिकृत किया जाएगा।

8) मास्को सम्मेलन

प्रधानमंत्री चर्चिल और सोवियत नेता स्टालिन मास्को में 9 अक्टूबर, 1944 को मिले। जर्मन पराजय की प्रत्याशा में दोनों देशों ने पूर्वी यूरोप में "युद्ध के लाभों" को अपने बीच विभाजित करने का निर्णय किया। यह तय हुआ कि बलगेरिया और रूमानिया सोवियत प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत रहेंगे और यूनान ब्रिटेन का प्रभाव क्षेत्र होगा।

9) **याल्टा सम्मेलन**

याल्टा सम्मेलन (फरवरी 4-11, 1945), जिसमें तीनों (रूजवेल्ट, स्टालिन, चर्चिल) ने भाग लिया सभी युद्धकालीन सम्मेलनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साबित हुआ। इसमें जर्मनी से तथा दूसरे पूर्वी यूरोप के देशों, सुदूर पूर्व से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण करने का निर्णय लिया गया तथा साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ के अविर्भाव का निर्णय हुआ। पर इस सम्मेलन के निर्णयों से कई नई समस्यायें उठ खड़ी हुईं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव डाला। साधारणतया यह माना जाता है कि शीत युद्ध याल्टा में लिए गये निर्णयों का एक बड़ा प्रतिफल था। कुछ दिनों तक याल्टा में लिये गये निर्णयों को गुप्त रखा गया। संयुक्त राज्य के स्टेट डिपार्मेंट द्वारा वे सिर्फ 1955 में प्रकाशित किये गये।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्बन्ध में डुम्बरटन ओक्स सम्मेलन का अधूरा कार्य पूरा किया गया। यह निर्णय लिया गया कि सोवियत रूस के अतिरिक्त युक्रेइन, और बाइलो-रसिया भी संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्ण अधिकार संपन्न सदस्य बनाये जाएंगे। सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन चीन और अमेरिका बड़ी शक्तियाँ माने जाएंगे और वे सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य होंगे। याल्टा सम्मेलन में यह भी तय किया कि न्यायविदों की एक समिति बनायी जाये जो इन्टरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस के प्रावधानों (स्टेट्यूट) का प्रारूप तैयार करे।

याल्टा सम्मेलन ने निश्चय किया कि फासिस्टों और नाजियों के अधिकार से मुक्त देशों में प्रजातंत्रीय सरकारों की स्थापना की जाएगी। जर्मनी का निशत्रीकरण किया जाएगा और एक सविशेष कोर्ट की स्थापना की जाएगी जिसमें उन जर्मनों के विरुद्ध मुकदमें चलाये जाएंगे जो निर्दोष व्यक्तियों पर जुल्म ढ़ाहने के दोषी पाए जाएंगे। जर्मनी को आक्रमण के कारण हुई हानि की पूर्ति के रूप में राशि चुकानी होगी। यह तय हुआ कि क्षतिपूर्ति की आधी राशि सोवियत संघ को मिलेगी जिसको जर्मनी के हाथों अत्यधिक हानि उठानी पड़ी है। कर्जन लाइन को कुछ सुधारों के साथ पोलैंड की पूर्वी सीमा रेखा मानी जाएगी और जितनी जल्दी संभव हो पोलैण्ड में एक स्वतंत्र प्रजातन्त्रीय सरकार की स्थापना की जाएगी। युगोस्लाविया में मार्शल टीटो की अधीनता में एक सरकार की स्थापना होगी। युगोस्लाविया की संसद के युद्ध पूर्व के सदस्य अन्तरिम संसद में सम्मिलित किये जाएंगे।

सोवियत संघ जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा यूरोप में युद्ध समाप्त होने के तीन माह बाद करने को राजी हो गया। इसके बदले में रूजवेल्ट और चर्चिल रूस को सुदूरपूर्व में कुछ छूटें देने को सहमत हो गये। यह तय हुआ कि बाहरी मंगोलिया में **यथास्थिति** बनायी रखी जाये सखालिन टापू का दक्षिण भाग और पास ही के पोर्टआर्थर टापू का समुद्री अड्डा रूस को सौंप दिया जाये। क्वीरिल टापू भी सोवियत संघ को दे दिया जाये। डेयरिन के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। चाईनीज ईस्टर्न रेलवे और साउथ मंचूरियन रेलवे सोवियत रूस और चीन के संयुक्त नियंत्रण में रहे।

याल्टा सम्मेलन जैसा कि हमने ऊपर कहा है, कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। इसे शीत युद्ध के लिए निन्दित किया जाता है। जो छूटें सोवियत संघ को दी गयी थीं वे इतनी महत्वपूर्ण थीं कि चर्चिल एवं रूजवेल्ट पर यह आरोप लगाया गया कि वे स्टालिन के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपना रहे हैं। यह पूर्व में दी गयी छूटों के सम्बन्ध में ही ठीक नहीं है। रूस के दो गणतंत्रों को संयुक्त राष्ट्र की पूर्ण सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर भी ठीक नहीं है। लेकिन युद्ध में सोवियत योगदान के आधार पर तथा जर्मन हार सुनिश्चित करने के लिए उसके बलिदान के आधार पर इन रियायतों को उचित ठहराया गया।

10) **सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन**

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन (अप्रैल 25–जून 26, 1945) का आयोजन संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को अधिगृहीत करने के लिए बुलाया गया था। जब सम्मेलन शुरू हुआ तो यूरोप में युद्ध समाप्ति पर था। अप्रैल के अंत में बर्लिन पर आक्रमण हुआ और 30 अप्रैल, 1945 को हिटलर ने आत्महत्या कर ली। 9 मई, 1945 को जर्मनी ने बिना शर्त आत्म समर्पण कर दिया। सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन का उद्घाटन अमेरिका के नये राष्ट्रपति ट्रूमेन ने किया। 50 राज्यों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। सहयोगी राष्ट्र और तटस्थ राष्ट्र जो आयोजकों ने निमंत्रित किए जून 26, 1945 को चार्टर को अधिगृहीत (एडोप्ट) कर लिया।

11) **पोट्सडैम सम्मेलन**

पोट्सडैम बर्लिन सम्मेलन जुलाई-अगस्त, 1945 को किया गया। जर्मनी ने सहयोगी राष्ट्रों के सामने बिना शर्त समर्पण कर दिया। जर्मनी के भविष्य के बारे में तथा दूसरे पूर्वी देशों के बारे में कई निर्णय युद्धकालीन विभिन्न सम्मेलनों में लिए जा चुके थे। इन निर्णयों के प्रकाश में औपचारिक व्यवस्था की जानी थी। पोट्सडैम सम्मेलन में स्टालिन, चर्चिल, चांगकाईशेक और अमेरिका के राष्ट्रपति हेरी ट्रूमेन शामिल हुए। उच्च शक्ति संपन्न शिष्टमंडल उनकी सहायता कर रहे थे। सम्मेलन ने जर्मनी के भावी स्वरूप के सम्बन्ध में

महत्वपूर्ण निर्णय लिए और शांति की औपचारिक सन्धि करने के कार्य को स्थगित रखा। इस बात की तैयारी भी शुरू की गयी कि दूसरी पराजित शक्तियों से भी शांति सन्धियाँ की जाएं। जापान अभी पराजित होना बाकी था।

कई मार्गदर्शक सिद्धान्त तय किये गये जो जर्मनी से की जाने वाली शांति संधि के आधार बनते।

इनमें 10 राजनैतिक सिद्धान्त एवं नौ आर्थिक सिद्धान्त शामिल किये गये। 10 सिद्धान्त युद्ध के दंड की राशि को नियमित रूप से निर्णीत करने, 6 सिद्धान्त जर्मन जल शक्ति को विभाजित करने और 5 सिद्धान्त जर्मन के व्यापारिक जहाजों को वितरित करने के बारे में थे। जर्मनी के क्षेत्रों पर सैनिक नियंत्रण करने के लिए एक समिति बनायी गयी जिसमें चारों महाशक्तियों के प्रतिनिधि शामिल थे। यह भी तय हुआ कि जर्मनी का निशस्त्रीकरण किया जाएगा। नाजी संगठन एवं नाजी कानून खत्म कर दिये जाएंगे। युद्धापराधियों पर मुकदमें चलेंगे और उन्हें कड़ा दण्ड मिलेगा। अंत में जर्मनी में प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना होगी और लोगों के अधिकार एवं स्वतंत्रता की बहाली की जाएगी।

पोलैण्ड की पश्चिमी सीमा रेखा सुनिश्चित करने के कार्य को स्थगित रख यह निर्णय लिया गया कि दक्षिणी पूर्वी एशिया और रीवर्स ओडर के पूर्व के क्षेत्र और न्यइसे इस देश के पश्चिमी भू-भाग बनेंगे। यह भी तय हुआ कि जितनी जल्दी संभव हो, पोलैण्ड में स्वतंत्र एवं पक्षपात रहित चुनाव कराए जाएं।

पोट्सडैम सम्मेलन ने निश्चय किया कि सहयोगी राष्ट्रों की सेनाएं शीघ्र ईरान से हटा ली जाएं। टैन्जीयर को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र घोषित किया जाए। आस्ट्रिया से युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में कोई राशि नहीं ली जाए। इस सम्मेलन ने जापान के आत्मसमर्पण के आधारों के बारे में भी निर्णय लिए। साम्राज्यवादी तत्वों का खात्मा किया जाए और जापान का निशस्त्रीकरण किया जाए। जापान के युद्ध अपराधियों को दण्ड दिये जाने का भी निर्णय हुआ।

जापान के आत्मसमर्पण के तत्काल बाद जापान पर सहयोगी राष्ट्रों का नियंत्रण स्थापित किया जाएगा और अंत में एक प्रजातांत्रिक सरकार की स्थापना की जाएगी। जापान की सार्वभौमिकता चार बड़े और कुछ छोटे टापुओं तक सीमित रहेगी। वह सारे क्षेत्र जिन पर जापान ने युद्ध के पहले या युद्ध के समय अधिकार कर लिया था, उन्हें फिर स्वतंत्र कर दिया जाएगा और उन्हें उन देशों को दे दिया जाएगा जिनसे वे कानूनी रूप से सम्बन्धित हैं।

पोट्सडैम सम्मेलन द्वारा निर्धारित शर्तें जो जापान के आत्मसमर्पण के बारे में थीं उन्हे जापान ने स्वीकार नहीं किया। अमेरिका ने बिना सोवियत रूस को बताए और उसकी स्वीकृति प्राप्त किये बिना जापान के दो शहरों पर एटम बम गिराये जिससे अगस्त, 1945 को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया। यह तथ्य कि अमेरिका ने अणु बमों को बिना सोवियत रूस की जानकारी के विकसित किया और काम में लिया आगे चलकर एक महत्वपूर्ण कारण बना जिससे युद्ध के अंत होने के तत्काल बाद शीत युद्ध का जन्म हुआ।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गये स्थान का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
ii) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) याल्टा सम्मेलन के निर्णयों का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

2) पोट्सडैम सम्मेलन में जर्मनी के भावी स्वरूप के बारे में क्या निर्णय लिया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

14.5 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शांति संस्थापन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शांति सन्धियाँ संपन्न करने का काम बड़ा मुश्किल साबित हुआ। युद्ध की समाप्ति के दो वर्षों बाद केवल पराजितों में से 5 के साथ सन्धियाँ की गयीं। वे थे इटली, रूमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और फिनलैण्ड। आस्ट्रिया से शांति संधि 1955 में ही हो सकी और जापान से 1952 में। जर्मनी का एकीकरण नहीं हो सका। यह पश्चिमोन्मुख फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी (वेस्ट जर्मनी) और डेमोक्रेटिक जर्मन रिपब्लिक जो सोवियत रूस के प्रभाव के अन्तर्गत था, विभाजित हुआ। चूँकि जर्मनी का एकीकरण नहीं हुआ अतः उसके साथ कोई सन्धि अब तक नहीं हुई। दोनों जर्मनी अंत में 1990 में एकीकृत हुईं और एक जर्मनी बनी। हम संक्षिप्त रूप से उन शांति सन्धियों का विवेचन करेंगे जो दूसरे पराजित देशों से संपन्न हुईं।

14.5.1 शांति सन्धियाँ

1919 के पेरिस शांति सम्मेलन के विपरीत 11 सितम्बर से 3 अक्टूबर, 1945 तक सिर्फ विदेश मंत्रियों की बैठक आयोजित हुई। उस समय तक एक तरफ पश्चिमी शक्तियों और दूसरी ओर सोवियत रूस में गंभीर मतभेद पैदा हो चुके थे। लंदन सम्मेलन में बहुत कम प्रगति हो सकी। इसके अलावा पश्चात्वर्ती तीनों बैठकों में भी कोई प्रगति नहीं हुई। सन्धि का प्रारूप तीन बैठकों में तैयार किया गया जो पाँच शक्तियों के बीच संपन्न की जानी थी। ये शक्तियाँ थीं इटली, रूमानिया, बुल्गारिया, हंगरी और फिनलैण्ड। इसके बाद 12 राष्ट्रीय पेरिस सम्मेलन जुलाई 29 से अक्टूबर 15, 1946 तक आयोजित किया गया। इसके बाद विदेश मंत्रियों की समिति की फिर बैठक हुई और अन्त में न्यूयार्क में 12 दिसम्बर, 1946 को ये सन्धियाँ अंतिम रूप से समिति द्वारा स्वीकृत की गयीं। अन्त में इन सन्धियों पर सहयोगी राष्ट्रों ने एक तरफ से और 5 उपर्युक्त पराजित शक्तियों ने दूसरी ओर से हस्ताक्षर किए। इनमें से हर एक के साथ अलग सन्धियाँ भी की गयीं।

इन सन्धियों की मुख्य धाराओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। इटली के साथ होने वाली सन्धि से उसे कई क्षेत्रों से वंचित कर दिया गया। इटली की कीमत पर फ्रांस, यूनान और युगोस्लाविया को क्षेत्र मिले। ट्राइस्टे एक स्वतन्त्र दुर्ग बना दिया जिसके गवर्नर की नियुक्ति संयुक्त संघ की सुरक्षा परिषद करती थी। अल्बानिया और इथिओपिया को अपनी स्वतन्त्रता फिर मिल गयी। एक बार फिर वे प्रभुसत्ता संपन्न राष्ट्र बन गये। इटली से उसके उपनिवेश लिबिया, सोमालीलैण्ड, और ऐरिट्रिया छीन लिये गये। इटली की सुरक्षा सेना को काफी कम कर दिया गया और उसे कहा गया कि वह एक बड़ी धनराशि सात वर्षों के अन्दर युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में दे।

रूमानिया के साथ होने वाली सन्धि में बसेरबिया और बुकोबिना के प्रान्त रूस के स्थानांतरित करने की व्यवस्था थी। उसे डोबजा बलगेरिया को देना था। इसे सोवियत रूस को धनराशि युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देनी थी। उसकी सैनिक शक्ति की सीमा भी निर्धारित कर दी गयी।

हंगरी से डेन्यूब नदी के दक्षिण में स्थित गांव चेकोस्लोवाकिया को दिलवाये गये जिन पर उसने 1938 में कब्जा कर लिया था। ट्रान्सिलवानिया का प्रांत उसे रोमानिया को लौटाना पड़ा। उसे निशस्त्र कर दिया गया एवं युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि देने को बाध्य किया गया।

बुल्गारिया को क्षेत्र की हानि नहीं सहनी पड़ी। उसे वास्तव में रूमानिया से डोबजा मिला। लेकिन अन्यों की तरह बुल्गारिया को भी युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि देनी पड़ी और उसकी सेना में अतीव कटौती स्वीकार करनी पड़ी।

फिनलैण्ड को कुछ छोटे क्षेत्र खोने पड़े जो सब सोवियत रूस को दिये गये। साला का क्षेत्र पैट्सामों और पोरकल्ला उद का जल के जहाजों का आधार स्थल उसने सोवियत रूस को दे दिया। दूसरे पराजित देशों की तरह फिनलैण्ड पर भी युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में राशि देने का दायित्व डाला गया और उसकी सशस्त्र सेनाओं में भी काफी कमी कर दी गई।

इन पांच सन्धियों का भरपूर लाभ सोवियत संघ को मिला। दूसरा देश जिसे पर्याप्त भू-भाग मिला, शक्ति तथा प्रतिष्ठा मिली वह यूगोस्लाविया था जो बाल्कन में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बना और इस प्रकार इटली का प्रतिद्वन्दी बन गया।

आस्ट्रियाः आस्ट्रिया पर जर्मन सेना ने 1938 में कब्जा कर लिया था और तभी से वह पराजित जर्मनी का

अधिकृत भाग रहा। आस्ट्रिया को "मुक्त क्षेत्र" माना गया। 1943 के मास्को सम्मेलन ने आस्ट्रिया को संपूर्ण प्रभुता संपन्न बनाने की प्रतिज्ञा की थी। लेकिन युद्ध के शीघ्र बाद सहयोगी राष्ट्रों में गंभीर मतभेद पैदा हो गये। सोवियत रूस आस्ट्रिया पर कड़े आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना चाहता था। यह बात पश्चिमी देशों को स्वीकार्य नहीं थी। दस वर्षों तक गतिरोध बना रहा। अन्त में आस्ट्रिया अपने आप को "तटस्थ" राष्ट्र घोषित करने को सहमत हो गया और सोवियत रूस को कुछ क्षति-पूर्ति करने की बात स्वीकार कर ली। इस पर सोवियत रूस आस्ट्रिया के प्रश्न को जर्मनी की समस्या से अलग करने को सहमत हो गया। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया ने एक शांति संधि पर हस्ताक्षर कर दिये जिससे वह एक "तटस्थ" राष्ट्र बन गया।

जापानः सोवियत रूस और अमेरिका के मध्य शीत युद्ध एवं मतभेदों के कारण जापान से शांति सन्धि के संपन्न होने में विलम्ब हुआ। पर जर्मनी और आस्ट्रिया के विपरीत जापान सिर्फ अमेरिकन फौजों के द्वारा अधिकृत था। 18 अगस्त, 1945 को जापान के आत्मसमर्पण के बाद अमेरिका ने सैनिक प्रशासन वहां स्थापित कर दिया। सारे अधिकार सहयोगी राष्ट्रों की सेना के कमान्डर के हाथों में सौंप दिये गये। जनरल मैक आर्थर को सर्वोच्च सेनापति तथा जापान का प्रशासक बनाया गया। 1951 में सैनफ्रांसिस्को में अमेरिका ने शांति संधि का मसौदा तैयार करने को एक बैठक बुलाई। इस बैठक में सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों ने भी भाग लिया पर भारत और बर्मा ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। शांति की कुछ प्रस्तावित शर्तें भारत को स्वीकार नहीं थीं। यहां तक कि सोवियत रूस ने भी सन्धि के प्रारूप को स्वीकार करने की बात असंभव मानी। यह संन्धि जिसका प्रारूप अमेरिका के प्रभाव के कारण तैयार किया गया था, जापान और 49 अन्य देशों ने 28 अप्रैल, 1952 को स्वीकार कर ली। जून, 1952 में भारत ने जापान से एक अलग सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

जो शांति सन्धि जापान ने अमेरिका और 48 अन्य देशों के साथ की थी उसमें 27 धाराएं थीं। इसमें कोरिया की स्वाधीनता को स्वीकार किया गया था। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि युद्ध के बाद कोरिया उत्तरी कोरिया (साम्यवादी) और दक्षिणी कोरिया (उदार प्रजातंत्र) में विभाजित हो गया। जापान ने फारमोसा, सखालिन और क्वीरीयल द्वीपों पर अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया। बोनिन और रुकुओं टापुओं को अमेरिका ने न्यासिता में (ट्रस्टीशिप में) दे दिये गये। जापान की प्रभुसत्ता चार बड़े टापुओं तथा कुछ छोटे टापुओं तक सीमित रही। दूसरे, जापान ने चीन में अपने सभी अधिकार छोड़ दिये। तीसरे, जापान ने युद्ध के लिये अपनी जिम्मेवारी स्वीकार की तथा युद्ध की क्षतिपूर्ति देने के दायित्व को भी स्वीकार किया पर उसकी आर्थिक हालतों को देखते हुए युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि देने से छूट दी गयी। सिद्धांत रूप में इस पर सहमति हुई कि विदेशी सेना जापान से हटा ली जाएगी। इन सबके बावजूद, अगर जापान और अमेरिका में द्विपक्षीय समझौता हो जाता है तो अमेरिका की फौंजे वहां बनी रह सकती हैं। पर इसके लिए नयें स्वेच्छापूर्वक किये गये समझौते की आवश्यकता होगी। जापान पर उसके अस्त्रशास्त्रों के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं बांधी गयी।

जर्मनीः हमने ऊपर इस बात का उल्लेख किया है कि शीघ्र आत्मसमर्पण के बाद जर्मनी चार अधिकृत भागों में बांट दिया गया था। पश्चिमी शक्तियों ने आरोप लगाया कि पहले से हुई सहमति के विपरीत सोवियत रूस पूर्वी जर्मनी के अपने भाग को साम्यवादी राज्य के रूप में परिवर्तित कर रहा है। इससे सिर्फ जर्मनी का एकीकरण ही नहीं रुक गया बल्कि शांति संधि संपन्न होने में भी बाधा आयी। इतना होते हुए भी सोवियत रूस और पश्चिमी शक्तियों ने जर्मनी के सम्बन्ध में एक पक्षीय निर्णय लिये। पहला इस प्रकार का निर्णय ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा लिया गया जिन्होंने अपने दोनों भागों को मिलाकर एक कर दिया। यह बात 1 जनवरी, 1947 को हुई। आगे चलकर फ्रांस ने अपने भाग को पश्चिमी भाग में मिला दिया। आगे चलकर तीनों शक्तियों ने इस बात का निश्चय किया कि एक स्वतंत्र एवं प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना पश्चिमी जर्मनी में की जाए। दी फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी (एफ.आर.जी.) जिसमें अब तक के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे, वास्तव में 21 सितम्बर, 1949 को स्थापित किया गया। पश्चिमी शक्तियों ने जर्मनी से 1951 में युद्ध की स्थिति को औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया।

जर्मनी के संघीय गणतन्त्र की स्थापना के शीघ्र बाद सोवियत रूस ने पूर्वी जर्मनी के एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना के कदम उठाये। इसे जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक (जी.डी.आर) का नाम दिया गया। इसका संगठन समाजवादी ढांचे के अनुसार किया गया था। पूर्वी जर्मनी को रूस द्वारा संपूर्ण प्रभुसत्ता प्रदान कर दी गयी। यह कार्य सितम्बर, 1955 की सन्धि के द्वारा किया गया। इसके एक वर्ष पूर्व पश्चिमी जर्मनी की प्रभुसत्ता को पश्चिमी देशों द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गयी थी। इस प्रकार 1990 तक जर्मनी परस्पर विरोधी देशों में बंटा रहा। एक पश्चिम से जुड़ा था जिसमें पूंजीवादी व्यवस्था थी और जिसने तीव्र गति से औद्योगिक प्रगति की थी।

दूसरी ओर पूर्वी जर्मनी सोवियत रूस से जुड़ा था और उसकी अर्थ व्यवस्था समाजवादी सिद्धांतों पर

आधारित थी तथा राजनैतिक प्रणाली सोवियत आदर्श पर ढली थी। पश्चिमी तथा पूर्वी जर्मनी दोनों ने एकीकरण की प्रक्रिया को 1989 में शुरू किया। संयुक्त जर्मनी का प्रादुर्भाव 1990 में हो गया ।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अन्त में दिए उत्तर से अपने उत्तर मिलाएं।

1) इटली और उसके विजेताओं में सन् 1946 में हुई शांति संधि की धाराओं का संक्षिप्त विवरण करें।

.....

.....

.....

.....

2) जापान द्वारा 1952 में हस्ताक्षरित शांति संधि की धाराओं का संक्षिप्त परिचय दें।

.....

.....

.....

.....

14.6 सारांश

जब नाजी जर्मनी ने 1 सितम्बर, 1939 के प्रातःकाल में पोलैण्ड पर हमला किया तो दूसरे विश्व युद्ध की शुरुआत हुई। दो दिनों बाद इंग्लैण्ड और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसके पूर्व दो जानी दुश्मन जर्मनी और सोवियत रूस ने अनाक्रमण समझौता कर लिया। आलोचकों ने इसे पोलैण्ड को दोनों देशों के बीच बांटने का समझौता बताया। द्वितीय विश्व युद्ध के बड़े कारणों में वर्साय की संधि थी जिसने प्रथम विश्व युद्ध का अंत किया था और जर्मनी को अपमानित किया था तथा जिसे जर्मन "डिक्टेट", पक्षपात पूर्ण तथा अन्याय पूर्ण कहते थे। सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की असफलता जिसे लीग ने लागू किया था, निशस्त्रीकरण, जिसे युद्ध को दूर रखने का एक पक्का आश्वासन माना जाता था, की असफलता, विश्व का आर्थिक संकट जिसने सैन्य मनोवृत्ति और आक्रामक कार्यों को जापान जैसे देशों मे प्रोत्साहित किया, रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी का प्रादुर्भाव, तीनों फासिस्ट शक्तियों का गठजोड़ जो स्थापित विश्व क्रम को नष्ट करने पर तुला हुआ था, असंतोष की समस्या, फासिस्ट और नाजी तानाशाहों को अपने पक्ष में करने के लिये ब्रिटेन द्वारा तुष्टिकरण नीति का अपनायां जाना और फ्रांस द्वारा सहयोग प्रदान करना; और अंत में जर्मनी का पोलैण्ड पर हमला जो युद्ध का तात्कालिक कारण बना, आदि दूसरे विश्व युद्ध के प्रमुख कारण थे।

प्रारम्भ में कई देशों ने ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में भाग लिया लेकिन अमेरिका युद्ध से बाहर रहा जब तक कि लम्बे काल से चलने वाले झगड़ों के कारण जापान ने पर्लहार्बर पर बम वर्षा नहीं कर दी। इससे अमेरिका द्वितीय विश्व युद्ध में एक सहयोगी के रूप में दिसम्बर, 1941 में शामिल हो गया। सोवियत संघ ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया और बाद में फिनलैण्ड पर आक्रमण किया जिसके परिणाम स्वरूप उसे लीग ऑफ नेशन्स से निकाल दिया गया।

लेकिन आनाक्रमण संधि की उपेक्षा करते हुए जर्मनी ने जून, 1941 में रूस पर हमला कर दिया। सोवियत रूस ने तत्काल ब्रिटेन से गठजोड़ कर लिया। इसी बीच इटली 1940 में युद्ध में शामिल हो चुका था। उसने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी एवं जर्मनी का पक्ष लिया। धुरी राष्ट्रों को पहला धक्का लगा जब इटली पर 1943 में आक्रमण किया गया। मुसोलिनी को राजा ने बर्खास्त कर दिया और आगे चलकर इटली ने बिना शर्त समर्पण कर दिया यद्यपि कुछ समय तक रोम जर्मन अधिकार में रहा। पूर्वी यूरोप को मुक्त करने के लिये सोवियत रूस जर्मनी से युद्धरत था। जब ब्रिटेन और अमेरिका ने दूसरा मोर्चा खोल दिया तो फ्रांस जर्मनी के हाथों से जाता रहा और जर्मनी को मई, 1945 में आत्मसमर्पण करना पड़ा। पैसेफिक में जापान लगातार लड़ता रहा जब तक अमेरिका ने अगस्त, 1945 में दो अणु बम जापान पर डाले। अब जापान आत्मसमर्पण के लिये विवश हो गया। इस प्रकार युद्ध का अंत हुआ।

जब युद्ध हो रहा था अमेरिका एवं ब्रिटेन द्वारा कूटनैतिक गतिविधियाँ प्रारम्भ की गयीं और उन्हें युद्ध के

अंत तक जारी रखा गया। इनमें अटलांटिक चार्टर घोषणा (1941) और संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा और मास्को सम्मेलन (1943) जैसे अनेक सम्मेलनों का आयोजन करना आदि शामिल है। सुदूर-पूर्व के संबंध में काहिरा सम्मेलन (1943) इरान के संबंध में तथा जर्मनी से लड़ने को तेहरान सम्मेलन (1943) डुम्बार्टन ओक्स सम्मेलन (1944) जहां संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का पूर्व-रूप तैयार किया गया और सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन (1945) जिसमें युद्धोत्तर काल के यूरोप और संयुक्त राष्ट्र संघ के बारे में विचार हुआ और पोट्सडम सम्मेलन (1945) का आयोजन जर्मनी के साथ शांति के संधि तय करने के लिए किया गया। युद्ध के समाप्त होने के बाद शीघ्र ही कोई शांति संधि किसी भी पराजित देश से नहीं की जा सकी। पर दीर्घकालीन कूटनैतिक गतिविधियों के बाद इटली, रूमानिया, हंगरी, फिनलैण्ड, आस्ट्रिया और जापान से शांति संधियाँ संपन्न हुईं।

जर्मनी पर कई वर्षों तक अधिकार रखा गया पर यह स्वाभाविक था कि उन परिस्थितियों में जर्मनी से 1950 तक कोई शांति सन्धि नहीं की जा सकी।

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लैंग सैम. डब्लू. सीः 1971, *दी वर्ल्ड सिन्स 1919 न्यूयार्क,* दी मैकमिलन पब्लिशिंग कंपनी।

अलब्रेच्ट-कैरीः 1958, *ए डिप्लोमैटिक हिस्ट्री ऑफ यूरोप सिन्स दी कांग्रेस आफ वियना,* न्यूयार्क एण्ड इवान्सटन, हार्पर एण्ड रो पब्लिशर्स।

जोहन्सन, पालः 1983, *ए हिस्ट्री ऑफ दी मोडर्न वर्ल्ड फ्रोम 1917 टू दी 1980* लंदन, वीडेमफेल्ड एण्ड निकल्सन।

धर, एस. एन.: 1982, *इन्टरनेशनल रिलेशन्स एण्ड वर्ल्ड पोलिटिक्स सिन्स 1919* न्यू देहली एण्ड लुधियानां, कल्याणी पब्लिशर्स।

शुमैन, फ्रेडरिक, एल.: 1969, *इन्टरनेशनल पोलिटिक्स, न्यूयार्क,* मैक ग्राहिल बुक कंपनी।

मैरियोट, जे.ए.आर.: 1951, *यूरोप एण्ड बियोन्ड,* लंदन, मैथ्यून एण्ड कंपनी, लिमिटेड।

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) निदेशित, पक्षपातपूर्ण और अन्यायपूर्ण वर्साय की संधि सामूहिक सुरक्षा की असफलता, ब्रिटेन के द्वारा तुष्टिकरण नीति का अपनाया जाना, लीग ऑफ नेशन्स की असफलता, पोलैण्ड पर हमला।
2) ब्रिटेन-सोवियत बातचीत की असफलता और सोवियत जर्मन आक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर जिससे पोलैण्ड पर जर्मन हमले का रास्ता साफ हुआ, इंग्लैण्ड और फ्रांस द्वारा अपने आश्वासनों की पूर्ति और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा। इटली द्वारा 1940 में शामिल होना, सोवियत संघ (जून 1941) और अमेरिका (दिसम्बर 1941) पर धुरी राष्ट्रों का हमला—वे युद्ध में शामिल।

बोध प्रश्न 2

1) अमेरिका के युद्ध में आने से मित्र राष्ट्रों को बल मिला। जर्मनी दोनों मोर्चों पर नहीं लड़ सका, रूस ने पूर्वी यूरोप को मुक्त करा लिया और पश्चिम को ब्रिटेन अमेरिका ने मुक्त कराया, निश्चित पराजय के सामने 30 अप्रैल, 1945 को हिटलर ने आत्म हत्या कर ली।
2) यूरोप में मित्र राष्ट्रों की विजय ने उन्हें जापान से लड़ने को स्वतन्त्र कर दिया, अमेरिका ने दो अणुबम गिराए जिससे विवश होकर जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया।

बोध प्रश्न 3

1) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अन्तःकरण और पूजा की स्वतन्त्रता, अभाव एवं गरीबी से स्वतन्त्रता, डर से स्वतन्त्रता।
2) सभी मित्र राष्ट्र अटलांटिक चार्टर के सिद्धांतों को मानें, शत्रु से व्यक्तिगत तौर पर किसी शांति पर हस्ताक्षर नहीं करें।

बोध प्रश्न 4

1) संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में मतदान की प्रक्रिया तय होना, 5 बड़ी शक्तियों को मान्यता,

मुक्त देशों में प्रजातांत्रिक सरकारें, जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में बांटा जाना, जर्मनी की हार के तीन माह बाद में सोवियत रूस द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा।

2) जर्मनी से शांति संधि तय करने के लिये विदेश मंत्रियों की समिति, चार शक्तियों द्वारा अधिकृत, जर्मनी से शांति संधि करने के लिये पथ प्रदर्शक सिद्धांत-राजनैतिक, आर्थिक, जन सेना संबंधी आदि।

बोध प्रश्न 5

1) फ्रांस, यूनान, युगोस्लाविया के क्षेत्रीय लाभ, ट्राइस्टे को स्वतन्त्र करना, अलबानिया और इथिओपिया (अबीसिनिया) को स्वतन्त्रता मिलना, सशस्त्र सेनाओं में कमी,।

2) कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता, फारमोसा पर अधिकार, सखालिन और क्वीरिल को समर्पित किया जाना। चीन के सभी भूमि भागों का मुक्त किया जाना। जापान द्वारा युद्ध के लिये अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करना पर किसी प्रकार की धनराशि युद्ध की क्षति-पूर्ति के रूप में नहीं देना।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)
समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

खंड
6
युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रवृत्तियाँ

इकाई 15
द्विध्रुवीयता और शीतयुद्ध 5

इकाई 16
विश्व राजनीति में एक शक्ति के रूप में चीन 19

इकाई 17
विउपनिवेशीकरण, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और तृतीय विश्व का उद्भव 32

प्रस्तावना

इस खण्ड का उद्देश्य युद्धोत्तर कालीन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रमुख धाराओं से आपका परिचय कराना है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में मूलभूत बदलाव आए हैं। पहली बात, बहुध्रुवीय दुनिया ने शक्ति और प्रभाव के बहुत सारे केन्द्रों/देशों का अस्तित्व हटा कर द्विध्रुवीय व्यवस्था को जगह दी जिसमें दुनिया का विभाजन पश्चिम गुट के देशों (पूंजीवादी लोकतंत्र) और पूर्वी गुट (केन्द्रीयकृत योजना वाले समाजवादी देश) में हुआ। यह शीतयुद्ध उस द्वंद्व का नतीजा था, जो नवोदित महाशक्तियों, अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शुरू हुआ जो अथाह आर्थिक और सैन्य शक्ति को नियंत्रित करते थे और एकदम विपरीत विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते थे। खंड की पहली इकाई दोनों महाशक्तियों के उदय और शीतयुद्ध द्वंद्व जिसके कारण द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था का उदय हुआ, से संबंधित है।

दूसरा मौलिक परिवर्तन जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में हुआ था वह था चीन का विश्व शक्ति के रूप में उदय। दुनिया के मामलों में अपनी सदियों पुरानी अलगाव को पीछे छोड़ते हुए चीन साम्राज्यवादी बेड़ियों से आजाद होकर उभरा। चीन 1949 की क्रांति के बाद फिर से प्रमुख हुआ। इकाई 16 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की भूमिका और उसके बड़ी शक्ति का दर्जा मिलने तथा उसके उत्थान से संबंधित है।

युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का सबसे महत्वपूर्ण चरित्र रहा है औपनिवेशिक साम्राज्यों का तेजी से बिखरना और एशिया और अफ्रीका में बहुत सारे कमजोर परंतु दृढ़ राष्ट्रों का उदय होना जो तीसरी दुनिया कहलाये। मुख्य रूप से उपनिवेशों में राष्ट्रवाद के उदय और विकास के कारण उपनिवेशवाद की समाप्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति का वितरण किया। एशिया और अफ्रीका के नवोदित देशों ने और साथ ही, लातिन अमेरिका के देशों ने जो उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में आजाद हुए थे, ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर हाथ मिलाया।

इस खंड की अंतिम इकाई इन पहलुओं की जांच करती है और उपनिवेशवाद के खात्मे के मुख्य कारणों पर जोर डालती है तथा पूर्व उपनिवेशों के राष्ट्रीय आंदोलन की प्रकृति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीसरी दुनिया का एक राजनीतिक समूह के रूप में उदय की भी जांच करती हैं। मिला जुलाकर यह खंड दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में हुए मुख्य मौलिक परिवर्तनों से आपको परिचित कराती है।

इकाई 15 द्विध्रुवीयता और शीतयुद्ध

इकाई की रूपरेखा

15.1 उद्देश्य
15.2 प्रस्तावना
15.3 द्विध्रुवीय विश्व का उद्भव और इसकी विशेषताएं
15.4 शीतयुद्ध : विभिन्न आयाम और पहलू
15.5 तनाव शैथिल्य से द्वितीय शीत-युद्ध तक
15.6 महाशक्तियों के संबंधों में नयी प्रवृत्तियां
15.7 सारांश
15.8 शब्दावली
15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.1 उद्देश्य

इस इकाई में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की सबसे बुनियादी विशेषताओं का वर्णन किया गया है। अर्थात्, दो महाशक्तियों का उभर कर आना, जिनमें से प्रत्येक के पास अत्यधिक सैनिक व आर्थिक शक्ति तथा एकदम विपरीत विचारधाराएं हों। इससे विश्व दो विपरीत शिविरों में बंट गया और इस काल को शीतयुद्ध की संज्ञा दी गई। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- द्विध्रुवीय विश्व का अर्थ समझ सकें,
- दो महाशक्तियों व दो शक्ति गुटों के उद्भव पर बहस कर सकें,
- शीतयुद्ध के कारणों की आलोचनात्मक व्याख्या कर सकें, और
- तनाव शैथिल्य व महाशक्तियों के संबंधों में नयी प्रवृत्तियों का वर्णन कर सकें।

15.2 प्रस्तावना

द्विध्रुवीयता शब्द का प्रयोग इस सदी के छठे दशक से प्रारम्भ हुआ, यानी द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के लगभग 6-7 वर्षों बाद। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राज्यों के मध्य शक्ति संबंधों में सबसे उल्लेखनीय विकास यह हुआ कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के दो सर्वाधिक शक्तिशाली देशों के रूप में उभरे। दोनों युद्ध में विजेता थे। विजेता तो ब्रिटेन व फ्रांस भी थे, लेकिन युद्धोपरांत इनकी शक्ति और प्रभाव में ह्रास हुआ। यदि हम सैनिक ताकत, आर्थिक शक्ति और राजनीतिक प्रभाव के संदर्भ में राज्यों की शक्ति आंकें तो उस समय तीन या चार शक्तिशाली राज्य थे। सोवियत संघ, अमेरिका व ब्रिटेन श्रेष्ठ स्थान पर थे। अन्य दो देश चीन और फ्रांस भी महत्वपूर्ण माने जाते थे। इसलिए इनके महत्व को दृष्टि में रखकर इन्हें संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्य का स्तर दिया गया।

यदि हम 1945 की परिस्थिति पर दृष्टिपात करें, तो विश्व तीन मुख्य शक्तियों द्वारा नियंत्रित लगता था, जिनमें से दो बहुत शक्तिशाली नहीं थीं, परन्तु महत्वपूर्ण शक्तियां अवश्य थीं। शेष विश्व पराजित राष्ट्रों से भरा नजर आता था, जिसमें जर्मनी, जापान, इटली, भारत जैसे उपनिवेश, सीमित प्रभाव के स्वतंत्र छोटे देश तथा शेष किसी बड़ी शक्ति के नियंत्रण में रहने वाले देश थे।

1945 से 50 तक के घटनाक्रम के कारण इस व्यवस्था में कई परिवर्तन आए। परिवर्तनों के वर्णन से पूर्व हमें राजनीतिक संघर्ष और समझौतों, यानी युद्ध और शांति के दो-तीन आदर्श स्पष्टीकरणों को ध्यान में रखना होगा। विश्व इतिहास में समय-समय पर कई बड़े देश रहे हैं—कभी एक दूसरे से संघर्षरत, कभी पुनः मिलते हुए, कभी बड़े राज्यों द्वारा जीते जाने पर नक्शे से विलुप्त होते हुए। ऐसी सामान्य अवस्था को बहुध्रुवीय विश्व कहा जाएगा, विशेष तौर से उस भौगोलिक अर्थ में, जिसमें कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद "द्विध्रुवीय" शब्द का प्रयोग किया गया। निस्संदेह, ऐसी अवस्था में हमेशा युद्ध की संभावना रहती है। युद्ध बार-बार होते थे। कई बार सहयोगी बदल जाते थे। लम्बे समय तक विश्व के एक भाग में, एक महाद्वीप में एक सर्वशक्तिशाली देश होता था। संचार के साधनों के विकास से स्थिति बदली। विश्व एक बड़ा गांव जैसा बना। चीन, भारत, तुर्की, पवित्र रोमन साम्राज्य, एशिया, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा पश्चिमी अर्द्ध-विश्व में माया साम्राज्य आदि कई शक्तिशाली राज्यों के सह-अस्तित्व के उदाहरण हैं।

18वीं और 19वीं सदी में, यूरोप द्वारा उपनिवेश बनाए गए देशों में, एक नई स्थिति उभरी जिसमें ब्रिटेन व फ्रांस, जर्मनी, एशिया जैसे शक्तिशाली देशों ने संगठित समूहों में एक दूसरे की शत्रुता का सामना किया, लेकिन "शक्ति-संतुलन" के कारण प्रत्यक्ष युद्ध में नहीं उलझे। शक्ति-संतुलन का सिद्धांत खतरा दिखाकर शांति को खरीदने का प्रयास था या शक्ति की समानता दर्शाने का प्रयास था। ब्रिटेन ने, जो कि 19वीं सदी से द्वितीय विश्वयुद्ध तक निस्संदेह सर्वाधिक शक्तिशाली देश था, कुछ हद तक सफलता के साथ यूरोप व यूरोपीय उपनिवेशों में शक्ति-संतुलन का खेल खेला। इस पृष्ठभूमि में अध्याय के अगले भाग में हम द्विध्रुवीय विश्व का अध्ययन करेंगे।

15.3 द्विध्रुवीय विश्व का उद्भव और इसकी विशेषताएं

1945 के बाद एक रोचक तथ्य यह उभरकर आया कि देशों के तुलनात्मक शक्ति वाले विरोधी समूहों की धारणा बदल गई और शक्ति-संतुलन के विचार का स्थान विरोधी सैनिक गुटों के विचार ने लिया।

1950 में इस स्थिति के विकास के पीछे दो कारण थे:

1) जापान के खिलाफ आणविक अस्त्र का प्रयोग, जिससे सिद्ध हुआ कि निकट भविष्य में अमेरिका विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली देश होगा। इस समय तक सोवियत संघ ने बहुत नुकसान भुगता था और उसके पास परमाणु अस्त्र भी न थे।
2) युद्ध समाप्ति के बाद एक वर्ष से पूर्व ही मित्र राष्ट्र दो गुटों में बंट गए—एक ओर सोवियत संघ था तथा दूसरी ओर ब्रिटेन व अमेरिका थे। यह सब यूरोप में हुआ।

युद्ध काल में तेहरान, माल्टा व पोट्सडैम में हुए समझौतों के अनुसार यूरोप के पूर्वी भाग तथा जर्मनी व आस्ट्रिया के एक तिहाई भाग—अर्थात् अल्बानिया, यूगोस्लाविया, हंगरी, पूर्वी आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैंड, रोमानिया, बल्गारिया तथा बाल्टिक गणराज्यों पर सोवियत संघ को आधिपत्य प्राप्त हुआ।

अपने प्रभाव से तथा सैनिक विजय द्वारा भी, सोवियत संघ ने इन सभी राज्यों में समाजवादी प्रारूप का शासन स्थापित किया। अतः वहां एकदलीय शासन स्थापित हुआ—साम्यवादी दल।आर्थिक गतिविधियों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित हुआ तथा उत्पादन के सारे साधन राज्य के हाथ में आ गए। दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप ने, जिस पर ब्रिटेन व अमेरिका का आधिपत्य था, संसदीय प्रजातंत्र का मॉडल अपनाया, जिसमें स्वतंत्र प्रेस तथा सामाजिक संगठन थे एवं चुनावों में बहुदलीय व्यवस्था थी। ये देश थे—फ्रांस, ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क तथा पश्चिमी जर्मनी। इन सभी देशों पर हिटलर आक्रमण कर चुका था। आस्ट्रिया मित्र राष्ट्रों के संयुक्त आधिपत्य में था।

इन दो शक्ति गुटों के टकराव ने वैचारिक रूप ग्रहण कर लिया। अब विचारधारा शब्द हमारी बहस में शामिल होता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान में समाजवाद,

सामाजिक प्रजातंत्र, स्वतंत्र उद्यम, कल्याणकारी अर्थशास्त्र द्वारा सीमित पूंजीवाद, तथा पूंजीवादी ढंग की तानाशाहियों पर आधारित विभिन्न प्रकार के समाजों के वर्णन में इस शब्द का प्रयोग करना सुविधाजनक रहता है। जो वैचारिक मतभेद 1946 में यूरोप में उभरा, वह पूर्वी यूरोप व पश्चिमी यूरोप के परस्पर विरोध स्वरूप था, और यह सोवियत नियंत्रित राज्यों व अमेरिकी प्रभाव वाले राज्यों के समूहों के बीच था। साथ ही, वह साम्यवाद और पूंजीवाद की संकल्पनाओं के बीच विरोध था।

1946 तक दोनों समूहों के बीच तकरार बढ़ गई। एक महत्वपूर्ण घटना, जिससे युद्ध के बाद के संघर्ष और असहमति के नये युग का श्रीगणेश हुआ, 1946 में चर्चिल का भाषण था। संयुक्त राज्य अमेरिका के फुलटन नामक स्थान पर उसने कहा कि "यूरोप पर एक आवरण छा गया है, एक लौह आवरण।" उस समय तक रूजवेल्ट की मृत्यु हो चुकी थी और अमेरिका की नई सरकार इस निष्कर्ष तक पहुंच चुकी थी कि स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत सेना किसी भी क्षण, पश्चिमी यूरोपीय देशों पर आक्रमण कर सकती है और विजयी सेना के रूप में एटलांटिक तक पहुंच सकती है।

आतंक और भय की इस भावना की प्रतिक्रिया मास्को में भी हुई। एशिया में स्टालिन और उसके सहयोगियों ने नई शक्तिशाली अमेरिका की अर्थव्यवस्था व सेना से अपने देश तथा व्यवस्था के ऊपर खतरा महसूस किया। एशिया के सारे इतिहास में रूसियों पर उससे अधिक शक्तिशाली शत्रुओं ने आक्रमण किया, जैसे पश्चिमी ओर से नेपोलियन, कैसर और हिटलर ने तथा पूर्व से तारतरों ने। इसके अलावा, रूसियों में यह भावना भी विद्यमान थी कि उनका देश विश्व का पहला और सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश है। अतः इसके बहुत शत्रु थे और इसलिए पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ में सैनिक संधियों द्वारा समाजवाद की रक्षा करना आवश्यक था।

1947 तक इस परस्पर शत्रुता ने जर्मन और बर्लिन की समस्या के रूप में एक नया आकार ले लिया, जो कि गतवर्ष तक चलती रही। मुख्य समस्या सिर्फ यह नहीं थी कि जर्मनी दो भागों में बंट गया था—पूर्वी व पश्चिमी, बल्कि राजधानी बर्लिन को भी बांटा गया।पूर्वी बर्लिन पूर्वी जर्मनी की राजधानी बनी।

पश्चिमी बर्लिन पूर्वी जर्मनी में एक "द्वीप" के सदृश्य था। स्टालिन ने जमीन द्वारा पश्चिमी बर्लिन को अवरूद्ध करना चाहा। युद्धकाल के समझौतों में पूर्वी से पश्चिमी बर्लिन जाने के लिए पूर्वी जर्मनी के ऊपर से हवाई मार्ग की स्वीकृति दी गई थी। बर्लिन का अवरोध एक वर्ष तक चला। अंततः स्टालिन को झुकना पड़ा और पश्चिम बर्लिन पश्चिम यूरोप के एक भाग के रूप में रह सका। परिणामस्वरूप दो सम्प्रभु राष्ट्र अस्तित्व में आए—संघीय जर्मन गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) तथा "जर्मन प्रजातांत्रिक गणराज्य" (पूर्वी जर्मनी)। इसी समय दो और घटनाएं घटीं। चेकोस्लोवाकिया को, जिसकी एक स्वतंत्र निर्वाचित सरकार थी, मास्को के प्रभाव में साम्यवादी राज्य बना दिया गया। दूसरी ओर यूनान जिसे साम्यवादियों ने सैनिक बल द्वारा हथियाना चाहा, साम्यवादी सेना के पराजित होने पर पश्चिमी प्रकार का प्रजातांत्रिक राज्य बना।

यूरोप में इस समय, आर्थिक, राजनीतिक व रणनीतिक हितों का एकीकरण हुआ। 1947 तक युद्धकाल की पुरानी विद्वेष-भावना को भुला दिया गया। तीनों प्रमुख पराजित देश पुनः दोस्त बने व अमेरिका व ब्रिटेन के समर्थक हो गए। यूरोप में अमेरिका "मार्शल योजना" नामक एक बहुत उदार आर्थिक सहायता कार्यक्रम लेकर प्रकट हुआ। जनरल जार्ज मार्शल अमेरिका में राज्य-सचिव थे। जर्मनी, इटली, फ्रांस जैसे छोटे देशों को इस योजना से अत्यधिक लाभ हुआ पर ब्रिटेन पूरी तरह से आत्म-निर्भर रहा।

यूरोप में इन दो समूहों के अस्तित्व में रहने के चार या पांच वर्षों में ही अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी प्रजातांत्रिक गुट और सोवियत संघ के नेतृत्व में पूर्वी साम्यवादी गुटों के बीच की दूरी और अधिक बढ़ती गई। दोनों गुटों ने अपनी सैनिक संधियां बनाईं, अतः छठे दशक के प्रारम्भिक वर्षों में नाटो (NATO) और वारसा (WARSAW) संधि सामने आई।

इसके बावजूद, यूरोप का विभाजन पूरा न हो सका। कुछ देश जर्मनी व ब्रिटेन के युद्ध के दौरान तटस्थ रहे थे, जैसे स्वीडेन, स्पेन, स्विटजरलैंड और पुर्तगाल। ये सभी किसी

न किसी रूप में पश्चिमी आर्थिक सहायता प्राप्त कर रहे थे। फिर भी, स्वीडेन, फिनलैंड और स्विट्जरलैंट ने तटस्थ रहते हुए नाटो जैसी सैनिक संधि से जुड़ने से इंकार कर दिया।

आस्ट्रिया में स्थिति दूसरे प्रकार की थी। 1955 में वाशिंगटन व मास्को ने इसे तटस्थ मानते हुए पूर्ण सम्प्रभुता देना स्वीकार किया। आज यूरोप में वास्तव में चार तटस्थ राज्य हैं। आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड। और फिनलैंड किसी न किसी प्रकार की संधि द्वारा तथा स्वीडेन स्वेच्छा से। स्पेन और पुर्तगाल की अपनी विशेष समस्याएं थीं, क्योंकि यहां तानाशाहियां रही हैं। इसीलिए वे तत्काल नाटो संधि से न जुड़ सके। परन्तु भविष्य में यह होना ही था और इसीलिए आठवें दशक के अंतिम वर्षों में यह प्रक्रिया सम्पन्न हुई। असंलग्नता नूतन स्वतंत्र देशों के लिए एक महत्वपूर्ण व व्यावहारिक नीति बन गई।

इस दौरान, अमेरिकी श्रेष्ठता को विश्वव्यापी स्तर पर स्वीकार किया गया। सोवियत संघ भी एशिया के कई हिस्सों में सर्वशक्तिशाली था। 1949 में उसकी सत्ता और प्रभाव में और अधिक बढ़ोत्तरी हुई, जब चीन भी साम्यवादी शक्ति बना। आने वाले दशक में इन दोनों साम्यवादी महादेशों ने आधुनिक राज्य के आर्थिक व राजनीतिक संगठन को परिवर्तित करने के प्रयासों का सफल प्रतिनिधित्व किया। एक और घटना बहुत महत्वपूर्ण है। वह यह कि सोवियत संघ आणविक अस्त्र बनाने में सफल हुआ। अतः इस खतरनाक तकनीकी के विकास से एक नया शक्ति संतुलन उभरा। अणुशक्ति पाने में मास्को के बाद ब्रिटेन को चार वर्ष व फ्रांस को दस वर्ष लगे। अंत में चीन 1964 में परमाणु शक्ति बना।

सोवियत संघ और अमेरिका के परमाणु शक्ति बनने के साथ ही उनका टकराव विश्वव्यापी स्तर का हो गया। वह सिर्फ यूरोप तक ही सीमित न रहा, बल्कि सारे विश्व में फैल गया। यह समय अमेरीकी विदेश नीति में "अवरोध का काल" था—जिसका अर्थ था कि सोवियत साम्यवाद उन्हीं समाजवादी राज्यों तक सीमित रहे, जहां वह पहले से है। इसके तहत नये राज्यों को साम्यवादी बनने से रोकने के लिए प्रत्येक कदम उठाया जाना चाहिए। सबसे बड़ा खतरा दक्षिण-पूर्व-एशिया में था। उस समय, चूंकि यूरेशिया एशिया में बड़ा महाद्वीपीय राज्य था, अतः अमेरिका के लिए आवश्यक था कि यूरोप में उसकी स्थायी उपस्थिति हो, एवं पश्चिमी यूरोप को साम्यवाद से बचाने के लिए बड़ी सेना और आणविक अस्त्र हो।

अमेरिकी-जापान संबंधों में परिवर्तन भी द्रुतगति से हुए। जापान में प्रजातंत्र सफल होता गया। अमेरिका ने जापान को एशिया में चीन और सोवियत संघ के प्रभाव को संतुलित करने के लिए एक भरोसेमंद साथी के रूप में बनाना चाहा, उसी प्रकार जैसे यूरोप में पश्चिमी जर्मनी व इटली उसके साथी थे।

इस प्रकार, सारा विश्व नये समीकरणों में बंधा। पुराने शत्रु दोस्त बने और पुराने मित्र यूरोप के एक दूसरे की सैनिक तैनाती पर आपत्ति व्यक्त करने लगे। युद्ध में विजेता शक्तिशाली राज्यों में भी नये समीकरण उभरे। युद्ध के बाद कम से कम 15 वर्षों के बाद तक ब्रिटेन टीम का तीसरा खिलाड़ी बना रहा। हालांकि परिवर्तन होते रहे, जिनके कारण ब्रिटेन व फ्रांस जैसे दो पुराने साम्राज्यों का प्रभाव भी बदलता रहा।

अब हम विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया पर नजर डालते हैं। विश्व का एक बड़ा भाग, जो कि संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व नहीं पाता था, 1947 से 1962 के बीच स्वतंत्र हो गया। कई राष्ट्र राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गए। उनमें से अधिकांश राष्ट्रों ने अपने पुराने साम्राज्यवादी शासक देशों से किसी न किसी प्रकार का संबंध बनाए रखा। परन्तु अमेरिका और सोवियत संघ प्रतिस्पर्धी राष्ट्र थे, अतः आधुनिक राजनीति में "तृतीय विश्व" नामक शब्दावली प्रसिद्ध हुई। प्रथम विश्व पूंजीवादी प्रजातांत्रिक देशों को एवं द्वितीय विश्व समाजवादी प्रजातंत्रों को कहा गया। "तृतीय विश्व" नूतन व असंगठित था। जिसके राष्ट्र कोई भी जीवन पद्धति अपना लेने के लिए स्वतंत्र थे। (सरल भौगोलिक अर्थों में, यही विचार पूर्व-पश्चिमी टकराव में भी पेश किया गया, जिसमें दक्षिण राष्ट्र विचारधारा व सैनिक टकराव को उत्तर के औद्योगिक देशों में प्राथमिक महत्व का मानते हैं।) असंलग्न देश द्विध्रुवीयता की वास्तविकता से इंकार नहीं करते। बड़ी शक्तियों से

उनके उपयोगी व लाभदायक संबंध भी हैं। धीरे-धीरे "महाशक्ति" शब्द प्रयोग में लाया जाने लगा। इसके लिए और अधिक उपयुक्त शब्द होगा—"विश्वव्यापी शक्ति"। इस काल का एक विशिष्ट गुण था—दो यूरोपीय साम्राज्यों के पतन के बाद, अमरीका द्वारा दुनिया के रक्षक की भूमिका निभाने की कोशिश। महाशक्तियों के बाद दूसरी पंक्ति के देश—ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और जर्मनी प्रभाव के महत्वपूर्ण केन्द्रों के रूप में उभरने लगे। यहां चीन या भारत को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इन्होंने भी अपनी जनसंख्या, आकार एवं सांस्कृतिक इतिहास के कारण बहुत प्रभाव अर्जित किया। यह तस्वीर है 1950 में उभरे द्विध्रुवीय विश्व की।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) "द्विध्रुवीय विश्व" से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं?

.....

.....

.....

15.4 शीतयुद्ध : विभिन्न आयाम और पहलू

द्विध्रुवीय विश्व का उद्भव और शीतयुद्ध की शुरुआत साथ-साथ हुई। तब से शीतयुद्ध, जिसकी शुरुआत सोवियत संघ द्वारा बर्लिन के अवरोध से मानी जाती है, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की स्थायी विषय वस्तु बन गई।

दूसरी मुख्य समस्या 1950 में कोरिया युद्ध के आरम्भ होने पर सामने आई। इसका महत्व इसलिए है क्योंकि मूल संघर्ष समाजवादी विचारधारा वाले उत्तरी कोरिया और पूंजीवादी विचारधारा वाले दक्षिणी कोरिया के बीच था। इस संघर्ष में चीन और अमेरिका ने विरोधी रूख अपनाया। समस्या अंततः संयुक्त राष्ट्र संघ की मदद से हल की गई, फिर भी अमेरिका ने साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता नहीं लेने दिया। चीन की क्रांति पूर्व की च्यांग काई शेक सरकार को अमेरिका तथा उसके सहयोगी देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य के रूप में मान्यता दी। च्यांग काई शेक ने ताइवान में शरण ली थी। अतः जनवादी चीनी गणराज्य बहिष्कृत रहा।

यहां उल्लेखनीय बात यह है कि एक खूनी और भयंकर युद्ध न सिर्फ पांच देशों की—उत्तरी कोरिया, दक्षिण कोरिया, चीन, अमेरिका व सोवियत संघ—प्रत्यक्ष या परोक्ष वार्ता से समाप्त हुआ, बल्कि भारत जैसे तटस्थ देशों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संयुक्त राष्ट्र संघ इसमें प्रत्यक्ष रूप से इसलिए शामिल था क्योंकि सोवियत संघ 1950 में ही (जब संघर्ष आरम्भ हुआ) इस निकाय से बाहर चला आया था। अतः अमेरिका के लिए कोरिया के अन्दर एक तथाकथित संयुक्त राष्ट्र सेना भेजना आसान था। रूसियों ने इसे कभी मान्यता नहीं दी। चीन तो संयुक्त राष्ट्र से बाहर ही था। इस सारे प्रकरण में महत्वपूर्ण बात यह है कि बड़ी शक्तियां कभी भी अपनी शत्रुता में एक सीमा से आगे बढ़कर नहीं टकराईं—यह शीतयुद्ध की एक चारित्रिक विशेषता है।

ऐसा ही 1954 में हिन्द चीन में हुआ। सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन ने मिलकर एक कार्यक्रम निश्चित किया। यह अंतिम समाधान न होकर कुछ समय के लिए समस्या को टालना था। समझौता करने की फ्रांस की इच्छा ने संभावनाएं जगाईं और ब्रिटेन ने भी मदद की। भारतीय कूटनीति भी उपयोगी रही परन्तु सकारात्मक हल पर अंतिम निर्णय मास्को व वाशिंगटन द्वारा ही लिया गया। यह 1954 में सम्पन्न हुआ।

1955 में आस्ट्रिया की घटना सामने आई, जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है। यह सभ्य समाधान का उदाहरण है। यही पद्धति अपनाने का प्रयास जर्मनी में भी किया गया, परन्तु सफलता नहीं मिली। एक तटस्थ व निःशस्त्र जर्मनी बनाने के कई प्रस्ताव आए, जो कि सैनिक समझौतों से दूर हो। यह प्रस्ताव पश्चिमी गुट को स्वीकार्य न था, जिसने महसूस किया कि ऐसी कमजोर और सम्पन्न राज्य को हमेशा मास्को द्वारा भयादोहन का खतरा रहेगा।

1956 में तीन प्रमुख घटनाएं घटीं। प्रथम, सोवियत नेता ख्रुश्चेव ने स्टालिन पर अतिक्रूरता का आरोप लगाया और वि-स्टालिनीकरण की प्रक्रिया आरम्भ की। द्वितीय, इससे हंगरी जैसे कुछ पूर्वी यूरोपीय देशों में नाटकीय परिवर्तन हुए। स्थिति हाथ से जाती दिखाई दी और सोवियत संघ को हंगरी की निर्वाचित सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए सेना भेजनी पड़ी। प्रचार और विचारों का एक कड़वा टकराव आरम्भ हुआ तथा 1948-49 के वर्षों की बर्लिन-अवरोध की याद ताजा हो गई। तृतीय, स्वेज समस्या का उभरना, जिसमें फ्रांस, ब्रिटेन व इजराइल ने मिस्र पर आक्रमण किया। द्विध्रुवीयता के अध्ययन के लिए यह उल्लेखनीय है कि अमेरिका और सोवियत संघ दोनों सामान्य तौर पर सहमत थे कि नासेर को कुछ मदद दी जानी चाहिए। हालांकि इससे पश्चिमी गुट में कोई बड़ी दरार पैदा नहीं हुई, परन्तु यह तथ्य सामने आया कि कई बार सहयोगी देश भी अलग तरीके से विचार या कार्य कर सकते हैं। ऐसा वे अपने व्यक्तिगत राष्ट्रीय हितों के अलग-अलग विचार के कारण करते हैं।

यूरोप में विचारधारात्मक और रणनीतिक महत्व की एक और घटना घटी। यूगोस्लाविया ने स्टालिन की कुछ मांगों को ठुकरा दिया था अतः उसे साम्यवादी गुट से निकाल दिया गया था। इसी समय यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो, भारत के नेहरू और मिस्र के नासेर ने मिलकर गुटनिरपेक्ष देशों का आंदोलन आरम्भ किया। यह प्रथम संकेत था, जिसमें समाजवादी विश्व में भी मतभेद होना संभव दिखा। छठे दशक के अंत तक साम्यवादी गुट में एक और फूट सामने आई। रूस-चीन विवाद उभरा। हालांकि यह प्रत्यक्षतः 1963 में सामने आई, लेकिन इसका आरम्भ 1959 में ही हो गया था।

एक शब्द है, जिसका बहुधा प्रयोग किया जाता है—"अखण्ड" यानी पूरी तरह एकबद्ध समूह जैसे एक विशाल पत्थर। अखण्ड साम्यवाद के भय ने ट्रूमैन और उनके बाद छठे दशक के अंत में जॉन फॉस्टर डलेस, जो कि राष्ट्रपति आइजिनहावर के राज्य सचिव थे, को चौकन्ना कर दिया। समाजवाद के विभिन्न प्रकार बेलग्रेड, पीकिंग और किसी सीमा तक पोलैंड, हंगरी व सोवियत संघ में भी पनपने लगे। इसी प्रकार का समानांतर विकास पश्चिमी गुट में भी हुआ। उन्हें सभी प्रकार के आर्थिक सिद्धांत, राजनीतिक व्यवस्थाएं और विशिष्ट विचारधारात्मक एकरूपता को स्वीकारना पड़ा। हालांकि ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं कि कोई भी ऐसा चाहता था। यह छोटे बेसहारा राज्यों को भौगोलिक खतरों, आर्थिक प्रतिस्पर्धा, विचारधारात्मक खतरों का जटिल मिश्रण था। फिर भी, यह दोनों पक्षों के लिए उपयोगी बात थी कि इसे प्रजातंत्र या समाजवाद के प्रति राजभक्ति से जोड़ा जा सके। सातवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में कड़ी शत्रुता के दो उदाहरण हैं, जो कि समायोजन द्वारा हल किए गए। इसमें 1961 की क्यूबा समस्या का बहुत महत्व है, क्योंकि यह टकराव को यूरोप से हटाकर दूसरे मंच पर ले गई—अमेरिका के पास पश्चिमी अटलांटिक महासागर में। अंततः सोवियत संघ को पीछे हटना पड़ा और अपनी आणविक मिसाइलें क्यूबा से हटानी पड़ीं। वास्तव में, इस मौके पर यह संभावना नजर आ रही थी कि कहीं दोनों महाशक्तियां प्रत्यक्ष संघर्ष में न उलझ पड़ें।

1963 में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की तीन बड़ी शक्तियों—सोवियत संघ, अमेरिका और ब्रिटेन—ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक बड़ा कदम उठाया। इसका स्वयं में तो महत्व है ही, साथ ही, यह इस बात का भी उदाहरण है कि बड़ी शक्तियों में राष्ट्रहितों से जुड़े अहम मुद्दों पर सहयोग हमेशा रहा है। तर्क में यह कहा जा सकता है कि आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि क्यूबा समस्या की अपरिहार्य परिणिति थी। मास्को और वाशिंगटन दोनों ने आमने-सामने परमाणु युद्ध देखा व नापसंद किया था।

इस संधि का महत्व इस बात में है कि तीन शक्तियों के इस संयुक्त समझौते में आणविक शस्त्रों के रखरखाव व निर्माण को कम से कम करने की बात कही गई। फ्रांस ने संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। हालांकि फ्रांस प्रजातांत्रिक देश व अमेरिकी समर्थक था। यह अक्टूबर 1963 में हुआ। एक ही वर्ष के भीतर चीन ने अपने प्रथम परमाणु बम का विस्फोट किया और उसने भी संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया। चीन और फ्रांस दोनों वायुमंडल में अपने प्रयोग करते रहे। दोनों देशों ने महाशक्तियों की भावनाओं की कद्र करते हुए माना कि वे दूसरे देशों को आणविक शस्त्रों को बनाने में कोई मदद नहीं देंगे।

सातवें दशक में ब्रिटेन, फ्रांस व चीन ने आणविक शस्त्र सम्पन्न देशों की एक दूसरी पंक्ति बना ली। दोनों महाशक्तियों ने विश्व को कई बार बर्बाद कर देने लायक आणविक अस्त्र जमा कर लिए। इसे "अतिमारक" क्षमता कहते हैं। संयुक्त राष्ट्र के पास पांच स्थायी सदस्य हैं, श्रेष्ठ राष्ट्रों का एक वर्ग। 1965 तक पांचों के पास आणविक अस्त्र हो गए। वे इसे बनाए रखना चाहते हैं। इनमें से एक भी अपने अस्त्रों के त्याग के लिए इच्छुक नहीं है। उनमें भी दोनों महाशक्तियों के पास लम्बी दूरी के शस्त्रास्त्रों व प्राणहर शस्त्रों की भरमार है।

अब हम सातवें दशक और उसके बाद द्विध्रुवीयता के सबसे महत्वपूर्ण आधार पर आते हैं—परमाणु अवरोध की संकल्पना। इस समय तक द्विध्रुवीयता निम्न रूप में जा पहुंची—

अ) यूरोप में इसका अर्थ दो विशाल सेनाओं की आमने-सामने तैनाती थी, जो कि एक दूसरे को, एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण करने से रोकते हैं।

ब) लगभग समानता के आधार पर विश्वव्यापी परमाणविक टकराव मिसाइलों के प्रश्न के साथ ही उनके प्रक्षेपण के लिए ठिकानों की खोज का था, ताकि परमाणु अवरोध को विश्वव्यापी स्तर पर मजबूत किया जा सके।

स) विचारधारा के स्तर पर नये देशों ने समाजवादी या समाजवाद विरोधी रास्ता अपनाया तथा अपनी शर्तों पर संरक्षण और समर्थन प्राप्त किया। छठे दशक के प्रारम्भ तक यही सिलसिला जारी रहा। छठे दशक में क्यूबा संकट सामने आया और सातवें दशक में हमने इथिओपिया और चिले संकट देखा।

दो विशिष्ट समस्याओं ने सातवें दशक के प्रारम्भ में इस मुश्किल व्यवस्था को झटका दिया। प्रथम, 1960-61 में बर्लिन प्रश्न का पुनर्जीवित होना और दूसरी, वियतनाम समस्या। पूर्वी जर्मनी में आर्थिक स्थिति डांवाडोल होती गई और लोग पश्चिम बर्लिन की ओर से बड़ी संख्या में उत्प्रवास करने लगे। यह कानूनन संभव था। इसे रोकने के लिए पूर्वी जर्मनी ने रूस के निर्देशों पर बर्लिन की दीवार बनाई। यह एक बहुत क्रूर काम था, परन्तु दीर्घकालिक तौर पर इसमें स्थिरता आई, क्योंकि इस प्रश्न पर गहरी दरार नहीं पड़ी। वास्तव में, सातवें दशक के अंत में बर्लिन की दीवार पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी के रिश्तों में सुधार में मददगार साबित हुई। हांलांकि यह विडम्बना है, लेकिन सच्चाई है।

वियतनाम समस्या एक महाशक्ति द्वारा किसी देश पर अपनी इच्छाएं थोपने की असफल कोशिश का उदाहरण है। सोवियत संघ व चीन दोनों ने वियतनाम को नैतिक तौर पर व सामग्री से समर्थन दिया था। परन्तु, वास्तव में, यह युद्ध अमेरिकी हस्तक्षेप और वियतनामी राष्ट्रवाद के बीच युद्ध था। वियतनाम के समर्थक कभी भी स्थायी प्रभाव पाने में सफल नहीं हुए। यह निष्कर्ष सोवियत संघ व चीन दोनों के साथ लागू होता है।

आधुनिक विश्व में वियतनाम के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि वह एक छोटा कृषि प्रधान देश होकर भी विश्व की सबसे बड़ी ताकत से टकराया। यह द्विध्रुवीयता के अध्ययन में तथा परमाणु युग में शक्ति की सीमाओं को दर्शाता है।

जबकि वियतनाम दुनिया के ध्यानाकर्षण का केन्द्र था, सोवियत संघ और अमेरिका ने अधिकांश विवादों पर प्रत्येक टकराव को टाला। यह वह समय था जबकि माओ के नेतृत्व में चीन एक युद्ध अलगाववादी दौर से गुजर रहा था। उसकी नीति दोनों

महाशक्तियों के विरुद्ध थी। उसने इस द्विध्रुवीयता को नहीं स्वीकारा, व इसे दो साम्राज्यवादियों—एक पूंजीवादी और दूसरा समाजवादी का सारे विश्व पर प्रभुत्व माना। चीन संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर था, वह एक विभक्त राष्ट्र था और इस विशिष्ट मार्ग से उसे या उसके साथी देशों को कोई स्थायी लाभ नहीं मिले, परन्तु वियतनाम के प्रति महाशक्तियों की भूमिका के बारे में चीनी रुख सातवें दशक में कुछ स्थायी महत्व का बन गया।

सातवां दशक, वास्तव में, दो महाशक्तियों के बीच संबंधों की दृष्टि से, अपेक्षाकृत शांति से बीता। वियतनाम व मध्य पूर्व में उस समय जो संघर्ष चल रहे थे, उनसे महाशक्तियों के आपसी संबंधों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। ये दोनों संघर्ष क्षेत्र शक्तिशाली, महत्वाकांक्षी और छोटे राष्ट्रों की स्वायतत्ता के उदाहरण थे, जिनका इस परमाणु अवरोध व संयुक्त राष्ट्र संघ की दुनिया में बहुत महत्व है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) "शीतयुद्ध" की व्याख्या कीजिए। इसके परिचालन की क्रियाविधि क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

15.5 तनाव-शैथिल्य से द्वितीय शीत युद्ध तक

1969 से 1975 के बीच दोनों महाशक्तियों के बीच उल्लेखनीय रूप से संबंध सुधरे। दो शक्ति गुटों के बीच गहरी सशस्त्र दुश्मनी को परिभाषित करने के लिए पांचवें दशक के अंत में अमेरिका में "शीतयुद्ध" नामक जिस मूल शब्द का आविष्कार किया गया था, वह धीरे-धीरे अप्रासंगिक बनता गया। तब तनाव शैथिल्य नहीं आया था, लेकिन आठवें दशक में स्थिति बहुत सुधरी।

आठवें दशक की शुरुआत में तीन प्रमुख घटनाएं घटित हुईं 1) अप्रचुरण संधि 2) यूरोपीय तनाव शैथिल्य व 3) संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की सदस्यता तथा चीन, अमेरिका व सोवियत संघ में त्रिकोणात्मक संबंधों का विकास।

परमाणु अप्रचुरण संधि उसी प्रकार महत्वपूर्ण है, जिस प्रकार आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि। इसका महत्व इसलिए भी है, क्योंकि यह सभी परमाणु शक्तियों, विशेष तौर से महाशक्तियों के समान हितों की स्वीकृति है।

यूरोप में भी नाटकीय परिवर्तन हुए। पश्चिम जर्मन नेता विली ब्रांट और ब्रेजनेव के बीच बातचीत से जर्मनी समस्या में काफी सुधार हुआ। दोनों जर्मनियों ने एक दूसरे को मान्यता दी और इन्हें महाशक्तियों ने मान्यता दी। अन्य अनुवर्ती समझौते भी हुए जिसमें पौलैंड को भी शामिल किया गया। हालांकि अमेरिका इससे प्रत्यक्षतः सम्बद्ध नहीं था, परन्तु यह सब उसकी स्वीकृति के बिना नहीं हुआ। वास्तव में, यह सब "ओस्टोपोलिटिक" की भावना से हुआ। यह जर्मन शब्द है, जो कि जर्मनी की पूर्व के लिए अपनायी गई नीति के लिए प्रयुक्त होता है। प्रथमतः इसका प्रयोग विली ब्रांट ने किया था।

यह याद रखा जाना चाहिए कि हालांकि जर्मनी समस्या पर पूर्व व पश्चिम के संबंधों में सुधार होने से अंतिम वैध समाधान प्राप्त नहीं हुआ और न ही जर्मनी के साथ कोई

शांति संधि हो सकी, परन्तु बुनियादी तौर पर स्थिति स्वीकार कर ली गई। इससे तनाव में कमी आई।

अगले पांच वर्षों में यूरोपीय समझौतों का और विकास हुआ। स्थिति के इस विकास में सोवियत संघ व अमेरिका ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और इतना ही महत्वपूर्ण योगदान था जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन का। "यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग सम्मेलन" नामक एक सम्मेलन गत पंद्रह वर्षों से होता आ रहा है। हेलसिंकी के प्रथम सर्वाधिक सफल सम्मेलन में यूरोप के कई देशों के बीच बहुत महत्वपूर्ण समझौते हुए, जिसमें यूरोप के दोनों गुटों से जुड़े देश, तटस्थ व असंलग्न देश शामिल हुए। इन समझौतों के फलस्वरूप सभी पक्षों द्वारा विश्वयुद्ध के बाद देश की सीमाओं को मान्यता दी गई। यह सोवियत संघ व उसके समर्थक देशों के लिए बहुत महत्वपूर्ण बात थी। आर्थिक क्षेत्र में और अधिक सहयोग का वादा किया गया। प्रत्येक पक्ष को यात्रा तथा स्वतंत्र भाषण आदि के व्यक्तिगत मानवाधिकारों से प्रतिबंध हटाने की मांग करने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह एक शुरुआत थी, परन्तु हेलसिंकी सम्मेलन ने तनाव शैथिल्य को शीर्ष पर पहुंचा दिया था।

इस पूरे काल के दौरान राजनीतिक व रणनीतिक क्षेत्र के बाहर दो मुख्य विकास हुए। सैनिक खर्च से अपेक्षाकृत रूप से मुक्त होने के कारण पश्चिम जर्मनी और जापान बड़ी आर्थिक शक्तियां बनकर उभरीं। युद्धोत्तर संधियों ने उनकी सैनिक भूमिका को सीमित कर दिया था, लेकिन उत्तरोत्तर यह स्पष्ट होता गया कि ये दो देश, व इटली भी, दो महाशक्तियों के पिछलग्गु होने के बजाए और अधिक समान हिस्सेदार के रूप में व्यवहार करेंगे। अतः गैर रणनीतिक क्षेत्र में पुरानी द्विध्रुवीयता का कुछ ह्रास हुआ।

आठवें दशक की तीसरी घटना जो विकास चरित्र में समान लेकिन रूप में पूरी तरह से भिन्न थी वह थी चीन का तीसरी महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरना। वह निर्णय निर्माण में अपनी स्वायत्तता का पालन करने लगा। पहले उसने अमेरिका के साथ रणनीति संबंध बनाने का प्रयास किया। इस काल में रूस-चीन विवाद उग्र था, लेकिन यह उल्लेखनीय है कि मास्को व पेकिंग दोनों ने अपनी शत्रुता को एक सीमा से आगे नहीं जाने दिया। मोटे तौर पर, विश्वव्यापी परिदृश्य में एक तीसरा ध्रुव उभर रहा था। जनसंख्या, क्षेत्र और राष्ट्रीयता व विचारधारात्मक स्वायत्तता के समन्वय ने बढ़ती परमाणु क्षमता के साथ चीन को सुविधाजनक द्विध्रुवीय स्थिति का एक तटस्थ विद्रोही बना दिया। पेकिंग ने कभी भी बड़ी शक्ति के सह राज्य (duopoly) पर रोष व्यक्त नहीं किया, परन्तु गुप्त रूप से सभी शक्तियों से संबंध बनाने की कोशिश की, महाशक्तियों से भी। यह जानना महत्वपूर्ण है कि ऐसा करने से उसने विश्व क्रांतिकारी सेना का नेता बनने का अपना पुराना उद्देश्य छोड़ दिया।

इस प्रकार, आठवें दशक के अंत में हम एक निश्चित तर्क संगत, स्थायी संतुलन देखते हैं, जिसे तनाव शैथिल्य या 'देतान्त' कहा जा सकता है। दशक के अंत तक ईरान और अफगानिस्तान की घटनाओं के फलस्वरूप सारी परिस्थितियां बदल गईं।

ईरानी क्रांति एक धार्मिक नेता द्वारा छेड़ा गया बड़ा जन आंदोलन था। इसने दिखाया कि राज्य की शक्ति संकट के समय कितनी कमजोर हो सकती है। इसने महान शक्तियों के प्रभाव व सत्ता की तुलनात्मक सीमाओं को उजागर कर दिया। निकट पड़ोसी सोवियत संघ भी ईरान को न रोक सका। अमेरिका भी ईरान के साथ एक सांठगांठ में लग गया। बंधक समस्या ने अमेरिका की कमजोरी प्रकाश में ला दी और वास्तव में, यही अमेरिका में राष्ट्रपति कार्टर की चुनावी हार का कारण बनी।

अफगानिस्तान में सोवियत संघ के आक्रमण ने तथाकथित द्वितीय शीतयुद्ध का श्रीगणेश किया। तब राष्ट्रपति कार्टर भी शासन में थे। उन्होंने और उनके सलाहकार ब्रेजेजिन्सकी ने आर्थिक व रणनीतिक कदम उठाए जाने का निर्णय लिया। कई मदों पर आर्थिक अधिरोध लगाने के साथ-साथ सर्वाधिक नाटकीय उदाहरण अमेरिका द्वारा मास्को ओलम्पिक का बहिष्कार करना था।

उसी समय कई देशों में बहुत महत्वपूर्ण आंतरिक घटनाएं घटीं। ब्रिटेन व अमेरिका में नई अनुदारवादी विचारों की विजय हुई। रीगन और श्रीमती थैचर ने इसका

प्रतिनिधित्व किया। आर्थिक मामलों में इसका अर्थ था राष्ट्रीयकरण का पूरा विरोध कल्याणकारी राज्य में शामिल खर्चे, सामाजिक आर्थिक सहायता तथा साम्यवाद, समाजवाद और सामाजिक प्रजातंत्र का बुराई के रूप में चित्रण। सातवें और आठवें दशक में तकनीकी के परिवर्तनों ने अधिकांश देशों के सीमा क्षेत्रों में बड़ी शक्तियों को प्रवेश दिया। निर्माण उद्योगों को विकसित देशों के कम विकसित भागों में तथा विकासशील देशों में बसाया गया। इस काल में शब्दाडम्बर पांचवें दशक के अंत से कहीं अधिक था।

इस सबके बावजूद रीगन के नेतृत्व में अमेरिका ने साम्यवादी चीन से संबंध सुधारने की पूरी कोशिश की। अतः स्पष्ट है कि सोवियत संघ के प्रति शत्रुता सिर्फ विचारधारात्मक नहीं थी।

इस नई शत्रुता ने रणनीतिक अस्त्रों के क्षेत्र में अमेरिका द्वारा नई कड़ी नीतियों को पेश किया। पहले आठवें दशक में, तनाव शैथिल्य के दौरान, निक्सन व किसींजर ने निःशस्त्रीकरण के लिए सोवियत संघ से कई समझौते किए, जैसे साल्ट-I और साल्ट-II। इनका उद्देश्य परमाणु शस्त्रास्त्रों व मिसाइलों के विस्तार को घटाना था। हालांकि इसमें जमा हथियारों को घटाने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया। रीगन के शासन के समय परिस्थिति में गहरा बदलाव आया। वे एक बहुत खर्चीली योजना लेकर आए "सामरिक सुरक्षा पहल"। इस योजना के द्वारा अमेरिका को पूरी तरह से मिसाइलों से बचाने के लिए प्रत्युत्तर में प्रक्षेपास्त्रों हथियारों की एक पक्की ढाल तैयार करना था।

नवें दशक के पूर्वार्द्ध में द्वितीय शीतयुद्ध चरमोत्कर्ष पर था। इस समय में सोवियत संघ के नेतृत्व में कई नेता बदले। शीर्ष पर अनिश्चितता बनी रही, लेकिन पुरानी नीतियां और अधिक कड़े रूप में जारी रही। रीगन द्वारा सोवियत संघ को "बुराई का साम्राज्य" वर्णित करना द्वितीय शीतयुद्ध का चरमोत्कर्ष माना जाना चाहिए।

महाशक्तियों के बीच इस नये टकराव के साथ-साथ और भी कई अनचाही घटनाएं घटीं, जिन्हें वे नियंत्रित नहीं कर सके। जैसे–

1) ईरान-ईराक युद्ध : कोई भी पक्ष इसमें रुचि नहीं रखता था, परन्तु किसी ने भी इसे रोकने में कोई उत्साह नहीं दिखाया।

2) अरब-इजराइल संघर्ष लेबनान तक फैल गया।

3) डेंग जिआओ पेंग के नेतृत्व में चीन आर्थिक नीति में अमेरिका के और अधिक नजदीक आया। फिर भी, जहां तक महानशक्तियों के समीकरण का प्रश्न है, उन्होंने सफलतापूर्वक स्वयं को तीसरी शक्ति होने का आभास दिया।

4) बहुत समय से निष्क्रिय संयुक्त राष्ट्रसंघ को अफगानिस्तान और ईरान-ईराक युद्ध में अपनी भूमिका निभाने का मौका मिला। उसकी सफलता बहुत धीमी थी, लेकिन धीरे-धीरे दुनिया ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को गम्भीरता से लेना आरम्भ किया। यह पहले के उन अवसरों से भिन्न स्थिति थी, जबकि अमेरिका व सोवियत संघ अपनी बहस संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर करना पसंद करते थे।

5) दक्षिण-पूर्व एशिया में वियतनाम-कम्बोडिया समस्या में एक नया और दुर्भाग्यपूर्ण सैनिक टकराव आरम्भ हो गया। इसमें अमेरिका और चीन एक ओर थे तथा सोवियत संघ व वियतनाम दूसरी ओर। कम्बोडिया व अफगानिस्तान की समस्याएं दशक की प्रतिनिधि समस्याएं बनकर उभरीं।

15.6 महाशक्तियों के संबंधों में नयी प्रवृत्तियां

नवें दशक के उत्तरार्द्ध में नये सोवियत नेता गोर्बाचेव के कारण बहुत परिवर्तन हुए। उन्होंने सकारात्मक पहल करने की शृंखला आरम्भ की। पहले, शस्त्रास्त्रों को घटाने पर, फिर अफगानिस्तान पर। मार्च 1985 में महासचिव बनने के बाद एक वर्ष के अंदर ही गोर्बाचेव अपने परमाणु निःशस्त्रीकरण के महान जेनेवा कार्यक्रम के साथ

सामने आए। दोनों महाशक्तियों के बीच कई शिखर वार्ताएं हुईं और दुबारा सत्ता में आने पर रीगन का दृष्टिकोण भी धीरे-धीरे बदला। यूरोप में मध्यम मार के परमाणु अस्त्रों से संबंधित कई वास्तविक मदों पर सहमति 1986 की रीकजाविक वार्ता में ही हो गई थी, लेकिन गोर्बाचेव ने जल्दबाजी नहीं की। दो वर्षों के भीतर, "आई.एन.एफ." नामक संधि पर हस्ताक्षर कर दिया गया और यूरोप में उल्लेखनीय रूप से तनाव में कमी आई। अफगानिस्तान से सोवियत संघ ने अपनी सेनाएं हटा लीं और अमेरिका पाकिस्तान के रास्ते से युद्धरत मुजाहिदीन शरणार्थियों को समर्थन व सामग्री देता रहा। फिर भी, काबुल सरकार मजबूती से बनी रही। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ पहले से अधिक प्रासंगिक लगा। ईरान-ईराक युद्ध भी संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों से खत्म हुआ।

गोर्बाचेव के राजनीतिक दर्शन ने इस परमाणु युग में स्थायी टकराव को निरर्थक सिद्ध कर दिया, क्योंकि छोटे संघर्ष, प्रतिक्रिया स्वरूप, परमाणु पूर्णाहुति की ओर ले जा सकते हैं। वे लगातार इस तर्क पर जोर देते रहे कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को विचारधारा से मुक्त होना चाहिए जबकि अमेरिकी अपने पुराने शब्दाडम्बर दोहराते रहे। गोर्बाचेव ने संसाधनों को शस्त्र निर्माण की अपेक्षा विकास कार्यों में लगाने पर जोर दिया। उन्होंने निःशस्त्रीकरण के लिए भी सकारात्मक कोशिशें कीं। उन्होंने महाशक्तियों के आपसी संबंधों में सुरक्षा, सैनिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों के नये आधार ढूंढे।

इस प्रकार, गोर्बाचेव की नई चिन्तन शैली ने दोनों महाशक्तियों के संबंधों को बुनियादी रूप से बदल दिया। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भी देश आज कमजोर हैं। परमाणु अस्त्रों के विशाल भंडार अभी बने हुए हैं। परिवर्तन यह हुआ है कि टकराव, असुरक्षा, भेद्यता, आपसी संशय का सारा दर्शन बदलकर सकारात्मक हो गया। यह एक महान उपलब्धि है। इसी के साथ संयुक्त राष्ट्रसंघ को गरिमा के साथ पुनः अंतर्राष्ट्रीय मंच पर लाने में भी गोर्बाचेव सफल हुए हैं। गोर्बाचेव चाहते हैं कि सुरक्षा परिषद् के पांचों सदस्य (अमेरिका, सोवियत संघ, चीन, फ्रांस और ब्रिटेन) विश्व के सभी संवेदनशील क्षेत्रों पर संयुक्त रूप से समाधान के लगातार प्रयास करें।

यह निश्चित ही एक दूरगामी मंजिल है, लेकिन विचार महत्वपूर्ण है। 1945 के बाद पहली बार दो महाशक्तियों के एकाधिकार की अपेक्षा पांच शक्तियों को इतनी गम्भीरता से निर्णय निर्माण में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई।

इतना ही नहीं, जब ये प्रयास जारी थे, विश्व में दो शक्तिशाली आर्थिक केन्द्र उभरे। एक ओर एशिया प्रशांत क्षेत्र के नये औद्योगिक देशों के साथ जापान और दूसरी ओर यूरोपीय समुदाय। नवें दशक में, राष्ट्रों के मध्य आर्थिक शक्ति संबंधों में एक प्रमुख पुनर्व्यवस्था देखी गई। अब अमेरिका पूरी तरह प्रबल नहीं था, हालांकि बड़े निर्णय वाशिंगटन एवं न्यूयार्क में ही लिए गए। जापान एक बड़ी आर्थिक शक्ति बन चुका है। अब जापान एक सैनिक शक्ति के रूप में भी उभर रहा है। इसका राजनीतिक प्रभाव अभी भी सीमित है, क्योंकि विश्व को अभी भी द्वितीय विश्वयुद्ध की याद बाकी है। परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं है कि विश्व स्तर पर कोई भी निर्णय जापान की उपेक्षा करके नहीं लिया जा सकता।

यूरोप में स्थिति और भी जटिल है। पश्चिम जर्मनी के पास जापान की तुलना में, एक निश्चित आर्थिक शक्ति है। इटली, फ्रांस और ब्रिटेन भी आर्थिक रूप से शक्तिशाली हैं। स्पेन दिनोंदिन शक्तिशाली होता जा रहा है। 1992 में उभरने वाला नया यूरोप भी एक प्रमुख कर्त्ता होगा। यूरोप में जर्मनी के पुनरुत्थान का भय अमेरिका की उपस्थिति को बनाए रखेगा। वास्तव में, गत बीस वर्षों की सोवियत नीतियों में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे ज्ञात हो कि रूस की दिलचस्पी अमेरिका को बहिष्कृत करने में है।

अतः धीरे-धीरे हम एक स्थायी बहुध्रुवीय दुनिया की ओर बढ़ रहे हैं। इस दुनिया के शीर्ष पर दो विशालतम सैनिक शक्तियां हैं। सोवियत संघ व चीन अभी भी आर्थिक रूप से इतने मजबूत नहीं हैं कि विश्व शांति में अपना योगदान दे सकें परन्तु बेशक इन दोनों ने चौतरफा प्रगति की है। इनके बाद विभिन्न महाद्वीप में भारत, ब्राजील, नाइजेरिया आदि जैसे विशाल देश हैं। ये अभी भी विकासशील देश हैं, परन्तु इन्हें भी

महत्व देना होगा। इस दुनिया में जहां संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्व बढ़ता जा रहा है, मध्यम शक्तियों की एक लम्बी कतार प्रचुर स्थानीय महत्व और सत्ता के साथ कायम है। इस श्रेणी में मैक्सिको, अर्जेन्टाइना, इंडोनेशिया और पाकिस्तान हैं।

इजराइल और दक्षिण अफ्रीका, दो ऐसे उदाहरण हैं जिनकी शक्ति और प्रभाव पश्चिमी शक्तियों के संरक्षण के कारण कायम है। इन्होंने कई बार अपने संरक्षकों के निर्देशों की उपेक्षा करने की क्षमता का परिचय दिया है। कुछ अवसरों पर तो उनकी उपेक्षा आश्चर्यजनक थी। कोरिया और क्यूबा जैसे समाजवादी देशों की भी अपनी स्वायत्तता है। उन पर मास्को या पेकिंग की आज्ञा नहीं चलती।

विभक्त सत्ता के इस परिदृश्य में ही पूर्वी यूरोप में हाल की घटनाएं सामने आयीं। इसने बुनियादी तौर पर कोई परिवर्तन नहीं किया, लेकिन इस टकराव और भागेदारी में पश्चिम और अधिक मजबूत बन गया। दसवें दशक में क्या तस्वीर उभरेगी, वह कहना अभी मुश्किल है। एकीकृत जर्मनी वाला यूरोप एक ऐसा सशक्त ध्रुव बन सकता है, जैसी आज दो महाशक्तियां हैं। इसका अमेरिका व सोवियत संघ पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

शेष विश्व (विकासशील विश्व) के लिए स्थिति बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। दो महाशक्तियों की आपसी होड़ से गरीब देशों को कुछ लाभ भी हो सकता था। किन्तु अब वह भी संभव नहीं है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन, 77 देशों के समूह और सामान्य तौर पर विकासशील विश्व को अब यह महसूस करना होगा कि नये और खुले विश्व में सच्ची सुरक्षा का कार्य कितना कठिन होगा और वे कमजोर या शक्तिशाली हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) महाशक्तियों के तनाव शैथिल्य के पीछे तर्काधार क्या था?

.....

.....

.....

.....

2) गोर्बाचेव युग में महाशक्तियों के संबंधों की नई प्रवृत्तियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

15.7 सारांश

जैसा कि हमने देखा, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का चारित्रिक गुण समाजवादी गुट के नेता सोवियत संघ और पूंजीवादी गुट के नेता अमेरिका के बीच "शीतयुद्ध" था। हमने यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार यह दुनिया द्विध्रुवीय बनी। द्वितीय विश्वयुद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का चरित्र ही बदल दिया। युद्ध से पूर्व यह एक यूरोप केन्द्रित दुनिया था, जिसमें ब्रिटेन शीर्ष पर था, परन्तु युद्ध के बाद तस्वीर एकदम बदल गई। अमेरिका और सोवियत संघ युद्ध के बाद बहुत शक्तिशाली बनकर उभरे और अपनी सर्वश्रेष्ठ सैनिक आर्थिक क्षमता के कारण "महाशक्ति" कहलाए। दुर्भाग्यवश, युद्धोपरांत दोनों के बीच शत्रुतापूर्ण संबंध विकसित हुए, क्योंकि

वे परस्पर विरोधी विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। हालांकि भारत, मिस्र और यूगोस्लाविया जैसे देश भी थे, जिन्होंने गुटनिरपेक्षता राजनीति की अपेक्षा स्वतंत्र रहना अधिक पसंद किया लेकिन अधिकांश विश्व इन दो खेमों मे बंट गया। इसके तुरन्त बाद इन दोनों महाशक्तियों और इनके सहयोगियों के बीच शीतयुद्ध अस्तित्व में आया। दूसरे शब्दों में, एक "ऐसी प्रतिस्पर्धा" का काल आरम्भ हुआ, जिसमें एक पक्ष का नुकसान दूसरे पक्ष का फायदा था। इस शीतयुद्ध की एक विशेषता यह थी कि महाशक्तियों की शत्रुता के संदर्भ में इसने सारी दुनिया को समाहित कर लिया। विवाद के प्रत्येक प्रमुख मुद्दे पर दोनों महाशक्तियों ने एक दूसरे का विरोध किया। आठवें दशक की शुरूआत में शीतयुद्ध का स्थान धीरे-धीरे तनाव शैथिल्य ने लिया। इस दौरान शत्रुता कुछ कम हुई। इस इकाई में हमने नवें दशक के अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के कारण आई द्वितीय शीतयुद्ध की लहर का वर्णन भी किया। अंततः हमने महाशक्तियों संबंधों में आई नई प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात किया, जो कि सोवियत राष्ट्रपति मिखाईल गोर्बाचेव की साहसिक पहलों के फलस्वरूप सामने आईं। अतः अब शीतयुद्ध खत्म हो चला है और एक नई विश्व व्यवस्था आकार ले रही है।

15.8 शब्दावली

द्विध्रुवीयता : इसका अर्थ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व का दो शक्ति गुटों में बंटने से है, एक का नेतृत्व सोवियत संघ ने किया और दूसरे का अमेरिका ने। दोनों गुटों की विचारधारा एकदम विपरीत है। इसने सारे विश्व को दो ध्रुवों में बांट दिया और अधिकांश देशों ने किसी न किसी गुट के झंडे तले शरण ली।

शीतयुद्ध : यह दोनों महाशक्तियों के बीच अत्यन्त कटु शत्रुता की स्थिति का द्योत्तक है, जो कि उनके कूटनीतिक संघर्ष, शस्त्रास्त्रों की होड़, तथा प्रत्यक्ष सैनिक कार्यवाही के अलावा प्रत्येक शत्रुतापूर्ण कार्य से अधिव्यक्त होती है। यह 1947 में बर्लिन के अवरोध के साथ आरम्भ हुई और आठवें दशक में तनाव शैथिल्य के युग तक चली। यह दो महाशक्तियों के बीच युद्ध के समान संघर्षमय संबंधों के रूप में अभिव्यक्त हुई। इसमें कभी वास्तविक युद्ध नहीं होता, अतः इसे शीतयुद्ध कहा गया।

अवरोध : इसका अर्थ 1947 के बाद अमेरिका की उस अधिकाधिक विदेश नीति से है, जिसका उद्देश्य संसार में साम्यवाद के प्रसार को रोकना है। इसका लक्ष्य साम्यवाद को उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित कर रखना था, जहां वह अस्तित्व में आ चुका था—जैसे सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप।

तनाव-शैथिल्य : इसका अर्थ दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव घटने से है। शीतयुद्ध के दौरान के कटु शत्रुतापूर्ण दशकों के बाद, दोनों महाशक्तियों ने सातवें दशक के अंत में इसकी निरर्थकता को महसूस किया तथा परस्पर सहमति से शस्त्रास्त्रों की इस होड़ को घटाना चाहा और आर्थिक सहयोग बढ़ाना चाहा। हालांकि इससे उनकी शत्रुता खत्म नहीं हुई, लेकिन तनाव में कमी जरूर आई।

15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

के. सुब्रहमण्यम, (संपादित), 1983. "**दि सेकेण्ड कोल्ड वार**" नई दिल्ली, ए.बी.सी. पब्लिशिंग हाउस।

फ्रेड. हैलिडे, 1983. "**दि मेकिंग ऑफ दि सेकेण्ड कोल्ड वार**" लंदन।

नार्थेज (एफ.एस.) एवं ग्रीव (संपादित), 1974. **हन्ड्रेड इयर्स ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स**, लंदन।

लिपमेन (वाल्टर), (संपादित), 1947. **ए स्टडी इन यू. एस. फॉरेन पालिसी**, न्यूयार्क, हार्पर।

क्राकेट (रिचर्ड) और स्मिथ (स्टीव) संपादित, 1987, **कोल्ड वार: पास्ट एंड प्रेजेन्ट**, लंदन, एलेन एण्ड अनविन।

आरबेटर (जार्ज ए.) और ऑल्टमेन्स (विलियम), संपादित, 1983, **कोल्ड वार एण्ड देतेन्त: ए सोवियत व्यू पॉइंट**, लंदन बुक्स।

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

परिभाषा के लिए भाग 15.8 देखिए। इसकी प्रमुख विशेषता दो परस्पर विरोधी शक्ति गुटों का अस्तित्व है। प्रत्येक गुट का नेतृत्व एक महाशक्ति करती है।

बोध प्रश्न 2

परिभाषा के लिए भाग 15.8 देखिए। शस्त्रास्त्रों की गहरी होड़। कूटनीतिक व राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तथा विश्व के प्रमुख ज्वलनशील क्षेत्रों में महाशक्तियों का हस्तक्षेप इसके परिचालन की क्रियाविधि है।

बोध प्रश्न 3

1) तनाव शैथिल्य का अर्थ दोनों महाशक्तियों द्वारा 1970 तक असीमित आपसी शत्रुता की निरर्थकता को पहचान लेना था। साथ ही, यह भी महसूस किया गया कि प्रतिस्पर्द्धा संबंधों के इस माहौल में व्यापक सहमति और आपसी सहयोग के क्षेत्र दोनों महाशक्तियां ढूंढ सकती हैं। तनाव शैथिल्य से शीतयुद्ध खत्म नहीं हुआ, परन्तु इसमें कमी जरूर आई।

2) निःशस्त्रीकरण, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका तथा अन्य मुख्य अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर गोर्बाचेव के कई साहसिक कदमों के कारण नई प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आईं। परिणामस्वरूप शीतयुद्ध समाप्त हुआ। अब महाशक्तियों के संबंधों का वर्तमान स्वरूप टकराव की अपेक्षा सहयोग का है।

इकाई 16 विश्व राजनीति में एक शक्ति के रूप में चीन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  16.2.1 स्वगृहीत विलगाव
  16.2.2 ह्रास का काल
  16.2.3 चीन का एक शक्ति के रूप में उदय
16.3 शक्ति के तत्व
  16.3.1 भौगोलिक स्थिति
  16.3.2 जनसंख्या
  16.3.3 प्राकृतिक संसाधन
  16.3.4 आर्थिक विकास
  16.3.5 सैन्य शक्ति
16.4 चीन और महाशक्तियां
  16.4.1 चीन और सोवियत संघ
  16.4.2 चीन और अमेरिका
16.5 चीन और तीसरी दुनिया
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम चीन को विश्व राजनीति में एक बड़ी शक्ति बनाने वाली विभिन्न शक्तियों और कारणों पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- चीन का स्वगृहीत विलगाव से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक शक्ति के रूप में गणना का वर्णन कर पाएंगे,
- शक्ति के कुछ मुख्य तत्वों को चिन्हित कर पाएंगे जिसने चीन को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने में मदद की,
- दोनों महाशक्तियों की तुलना में विश्व राजनीति में चीन के स्थान का आलोचनात्मक विश्लेषण कर सकेंगे, और
- तीसरी दुनिया के देशों में चीन के पूर्व-प्रतिष्ठित स्थान को समझ पाएंगे।

16.1 प्रस्तावना

आज की दुनिया में चीन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सुदूरभूत में भी वह ऐसा ही था। संघर्ष के उस पूरे काल में जब यूरोपीय ताकतों का अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर आगमन हुआ, चीन ऐसा ही रहा। तत्कालीन भूत में भी जब उसने अपने देश से कट कर "मानचूको की कठपुतली राज्य" बनाने की जापानी हमलावर मंशा का विरोध किया, वह महत्वपूर्ण बना रहा। चीनी कम्युनिस्ट क्रांति के सफलतापूर्वक पूरा होने पर और 1949 में चीनी लोक गणतंत्र की घोषणा के बाद, चीन एक बार फिर विश्व में एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरा है।

16.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

चीन का चार हजार वर्षों से भी ज्यादा का लिखित इतिहास है। सभ्यता के पहले चरणों में आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से फलने फूलने वाला वह महान देशों में से एक है। परन्तु, 19वीं सदी में, शुक्र हो उसके बेईमान और अकुशल शासकों का, उसका विश्व में स्थान नीचे आ गया। चीन बेचारगी में तब तक रहा जब तक कि 1949 की कम्युनिस्ट क्रांति ने उसकी विश्व स्थिति को नाटकीय ढंग से परिवर्तित न कर दिया। उस समय से वह दुनिया के सबसे प्रभावशाली देशों का दर्जा पा गया है। आइए अब हम एक शक्ति के रूप में चीन के उदय को एक ऐतिहासिक संदर्भ में विश्लेषित करें।

16.2.1 स्वगृहीत विलगाव

पुरानी दुनिया से आज की दुनिया गुणात्मक रूप से भिन्न है, जिसमें चीनी सदियों तक "बाहरी बर्बरों" से अपने अपने "भव्य" स्वगृहीत विलगाव का आनंद उठाते थे। चीनियों ने हरदम चीन को एक स्वार्गिक साम्राज्य समझा जिसमें तमाम चीजें काफी मात्रा में थीं और इसलिए बाहर से किसी चीज की जरूरत नहीं पड़ती थी। यह बात दरअसल इंग्लैण्ड के जार्ज III को सम्राट चिऊन लुंग द्वारा कही गई थी। चीनियों का दृढ़ विश्वास था कि सिर्फ उन्हीं का मध्य-साम्राज्य सभ्य था, जहां सम्राट को स्वर्ग से अपनी प्रजा का मालिक बनने का अधिकार मिला था। यह विशेषाधिकारी स्थिति खतरे में पड़ गई जब चीनी राजशाही अंग्रेज और अन्य श्वेत बर्बरों से रु-ब-रु हुई जिन्होंने जल्द ही चीनी अभिमान को नरम कर दिया और हथियारबंद टकराव में उनकी हैसियत को खाक में मिलां दिया। पश्चिमी साम्राज्यवादियों में ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने अंततः चीन को अर्द्ध-उपनिवेश में परिणत कर दिया, अपने-अपने प्रभाव के क्षेत्र गढ़ कर।

16.2.2 ह्रास का काल

18वीं और 19वीं सदी में साम्राज्यवादी स्वार्थ के तहत यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका-एशिया के संगठित समुदायों के खिलाफ लड़ाई लड़ी और उन पर विजय हासिल किया। साथ ही, वह एशिया और अफ्रीका की भूमि पर अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए आपस में लड़े। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हें संचालित करने वाली ताकत आर्थिक लाभ थी, जिसने पूरी दुनिया को उनके कार्यवाहियों का क्षेत्र बना दिया। इन शक्तियों ने बढ़ते बाजारों और उत्पादों, व्यापार और वाणिज्य, तथा इसाई धर्म प्रचार हेतु संचार के आधुनिक तरीकों की सहायता से अफ्रीका-एशिया के देशों पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया। चीन के विलगाव को इस प्रकार बलपूर्वक तोड़ा गया और उसे इन तेजी से उमड़ती बाहरी ताकतों से अकेले मुकाबला करना पड़ा, जो निरर्थक साबित हुआ।

उस वक्त चीन हालांकि विशाल था परन्तु ढीले रूप में संगठित था अतः बाहरी आक्रमणकारियों के हमलों को रोक पाने में विफल हुआ। इन प्रतिकूल परिस्थितियों ने चीनियों को अपना कमर कसने के लिए प्रेरित किया। जल्द ही यह अहसास हुआ कि राष्ट्र की एकता राजतंत्र की संस्था के पुराने मूल्यों और शर्तों पर निर्भर रह कर प्राप्त नहीं की जा सकती। गणतंत्रवाद, जनतंत्र, राष्ट्रवाद के नए विचार और अवधारणाएं और इसाईयत भी जिसे चीन में अच्छा स्वागत मिला, की परिणति अंततः अंतिम चीनी शाही वंश मांचू को उखाड़ फेंकने और 1911 में चीनी गणतंत्र की स्थापना में हुई। दुर्भाग्यवश नया गणतंत्र पूरे चीन को अपने मातहत नहीं ला सका और उसका अस्तित्व काफी संक्षिप्त रहा। फिर भी, 1920 के आखिर में सोवियत संघ लेनिन के नेतृत्व में नया समाजवादी राष्ट्र बना तथा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की ताकतों के खिलाफ औपनिवेशिक जनता की लड़ाई में उत्प्रेरणा और बड़ी सहायता का स्रोत बन गया। चीनी गणतंत्र के नेता सन यात-सेन ने लेनिन के सोवियत संघ के रूप में पहली बार पश्चिम में एक अडिग मित्र, चिन्तक और मार्गदर्शक पाया। बाद के विकास ने गणतांत्रिक चीन और रूसी बोल्शेविकों के बीच चिरकालीक संबंधों को जन्म दिया जिसका चीन के इतिहास के भविष्य पर गहरा असर पड़ा।

16.2.3 चीन का एक शक्ति के रूप में उदय

इस नए संबंध और क्रांतिकारी बोल्शेविक विचारों के प्रवेश का एक महत्वपूर्ण परिणाम था चीनी जनसमूह, खास तौर से चीनी किसानों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हथियारबंद क्रांतिकारी आंदोलन का उदय और विकास। अक्तूबर क्रांति के विपरीत, चीनी कम्युनिस्ट किसान जन समूहों ने बड़ी संख्या में भाग लिया और मजदूर वर्ग के, जो मुख्य रूप से अक्तूबर क्रांति के लिये जिम्मेदार थे, प्रबुद्ध नेतृत्व के विचारों और आदर्शों को रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

दो विश्व युद्धों के बीच के काल में, चीन ने न सिर्फ हथियारबंद कम्युनिस्ट आंदोलन का विकास देखा बल्कि पश्चिमी साम्राज्यवादियों और जापान के खिलाफ एक मजबूत राष्ट्रव्यापी लहर भी महसूस किया। खासे समय के लिए, कम्युनिस्ट पार्टी और सन यात सेन द्वारा स्थापित और बाद में च्यांग काई शेक के नेतृत्व में राष्ट्रवादी पार्टी कोमिंतांग के नेतृत्व में दोनों ताकतें निकट सहयोग स्थापित कर काम करती रहीं। परन्तु, 1927 में यह मोर्चा टूट गया, जब च्यांग काई शेक ने न सिर्फ कम्युनिस्टों को कोमिंतांग पार्टी से निकाल बाहर किया बल्कि उन्हें पूरी तौर पर खत्म करवाने का निर्णय लिया। भीषण लड़ाई छिड़ गई और जापान के खिलाफ संयुक्त रूप से लड़ने की बजाय, कोमिंतांग नेता चियांग ने कम्युनिस्टों के साथ हिसाब-किताब बराबर करने की सोची। बहुत मुश्किल से दोनों ताकतें जापान के साथ संयुक्त मोर्चा बना पायीं, शुक्र हो कम्युनिस्टों की प्रबुद्ध नीतियों और कामिंतांग के देश भक्त जनरलों के हस्तक्षेप का, यह संयुक्त कार्यवाही दूसरे विश्वयुद्ध के अंत तक चली, जब जापान अंतिम रूप से पराजित किया गया।

यहां ध्यान देने योग्य बात है कि जब चीन जापान के खिलाफ युद्ध में अपना खुद का महत्वपूण योगदान कर रहा था, मित्र राष्ट्रों की तरफ से, चीन को तीनों बड़ी ताकतों से अपना वाजिब हिस्सा और बराबरी का व्यवहार नहीं मिला। याल्टा सम्मेलन में तीनों बड़ी ताकतों ने गुप्त रूप से चीन की भूमि को बेचने और चीन की कीमत पर अन्य छूट देने की साजिशें कीं जिससे सोवियत संघ यूरोप के मोर्चे पर लड़ाई की समाप्ति के बाद जापान के खिलाफ दो बड़े देशों की लड़ाई में भागीदार बनने के लिए तैयार हो जाए।

जापान को पूरी तरह पराजित करने के बाद जब मित्र राष्ट्र युद्ध जीत गए, चीन एशिया में एकमात्र बड़ी शक्ति बचा। उसे इस रूप में अन्य बड़ी ताकतों (अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस) ने पहचाना, जिसे संयुक्त राष्ट्र के ढांचे में संस्थागत रूप दिया गया जिसमें चीन को अन्य बड़ी शक्तियों के बराबर माना गया और सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार प्राप्त एक स्थायी सदस्य बनाया गया। फिर भी, इसे अमेरिका के जोर देने पर अनिच्छा से ही दिया गया। व्यवहार में, फिर भी चीनियों को तीन बड़ी शक्तियों द्वारा खुद के लिए आरक्षित स्थान नहीं मिल पाया। एक मुख्य ताकत की हैसियत पाने के लिये चीनियों को कठिन रास्ता अपनाना पड़ा। चीन में युद्धोत्तर कालीन परिस्थितियां शांति की स्थापना नहीं कर सकीं। कम्युनिस्ट कोमिंतांग और च्यांग के साथ सहयोगपूर्ण काम करने के लिए तैयार थे परन्तु च्यांग ने उन्हें मित्र के रूप में काम करने देने से इंकार कर दिया। च्यांग ने जोर दिया कि कम्युनिस्ट अपनी फौज को भंग कर दें और एक क्रांतिकारी पार्टी के रूप में अपना अलग अस्तित्व त्याग दें। इससे मुठभेड़ की स्थिति पैदा हो गई। नतीजे के तौर पर, भीषण गृह युद्ध शुरू हो गया जिसमें कम्युनिस्ट विजयी हो कर उभरे। च्यांग को बाहर फेंक दिया गया। अक्तूबर 1949 को अनुभवी कम्युनिस्ट नेता माओ त्से तुंग के नेतृत्व में एक नए लोक जनवादी चीन की स्थापना हुई। यह दरअसल, उस क्रांतिकारी आंदोलन की अंतिम परिणति थी जिसकी दो दशक पूर्व पांच सदस्यों ने, जिसमें एक माओ खुद थे, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में स्थापित किया था।

चीन में कम्युनिस्टों की ऐतिहासिक विजय उस समय हुई जब यूरोप में शीतयुद्ध चल रहा था। दुनिया दो शत्रुतापूर्ण खेमों में विभाजित हो चुकी थी, समाजवादी और पूंजीवादी। इन नव स्वतंत्र देशों के क्षितिज पर एक नया गुट-निरपेक्ष आंदोलन मंडरा रहा था। इसी मोड़ पर कम्युनिस्ट चीन ने सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट खेमे के प्रति अपने खुले समर्थन का ऐलान किया। "कोई तीसरा रास्ता नहीं है" चीनी

कम्युनिस्ट नेतृत्व ने कहा जिसे कुछ सालों बाद उन्होंने खुद नकारा। कम्युनिस्ट चीन के उदय ने इस तरह न सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन बल्कि एशिया के भविष्य के इतिहास क्रम और विश्व राजनीति के विकास क्रम पर भी गहरा प्रभाव डाला।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) चीन के "मध्य साम्राज्य" के विचार से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) गलत कथनों को चिन्हित करें:

i) 19 वीं सदी में चीन का स्वगृहीन विलगाव यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा बलपूर्वक तोड़ा गया।

ii) नए विचारों और मान्यताओं ने प्रथम चीनी शाही वंश, मानचुओ को 1917 की चीनी क्रांति द्वारा उखाड़ फेंका।

iii) दोनों विश्व युद्धों के बीच चीन में विदेशियों के खिलाफ हथियारबंद कम्युनिस्ट आंदोलन और मजबूत राष्ट्रवादी लहर का उदय हुआ।

iv) द्वितीय विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय के बाद चीन एशिया की एकमात्र बड़ी शक्ति के रूप में बचा।

16.3 शक्ति के तत्व

शक्ति की अवधारणा विश्व राजनीति को समझने की महत्वपूर्ण कुंजी है। मोटे तौर पर, शक्ति को एक राज्य द्वारा दूसरों पर अपनी इच्छा से लादने और दूसरे राज्यों से सम्मान हासिल करने और उनसे आज्ञाकारिता हासिल करने की क्षमता के रूप में वर्णित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, एक राज्य दूसरे राज्य/राज्यों पर अपनी इच्छानुसार अपनी वास्तविक और संभावित शक्ति के माध्यम से नियंत्रण करता है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में चीन ने एक बड़ी शक्ति का दर्जा पा लिया है, ऐसा कहने के लिए किन चीजों का उल्लेख किया जाए? इन्हें शक्ति के तत्व कहते हैं जिसमें भूगोल, जनसंख्या, प्राकृतिक संसाधन, आर्थिक विकास, सैन्य ताकत, इत्यादि तत्व महत्वपूर्ण हैं। इन तमाम तत्वों का मेल एक राज्य को शक्तिशाली बनाता है। शक्तिशाली स्थान हासिल करने के लिए इन तत्वों को प्रभावकारी ढंग से जोड़ना काफी हद तक नेतृत्व की कुशलता और समर्पण पर निर्भर करता है। चीन के लिए, कम्युनिस्ट नेतृत्व कामयाबी के साथ इस दुर्लभ साहसिक कार्य को कर पाया इसलिए वह इतनी जल्दी शक्तिशाली बन कर उभरा।

16.3.1 भौगोलिक स्थिति

चीन एशिया का सबसे बड़ा देश है और दुनिया में उसकी जनसंख्या सबसे ज्यादा है। अपने क्षेत्रफल के हिसाब से वह सिर्फ सोवियत संघ और कनाडा के बाद है। यह भारत से तीन गुना ज्यादा बड़ा है। चीन का बड़ा क्षेत्रफल उसे साफ तौर पर छोटे राष्ट्रों की तुलना में, जो इससे अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के लिए प्रतियोगिता में हैं, लाभ पहुंचाता है। यह चीन को बड़ा क्षेत्रफल होने के नाते कृषि उत्पादों का एक बड़ा उत्पादक बनाता है और खाद्य पदार्थ आत्म-पर्याप्त बनाता है, उसे बड़ी मात्रा में प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध करवाता है और उस पर पूर्ण सैनिक कब्जा मुश्किल बनाता है।

चीन की भौगोलिक अवस्था उसे दूसरे राष्ट्रों की तुलना में ज्यादा लाभदायक स्थिति में रखती है। चीन विश्व के सबसे बड़े महाद्वीप के बीच में अवस्थित है। साथ ही, एशिया के काफी बड़े हिस्से को चीन के ऐतिहासिक प्रभाव में रहने की संभावना है। चीन के दायरे पर रहने वाले काफी राष्ट्र कमजोर और छोटे हैं और चीन के प्रभाव के आसान शिकार हैं। दुनिया के कम ही देशों के पास चीन के ऐसे प्रभाव क्षेत्र हासिल करने की क्षमता है। इसके महत्वपूर्ण भौगोलिक राजनीतिक हैसियत को दोनों महाशक्तियां भी पहचानती हैं।

16.3.2 जनसंख्या

जनसंख्या में चीन दुनिया में प्रथम स्थान पर है। मानव जाति का एक चौथाई यहां रहता है। आर्थिक शब्दावली में, यह एक विशाल श्रम शक्ति उपलब्ध करवाता है जो देश के कृषि और औद्योगिक विकास के लिए बहुमूल्य है। बड़ी जनसंख्या उत्पादित सामानों के लिए बड़ा बाज़ार उपलब्ध कराती है। बड़ी जनसंख्या ने कई वैज्ञानिक और काफी कुशल लोग भी पैदा किए हैं जिन्होंने चीन के विकास में काफी योगदान दिया है। इस "मस्तिष्क भण्डार" के अलावा, चीन परंपरागत युद्ध के लिए भी एक विशाल रिजर्व फौज की बात कर सकता है। ये तमाम चीजें चीन को विश्व में एक वास्तविक शक्ति बनाने में सहायता करती हैं।

16.3.3 प्राकृतिक संसाधन

चीन दो मुख्य प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है: कृषि और खनिज।

चीन का सबसे महत्वपूर्ण कृषि क्षेत्र पूर्व और दक्षिण-पूर्व में है जो कुल बुआई क्षेत्र का 93 प्रतिशत और कुल जनसंख्या का 93 प्रतिशत है। जलवायु अन्न उपजाने के लिए अनुकूल रहा है खास तौर से अत्यधिक पैदावर पद्धति के तहत धान के लिए। अन्न की उपज बुआई क्षेत्र के काफी बड़े हिस्से में होती है। 1949 से अन्न का उत्पादन काफी ज्यादा बढ़ा है।

चीन खाद्यानों में आत्म-पर्याप्त है जिसके चलते उसे एक शक्ति की हैसियत मिली है। कृषि को महत्व देने की वजह से, चीन हाल में खाद्यानों का निर्यातक भी बन गया है जो उसे काफी मात्रा में विदेशी मुद्रा देता है और जिसकी वजह से दुनिया का उसकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है।

महत्वपूर्ण खनिज जो राष्ट्रीय शक्ति को बनाने में सबसे सीधा प्रसंग रखते हैं, वह हैं, लोहा, कोयला और तेल। चीन के पास ऐसे संसाधनों की बड़ी आपूर्ति साथ ही उसके दोहन की क्षमता भी है और इसने उसे एक विकासशील औद्योगिक राज्य भी बना दिया है। कोयले के विशाल भंडार, लौह भंडार, और तेल के भंडार चीनी शक्ति के वर्तमान और भविष्य की हैसियत को परिलक्षित करते हैं। अनुमानित है कि दुनिया के तेल रिजर्व का 10 प्रतिशत चीन के पास है। हाल के वर्षों में चीन ने खोज, उत्पादन और दुलाई तकनीकी के सुधरे रूपों का इस्तेमाल किया है और कच्चे तेल और तेल उत्पादों का विश्व स्तर का एक प्रमुख निर्यातक बन गया है। ऐसे उदाहरण भी हैं जब चीन ने तेल का इस्तेमाल राजनीतिक फायदे के लिए किया। जापान को तेल बेच कर, बीजिंग ने टोक्यो को साईबेरिया में तेल और गैस भंडारों को विकसित करने के लिए सोवियत संघ से समझौता करने के लिए रोका जो सोवियत संघ के आर्थिक विकास में मदद पहुंचाता और चीनी सोवियत सीमा पर उसकी क्षमता और स्थिति को बढ़ावा देता। चीन ऊर्जा का भी एक उत्पादक और उपभोक्ता है।

16.3.4 आर्थिक विकास

1949 में चीन की अर्थव्यवस्था वर्षों के युद्ध, अंदरूनी झगड़ों, भ्रष्टाचार और गुटबाजी से टूट फूट गई थी। 1960 तक चीनियों ने सोवियत संघ की तर्ज पर केन्द्र द्वारा योजनाबद्ध भारी औद्योगिक विकास किया। इसके बाद दो दशक तक घरेलू उथल-पुथल रही। 1970 से चीन ने बाकी दुनिया से अपनी अर्थव्यवस्था को फिर से जोड़ना शुरू किया है।

माओ के बाद के काल में, डेंग जियाओ पिंग के सत्ता में आने के बाद, चीन ने अपनी कृषि, उद्योग, राष्ट्रीय सुरक्षा और प्रौद्योगिकी (मशहूर चार नवीनीकरणों) पर ज्यादा जोर देना शुरू किया गया और "खुला द्वार" नीति अपनायी गई। इन सुधारों में पूर्व के केन्द्रीयकृत योजनाबद्ध और बाजार पर आधारित अर्थव्यवस्था शामिल थी। इन सुधारों ने प्रबंधन, वाणिज्य, मूल्यों, रोजगार और अन्य क्षेत्रों को काफी हद तक प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, अब चीन में औद्योगिक प्रबंधकों को खतरा उठाने, मुनाफा कमाने और कभी-कभी उत्पादों की विविधता के लिए भी प्रेरित किया जाता है। कुछ निजी उद्यमों को भी कार्य करने की इजाजत दी गई है। साथ ही, वेतन व्यवस्था में सुधार के बाद, विभिन्न खतरों के कार्यों के लिए विभिन्न वेतन दिए जाते हैं।

चीन के नवीनीकरण कार्यक्रम का एक अन्य खास चरित्र है उसकी "खुला द्वार" नीति जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तेज करने के लिए विदेशी या पश्चिमी निवेश की ओर उन्मुख है। इस प्रकार पश्चिमी पूंजीवाद और संयुक्त अनुष्ठानों की गतिविधियों के लिए कई विधेयक बनाए गए हैं। विदेशियों को चीन में आने और कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है। स्वाभाविक तौर पर चीनी अब पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों और मानसिकता से ज्यादा परिचित हुए हैं जिसने उपभोक्तावाद और हाल में, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता की ज़्यादा मांग को पनपने दिया है।

चीन एक गरीब और खाली अर्द्ध-औपनिवेशिक और अर्द्ध-सामंती देश से एक प्रासंगिक रूप से खुशहाल समाजवादी देश में बदल गया है। लगभग हर क्षेत्र में उत्पादन की अच्छी खासी वृद्धि हुई है। 1988 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) 1949 की तुलना में 19.8 गुना था। चीनियों का वास्तविक उपभोग स्तर 1952 में 76 युआन से बढ़कर 1988 में 639 युआन हो गया है। सामान्य जीवन दर (मुक्ति पूर्व चीन) 35 वर्ष से बढ़कर 1989 में 69 वर्ष हो गया है। औद्योगीकीकरण में चीन का प्रदर्शन अच्छा ही रहा है। 1949 की तुलना में औद्योगिक उत्पाद मूल्य 1988 में 134 गुना ज्यादा था। पिछले चार दशकों में सामान्य सालाना औद्योगिक विकास दर 13.4 प्रतिशत रहा है। कृषि क्षेत्र में यह प्रदर्शन अच्छा रहा है, खास तौर से 1979 के सुधारों के साथ। चीन का खाद्यान्न उत्पादन 1957 के 1430 लाख मैट्रिक टन से बढ़ कर 1984 में 4070 लाख मैट्रिक टन के शिखर पर पहुंच कर पिछले कुछ वर्षों में जरा नीचे आया है। 1980 के दशक में कृषि में कार्यरत लोगों का प्रति व्यक्ति वास्तविक आय 11.8 प्रतिशत था जो शहरी जनों के 6.5 प्रतिशत से काफी ज्यादा है। चार नवीनीकरणों वाले सुधार ने 1978 से किसानों की आमदनी को दुगुना करने में योगदान दिया है। इसके अलावा, चीन की अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीयोन्मुख हुई है और कुल राष्ट्रीय उत्पाद में विदेश व्यापार का हिस्सा 1978 में 10 प्रतिशत से बढ़कर 1987 में करीब 30 प्रतिशत हो गया है।

यहां यह कहना जरूरी है कि आज चीन तमाम विकासशील देशों में सबसे ज्यादा विकसित है और औद्योगिक तथा तकनीकी विकास में उसकी तुलना कुछ विकसित देशों के साथ की जा सकती है। यह निरंतर बढ़ता आर्थिक प्रभाव, बिना शंका के, चीन की राजनीतिक शक्ति को उजागर करता है।

16.3.5 सैन्य ताकत

सैन्य ताकत शक्ति का एक काफी महत्वपूर्ण तत्व है। चीन को उसकी सैन्य शक्ति के कारण एक बड़ी शक्ति के रूप में तौला जाता है। विभिन्न कारणों से, खास तौर से उसकी सेना के आकार और परमाणु क्षमता की वजह से, चीन अन्य दूसरे नंबर की शक्तियों से ऊंचा है। सबसे महत्वपूर्ण बात, चीन ने अमेरिका और सोवियत संघ के खिलाफ अपनी सैनिक क्षमता का कई बार प्रदर्शन किया है।

चीन को दुनिया की सबसे बड़ी स्थायी फौजी ताकत माना जाता है। उसके पास, हवाई जहाजों और जलयानों की संख्या के हिसाब से दुनिया की सबसे बड़ी वायुसेना और जल सेना है। सैनिक खर्चों के लिहाज से उसका स्थान दुनिया में तीसरा है। सामरिक हथियारों के लिहाज से चीन तीसरी दुनिया के अन्य देशों से काफी ऊपर है। दरअसल, बीजिंग को महाशक्तियों के बाद परमाणु हैसियत की एकमात्र गंभीर दावेदार माना जाता है। 1964 से चीन ने विभिन्न प्रकार के परमाणु हथियारों को विकसित किया है।

उसने अणु और हाईड्रोजन बम दोनों बनाये हैं और हवाई जहाजों तथा मिसाइलों से विभिन्न विस्फोटक परीक्षण किया है। अंत में, बीजिंग ने सफलतापूर्वक अन्तरमहाद्वीप प्रक्षेपास्त्रों (ICBM) का निर्माण किया है जो परमाणु बम का वहन करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि सैन्य क्षमताओं के हिसाब से, पूर्वी एशिया में सिर्फ चीन एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक शक्ति है और एशिया पर अपना प्रभाव जमाए हुए है, जो विश्व का सबसे बड़ा और बड़ी जनसंख्या वाला महाद्वीप है। चीन का एक बड़े सैनिक शक्ति होने का तर्कसंगत प्रमाण यही है कि दोनों महाशक्तियों ने उसे सैनिक तरीके से रोकने की कोशिश की है–परन्तु इस प्रयास में वे बहुत कम सफल हुए हैं। साथ ही, दोनों ने चीनी पक्ष को लक्ष्य कर उसके सैन्य खतरों से निपटने के लिए हथियार प्रणाली बनायी है।

इन तत्वों के आलोक में, इसमें कोई शक नहीं रह जाता कि चीन इस तरह संगठित है कि उसमें एक बड़ी शक्ति बनने की तमाम संभावनाएं हैं। हालांकि चीनी अभी भी अपनी बृहत क्षमता का इस्तेमाल नहीं कर पाए हैं, समय के साथ चीन ने पहले माओ त्से तुंग और बाद में डेंग जियाओ पिंग के प्रभावकारी और गतिशील नेतृत्व के तहत जो कुछ भी पाया है वह उन्हें एशिया की विकासशील शक्ति और वर्तमान विश्व की एक बड़ी शक्ति के रूप में खुद को पेश करने की छूट देता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) चिन्हित करें कि चीन के एक शक्तिशाली राष्ट्र बनने के संदर्भ में शक्ति के तत्वों में कौन सा निम्नलिखित तत्व है/नहीं है।

   i) क्षेत्रफल

   ii) हथियार और युद्ध-सामग्री

   iii) मानव संसाधन

2) संक्षेप में बताएं कि कैसे चीन को उसकी सैन्य ताकत के लिए एक मुख्य शक्ति के रूप में तौला जाता है।

.....

.....

.....

16.4 चीन और महाशक्तियां

1949 में चीनी लोक गणराज्य के उदय के साथ, चीनी विदेश नीति ने सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों के पक्ष में एक मोड़ लिया। फिर भी, बाद में चीनी सोवियत संबंधों में शिथिलता आयी और चीन एशिया में अपना नेतृत्व जताने लगा। सोवियत संघ के साथ अपने तनाव युक्त संबंधों के संदर्भ में, चीनियों ने पश्चिम के साथ सुलह करना शुरू किया। 1950 में चीन ने पश्चिम के खिलाफ मास्को के साथ संबन्ध जोड़ा और फिर, 1972 से चीनी हितों पर खतरों को प्रतिसंतुलित करने के लिए वाशिंगटन से सोवियत संघ के खिलाफ लड़ा। फिर भी, 1980 के दशक में चीन एक बार फिर सोवियत संघ से संबंध सुधारने लगा और ज्यादा सहयोग के लिए उसके साथ कई समझौते किए।

विश्व राजनीति में एक शक्ति के रूप में चीन पर कोई भी बहस महाशक्तियों से उसके संबंधों के इर्द-गिर्द ही हो सकती है।

16.4.1 चीन और सोवियत संघ

शुरू से ही, चीन ने सोवियत संघ से मित्रतापूर्ण संबंध विकसित करने की कोशिश की। 1950 में चीनी लोक गणराज्य ने सोवियत संघ के साथ मैत्री और गठबंधन और परस्पर सहायता की संधि पर हस्ताक्षर किया, जिसके तहत दोनों देशों ने एक दूसरे पर हमले की स्थिति में आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग और सहायता देने पर सहमति जतायी।

चीन ने 1950 के दशक में सोवियत संघ से अच्छी खासी आर्थिक मदद हासिल की जो काफी महत्वपूर्ण थी। चीन की प्रथम पंचवर्षीय योजना (1953-57) सोवियत योजना जैसी थी, जिसमें भारी औद्योगिक आधार, यानी, आगे औद्योगीकरण के लिए अधिसंरचना पर जोर था। इसमें सोवियत संघ ने मदद किया। लगभग 10,000 सोवियत विशेषज्ञ चीन आए और इतनी ही संख्या में चीनी सोवियत संघ सिर्फ प्रशिक्षण के उद्देश्य से गए। फिर भी, चीनी-सोवियत गठबंधन बहुत दिनों तक नहीं रहा, और 1950 के दशक के अंत में एक विच्छेद उत्पन्न हो गया। यह टकराव मुख्यत: विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन की नेतागिरी के लिए हुआ। इसमें मार्क्सवाद की सही व्याख्या के सवाल पर सैद्धांतिक मतभेद भी थे। सही तौर पर कहा जा सकता है कि इस विच्छेद के फलस्वरूप चीन दक्षिण-पूर्व-एशिया के कम्युनिस्ट आंदोलन का नेता बन कर उभरा जबकि इस क्षेत्र में रूसी प्रभाव को एक धक्का पहुंचा।

1962 के चीनी-भारत टकराव में सोवियत रूख के कारण चीनी-सोवियत मतभेद और भी गहराया, और अमेरिका तथा ब्रिटेन के साथ सोवियत संघ द्वारा 1963 में हस्ताक्षरित "आणविक परीक्षण निषेध संधि" वगैरह ने भी मतभेदों को गहराया। चीन में सांस्कृतिक क्रांति (1966-69) ने भी इस बढ़ते विभेद को बढ़ाने में मदद की और 1969 में चीनी-सोवियत सीमा पर उसूरी नदी पर खुली झड़पें हुईं। 1970 के दशक के शुरू में, चीन अमेरिका के नजदीक आया और उसने सोवियत संघ के प्रति खुले तौर पर शत्रुतापूर्ण रवैया अपना लिया। किन्तु चीन के संबंध अमेरिका से भी ताईवान को अमेरिकी हथियारों की आपूर्ति के सवाल पर तनाव ग्रस्त हो गए। परिणामस्वरूप, चीनी नेतृत्व ने सोवियत संघ के साथ अपने संबंधों को सुधारने पर ध्यान देना शुरू किया। 1982 में सोवियत संघ ने चीन के साथ अपने संबंधों को सुधारने की इच्छा जाहिर की और उसके खिलाफ तमाम प्रचारों को बंद कर दिया। चीन ने भी अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का ऐलान किया जो दोनों महाशक्तियों से बराबर की दूरी बनाए रखने का हिमायती था। इसके बाद दोनों देशों के नेताओं के बीच बारी-बारी से बीजिंग और मास्को में कई उच्च स्तरीय बातचीतों का दौर शुरू हुआ। संबंधों में सुधार ने 1989 में नेताओं के बीच शिखर वार्ताओं का रास्ता खोला। यह शिखर वार्ता 1982 में शुरू होने वाले चीन-सोवियत संघ पुनर्मेल की प्रक्रिया में परिणत हुई।

16.4.2 चीन और अमेरिका

चीनी-अमेरिकी संबंध शुरू से ही तनाव ग्रस्त रहे चूंकि अमेरिका ने खुलेआम च्यांग काई-शेक की कोमिंतांग शासन को कम्युनिस्ट पार्टी के खिलाफ 1940 के दशक के गृहयुद्ध के दौरान मदद दी थी। 1949 में कम्युनिस्ट जब विजयी बन कर उभरे तब भी अमेरिका ने च्यांग काई-शेक सरकार को, जो फरमोसा द्वीप या ताईवान पर बनायी गई थी, समर्थन देना जारी रखा। साथ ही, अमेरिकी नेता लगातार कहते रहे कि बीजिंग की सरकार अस्थायी है और जल्द ही उसे ताईवान की राष्ट्रवादी ताकतें हटा देंगी। कोरिया युद्ध (1950-53) के दौरान, चीनी बल अमेरिका के खिलाफ लड़े थे। इसने चीन के प्रति अमेरिकी शत्रुता को बढ़ावा दिया जो बीस वर्षों से ज्यादा तक चला। अमेरिका ने चीन के चारों तरफ सैन्य अड्डे भी बना दिए जो चीनी प्रभाव को रोकने के लिए जापान से पाकिस्तान तक फैले हुए थे। अमेरिका नई सरकार को मान्यता देने से इंकार करती रही और संयुक्त राष्ट्र संघ में उसके प्रवेश का बीस वर्षों से ज्यादा समय तक विरोध करती रही।

1969 की सांस्कृतिक क्रांति के बाद ही चीनी- अमेरिकी संबंधों में कुछ सकारात्मक चिन्ह दिखने शुरू हुए। 1960 के दशक में चीन के आर्थिक संकट ने उसे बाहरी मदद को तलाशने के लिए मजबूर किया। सही तौर पर कहा जा सकता है कि इस सदी के अंत तक चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से अपने विलगाव की अवस्था को खत्म किया।

फरवरी, 1972 में अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन बीजिंग गए जिसने दोनों देशों के बीच तनाव शैथिल्य को चिन्हित किया। बहुत सारे व्यापारिक और सांस्कृतिक समझौते संपन्न हुए। इन विकासों के आलोक में, अमेरिका अंततः सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता की चीनी मांग को समर्थन देने को तैयार हो गया। अमेरिका ने औपचारिक रूप से 1 जनवरी, 1979 को चीन को मान्यता दी।

यह मार्के की बात है कि चीनी-अमेरिकी संबंधों में सुधार मुख्यतः सोवियत संघ और कुछ हद तक उन वर्षों में लोकप्रिय हुए तनाव शैथिल्य की भावना के कारण हुआ। फिर भी, चीनी-अमेरिकी संबंध ताईवान के सवाल पर तनावग्रस्त हो गए। अमेरिका ने बीजिंग से वायदा किया था कि वह ताईवान से सरकारी संबंध विच्छेद कर लेगा और सिर्फ औपचारिक आर्थिक और सैन्य संबंधों को बनाए रखेगा। परन्तु रीगन प्रशासन ने मित्रों को आश्वासन देने की प्रक्रिया में, ताईवान संबंधों का अधिनियम पारित किया, जिसमें ताईवान के प्रति अमेरिकी वचनबद्धता को दुहराया गया। जब से यह हुआ है, ताईवान, चीनी-अमेरिकी सामरिक संबंध के विकास में एक मुख्य बाधा बनी हुई है।

परन्तु अमेरिकी नेतृत्व के इस एहसास ने कि चीन के साथ उसके मैत्रीपूर्ण संबंध उसके अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए महत्वपूर्ण हैं, उसे चीन के साथ अपने संबंधों के रास्ते में मुख्य बाधाओं को हटाने की तमाम संभव कोशिश करने के लिये प्रेरित किया। इसके अलावा, चीन ने अमेरिकी पूंजी और प्रौद्योगिकी का अपने बृहत आधुनिकीकरण की वर्तमान कोशिश के लिए हासिल करने का प्रयास किया। इस प्रकार चीन-सोवियत संबंधों में सुधारों और कुछ छोटी बाधाओं के बावजूद, चीनी-अमेरिकी संबंध 1980 के पूरे दशक में अच्छे रहे और राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सैन्य मामलों में आदान प्रदान और सहयोग के क्षेत्र में खासी प्रगति हुई। साथ ही, पश्चिम के साथ नजदीक के संबंध चीनियों को सोवियत संघ के साथ वार्ता की प्रक्रिया में युतिचालन की जगह देती थी।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) अमेरिका की तुलना में विश्व राजनीति में चीन की शक्ति पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित वाक्यों में से कौन सही हैं?

i) चीनी-सोवियत दरार के लिए जिम्मेदार कारणों में से एक था विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के नेतृत्व के लिए झगड़ा।

ii) 1949 से लगातार अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश का समर्थन किया।

iii) विश्व राजनीति में चीन का एक शक्ति होना मुख्यतः दोनों महाशक्तियों के साथ उसके संबंधों से जुड़ा हुआ है।

iv) अमेरिका ने ताईवान की राष्ट्रवादी ताकतों का कभी समर्थन नहीं किया।

16.5 चीन और तीसरी दुनिया

तीसरी दुनिया अफ्रीका, एशिया और लातिन अमेरिका के अल्पविकसित और विकासशील देश वह क्षेत्र हैं जहां चीन ने समय के साथ एक बड़ी शक्ति की भूमिका निभाई है। चीन ने तीसरी दुनिया के देशों के साथ उपनिवेशवाद और अल्पविकास के एक जैसे भोगे हुए अनुभवों के आधार पर गहरे संबंध बनाने की कोशिश की है। जैसा कि सर्वविदित है, तीसरी दुनिया शीतयुद्ध का मुख्य इलाका है, जिसमें दोनों महाशक्तियों ने इस इलाके में आर्थिक और सैन्य प्रभुत्व के लिए होड़ लगाए हैं। इस संदर्भ में, चीन की नीति रही है दोनों महाशक्तियों के प्रभुत्व का विरोध करना। चीन का मानना है कि विकास की प्रक्रिया में, तीसरी दुनिया भविष्य में दुनिया की शक्ति बन कर उभरेगा। अपनी नीतियों को इस भूमिका पर आधारित कर, चीन ने तीसरी दुनिया में एक बड़ी शक्ति की भूमिका अदा की है।

दरअसल, 1950 के दशक में चीन ने समाजवादी खेमे की बजाय खुद को तीसरी दुनिया के देशों के साथ ज्यादा चिन्हित करने की कोशिश की। चीनी क्रांति ने अफ्रीका, एशिया के कई देशों के राष्ट्रवादी भावनाओं को साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ उत्प्रेरणा प्रदान की। चीन ने 1955 में इंडोनेशिया में आयोजित बांडुंग सम्मेलन में भी बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया था और खुद को एक नरमपंथ राष्ट्र के रूप में दिखाने की कोशिश की थी, जो तमाम पक्षों से तमाम तरह के मुद्दों पर बातचीत करने को तैयार था जैसा कि उसके शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व (पंचशील) के सिद्धांत को अपनाने से जाहिर था। फिर भी, 1959 के शुरू से भारत चीन सीमा पर बढ़ते तनाव से इस दिशा में बाधा उत्पन्न हो गई। 1962 के चीनी आक्रमण ने तीसरी दुनिया के देशों को झटका दिया।

तीसरी दुनिया के देशों का दिल जीतने के लिए, 1960 के दशक में चीन ज्यादा मुखर हो गया जब उसने तीसरी दुनिया के देशों को दोनों महाशक्तियों के लुभावने तरीकों को निरस्त करने और विश्व राजनीति में उनकी पकड़ को न्यूनतम करने के लिए उकसाया। लिन बाओ ने खुलेआम विकासशील देशों को अमेरिकी साम्राज्यवाद और सोवियत संशोधनवाद, दोनों के खिलाफ एकजुट होने का आह्वान किया। फिर भी, सांस्कृतिक क्रांति के दौरान घरेलू मामलों में उलझे रहने के कारण उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की सामान्य गतिविधि से अलग रहना पड़ा। स्व-विकास के लिए शांति और कुछ ज्यादा वक्त लेने के लिए एक चालाकी भरी चाल में, माओ त्से तुंग की "तीन दुनिया के सिद्धांत" को पुर्नजीवित किया गया और इसे डेंग जियाओ पिंग द्वारा विस्तार से वर्णित किया गया (10 अप्रैल, 1974 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा के एक विशेष अधिवेशन में दिए गए भाषण में)। उनके अनुसार, दोनों महाशक्तियां 'पहली दुनिया' की द्योतक थीं, यूरोप के औद्योगीकृत देश, जापान और कनाडा जो महाशक्तियों के मित्र थे वह 'दूसरी दुनिया' के और नव-उपनिवेशवादी दबाव से पीड़ित विकासशील देश, 'तीसरी दुनिया' थे। चूंकि चीन एक समाजवादी और विकासशील देश है, अतः यह भी तीसरी दुनिया का हिस्सा है।

शुरू करने के लिहाज से, अमेरिका को इन दोनों में से ज्यादा शक्तिशाली और आक्रमणकारी कहा गया। 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के उपरान्त, सोवियत संघ को ज्यादा आक्रमणकारी कहा गया जबकि अमेरिकी शक्ति को वियतनाम में उसकी हार के आलोक में पतनोन्मुख कहा गया। परन्तु, अमेरिका में रीगन के सत्ता में आने के बाद चीनी अधिकारियों ने अमेरिकी शक्ति के पुनरुत्थान को पहचानने में गलती नहीं की। मजेदार बात यह है कि, तब से चीन ने "तीन दुनिया के सिद्धांत" की कोई चर्चा नहीं की है और उसकी स्वतंत्र विदेश नीति कम से कम सैद्धांतिक रूप से व्याख्यायित की जाती है। फिर भी, चीन तीसरी दुनिया में महाशक्तियों के प्रभुत्व का विरोध करता है।

चीन ने तीसरी दुनिया के कई देशों को उनकी जरूरतों पर ध्यान देते हुए मदद दी है। तीसरी दुनिया के देशों को चीनी सहायता हल्के उद्योगों, यातायात, कृषि, स्वास्थ्य, उर्जा इत्यादि पर केन्द्रित है। चीन ने तीसरी दुनिया के देशों के साथ कूटनीतिक संबंध उन्हीं

आधारों पर बनाए रखे हैं जिनके आधार पर वह आर्थिक मदद देता है। हालांकि, इसके दो अपवाद हैं–ताईवान और कुछ राज्य जो नस्लभेद की नीति का अनुसरण करते हैं (जैसे दक्षिण अफ्रीका)। इजराइल, मिस्र, पाकिस्तान, नेपाल आदि जैसे कुछ देशों ने भी चीन से सैन्य और सामरिक सहायता प्राप्त की है। फिर भी, दक्षिण-पूर्व एशिया, दक्षिण एशिया और हिन्द महासागर श्रेत्र चीनी प्रभुत्व के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। इसने चीन को एशिया के एक मुख्य क्षेत्रीय शक्ति के दर्जे तक उठा दिया है, एक विशेषता जिसके कारण मुख्य रूप से चीन की गिनती विश्व स्तर पर एक बड़ी शक्ति के रूप में होती है।

तीसरी दुनिया के क्षेत्र में एक शक्तिशाली राष्ट्र होने के नाते, चीनी लोक गणराज्य ने घरेलू गुटबाजी की राजनीति के विरुद्ध खड़े होने की अपनी क्षमता को साबित किया है और कम्युनिस्ट सिद्धांत से कठोर लगाव, व्यावहारिक नेतृत्व और अनुशासन के बल पर बाहरी हस्तक्षेप को विफल किया है। वह अभी भी लोकतांत्रिक कोलाहल को दूर रखे हुए है। उदाहरण के तौर पर, जून 1989 में चीन में छात्रों का एक विरोध प्रदर्शन हुआ जो काफी बड़ा था इस प्रदर्शन में यह स्पष्ट नहीं था कि यह किस चीज के समर्थन में है और किसके विरोध में। इस आंदोलन को क्रूर सैनिक कार्यवाही द्वारा कुचल दिया गया। जन मुक्ति सेना ने हजारों छात्रों को मार गिराया जो थियानमेन चौक में जमा थे। चीनी सरकार ने आंदोलन पर एक प्रति-क्रांतिकारी विद्रोह होने का आरोप लगाया है, जिसका लक्ष्य चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका और चीन में समाजवादी व्यवस्था को पलटना था। इसके अलावा, यह विद्रोह जैसा कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का आगे कहना है, पार्टी के भीतर के एक गुट द्वारा समर्थित था जिसका नेतृत्व उस वक्त के पदधारी महासचिव झाओ झियांग कर रहे थे। विभिन्न स्रोतों से विभिन्न तरह की अन्तर्राष्ट्रीय सहायता तुरंत आने लगी। परन्तु, दो वर्षों के उपरान्त पूरी घटना एक डरावनी तारीख जैसी लगती है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) गलत वक्तव्यों को चिन्हित करें।

i) चीन तीसरी दुनिया का हितैषी है।

ii) चीन तीसरी दुनिया में महाशक्तियों के प्रभुत्व के खिलाफ है।

iii) 1974 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में माओ त्से तुंग ने अपनी 'तीन दुनिया' के सिद्धांत की घोषणा की।

iv) तीसरी दुनिया में चीन के प्रभाव का मुख्य क्षेत्र अफ्रीका है।

2) माओ त्से तुंग के "तीन दुनिया" के सिद्धांत की संक्षिप्त व्याख्या करें।

16.6 सारांश

प्राचीन और मध्ययुग में चीन आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से फलाफूला। साम्राज्यवादी ताकतों के हमले ने चीन को अर्द्ध उपनिवेश में बदल दिया। 20 वीं सदी के शुरू में साम्यवाद के उत्थान के बाद, चीन एक बार फिर एक ताकत बन कर उभरा। शक्ति के तत्व जैसे भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, प्राकृतिक संसाधन, आर्थिक विकास, सैन्य शक्ति इत्यादि चीन को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए जिम्मेवार रहे हैं। बहुतेरी सीमाबद्धताओं के बावजूद, चीनी नेतृत्व ने इन कारकों का अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया। चीन की विदेश नीति दोनों महाशक्तियों के पारस्परिक संबंधों से नजदीक से जुड़ी हुई है, जो कई दौरों से गुजरा है। 1950 के दशक में, चीन सोवियत गुट की ओर झुका था, 1960 के दशक में वह विश्व राजनीति में विलगाव के दौर से गुजरा, 1970 के दशक में, अमेरिका के साथ मेल मिलाप हुआ और 1980 के दशक

में उसने स्वतंत्र विदेश नीति की ओर कदम बढ़ाये। चीनी नेतृत्व ने महाशक्तियों की तुलना में, सफलतापूर्वक जिस युक्तिचालन को कुशलतापूर्वक अपनाया और खेला, उससे इसे एक बड़ी शक्ति के रूप में ऊंचा दर्जा हासिल हुआ। अंत में, चीन ने तीसरी दुनिया की राजनीति में एक प्रमुख भूमिका निभाई और एक मुख्य एशियाई शक्ति होने के तथ्य का उपयोग आज के गिने जाने वाले एक विश्व शक्ति के रूप में उभरने के लिए किया।

16.7 शब्दावली

गठबंधन : राज्यों के बीच समझौता जिसमें किसी सदस्य पर आक्रमण के वक्त एक दूसरे की मदद करना, या परस्परिक हितों को आगे बढ़ाना आदि शामिल हों।

सांस्कृतिक क्रांति : माओ त्से तुंग के अनुयायियों द्वारा अपने कल्पनाशील लोकप्रिय संघर्ष को मध्य 1960 के दशक में दिया गया नाम जो जीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रांतिकारी हितों के साथ गद्दारी और संशोधन के खिलाफ थी।

भू राजनीति : विदेश नीति में एक उपागम जो राजनीतिक आचरण और सैन्य क्षमताओं को व्यक्ति के प्राकृतिक वातावरण के रूप में व्याख्यायित करता है और पूर्वानुमान लगाता है।

प्राधान्य : एक राज्य का दूसरे राज्य या क्षेत्र पर गुरूत्तर प्रभाव या नियंत्रण।

माओवाद : मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ त्से तुंग द्वारा विकसित नीतियों की व्याख्या।

मध्य-साम्राज्य : चीनी संप्रभुता या कम से कम चीनी अधिराज्य या सर्वोच्चता के तहत पारंपरिक दावा वाले क्षेत्र।

पुनर्मेल : प्रतिद्वन्द्वी राज्यों के बीच शत्रुतापूर्ण संबंधों के बाद हितों का सामंजस्य, राज्यों के बीच मित्रता का नवीकरण।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चेन, किंग सी., एड., 1979. **चाईना एण्ड दी थ्री वर्ल्ड** : ए फॉरेन पॉलिसी रीडर, मैकमिलन : लंदन।

हार्डिंग, हैरी, एड., 1984. **चाईनीज फॉरेन रिलेशन्स इन दी 1980s**, येल युनिवर्सिटी : न्यूयार्क।

हसियुंग, जेम्स सी. एण्ड किम सेमुएल एस., एड., 1980. **चाईना इन दी ग्लोबल कम्युनिटी**, प्रेइगर, न्यूयार्क।

कपूर, हरीश, एड., 1985. **एण्ड आफ आइसोलेशन : चाईना आफ्टर माओ**, मार्टीनस निजहौफ : डार डरेच।

सीगल, जेराल्ड, 1985. **डिफेन्डिंग चाईना**, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी : न्यूयार्क।

यहूदा, माईकल, 1983. **टुवर्डस् दी एण्ड ऑफ आईसोलेशनिज्म** : चाईनीज फॉरेन पॉलिसी आफ्टर माओ, मैकमिलन : लंदन।

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 16.2.2 देखें।

2) ii)

बोध प्रश्न 2

1) iii)

2) उप-भाग 16.3.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 16.4.2 देखें।

2) i) और iii)

बोध प्रश्न 4

1) iii) और iv).

2) भाग 16.5 देखें।

इकाई 17 विउपनिवेशीकरण, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और तृतीय विश्व का उद्भव

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 विउपनिवेशीकरण–मुख्य कारण
  17.2.1 राष्ट्रीय आंदोलन
  17.2.2 अंतर्राष्ट्रीय कारक
17.3 विउपनिवेशीकरण
  17.3.1 विउपनिवेशीकरण के तरीके
17.4 तीसरी दुनिया का उद्भव
  17.4.1 तीसरी दुनिया: अर्थ और विशेषताएं
  17.4.2 अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तीसरी दुनिया
17.5 सारांश
17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

यह इकाई विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया और तीसरी दुनिया के उद्भव का अवलोकन करती है। साथ ही, यह औपनिवेशिक साम्राज्यों के तीव्र विश्रृंखलन के मुख्य कारणों तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में तीसरी दुनिया की भूमिका पर भी प्रकाश डालती है। इस इकाई के अध्ययन के बाद, आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- विउपनिवेशीकरण के मुख्य कारणों को जान सकें,
- राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों एवं राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में अंतर कर सकें,
- तीसरी दुनिया का अर्थ और उसकी विशेषताओं का वर्णन कर सकें, और
- अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तीसरी दुनिया की भूमिका का वर्णन कर सकें।

17.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कुछ साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा शासित थीं जिन्होंने समूचे एशिया और अफ्रीका पर नियंत्रण व शासन स्थापित किया। यहाँ तक कि 1945 में जब राष्ट्रों के आत्म-निर्णय एवं सम्प्रभुतावादी समानता के आधारभूत सिद्धांत पर संयुक्त राष्ट्रसंघ बनाया गया, तो इसकी सहायता सिर्फ उन 50 देशों को ही दी गई, जिनसे मिलकर "लीग ऑफ नेशन्स" बनी थी। परन्तु जल्दी ही यह संतुलन बदल गया। कुछ दशकों के संक्षिप्त अंतराल के पश्चात् लगभग तीन चौथाई मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाले सौ से अधिक राष्ट्रों ने स्वतंत्रता और राजनीतिक मुक्ति पाई, जो कि लिखित इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। इन नये देशों की संख्यात्मक शक्ति, इनकी समस्याओं की प्रकृति (गरीबी, भूख, अविकसित अवस्था और राष्ट्र निर्माण) और आकांक्षाओं (समानता और सम्मान पर आधारित विश्व व्यवस्था) को देखते हुए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को सिर्फ विश्व मामलों के पारम्परिक नायक देशों, अर्थात् पश्चिमी राज्यों, तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। विकासशील देशों की समस्याएं और आकांक्षाएं शीघ्र ही ध्यानाकर्षण का केन्द्र बिंदु बन गई हैं।

इस इकाई में हम विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया या उपनिवेशीय साम्राज्यों के सिमटने; उपनिवेशों, राष्ट्रीय आंदोलनों की प्रकृति तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में उभरते नये देशों की भूमिका और उद्भव का परीक्षण करेंगे।

17.2 विउपनिवेशीकरण–मुख्य कारण

आधुनिक विश्व इतिहास की एक उल्लेखनीय विशेषता पश्चिमी औपनिवेशिक साम्राज्यों का तीव्र गति से विलुप्त होना है। 1939 में, वे शिखर पर थे और उन्होंने गत चार सौ वर्षों से एशिया और अफ्रीका के लगभग हर देश के लोगों को किसी न किसी प्रकार की आर्थिक एवं राजनीतिक अधीनता के द्वारा अपने शिकंजे में जकड़ रखा था। फिर भी, तीन दशकों के छोटे से काल में, यथार्थ में, औपनिवेशिक साम्राज्य मिट गये।

विउपनिवेशीकरण या पश्चिमी औपनिवेशिक साम्राज्यों के विश्रृंखलन के दो मुख्य घटक हैं–एक शासित लोगों द्वारा स्वाधीनता की माँग और दूसरा, औपनिवेशिक शक्तियों की कायम रहने की अनिच्छा या अयोग्यता। विउपनिवेशीकरण या स्वतंत्रता की प्राप्ति मुख्यतः उपनिवेशों के लोगों के संघर्ष का परिणाम था। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बदलते अंतर्राष्ट्रीय समीकरणों ने उपनिवेशवादी शक्तियों को कमजोर करके औपनिवेशिक व्यवस्था को मिटाने में तीव्र गति प्रदान की। धुरी राष्ट्र जर्मनी, इटली और जापान हार गए और मित्र राष्ट्र हालांकि जीते, परन्तु उनके प्रभाव और शक्ति को बड़ी मात्रा में ह्रानि पंहुंची। युद्ध के बाद सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका महाशक्तियां बनकर उभरे। अपनी-अपनी प्रभाव-परिधि बढ़ाने के लिए इन दोनों ने जबरदस्त राजनीति और विचारधारात्मक संग्राम छेड़ दिया। फलस्वरूप इन दोनों महाशक्तियों के लिए औपनिवेशिक व्यवस्था का पक्ष लेना दूभर हो गया, क्योंकि उपनिवेशों में सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन आरम्भ हो गए थे। अब हम इन कारकों का विस्तार से अवलोकन करेंगे।

17.2.1 राष्ट्रीय आंदोलन

एशिया, अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र में पश्चिमी औपनिवेशिक साम्राज्यों का मिटना, मुख्य रूप से पश्चिमी उपनिवेशवादियों और साम्राज्यवादियों के विरुद्ध उभरे राष्ट्रवादी विद्रोह का परिणाम था। कई उपनिवेशों में तो आधिपत्य के समय से ही औपनिवेशिक शासन का विरोध आरम्भ हो गया था। हालांकि, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों ने 19वीं सदी के अंतिम दशकों में, राष्ट्रवाद जागृत होने पर ही जोर पकड़ा। उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रवाद के विकास के लिए वस्तुपरक ऐतिहासिक परिवेश पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दासता और नस्लवादी भेदभाव की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुआ। दूसरी ओर, वर्ग चरित्र और राष्ट्रीय विचारधारा की व्यापक विशेषताएं उपनिवेशों में उत्पादन के उपनिवेशवादी संबंधों की विशिष्ट विशेषताओं से निर्धारित होतीं हैं।

व्यापक औपनिवेशिक संदर्भ में, दो तरह के साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन विकसित हुए। इन्हें "राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन" और "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन" कहा जा सकता है। प्रथम प्रकार का साम्राज्यवाद विरोध "राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन" था। ये आंदोलन विदेशी सरकार के स्थान पर देशी सरकार स्थापित करने के पक्षधर थे और स्वाधीनता के बाद एक मजबूत राष्ट्र बनाना चाहते थे। स्वतंत्रता के पश्चात् औपनिवेशिक समाजों के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में उनकी रुचि कम या गौण महत्व की थी। इस पर प्रत्यक्षतः बुर्जुआ, बुद्धिजीवियों, और व्यवसायियों के एक नए वर्ग का प्रभुत्व था। परन्तु, वास्तव में, इस पर उन बड़े बुर्जुआ लोगों का नियंत्रण था, जिनकी आर्थिक मदद से आंदोलन चल रहा था। इसमें उभरता पूंजीवादी वर्ग और बड़े जमींदार शामिल थे। इस प्रकार का राष्ट्रवाद द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में आया, और ये ही नये राष्ट्रों के राजनीतिक शासक बने।

उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में पनपने वाला दूसरे प्रकार का साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन" है। इस प्रकार का आंदोलन अपेक्षाकृत विलम्ब से प्रारम्भ हुआ। यह आंदोलन विदेशी शासन की समाप्ति और सामाजिक-आर्थिक संबंधों में क्रांतिकारी पुनर्निर्माण करने में समान रुचि रखता था। "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन" विश्व

क्रांतिकारी प्रक्रिया का तीसरा घटक माना गया। प्रथम घटक विश्व समाजवादी व्यवस्था (साम्यवादी दल द्वारा शासित देश) तथा द्वितीय घटक पूंजीवादी देशों में मजदूर दल का क्रांतिकारी आंदोलन है। सामान्य तौर पर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन मजदूर, किसानों और छात्रों के संगठनों पर आधारित क्रांतिकारी बुर्जुआ तत्वों द्वारा चलाए गए। इन आंदोलनों का बुनियादी संघर्ष बड़े देशों के बुर्जुआओं से था।

विदेशी प्रभुत्व या साम्राज्यवादी प्रभुत्व की समाप्ति पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में एकमतता है। परन्तु, यह सिर्फ एक रणनीतिक सहमति है। औपनिवेशिक काल में और उसके बाद भी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में समाज के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रश्न पर अलग-अलग रुख रहा है। अधिकांश उपनिवेशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन ही प्रबल रहा। विश्व के कुछ भागों में यथा, हिन्द-चीन, उत्तरी अफ्रीका, अफ्रीका के पुर्तगाली उपनिवेश, दक्षिणी अफ्रीकी देशों में उपनिवेश विरोधी और साम्राज्य विरोधी संघर्षों ने तीव्रता से राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का रूप ले लिया। चीन, वियतनाम, घाना, क्यूबा, निकारागुआ, और अंगोला में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने सामाजिक आर्थिक पुनर्रचना का प्रयास किया और नव-उपनिवेशवाद के प्रति गैर समझौतावादी दृष्टिकोण के लिए जाने गए। दूसरे नए उभरते देशों में वे विपक्ष में और राष्ट्रीय राजनीति में छोटी भूमिका निभा रहे हैं।

यद्यपि, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया का हिस्सा माना जाता है, समाजवादी गट और तीसरे विश्व का उनके प्रति दृष्टिकोण आश्चर्यजनक रूप से अस्पष्ट रहा है। उत्तर-स्टालिन काल में, सामान्य तौर पर सोवियत संघ ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को समर्थन देने के बजाय तनावशैथिल्य की नीति को तेज करने पर अधिक जोर दिया। प्रत्येक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन ने साम्राज्यवाद से लड़ने की अपनी अलग राह बनाई। दूसरी ओर, तीसरे विश्व की बढ़ती हुई बहुविध और बहुभाषी प्रकृति ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के प्रति एकीकृत रुख को उभरने में बाधा पहुंचाई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कई नये राज्यों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व भी शासन में आया। पूर्व-उपनिवेशवादियों से उनके सम्पर्क और सशस्त्र संघर्षों से उनकी विरक्ति ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को बिना शर्त समर्थन देने में बाधा खड़ी की।

17.2.2 अंतर्राष्ट्रीय कारक

दो घटनाओं ने, यथा, महान अक्टूबर क्रांति और सोवियत संघ का बड़ी शक्ति के रूप में उभरना औपनिवेशिक व्यवस्था को कमजोर करने में एक महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय निमित्त का काम किया। समाजवाद साम्राज्यवाद के प्रतिकूल था। इसी कारण सोवियत संघ ने उपनिवेशों में स्वतंत्रता आंदोलनों को पूरा समर्थन दिया। यद्यपि युद्ध के दौरान सोवियत संघ कमजोर और अलग-अलग था, परन्तु उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों की स्वतंत्रता के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न बनाने में वह सफल रहा। उपनिवेशों में तथा पश्चिमी समाज के कुछ भागों में समाजवादी विचारों की बढ़ती लोकप्रियता ने भी साम्राज्यवाद के पतन में गहरी भूमिका निभाई। परिणामस्वरूप, उपनिवेशवादी शक्तियों के अंदर ही स्वतंत्रता आंदोलनों से सहानुभूति रखने वाले तबके उभर आए। अतः औपनिवेशिक शक्तियों के पास अपने साम्राज्यों के औचित्य ठहराने का कोई नैतिक बल शेष न रह गया।

अक्तूबर क्रांति और समाजवादी देशों के उभरने का एक और रोचक परिणाम यह निकला कि स्वतंत्रता आंदोलनों के उद्देश्य व्यापक हो गए। यह तो हम जान ही चुके हैं कि कितने उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन प्रभावी रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध

उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों पर द्वितीय विश्वयुद्ध का वैसा ही प्रभाव पड़ा, जैसा कि नेपोलियन के युद्धों का अमेरिका में स्पैनिश और पुर्तगाली उपनिवेशों पर पड़ा था। युद्ध ने न सिर्फ उपनिवेशों के बीच आंतरिक सम्पर्कों को कमजोर किया, विशेषतः एशिया में, बल्कि औपनिवेशिक शक्तियों की प्रतिष्ठा व प्रभाव को भी कम किया। 1940 से 1945 के दौरान फ्रांस, बेल्जियम और हॉलैंड का इनके अधीन राज्यों से संबंध विच्छेद रहे। यहाँ तक कि जापान ने भारत के पूर्वी ओर के सारे यूरोपीय अधीन क्षेत्रों पर और उत्तरी न्यू

गुयाना पर आधिपत्य जमा लिया। हालांकि, दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ देशों में राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रकर्त्ता के रूप में जापानियों का स्वागत किया, परन्तु सामान्यतः जापानी आधिपत्य के खिलाफ प्रतिक्रिया ही हुई। लेकिन इस प्रतिक्रिया का उद्देश्य जापान की हार के बाद पूर्ण स्वतंत्रता ही थी, न कि साम्राज्यवादियों की वापसी। अतः यद्यपि उपनिवेशवादियों ने जापान की हार के बाद पुनः आधिपत्य जमाना चाहा, परन्तु अब अपने पूर्ण उपनिवेशवादी शासन को पुनर्स्थापित करना उनके लिए संभव न था। उन्हें आने वाले कुछ वर्षों में अपने अधीन राज्यों को स्वतंत्रता देनी ही पड़ी।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने भी यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों की आर्थिक सैनिक क्षमता को धक्का पहुंचा कर विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में अपना योगदान दिया। धुरी राष्ट्रों जर्मनी, इटली व जापान की हार ने तो उन्हें झकझोर ही दिया, साथ ही मित्र राष्ट्रों विशेषतः ब्रिटेन व फ्रांस को विजेता होने पर भी अत्यधिक प्रभाव और शक्ति गंवानी पड़ी। उनके स्थान पर सोवियत संघ और अमेरिका महाशक्ति बनकर उभरे, दोनों ने एक उपनिवेशवाद-विरोधी विरासत पाई थी। दोनों ने अपने-अपने तरीकों से विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को गति दी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण का आधार आत्म-निर्णय और राष्ट्रों की सम्प्रभुतावादी समानता थी। "उपनिवेशवाद के विस्थापन" में संयुक्त राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संयुक्त राष्ट्र संघ के संस्थापकों ने विउपनिवेशीकरण की बढ़ती हुई माँग को पहचान लिया था। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र के प्रभुत्व अंग के रूप में न्यास परिषद् बनाई गई, जिसका कार्य औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा शासित क्षेत्रों को प्रशासित करना तथा उन्हें स्वशासन तथा स्वतंत्रता के लिए तैयार करना था। इस औपनिवेशिक प्रावधान के अलावा उपनिवेशवाद हटाने में संयुक्त राष्ट्र के नये सदस्यों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। इस बढ़ती हुई संख्या का लाभ उठाते हुए 1960 में नये उभरते हुए देशों ने औपनिवेशिक क्षेत्रों तथा लोगों की स्वतंत्रता के लिए ऐतिहासिक घोषणापत्र की राह सुरक्षित कर ली। इसमें घोषत किया गया कि किन्हीं भी लोगों का विदेशी प्रभुत्व के अधीन होना आधारभूत मानवाधिकारों का हनन है और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रतिकूल है तथा सभी अधीन लोगों को तुरन्त और पूरी स्वतंत्रता पाने का अधिकार है।

इस उपनिवेशवाद-विरोधी घोषणा का महत्वपूर्ण पहलू यह था कि एक भी देश ने इसके खिलाफ मत नहीं दिया। यह वास्तव में, एक वैचारिक विजय थी और पुरानी व्यवस्था के समर्थकों ने भी उपनिवेशवाद का समर्थन नहीं किया।

राष्ट्रीय आंदोलनों की एकजुटता

नये देशों के ढीले-ढाले संगठन के उद्भव को बल देने वाला एक और रोचक विकास यह था कि एशिया व अफ्रीका के विभिन्न हिस्सों में राष्ट्रीय आंदोलनों ने एकता प्राप्त कर ली। परिणामस्वरूप, एक देश के उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन ने दूसरे देशों में उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी राजनीतिक व्यवस्था को समर्थन दिया।

इस संदर्भ में उन देशों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही, जिन्होंने पहले ही स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। उदाहरणस्वरूप, युद्ध के तुरंत बाद स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले भारत, पाकिस्तान, इंडोनेशिया आदि जैसे देशों ने इस तरह के दूसरे राष्ट्रीय आंदोलनों को बेहिचक पूरा समर्थन दिया। छठें दशक के आरम्भ में, फ्रांसिसी उपनिवेशवाद के विरुद्ध वियतनामी लोगों के संघर्ष को नवस्वतंत्र एशियाई देशों ने समर्थन दिया। इसी प्रकार घाना जैसे देशों ने, जिन्होंने छठे दशक में स्वतंत्रता पाई, दूसरे अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता आंदोलनों का समर्थन किया। वास्तव में, 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ में उपनिवेशवाद विरोधी घोषणा उपनिवेश विरोधी राष्ट्रीय आंदोलनों की एकजुटता का एक अच्छा उदाहरण है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गये उत्तरों से अपने उत्तर को मिलाएँ।

1) राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में द्वितीय विश्वयुद्ध ने किस प्रकार योगदान दिया ?

.....

.....

.....

.....

.....

17.3 विउपनिवेशीकरण

औपनिवेशिक व्यवस्था पहले एशिया और फिर अफ्रीका से धीरे-धीरे विलुप्त हो गई। विउपनिवेशीकरण की पहली लहर द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद चली। 1946 में फिलीपीन्स सम्प्रभु राज्य बना तथा जोर्डन और सीरिया भी ब्रिटेन या फ्रांसिसी प्रभाव के अधीन न रहा। 1947 में भारत और पाकिस्तान स्वतंत्र हुए। 1949 में नीदरलैंड ने इंडोनेशिया को स्वतंत्र सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में मान्यता दी। उसी वर्ष फ्रांस ने लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम को सम्प्रभुता सौंपी, लेकिन ये 1954 तक फ्रांसिसी संघ में रहे। लीबिया, जो कि 1951 में इटली द्वारा हार जाने के बाद से ब्रिटिश व फ्रांसिसी सैनिक नियंत्रण में था, की स्वंतत्रता के साथ विउपनिवेशीकरण का प्रथम चरण समाप्त हुआ। यद्यपि हर स्थान पर उपनिवेश विरोधी आंदोलन जारी थे, लेकिन यूरोप फिर भी आश्वस्त नहीं था कि साम्राज्यवाद नैतिक रूप से आपत्तिजनक है। अतः औपनिवेशिक शक्तियों ने राष्ट्रीय माँगों को न्यायसंगत रियायतें देकर दबाने की कोशिशें कीं।

विउपनिवेशीकरण का दूसरा चरण छठे दशक के मध्य में आरम्भ हुआ, जबकि मोरक्को और टयूनीशिया ने फ्रांस से अपने संबंध तोड़ लिये और फ्रांसिसी संघ त्याग दिया। उसी वर्ष, ब्रिटेन ने सूडान छोड़ दिया और 1957 में मलाया एक सम्प्रभु राज्य बन गया। वैसे इसमें से कोई भी बड़ी रियायत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ये सभी राज्य पहले से ही बहुत स्वायत्तता का उपभोग कर रहे थे, यद्यपि ये फ्रांस या ब्रिटेन के संरक्षण में थे।

विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण घटना 1957 में गोल्ड कोस्ट (जो बाद में घाना कहलाया) की स्वतंत्रता है। इस घटना ने विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के अंतिम चरण को प्रारम्भ किया और सिद्ध किया कि शासन करने की यूरोपीय इच्छा अब चुक गई है। घाना एक उष्णकटिबंधीय अफ्रीकी उपनिवेश था, जिसे 1945 तक एकता और स्वतंत्रता प्राप्त न थी। यह देश अपनी आर्थिक सम्पदा का ऋणी था और उससे भी ज्यादा अपने राष्ट्रवादी नेता क्वामे नक्रूमा का ऋणी था। क्वामे नक्रूमा ने ब्रिटेन के लिए उपनिवेशवादी शिकंजे को कसे रखना असंभव बना दिया। नक्रूमा को 1951 में प्रधानमंत्री नियुक्त करना, वास्तव में, एक युगीन घटना थी, क्योंकि इसने सारे अफ्रीका में राष्ट्रीय आंदोलन जागृत कर दिया।

अगला बड़ा कदम 1958 में फ्रांसीसी उपनिवेशों द्वारा उठाया गया जिनमें फ्रांस को फ्रांसिसी समुदाय ने ही इन्हें स्वतंत्रता देने पर मजबूर कर दिया। केवल फ्रांस गुयाना ने स्वतंत्रता की इच्छा रखी। दो वर्षों बाद, फ्रांसीसी साम्राज्य का अधिकांश हिस्सा स्वतंत्र हो गया। पश्चिम के राज्य संघ और इक्वीटोरियल अफ्रीका कई राज्यों में बंट गए, उनमें से कइयों ने फ्रांस से और एक दूसरे के साथ विशेष संबंध बनाए रखे। आइवरी कोस्ट, डाकोनी, अपरबोल्टा, सेनेगल, मौरिटानां, नाइजर, माली, गाबन, सेंट्रल अफ्रीकन रिपब्लिक ऑफ चाड, टोगो तथा केमरून (अंतिम दोनों न्यास क्षेत्र) सभी स्वतंत्र हो गए 1960 में ब्रिटेन ने नाइजीरिया को भी

मुक्त किया। ब्रिटिश और इटालियन सोमालीलैंड मिलकर सोमाली गणराज्य बन गया और बेल्जियम कांगो स्वतंत्र बन गया। 1961 में जमैका, त्रिनिदाद, टोबैगो और युगांडा भी ब्रिटिश नियंत्रण से स्वतंत्र हुए। उसी वर्ष फ्रांस ने अल्जीरिया में अपना लम्बा युद्ध समाप्त किया और उसे स्वतंत्रता प्रदान की। 1963 में ब्रिटेन ने जंजीबार और केन्या को भी मुक्त किया।

फिर भी, आइबेरियन राज्यों स्पेन और पुर्तगाल ने, विउपनिवेशीकरण को कम महत्व दिया था। जिन विचारधारात्मक प्रभावों ने ब्रिटिश, फ्रांसिसीयों, डच और अमेरिकी प्रजातंत्र समर्थकों को उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादियों के दावों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया, उसने इन अत्यधिक रूढ़िवादी आइबेरियन समाजों को प्रभावित नहीं किया। विशेषतः पुर्तगाल अभी भी विद्रोही आंदोलनों के दमन और पुर्तगाली अफ्रीका को शिकंजे में दबाए रखने की कोशिश में था। दस वर्षों बाद, दोनों आइबेरियन राज्यों को अपना आधिपत्य त्यागना पड़ा। पुर्तगाल के रूढ़िवादी तानाशाह शासकों के लिए उपनिवेशों की हानि एक बड़ी हानि थी। गुयाना बिस्साऊ और मोजाम्बिक में विद्रोही आंदोलनों के दमन ने वैसे ही पुर्तगाली समाज और अर्थव्यवस्था को दयनीय बना दिया था। अतः पुर्तगाल अंदरूनी कमजोरियों से लड़ने में भी शक्तिहीन बनने लगा। इसलिए एक ऐसे ही नाटकीय भंवर में, वामपंथी सैनिक तंत्र ने 1974 में सामोजा की तानाशाही को उखाड़ फेंका और सत्ता हथिया ली।

नवें दशक की शुरूआत में, पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों द्वारा विउपनिवेशीकरण ने भूराजनीति में एक विरोधाभासी स्थिति पैदा कर दी। अमेरिका और सोवियत संघ ने उस रूप में साम्राज्यवाद बहुत पहले छोड़ दिया था, जैसा कि दूसरे राष्ट्र करते थे, विशेष तौर से 1945 के बाद। लेकिन अब साम्राज्यवाद इन्हीं दो महाशक्तियों के माध्यम से जीवित है। औपनिवेशिक सम्पत्ति के अर्थ में, अमेरिका को दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा कम हानि हुई। प्रशांत क्षेत्र में, पोर्टोरिको, वर्जिन द्वीप समूह, गुआम और सामोआ, भूतपूर्व जापानी न्यास क्षेत्र (पोनाप्लाई, मार्शल द्वीप समूह, पालान्स आदि) में अमेरिकी नियंत्रण दसवें दशक तक भी जारी है। दूसरी ओर सोवियत संघ भी 1944 से पूर्व के एशियाई अधीन राज्यों को तथा 1945 में प्राप्त किए गए पूर्वी यूरोपीय राज्य क्षेत्रों को अपने में समाहित किए हुए है। ग्लसनोस्त और पेरेस्त्रोइका के फलस्वरूप् सोवियत संघ में आ रहे नए परिवर्तन सोवियत साम्राज्यवाद के विश्रृंखलित होने के सूचक हैं।

17.3.1 विउपनिवेशीकरण के तरीके

विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया न सिर्फ उल्लेखनीय रूप से तीव्र थी, बल्कि विश्व के अधिकांश भागों में यूरोपीय औपनिवेशिक ताकतों द्वारा उनके उपनिवेशों को शक्ति का हस्तांतरण बहुत शांतिपूर्ण तरीके से सम्पन्न हुआ। ऐसा होने का कारण यह भी था कि द्वितीय विश्वयुद्ध ने सैनिक आर्थिक रूप से इन औपनिवेशिक शक्तियों की कमर तोड़ दी थी और उन्हें साम्राज्य बनाए रखना दूभर लग रहा था। दूसरी ओर यह भी महत्वपूर्ण है कि उपनिवेशवाद विश्व में राजनीतिक संगठन का एक अस्वीकृत रूप बनता गया, जिसने उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन का पुनरूत्थान सारे महाद्वीपों पर देखा।

यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि हालांकि वास्तविक शक्तियों का हस्तांतरण शांतिपूर्ण तरीके से हुआ, परन्तु इन उपनिवेशों ने एक लम्बे संघर्ष के बाद ही स्वतंत्रता पाई। ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जहां स्वतंत्रता बहुत लम्बे और दुरूह सशस्त्र संघर्ष के बिना हासिल हुई। जैसे, हिन्द-चीन में शीतयुद्ध ने विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बाधित किया और इसीलिए सशस्त्र संघर्ष फैला। दूसरी जगहों-अल्जीरिया, रोडेशिया (जिम्बाब्वे) और पुर्तगाली उपनिवेशों पर लम्बा हिंसक संघर्ष एक अपरिहार्यता बन गई, क्योंकि औपनिवेशिक शक्तियां स्थानीय लोगों को स्वतंत्रता देने के लिए तैयार न थीं। अतः यद्यपि अधिकांश उदाहरणों में उपनिवेशों को शांतिपूर्वक शक्ति हस्तांतरित कर दी गई, परन्तु साम्राज्यवाद के विरुद्ध हिंसक संघर्ष भी अनुपस्थित नहीं था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर को मिलाएं।

1) उन मुख्य कारकों का उल्लेख करें, जिनके कारण उपनिवेशों को शांतिपूर्वक शक्ति हस्तांतरित की जा सकी।

.....

.....

.....

.....

.....

17.4 तीसरी दुनिया का उद्भव

विउपनिवेशीकरण के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बुनियादी तौर पर बदल गई। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर चंद सम्पन्न यूरोपीय देशों का प्रबल प्रभाव था, जिन्होंने सारे अफ्रीका, मध्यपूर्व, दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया तथा प्रशांत क्षेत्र पर शासन या नियंत्रण स्थापित किया। विउपनिवेशीकरण से, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक शक्तियों का नाटकीय फैलाव सामने आया। तीसरी दुनिया के अधिकांश नये, कमजोर परन्तु सामान्य तौर पर स्वाभिमानी देश अस्तित्व में आए। इन नये देशों के लोगों की समस्याएं और आकांक्षाएं तुरंत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में ध्यान का केन्द्र बन गईं। दूसरी ओर औपनिवेशिक किलों के ढहने की प्रक्रिया ने पहले शीर्ष पर रहने वाले देश को उनकी उच्च स्थिति से वंचित कर दिया, क्योंकि अधिकांश शक्ति वे अपने साम्राज्यवादी आधिपत्य के कारण हथियाए हुए थे। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन को सातवें दशक में स्वेज के पूरब क्षेत्र से अपनी भूमिका को समेटना पड़ा, क्योंकि भारत खोकर उसने बड़ी हानि उठाई थी। ब्रिटेन को भी फ्रांस के समान अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा गंवानी पड़ी, जबकि सोवियत संघ और अमेरिका विश्व मंच पर दो महाशक्तियों के रूप में उभरे।

17.4.1 तीसरी दुनिया : अर्थ और विशेषताएं

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के नये उभरते और विकासशील देशों को ही सामान्य तौर पर तीसरी दुनिया का देश कहा जाता है। विकसित पश्चिमी औद्योगिक देशों को "पहली दुनिया" तथा यूरोप के समाजवादी समूह के देशों को "दूसरी दुनिया" कहा जाता है। तीसरी दुनिया के देशों में दो समान विशेषताएं हैं—प्रथम, समस्याओं की समान प्रकृति यथा गरीबी, भूख, निम्नविकास दर, जातीय संघर्ष आदि, और दूसरे, संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे मंचों पर उपनिवेश विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी तेवर के बारे में एवं अन्य मुद्दों पर समान विचार दृष्टि।

जब 1952 में फ्रांसिसी जन सांख्यिकी विशेषज्ञ एलफ्रेड सौवी ने "तीसरी दुनिया" शब्द का पहली बार प्रयोग किया, तब इसका अर्थ राजनीतिक था। नये उभरते देशों को विश्व में एक विशिष्ट राजनीतिक समूह माना गया। अधिकांश पूर्व उपनिवेशों ने किसी भी शक्ति गुट से संलग्न होने से इंकार कर दिया। शक्ति गुट दो ही थे—पश्चिमी पूंजीवादी गुट और पूर्वी समाजवादी गुट—इन्हीं में दुनिया बंटी हुई थी। इन दो गुटों को पहली दुनिया और दूसरी दुनिया कहा गया। "तीसरी दुनिया" शब्द का प्रयोग इस नये उभरते राजनीतिक समूह के लिए किया गया, जो दोनों शक्ति गुटों से अलग हों।

कालान्तर में, तीसरी दुनिया शब्द ने आर्थिक आयाम भी ग्रहण किया। उदाहरणार्थ—सातवें दशक के आरम्भ में संयुक्त राष्ट दस्तावेज में विश्व को तीन भागों में बांटा गया—विकसित निजी अर्थव्यवस्थाएं, केन्द्र नियोजित अर्थव्यवस्थाएं और प्राथमिक माल उत्पादक विकासशील अर्थव्यवस्थाएं। तीसरी दुनिया को इसी दृष्टि से देखा गया। कच्चा माल उत्पादित करने वाली जो विकासशील अर्थव्यवस्थाएं हैं, जिनमें निम्न औद्योगीकरण हुआ है तथा जो कम विकसित दर की हैं एवं प्रथम विश्व और द्वितीय विश्व की अर्थव्यवस्थाओं पर आश्रित हैं, उन्हें "तीसरी दुनिया" माना गया।

अतः तीसरी दुनिया केवल राजनीतिक रूप से भिन्न देशों का समुदाय नहीं है, जो कि पूंजीवादी या समाजवादी प्रजातंत्रों से भिन्न हो। वास्तव में, उनकी आर्थिक परिस्थितियां

और अधिक गौर तलब हैं। वे सभी विकासशील देश हैं और गरीब, भूख, निरक्षरता व नस्लवाद जैसी आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि तीसरी दुनिया कोई समरूपी समूह है। तीसरी दुनिया में तीन महाद्वीपों के लोग समाहित हैं और तानाशाही से प्रजातंत्र तक राजनीतिक व्यवस्था और विचारधाराओं के विभिन्न प्रकार एवं समाजवाद और पूंजीवाद के विभिन्न रूप यहां पाए जाते हैं। उनके विकास के स्तर में भी बहुत विविधता है। इनमें कई देश महत्वपूर्ण आर्थिक क्षमता वाले हैं जैसे, अर्जेंटाइना, मिस्र, ईरान, मेक्सिको, नाइजीरिया, दक्षिण कोरिया, ताइवान आदि, तथा कई देशों की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है—जैसे बंगला देश, चाड, हैती, जैरे आदि। इसके अलावा इनकी विदेश नीतियों में भी पर्याप्त विभिन्नता विद्यमान है। कई देश दोनों शक्ति गुटों में से किसी एक के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं तथा कई ऐसे भी हैं, जिन्होंने दोनों गुटों से पर्याप्त दूरी बनाए रखा है। फिर भी, तीसरी दुनिया के कई देशों में आपस में भी शत्रुता और विद्वेष है। इसी कारण कई तरह के क्षेत्रीय, जातीय, धार्मिक तथा अन्य विवाद आकार लेते रहते हैं, जो कि अधिकांशतः औपनिवेशिक काल की विरासत हैं।

17.4.2 अंतर्राष्ट्रीय मामलों में तीसरी दुनिया

पिछले अनुभाग में हमने देखा कि तीसरी दुनिया कोई समरूपी समूह नहीं है, इसमें आर्थिक और राजनीतिक विविधताएं हैं और आपसी विवाद हैं। इसके बावजूद भी, तीसरी दुनिया के उभरते देशों ने विश्व मंचों पर समन्वय के साथ कुछ कार्य आरम्भ कर दिए हैं तथा सातवें दशक से ही वे विश्व में एक तीसरे बड़े राजनीतिक समूह के रूप में उभरे हैं। अपनी तमाम विभिन्नताओं के बावजूद, अपने अतीत के कारण तीसरी दुनिया के देशों ने सहयोग किया, क्योंकि उन्होंने पश्चिमी साम्राज्यवादी शोषण को समान रूप से भुगता था और क्योंकि उनकी स्वतंत्रता संघर्ष का एक सूत्रबद्ध इतिहास रहा था। औपनिवेशिक काल में पश्चिमी साम्राज्यवाद और नस्लवाद का शिकार होने के कारण, वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन बुराइयों के कटु आलोचक बन गए।

उन्होंने यह भी देखा कि, हालांकि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में उपनिवेशवाद का पुराना स्वरूप ओझल हो गया, लेकिन नयी विश्व व्यवस्था में वह नव-उपनिवेशवाद के रूप में सामने आया। नव-उपनिवेशवाद, उपनिवेशवाद का आधुनिक संस्करण है, जो कि परोक्ष तरीकों और दूसरे साधनों से पूर्व उपनिवेशों, अर्द्ध-उपनिवेशों तथा आश्रित राज्यों पर साम्राज्यवादी शक्तियों का आर्थिक और सैनिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। इस पाठ्यक्रम के आठवें भाग में, नव-उपनिवेशवाद की प्रकृति और विशेषताओं से आपका परिचय कराया जायेगा।

यहां इतना जानना पर्याप्त होगा कि नये उभरते देश प्रारम्भ से ही नव-उपनिवेशवादी प्रभुत्व के प्रति सावधान हो चुके थे। वे सभी देश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के सभी प्रतीकों की किसी भी रूप में अभिव्यक्ति के खिलाफ संगठित हैं। अतः हम कह सकते हैं कि तीसरी दुनिया के देशों के बीच एकजुटता, उपनिवेशवाद-विरोध, साम्राज्यवाद विरोध व नस्लवादी भेदभाव के विरोध समान सूत्रों से बंधी है। तृतीय विश्व में आपसी सहयोग का एक बड़ा कारण उनकी समान समस्याएं भी हैं, जैसे—राष्ट्र निर्माण, गरीबी और अविकास या पिछड़ापन। लगभग इन सभी देशों के सामने अपने विभिन्न मूल निवासियों, विभिन्न धर्मों, बहु भाषा-भाषियों को एक साथ रखने की समस्या रही है। आज भी तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों की यह एक बड़ी समस्या है। इसी प्रकार तृतीय विश्व के सारे देशों के सामने सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की चुनौती है। इन समाजों को कमजोर और अविकसित अर्थव्यवस्थाएं विरासत में मिली, जिनमें धीमा औद्योगीकरण निम्नस्तरीय विकास दर, निम्न और प्रति व्यक्ति निम्न आय आदि शामिल हैं। इन समाजों के सामाजिक व आर्थिक पुनर्निर्माण का दुष्कर कार्य अपर्याप्त संसाधनों—संगठनात्मक, आर्थिक व तकनीकी—के कारण और अधिक मुश्किल हो गया। अतः राष्ट्र निर्माण और विकास की समान चुनौतियां भी तीसरी दुनिया के देशों को एक मंच पर लाईं।

1947 में पहली बार एवं फिर 1949 में तीसरी दुनिया के देशों में एकजुटता तब प्रतिबिम्बित हुई, जब नई दिल्ली में एशियाई सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें लगभग तीस एशियाई देशों के प्रतिनिधियों ने मिलकर अपने हितों की आवाज बुलंद की

और आपसी सहयोग के महत्व को रेखांकित किया। उन्होंने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता पर भी विचार किया और उपनिवेशवाद विरोधी भावनाएं व्यक्त कीं। 1955 में, एफ्रो-एशियाई देशों के प्रतिनिधियों ने बांडुंग सम्मेलन (इंडोनेशिया) में एकत्रित होकर एशिया और अफ्रीका के देशों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सहयोग मजबूत करने और बढ़ाने एवं साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की किसी भी रूप में अभिव्यक्ति के खिलाफ एक समान नीति अपनाने का प्रण किया। बांडुंग सम्मेलन, एशिया और अफ्रीका के देशों के नेताओं की पहली बड़ी मुलाकात थी और सबसे बड़ी बात, यह एफ्रो-एशियाई एकता की प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति का प्रतीक था। आने वाले वर्षों में, तीसरी दुनिया के देशों की बढ़ती एकजुटता एवं महत्व संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रतिबिम्बित हुई। कई मामलों पर तीसरी दुनिया के देशों ने समान विचार व्यक्त किए तथा एक राजनीतिक समूह के रूप में व्यवहार किया जैसे—साम्राज्यवाद विरोध, नस्लवाद विरोध, युद्ध का भय, आक्रमण और हस्तक्षेप, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, विदेशी सैनिक ठिकाने, निःशस्त्रीकरण, विश्व शांति और विकास आदि। इसी पाठ्यक्रम की अगली इकाईयों में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में तीसरी दुनिया के देशों की समस्याओं, आकांक्षाओं एवं भूमिका से आपका परिचय कराया जाएगा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर को मिलाएं।

1) निम्न में से किसे आप विउपनिवेशीकरण का परिणाम नहीं मानेंगे—

अ) एशिया और अफ्रीका में कई स्वाभिमानी देशों का प्रभुत्व।

ब) कुछ औपनिवेशिक शक्तियों को सत्ता और प्रतिष्ठा की हानि।

स) उपनिवेशवाद ने एक नया और अप्रत्यक्ष रूप ले लिया : नव-उपनिवेशवाद।

द) इससे एक नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा तीसरी दुनिया की समृद्धता उभर कर आई।

2) तीसरी दुनिया के देशों की कोई तीन समान विशेषताएं बताइए :

अ) .....

ब) .....

स) .....

3) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तीसरी दुनिया के देशों के मध्य एकजुटता में योगदान देने वाले कारक कौन-कौन से हैं, लिखिए।

अ) .....

ब) .....

स) .....

द) .....

17.5 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि कुछ ही दशकों में सुस्थापित उपनिवेशवादी साम्राज्य टूटने आरम्भ हो गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विउपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया जिस तीव्रता से आरम्भ हुई और शक्ति का हस्तांतरण शांतिपूर्वक संभव हो सका, उसके दो प्रमुख कारण थे। एक, उपनिवेशों में स्वतंत्रता की बढ़ती हुई मांग और दूसरा, उपनिवेशवादियों में अपना आधिपत्य बनाए रखने की इच्छा और योग्यता का कमजोर होना। हमने देखा कि द्वितीय विश्वयुद्ध, राष्ट्रवाद का विकास, संयुक्त राष्ट्रसंघ और तीसरी दुनिया की जनता ने विउपनिवेशीकरण में योगदान दिया। हमने यह भी देखा कि उपनिवेशों एवं

अर्द्ध-उपनिवेशों में राष्ट्रीय आंदोलन दो रूपों में बंट गया–"राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन" और "राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन"। पहला मुख्यतः राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता था और दूसरे में राजनीतिक स्वतंत्रता के उद्देश्य को उपनिवेशवादी समाज के सामाजिक आर्थिक बदलाव से जोड़ दिया गया था। फिर भी, अधिकतर पूर्व उपनिवेशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को सफलता प्राप्त हुई। विउपनिवेशीकरण का एक मुख्य परिणाम तीसरी दुनिया का उद्भव है–बहुत से कमजोर लेकिन स्वाभिमानी राज्यों का अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में आना।

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सत्यमूर्ति टी.वी. 1983 **नेशनेलिज्म इन द कांटेम्पररी वर्ल्ड**, फ्रांसेस प्रिंटर, लंदन।

जिम नोबारेन और गोंजालेज (संपादित) 1981, **दि थर्ड वर्ल्ड**।

ए.पी. रामस्टन, 1978, **इम्पीरियलिज्म इन द टवेन्टीयेथ सेन्चूरी**, मेकमिलन, लंदन।

आन्द्रा बालोधस, जफर इमाम, 1988/ **ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नेशनल लिबरेशन मूवमेंट इन एशिया एंड अफ्रीका**, 1914-1985. ए.बी.सी. पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की बुनियादी रूचि राजनीतिक स्वतंत्रता अर्जित करने तथा राज्य का एक मजबूत तंत्र कायम करने में थी। ये अधिकांशतः बड़े बुर्जुआ वर्ग द्वारा नियंत्रित थे। दूसरी ओर, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और आर्थिक क्रांतिकारी थे। इनका उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का क्रांतिकारी पुनर्निर्माण था। इनका नेतृत्व सामान्य तौर पर निम्न बुर्जुआ वर्ग ने किया।

2) द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ से ही उपनिवेशवाद विरोध ने तीव्र गति पकड़ ली थी। इन परिस्थितियों में युद्ध ने उपनिवेशवादियों और उपनिवेशों के मध्य सूत्रों को कमजोर कर दिया, साथ ही उपनिवेशवादी शक्तियों की प्रतिष्ठा व प्रभाव को भी धक्का पहुंचाया। इससे विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।

बोध प्रश्न 2

1) औपनिवेशिक शक्तियों की शासन करने की इच्छा और योग्यता को कमजोर करने वाले उन कारकों की सूची बनाएं, जिसमें विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।

बोध प्रश्न 3

1) (द)

2) अनुभाग 17.4.1 देखिए।

3) औपनिवेशिक शक्तियों (पश्चिमी) के प्रभुत्व का समान अनुभव उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों में एकता, गरीबी, निम्न विकास दर, निम्न प्रति व्यक्ति आय आदि जैसी समान समस्याएं तथा आर्थिक विकास और न्यायोचित विश्व व्यवस्था आदि जैसे समान आकांक्षाएं।

UGPS-05 (N)
समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय संबंध

खंड
7

उभरती विश्व-व्यवस्था

इकाई 18
संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका एवं अन्तर्राष्ट्रीय शांति 5

इकाई 19
निरस्त्रीकरण के प्रयास 18

इकाई 20
मानव अधिकारों के लिये संघर्ष 31

इकाई 21
क्षेत्रीय संगठन एवं एकीकरण–दक्षेस (सार्क) के विशेष संदर्भ में 43

खंड 7 की प्रस्तावना

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है चार इकाईयों वाला यह खंड अंतरराष्ट्रीय संबंधों में उभरती नई प्रवृत्तियों के बारे में है। युद्धोपरांत की विश्व व्यवस्था महाशक्तियों के वैचारिक एवं सैनिक अंतरविरोधों पर आधारित थी। विश्व दो परस्पर विरोधी खेमों में बंट गया था। शस्त्र-प्रतियोगिता, विश्व के विभिन्न भागों पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा और संयुक्त राष्ट्र संघ की उपेक्षा विश्व-व्यवस्था के स्थाई अंग बन गए। किंतु हाल में एक नई विश्व-व्यवस्था उभर रही है जिसमें प्रतिर्द्वद्विता की जगह सहयोग को महत्व दिया जाने लगा है जिससे सभी का भला हो सके। शीत युद्ध समाप्त हो चुका है। संयुक्त राष्ट्र की विश्वसनीयता और उसके प्रति सम्मान की भावना बढ़ रही है। निरस्त्रीकरण के ऐतिहासिक कदम उठाए जा रहे हैं। क्षेत्रीय संगठनों और मानव-अधिकारों के प्रति सरोकार बढ़ रहे हैं। इस खंड में इन्हीं बातों की चर्चा की गई है।

इकाई 18 में संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति पर चर्चा की गई है। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों और संरचनात्मक ढाँचे यानी इसके विभिन्न संस्थाओं, आम सभा के अधिकारों और सुरक्षा परिषद् आदि की व्याख्या की गई है। इसमें संयुक्त राष्ट्र पर शीत युद्ध के प्रभावों के बारे में भी बताया गया है। संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति बनाने की भूमिका के आलोचनात्मक विश्लेषण के साथ इसकी सीमित सफलताओं और भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार किया गया है।

इकाई 19, "निरस्त्रीकरण के प्रयास" में निरस्त्रीकरण संबंधी मुद्दों पर बात की गई है। इसमें शस्त्र-प्रतियोगिता, शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण जैसी अवधारणाओं को परिभाषित किया गया है और उनके अंतःसंबंधों पर चर्चा की गई है। अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा आयामों के अलावा आर्थिक आयामों पर भी प्रकाश डाला गया है। अभी तक किए गए निरस्त्रीकरण के प्रयासों की भी संक्षेप में चर्चा की गई है। अंत में निरस्त्रीकरण के अब तक के प्रयासों और उसके रास्ते की रुकावटों तथा भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार किया गया है।

इकाई 20, "मानव अधिकारों के लिए संघर्ष" में मानव अधिकारों की अवधारणा और उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसके बाद मानव-अधिकारों से संबंधित समकालीन मुद्दों का वर्णन किया गया है। ऐसा करते समय मानव अधिकारों की सुरक्षा में लगे विभिन्न मंचों और संस्थानों का वर्णन किया गया है। अंत में इस दिशा में किये गए और जारी प्रयासों का विश्लेषण किया गया है।

इकाई 21, "क्षेत्रीय संगठन एवं एकीकरण सार्क के विशेष संदर्भ में" में क्षेत्रवाद और उसके अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से संबंधों पर चर्चा की गई है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद क्षेत्रीय संगठनों की 3 श्रेणियों—बहु-उद्देश्यीय, सैनिक और आर्थिक संगठनों का वर्णन किया गया है। इसके बाद क्षेत्रीय संगठनों के संयुक्त राष्ट्र के साथ संबंधों का विश्लेषण किया गया है। क्षेत्रीय एकीकरण के अनेक सिद्धांतों की भी व्याख्या की गई है। इसके बाद सार्क—दक्षिण एशिया के क्षेत्रीय संगठन पर विशेष चर्चा की गई है।

इकाई 18 संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका एवं अंतर्राष्ट्रीय शांति

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 वैधानिक योजना
  18.2.1 संरचनात्मक स्वरूप
  18.2.2 शक्तियों का विभाजन
  18.2.3 सुरक्षा परिषद् की शक्तियाँ
18.3 शीतयुद्ध और उसका प्रभाव
  18.3.1 सुरक्षा परिषद् का ह्रास/पतन
  18.3.2 साधारण सभा एवं महासचिव पर प्रभाव
  18.3.3 तनाव-शैथिल्य और नव शीतयुद्ध
18.4 अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए प्रयास : एक ऐतिहासिक रूपरेखा
  18.4.1 सुधार एवं गलती के प्रारंभिक वर्ष
  18.4.2 1956–एक ऐतिहासिक मीलस्तंभ
  18.4.3 अनिश्चततापूर्ण दशक
  18.4.4 ताजा उपलब्धियाँ/सफलताएँ
18.5 सारांश
18.6 शब्दावली
18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस अध्याय में राष्ट्रों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विश्व संगठन–संयुक्त राष्ट्र संघ का, इसके प्रमुख विवादास्पद कार्य–अंतर्राष्ट्रीय शांति के अनुरक्षण के संदर्भ में अध्ययन किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप :

- अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र की वैधानिक योजना का वर्णन कर सकेंगे,
- अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापना से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के अंगों की सक्रियता पर शीतयुद्ध के प्रभावों की व्याख्या कर सकेंगे,
- राष्ट्रों के मध्य शांति को सुदृढ़ करने हेतु संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की उपलब्धियों की व्याख्या कर सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका की सीमाओं तथा संभावनाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

खंड 4 में हमने विश्व में राष्ट्रों के मध्य विवादों को हल करने तथा युद्ध रोकने के लिए एक विश्व संगठन–लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना पर विचार किया था, किन्तु जैसा हमने देखा, लीग युद्धों के प्रकोप या एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण को नहीं रोक सकी। लीग की असफलता से अप्रभावित होते हुए, एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषणता के जारी रहते हुए भी मित्र राष्ट्र आने वाली पीढ़ियों को युद्ध के अनिष्ट/उत्पीड़न से बचाने, अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रति सम्मान कायम करने और वृहत्तर स्वतंत्रता के साथ उच्च जीवन

स्तर को प्रोत्साहित करने के लिए नए विश्व संगठन की स्थापना की प्रक्रिया की शुरुआत हेतु एकत्र हुए। मित्र राष्ट्र एक नए और श्रेष्ठ विश्व संगठन की स्थापना के प्रति दो कारणों से काफी विश्वस्त थे। प्रथम, संयुक्त राज्य अमेरिका जो लीग सदस्य नहीं था और सोवियत रूस, जिसने कुछ वर्षों के बाद लीग की सदस्यता छोड़ दी थी, नए विश्व संगठन की स्थापना में एक साथ थे। दूसरा, वे लीग की दुर्बलताओं से परिचित थे।

इन प्रयासों के उपरांत स्थापित हुए संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने क्षेत्र एवं उद्देश्यों में अधिकतम व्यापक एवं विस्तृत आधारयुक्त बनाया गया। इस नए विश्व संगठन का कार्य केवल युद्धों को रोकना ही नहीं था, वरन् गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में राष्ट्रों का सहयोग सुनिश्चित करना भी था। इस अध्याय में हम संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों की भूमिका एवं विश्व शांति हेतु उनके प्रयासों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यप्रणाली पर शीत युद्ध के प्रभाव की परीक्षा करेंगे।

18.2 वैधानिक योजना

संयुक्त राष्ट्र संघ 159 राष्ट्रों का स्वैच्छिक संगठन है और यह विश्व-शांति तथा सुरक्षा और मानवता की उन्नति के लिए काम करता है। विश्व के सभी भागों के राष्ट्र इसके सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में अपने प्रतिनिधि भेजता है, जो कि न्यूयार्क में है, तथा जहाँ वार्ताएँ होती हैं और समस्याओं के समाधान के लिए गंभीर प्रयास किए जाते हैं। यह युद्ध के कारणों का पता लगाता है तथा उन्हें समाप्त करने के तरीके खोजने के प्रयास करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने प्रयासों में सफलता और असफलता दोनों मिली हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की योजना अमेरिका के गृह विभाग में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बनाई गई। इसके साथ अमेरिकी सरकार भी नए विश्व संगठन के लिए राजनयिक क्षेत्र में काफी सक्रिय रही। 1943 के मास्को सम्मेलन में चारों बड़े राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के लिए सहमत हुए। अगले वर्ष वाशिंगटन में हुए डम्बरटन-ओक्स सम्मेलन में इनके प्रतिनिधियों में प्रस्तावों के एक समूह पर समझौता हुआ, जिन्हें बाद में सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया। किंतु प्रस्तावित सुरक्षा परिषद् में अपनाई जाने वाली मतदान प्रक्रिया पर सम्मेलन में मतैक्य नहीं हो सका। फरवरी, 1945 में याल्टा में सोवियत रूस, ब्रिटेन और अमेरिका सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रक्रिया पर सहमत हो गए, जिसे बाद में सेन-फ्रांसिस्को में स्वीकार कर लिया गया। इस बात पर भी सहमति हुई कि नए संगठन के चार्टर को बनाने के लिए सेन-फ्रांसिस्को में एक सम्मेलन किया जाएगा। अंततः 25 अप्रैल से 25 जून, 1945 तक सेन-फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन या अंतर्राष्ट्रीय संगठन सम्मेलन हुआ। अंत में 50 देशों ने, जिन्होंने ध्रुव शक्तियों का विरोध किया था, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर (संविधान) पर हस्ताक्षर कर दिए। 24 अक्टूबर, 1945 से चार्टर लागू हुआ। प्रत्येक वर्ष यह दिन संयुक्त राष्ट्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

चार्टर में निम्न चार उद्देश्य वर्णित हैं—(1) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाए रखना, (2) राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को विकसित करना, (3) आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकृति की समस्याओं के समाधान हेतु अंतर्राष्ट्रीय सहयोग संवर्द्धन करना, (4) इन सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सदस्य राष्ट्रों के विवादास्पद हितों और कार्यों में समन्वय/सामन्जस्य करना।

18.2.1 संरचनात्मक स्वरूप

संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य छः प्रमुख अंगों द्वारा निष्पादित किया जाता है। ये हैं—साधारण सभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यासधारिता परिषद्, सचिवालय और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय। हम अपना अध्ययन केवल साधारण सभा, सुरक्षा परिषद् एवं सचिवालय के प्रधान (महासचिव) द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने से संबंधित कार्यों तक ही सीमित रखेंगे।

साधारण सभा, जो कि पूरे संगठन का केंद्र है, का महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह सार्वभौमिकता और राष्ट्रों की समानता के सिद्धांतों पर आधारित है। सभी सदस्य राष्ट्रों का इसमें प्रतिनिधित्व होता है। प्रत्येक छोटे या बड़े राष्ट्र अथवा शक्तिशाली या दुर्बल राष्ट्र का एक मत होता है और प्रत्येक देश अपने प्रतिनिधि चुनने का निर्णय करता है। शांति

और सुरक्षा सहित प्रमुख मुद्दों पर साधारण सभा के प्रस्ताव तभी पारित माने जाएँगे, जबकि उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई इसके पक्ष में मतदान करें। साधारण सभा का नियमित सत्रों में बैठक होती है, जो प्रत्येक वर्ष सितंबर में प्रारंभ होती है तथा दिसंबर के अंत तक चलती है।

साधारण सभा के विपरीत सुरक्षा परिषद् की सदस्यता सीमित होती है। परिषद् में केवल पंद्रह सदस्य होते हैं, जिनमें से दस सदस्यों (अस्थाई सदस्य) का चुनाव साधारण सभा द्वारा दो वर्षों के लिए किया जाता है। शेष पाँच सदस्य "स्थाई सदस्य" कहलाते हैं। अस्थाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष बाद बदलते हैं, जबकि स्थाई सदस्य बिना विघ्न के सदस्य बने रहते हैं। पाँच स्थाई सदस्यों—चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, ब्रिटेन, और अमेरिका, का चुनाव नहीं होता, बल्कि चार्टर में स्पष्ट रूप से उनके बारे में लिखा गया है। इन्हें विशेष दर्जा इसलिए प्रदान किया गया कि इन्हें बड़ी शक्तियाँ माना जाता था। निःसंदेह ही सभी पाँच सदस्य समान रूप से बड़े या महान् नहीं हैं। अमेरिका और रूस स्पष्टतः सर्वप्रथम शक्तियाँ हैं। ब्रिटेन और फ्रांस को बड़ी शक्तियों का दर्जा उनकी आर्थिक और सैनिक ताकत के कारण दिया गया और चीन को बाद में स्थाई सदस्य बनाया गया, क्योंकि इसने राष्ट्रों के समुदाय में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

चार्टर के अनुसार सामान्यतः परिषद् बहुमत के आधार पर निर्णय करती है। किंतु प्रमुख मुद्दों पर सभी पाँचों स्थाई सदस्यों में सहमति होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि महत्वपूर्ण और विचारणीय मुद्दों पर, यदि स्थाई सदस्य भी मत नहीं देता है, तो परिषद् के प्रस्ताव पारित नहीं किए जा सकते। प्रक्रिया संबंधी प्रस्तावों, जैसे—परिषद् की बैठकों की तिथि तय करना, बैठकों को स्थगित करना आदि के लिए सामान्य बहुमत की जरूरत होती है, न कि स्थाई सदस्यों की पूर्ण सहमति की।

इस प्रकार सुरक्षा परिषद् की लीग ऑफ नेशन्स की परिषद् से भिन्नता इस बात में है कि उसमें निषेधाधिकार शक्ति (नकारात्मक मतदान करने की शक्ति) सभी सदस्यों (स्थाई एवं गैर स्थाई) प्रदान की गई थी, जिसके कारण इसके द्वारा प्रस्तावों को पारित कराने के लिए आवश्यक पूर्ण सहमति (मतैक्य) प्राप्त करना मुश्किल हो गया था।

स्थाई सदस्यों को निषेधाधिकार इसलिए प्रदान किया गया ताकि परिषद् के निर्णयों में बड़ी शक्तियों का समर्थन सुनिश्चित किया जा सके। इसके अलावा यह ध्यान रहना चाहिए कि सुरक्षा परिषद् को संयुक्त राष्ट्र के किसी आक्रमणकारी सदस्य राष्ट्र के विरुद्ध कठोर कदम उठाने की शक्ति प्राप्त है। अतः यह आवश्यक है कि परिषद् के निर्णयों को प्रभावपूर्ण तरीके से लागू करने के लिए उन्हें सभी बड़ी शक्तियों का समर्थन प्राप्त रहे। परिषद् के नियमों और प्रक्रियाओं की रचना इस प्रकार की जाती है कि आवश्यक होने पर तुरंत इसकी बैठक हो सके एवं यह कार्यवाही कर सके।

18.2.2 शक्तियों का विभाजन

साधारण सभा की खुली सदस्यता को ध्यान में रखते हुए चार्टर में साधारण सभा को चार्टर के क्षेत्र के अंतर्गत राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मानवीय या किसी भी प्रकार के मामले पर वार्ता करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस शक्ति के अंतर्गत साधारण सभा उपयुक्त सलाह देने के लिए किसी भी शक्ति या सुरक्षा से संबंधित प्रश्न पर विचार कर सकती है। किंतु सुरक्षा परिषद् की कार्यसूची में शामिल मामले इसको परामर्श देने की व्यापक शक्ति का एक मात्र अपवाद हैं। साधारण सभा के कुछ और प्रमुख कार्य हैं, जिनके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। चार्टर का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर पता चलता है कि साधारण सभा की परिकल्पना एक विचार-विमर्श तथा परामर्श देने वाली संस्था के रूप में की गई है न कि शांति एवं सुरक्षा की समस्याओं पर निर्णय करने वाली संस्था के रूप में। यह शक्ति सुरक्षा परिषद् को प्रदान की गई है। सुरक्षा परिषद् द्वारा एक बार कोई निर्णय लेने पर सभी सदस्य उससे बाध्य हो जाते हैं। चार्टर द्वारा साधारण सभा तथा सुरक्षा परिषद् के शांति स्थापना संबंधित क्षेत्राधिकार में इसी प्रकार शक्तियों का विभाजन किया गया है। संयोग से "परिषद्" शब्द से पूर्व लगे विशेषण "सुरक्षा" से ही शांति और सुरक्षा से संबंधित मामलों में सुरक्षा परिषद् की "साधारण" सभा की अपेक्षा उच्च शक्तियों का पता चलता है।

अब हम सचिवालय के प्रधान अर्थात् महासचिव के बारे में कुछ शब्द कहेंगे। लीग के अभिसमय के विपरीत संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने महासचिव की विशेष भूमिका को रेखांकित कर दिया है। वह साधारण सभा, सुरक्षा परिषद् या संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की वार्ताओं

बहस में हस्तक्षेप कर सकता है। वह इस विश्व संस्था के कार्यों की एक वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है और योजना में महासचिव के लिए नियत भूमिका अदा करता है। चार्टर ने अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए महासचिव की सार्थक भूमिका के लिए आधार प्रस्तुत किया है। महासचिव कोई भी ऐसी समस्या जो उसके विचार से अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को संकट में डाल सकती है, को सुरक्षा परिषद् के सम्मुख लाने के लिए अधिकृत है। सार रूप में, संयुक्त राष्ट्र के संस्थापक शांतिपूर्ण विश्व के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों के परिचालन हेतु सहायता, नेतृत्व और उपक्रम करने वाले एक प्रमुख स्त्रोत की स्थापना करना चाहते थे।

18.2.3 सुरक्षा परिषद् की शक्तियाँ

चार्टर के द्वारा विश्व शांति और सुरक्षा का प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है। चार्टर में विश्व-शांति के दो अंत:संबंधित क्षेत्रों में कार्य करने के लिए सुरक्षा परिषद् को अधिकृत किया गया है। ये हैं–(1) राष्ट्रों के मध्य विवादों का शांतिपूर्ण समाधान, और (2) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने या पुन: स्थापित करने के लिए दंडात्मक सामूहिक कार्यवाही।

विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के क्षेत्र में, सुरक्षा परिषद् (अ) संबंधित पक्षों से विवादों को उनकी पसंद के उपायों–वार्ता, पूछताछ, मध्यस्थता आदि के द्वारा हल करने की प्रार्थना कर सकती है (ब) किसी विवाद या स्थिति, जिसके कारण संबंधित पक्षों के मध्य तनाव हुआ है, की जाँच पड़ताल कर सकती है (स) शांतिपूर्ण समाधान खोजने के लिए उपयुक्त तरीकों के बारे में सुझाव दे सकती है, जिनके द्वारा विवाद को हल किया जा सकता है।

विवादों के शांतिपूर्ण हल के संबंध में सुरक्षा परिषद् की शक्तियों की एक प्रमुख विशेषता है। किसी भी विवाद के संबंध में सुरक्षा परिषद् (जिसका साधारण सभा के साथ क्षेत्राधिकार होता है) केवल समाधान के सुझाव दे सकती है। किंतु, कोई भी सुझाव संबंधित पक्षों पर बाध्यकारी नहीं हो सकता। किंतु किसी आक्रमण अथवा शान्ति भंग होने आदि की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय शान्ति की पुनर्स्थापना हेतु बाध्यकारी/दबावकारी कार्यवाही करने के लिए स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। दबावकारी कार्यवाही हेतु निर्णय लेना सुरक्षा परिषद् का एकमात्र विशेषाधिकार है। इस प्रकार के निर्णय संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों के लिए बाध्यकारी हैं। यह चार्टर के द्वारा सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को अधिक प्रभावशाली बनाने का एक अतुलनीय उदाहरण है।

दबावकारी कार्यवाही करने की अपनी शक्ति के रूप में सुरक्षा परिषद् यह निर्णय कर सकती है कि क्या किसी देश ने आक्रमण किया है या शान्ति को भंग किया है और उसके बाद अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की पुन: स्थापना के लिए यह कई विकल्पों का प्रयोग कर सकती है। परिषद् "आक्रमणकारी" राष्ट्र के विरुद्ध विभिन्न दंडात्मक साधनों के लिए निर्णय कर सकती है। इनमें असैनिक प्रतिबंध, जैसे–आर्थिक संबंधों पर रोक, रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और अन्य संपर्क साधनों का विच्छेद, राजनयिक संबंध तोड़ना या सैन्य प्रतिबंध, जिनमें आक्रमणकारी के विरुद्ध वायु, जल या थल शक्ति का प्रयोग भी शामिल हो सकते हैं। अभी कुछ समय पूर्व ही जब ईराक ने एक स्वतंत्र देश कुवैत को अपने में मिला लिया तो परिषद् ने ईराक के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही की थी।

सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करने तथा उसके आदेशों के अनुरूप कार्य करने की अग्रिम जिम्मेदारी लेने के अलावा विश्व-शांति की पुनर्स्थापना के लिए सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् से पृथक-पृथक समझौतों के तहत उसे सेनाएँ उपलब्ध कराने के लिए सहमत हुए हैं। इस उद्देश्य के लिए चार्टर में मिलिटरी स्टाफ कमेटी की व्यवस्था की गई है, जिसमें केवल पाँचों स्थाई सदस्यों की सेनाओं के प्रमुख हैं। यह कमेटी संयुक्त राष्ट्र की इच्छानुसार सेनाओं को भेजने के लिए सदस्यों से पृथक समझौते करने के लिए, आवश्यकता के समय सेनाओं को भेजने के लिए पूर्वयोजना बनाने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में अंतर्राष्ट्रीय सेनाओं को निर्देश देने व उन पर नियंत्रण रखने के लिए सुरक्षा परिषद् को मदद और सलाह देती है।

लीग के विपरीत, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सामूहिक सुरक्षा की केंद्रीकृत व्यवस्था को अपनाया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि चार्टर ने विश्व-संस्था को काफी बड़ी जिम्मेदारी सौंपी है, किंतु ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस उत्तरदायित्व के साथ कारगर रूप से कार्य करने की शक्ति भी प्रदान की गई है। योजना बनाते समय संस्थापक सदस्य

वास्तविकताओं से अच्छी तरह परिचित थे। अतः उन्होंने ऐसी योजना बनाई, जो आशा के अनुरूप कार्य कर सके।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) विश्व शान्ति बनाए रखने के संबंध में साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् की शक्तियों में आप क्या सामान्य अंतर कर सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) निषेधाधिकार शक्ति क्या है? संयुक्त राष्ट्र में यह किसे प्राप्त है?

.....

.....

.....

.....

.....

18.3 शीतयुद्ध और उसका प्रभाव

इस इकाई में पहले यह बताया जा चुका है कि द्वितीय विश्व युद्ध में जीतने वाली प्रमुख मित्र-शक्तियों की एकता को विश्व-शांति के खतरे को रोकने के लिए एक कारगर संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख उद्देश्य माना गया था, किंतु युद्धोपरांत तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद यह पूर्वधारणा गलत साबित हुई। मित्र राष्ट्रों के मध्य विश्वास और एकता की जगह अविश्वास और प्रतिद्वंद्विता पैदा हो गई। इस अप्रत्याशित प्रगति के लिए उत्तरदायी कारणों को यहाँ जानना जरूरी है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ रूस द्वारा परमाणु हथियारों की खोज और उनके आधुनिकीकरण तथा प्रसार ने उन्हें "महाशक्ति" का नया दर्जा प्रदान किया। यह दर्जा उनकी परमाणु हथियारों के प्रयोग द्वारा विश्व को कई बार नष्ट कर सकने तथा विश्व के सभी भागों में घटनाओं को प्रभावित कर सकने की अद्वितीय क्षमता का प्रतीक थी। दोनों के मध्य युद्धकाल की एकता युद्ध के बाद उनके द्वारा विकसित की जा रही पृथक सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाओं तथा भू-सामरिक हितों आदि के टकराव के कारण समाप्त हो गई। दोनों महाशक्तियों के मध्य यह प्रतिद्वंद्विता "शीतयुद्ध" के नाम से जानी जाती है। सर्वप्रथम शीतयुद्ध अपने उग्रतम रूप में यूरोप में शुरू हुआ। यूरोप का दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजन किया गया। प्रथम, एक पश्चिमी गुट था, जिसका नेतृत्व "स्वतंत्र विश्व" के रूप में अमेरिका कर रहा था व दूसरा पूर्वी गुट था, जिसका नेतृत्व सोवियत रूस साम्यवाद के अभिरक्षण के रूप में कर रहा था। इस विभाजन को साम्यवाद के विरुद्ध "स्वतंत्र विश्व" की सुरक्षा के लिए 1949 में उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) तथा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों द्वारा "वारसा पैक्ट" जैसी सैन्य संधियों द्वारा संस्थागत रूप प्रदान कर दिया गया। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष के किसी भी संभावित आक्रमण का सामूहिक रूप से प्रतिरोध करने के लिए वचनबद्ध था। यद्यपि शीतयुद्ध ने कभी भी गर्म युद्ध अर्थात् दोनों गुटों के मध्य प्रत्यक्ष सैन्य मुठभेड़ का रूप नहीं लिया, किंतु इसने काफी समय तक अंतर्राज्जीय संबंधों के संपूर्ण वातावरण को दूषित रखा। निश्चित रूप से संयुक्त राष्ट्र का कोई भी अंग या कार्यवाही ऐसी नहीं थी, जो शीतयुद्ध अथवा पूर्व-पश्चिम की प्रतिद्वंद्विता के प्रभाव से मुक्त हो। विशेष रूप से सुरक्षा परिषद् की भूमिका पर इसका काफी प्रभाव पड़ा।

18.3.1 सुरक्षा परिषद् का ह्रास/पतन

सुरक्षा परिषद्, जिसका गठन शीघ्र एवं निर्णायक रूप से कार्य करने के लिए इस प्रकार किया गया था कि यह सशक्त और संगठित हो, व्यवहार में विश्व संस्था के अंदर शीतयुद्ध की राजनीति के कारण एक बिल्कुल भिन्न संस्था बन गई। सुरक्षा परिषद् के विचार के लिए आए हुए लगभग प्रत्येक प्रश्न का निर्णय उसके गुणों के कारण कम तथा तुलनात्मक रूप से लाभ या हानि के कारण अधिक होने लगा। स्थाई सदस्यों ने चार्टर द्वारा आरोपित दायित्वों को सोचे बिना त्याग दिया, यदि इससे उनके निजी, अपने मित्रों या संभावित मित्रों के हितों की सुरक्षा हो रही हो। निषेधाकार शक्ति का प्रयोग मनमाने रूप से बिना सोचे-समझे किया गया। उदाहरण के लिए, 1945 से 1985 के बीच अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् में 85 बार तथा रूस ने 117 बार वीटो का प्रयोग किया। बार-बार वीटो के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् के समक्ष लाई गई शांति व सुरक्षा संबंधी कई समस्याओं पर कोई भी प्रस्ताव पारित नहीं किया जा सका। दूसरे शब्दों में, सुरक्षा परिषद् में प्रायः गत्यावरोध बना रहा।

संयुक्त राष्ट्र की प्रमुख संस्था का यह गत्यावरोध सामूहिक रूप से शांति बनाए रखने की संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना अर्थात् मिलिटरी स्टाफ कमेटी तक पहुँच गया। अंतर्राष्ट्रीय सेना के आकार, इसके स्थान और अन्य प्रमुख मामलों पर कमेटी में अमेरिका और रूस के बीच मतभेद बने रहे। 1947 में कमेटी ने किसी प्रकार की प्रगति कर पाने में असफल रहने की सूचना सुरक्षा परिषद् को दी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सोची गई सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था असफल हो गई है। परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद् की प्रभाव क्षमता को अप्रत्यक्ष रूप से हानि पहुँची और अंतर्राष्ट्रीय शांति के साधन के रूप में इसका महत्व कम हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में सुरक्षा परिषद् की होने वाली बैठकों की संख्या निरंतर काफी कम हो गई, जो आक्रमण, हस्तक्षेप और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अन्य उल्लंघनों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने वाली संस्था के रूप में सुरक्षा परिषद् के प्रति सदस्य राष्ट्रों के विश्वास में हुई कमी का संकेतक है।

18.3.2 साधारण सभा एवं महासचिव पर प्रभाव

सुरक्षा परिषद् के आशानुकूल कार्य करने में असफल रहने पर 1940 के अंतिम वर्षों में पश्चिमी देशों ने संयुक्त राष्ट्र में ही अन्य उपयुक्त मंच की खोज शुरू कर दी, जो सुरक्षा परिषद् के ह्रास की कमी पूर्ति कर सके। इस दृष्टिकोण से साधारण सभा, जो कि एक सदस्य एक मत के सिद्धांत के अनुसार कार्य कर रही थी, उपयुक्त मंच प्रतीत हुई। उस समय पश्चिमी देशों को साधारण सभा में दो-तिहाई सदस्यों का समर्थन मिलने का विश्वास था। अतः सुरक्षा परिषद् की अपेक्षा साधारण सभा को और अधिक सक्रिय बनाने का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिए, 1947 में साधारण सभा में ब्रिटेन ने फिलीस्तीन के प्रबंध/विभाजन का प्रश्न उठाया। इसी प्रकार अमेरिका ने 1947 में प्रथम बार सुरक्षा परिषद् के बजाए साधारण सभा में कोरिया की समस्या उठाई। 1947 में साधारण सभा में पश्चिमी देशों के दबाव की वजह से एक अंतरिम समिति गठित की। साधारण सभा के सत्रों के बीच के समय में आवश्यक परिस्थितियाँ होने पर "लघु परिषद्" नाम की एक नई संस्था की बैठक का होना तय किया गया था, किंतु लघु परिषद् ने कभी इस प्रकार काम नहीं किया और कुछ वर्षों के बाद यह निष्क्रिय हो गई।

शान्ति और सुरक्षा की दिशा में साधारण सभा की भूमिका के विकास में इसके द्वारा नवंबर, 1950 में पारित शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव एक अन्य कदम था। प्रस्ताव के प्रावधानों के अनुसार किसी स्थाई सदस्य द्वारा वीटो के प्रयोग के कारण शान्ति व सुरक्षा से संबंधित किसी मुद्दे पर निर्णय लेने में सुरक्षा परिषद् के असफल रहने पर साधारण सभा 24 घंटे की पूर्व सूचना पर विशेष आपातकालीन सत्र की बैठक बुला सकती है।

साधारण सभा ने विश्व के किसी भी भाग में जोखिमपूर्ण स्थिति पर नजर रखने के लिए 14 राष्ट्रों के शान्ति निरीक्षण आयोग की स्थापना की तथा सभी राष्ट्रों से विशेष सशस्त्र सेना रखने के लिए कहा ताकि सुरक्षा परिषद् अथवा साधारण सभा द्वारा प्रार्थना करने पर वह सेवाओं के लिए उपलब्ध हो सके। इसके परिणामस्वरूप साधारण सभा सुरक्षा संबंधी कई मामलों—कोरिया युद्ध (1950), स्वेज संकट (1956), हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप (1956), लेबनान संकट (1956) और कोंगो संकट (1956) से निपट सकी।

इन प्रयासों में प्राप्त सफलताओं से पश्चिमी गुट तथा विश्व-सरकार के कुछ अति उत्साही समर्थकों के हितों की पूर्ति होती दिखाई देती है। किंतु इन प्रयासों के कारण ही साधारण

सभा के प्रमुख लक्षणों को नहीं भूलना चाहिए कि यह ऐसा अंग है, जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व होता है। परंतु सदस्य संख्या बढ़ने तथा कार्यसूची में विस्तार होने से साधारण सभा की कार्यवाहियों की प्रबंधनीयता में निरंतर कमी हुई है और उनके परिणामों के बारे में सुनिश्चित रूप से कह पाना मुश्किल हो गया है। इसलिए कार्यसूची के महत्वपूर्ण मुद्दों के लिए प्रत्येक वर्ष साधारण सभा के पास काफी कम समय होता था। कार्यसूची के कई विषयों को गहराई से जानने के लिए पर्याप्त समय मुश्किल से होता था। परिणामस्वरूप साधारण सभा सलाह और आवश्यक अनुवर्ती कार्यों के लिए संयुक्त राष्ट्र महासचिव पर अधिक विश्वास करने लगी थी। समय की कमी की वजह से साधारण सभा ने कुछ अवसरों पर काफी अस्पष्ट प्रस्ताव स्वीकार किए। महासचिव को इस प्रकार के अस्पष्ट प्रस्तावों की व्याख्या करने और उन्हें लागू करने का महत्वपूर्ण अधिकार है।

18.3.3 तनाव-शैथिल्य और नव शीतयुद्ध

1960 से दोनों महाशक्तियों के संबंधों में हुए कुछ परिवर्तनों के कारण सुरक्षा परिषद् साधारण सभा और महासचिव के सापेक्ष महत्व में भी परिवर्तन हुआ। 1960 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में तनाव में कुछ कमी हुई। 1963 में अमेरिका और रूस ने आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि पर हस्ताक्षर किए, जिसकी वजह से दोनों शक्ति गुटों के बीच क्रमशः तनाव में कमी करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में सुरक्षा परिषद् का पुनः महत्व बढ़ गया। 1970 के दशक में शीतयुद्ध के संघर्ष की जगह देतांत या तनाव शैथिल्य (पूर्व और पश्चिम के बीच तनाव में कमी) ने ले ली। बीच के इन वर्षों में तृतीय विश्व के देशों के बहुमत के बढ़ने तथा तृतीय विश्व और पश्चिम के बीच विशेष रूप से आर्थिक विकास के मुद्दों पर गहराते विवाद के कारण अमेरिका साधारण सभा के प्रति सचेत हो गया। महाशक्तियों में तनाव-शैथिल्य ने चार्टर में वर्णित संयुक्त राष्ट्र की शांति बनाए रखने की प्रमुख भूमिका निभाने में मदद करने की अपेक्षा अमेरिका और रूस द्वारा जहाँ तक संभव हो सके, विशेष रूप से शांति, सुरक्षा और निरस्त्रीकरण के मामलों में संयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा करने का निश्चय करने में मदद की। अरब-इज़राइल युद्ध (1973) इसका उदाहरण है। यह युद्ध भीषण रूप से 3 सप्ताह तक चला तथा सुरक्षा परिषद् ने बिना किसी निर्देश/लक्ष्य के वार्ताएँ आयोजित कीं। अमेरिका और रूस युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से स्वयं को शामिल करने की स्थिति से बचाने के तरीकों व उपायों को खोजने के लिए संयुक्त राष्ट्र से बाहर ही बातचीत करते रहे। किसी भी तरह सम्मान बनाए रखकर युद्ध समाप्त करने के उपायों पर सहमत होने तथा युद्धरत इज़राइल, मिस्र और सीरिया को मना लेने के बाद महाशक्तियों ने तुरंत युद्ध समाप्त करने के लिए संक्षिप्त और संयुक्त प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया। सुरक्षा परिषद् के कुछ सदस्यों ने यद्यपि प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया, किंतु इस प्रकार सुरक्षा परिषद् के महत्व को कम करने का विरोध किया।

जो भी हो, देतांत अधिक समय तक नहीं चल सका। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में अमेरिका और रूस के मध्य तनाव और संदेह चरम स्थिति पर पहुँच गए। 1979 में अफगानिस्तान में रूस के सैनिक हस्तक्षेप से तनाव-शैथिल्य समाप्त हो गया तथा शीत युद्ध के नए दौर का उद्घोष हो गया। नव शीतयुद्ध का प्रकट होना भी संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रभावपूर्ण कार्यप्रणाली के लिए उतना ही चुनौतीपूर्ण सिद्ध हुआ। महाशक्तियों अथवा उनके साथियों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सैन्य सहायता से बहुत से क्षेत्रीय युद्ध या संघर्ष उभरे। अफगानिस्तान, कम्पूचिया, अंगोला और निकारागुआ की घटनाएँ इसके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा इन समस्याओं को मैत्रीपूर्ण बातचीत के माध्यम से हल करने के सभी प्रयास अब तक निरर्थक सिद्ध हुए, जबकि 1987 में रूस और अमेरिका के संबंधों में परिवर्तन की शुरुआत हुई। 1987 में हुई इंटरमीडिएट रेंज न्यूक्लियर फोर्स संधि (INF, यानी, मध्यम दूरी तक मार करने वाले आणविक हथियारों की संधि) से लेकर अभी हाल में यूरोप में हुए परिवर्तन की घटनाएँ इतनी नाटकीय अप्रत्याशित थीं कि संपूर्ण विश्व स्तब्ध रह गया। यद्यपि महाशक्तियों के मध्य तनाव-शैथिल्य का वर्तमान दौर संयुक्त राष्ट्र को प्रभावशाली एवं सुदृढ़ बनाने के लिए उपयुक्त है, किंतु विश्व में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए वचनबद्ध संयुक्त राष्ट्र नव शीतयुद्ध के प्रभाव में क्या कुछ कर पायेगा, इस बारे में अभी कुछ कहना जल्दबाजी होगी।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) चार्टर में व्यक्त विश्व शांति बनाए रखने/स्थापित करने की भूमिका निभाने में सुरक्षा परिषद् अधिक प्रभावशाली क्यों नहीं हो सकी?

.....

.....

.....

.....

2) पूर्व और पश्चिम के मध्य तनाव-शैथिल्य (देतांत) ने संयुक्त राष्ट्र की कार्यप्रणाली को किस प्रकार प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

18.4 अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये प्रयास : एक ऐतिहासिक रूपरेखा

18.4.1 सुधार और गलती के प्रारंभिक वर्ष

यह बात महत्वपूर्ण है कि अपने प्रारंभिक वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को भंग करने वाली कई समस्याओं पर कार्यवाही करने में सिर्फ चार्टर के अनुरूप ही कार्य नहीं किया। वास्तव में इसने एक सक्रिय/जीवंत संस्था के लिए आवश्यक गतिशीलता को प्रदर्शित किया। गलती एवं सुधार की नीति अपनाते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने (चाहे सुरक्षा परिषद् हो या साधारण सभा) इन वर्षों में प्रत्येक घटना की विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए प्रत्येक घटना के लिए भिन्न तकनीकों और प्रक्रियाओं का प्रयोग किया।

शुरू के पाँच वर्षों में संयुक्त राष्ट्र में उठाए गए मुद्दों में इंडोनेशिया समस्या (1947-1949), कश्मीर का प्रश्न (1948) आदि थे। इन समस्याओं से निपटने में संयुक्त राष्ट्र ने किसी भी पक्ष के प्रति पक्षपात से स्वयं को दूर रखा। बल्कि इसने विवादपूर्ण तथ्यों के निष्पक्ष जाँच-पड़ताल और पूछताछ के द्वारा स्पष्ट करने को प्राथमिकता दी और बीच की अवधि में स्थिति के शांत होने की अपेक्षा रखी। इंडोनेशिया की समस्या के समय (1947-49) संयुक्त राष्ट्र ने एक ईमानदार मध्यस्थ की भूमिका निभाई। उसने एक आयोग की स्थापना की तथा समस्या का अंतिम राजनीतिक समाधान खोजने के लिए डच उपनिवेशियों और इंडोनेशिया के स्वतंत्रता सेनानियों दोनों को ही समझौता वार्ता के लिए बुलाया। संयुक्त राष्ट्र 1948 में भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर में किए गए इसी प्रकार की मध्यस्थता के प्रयास में युद्ध विराम कराने और किसी भी पक्ष द्वारा उल्लंघन न की जाने वाली विभाजन रेखा निर्धारित करने में सफल रही। इसी प्रकार 1948 में अरब देशों तथा इज़राइल के मध्य विराम-संधि कराने में भी संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता काम आई। संयुक्त राष्ट्र ने 1947 में ग्रीस में विदेशी हस्तक्षेप की शिकायतों की छानबीन के लिए एक तथ्य-अन्वेषक दल भी भेजा।

ये सभी संयुक्त राष्ट्र की भविष्य की भूमिका के उपयोगी संकेत थे। किंतु गलतियाँ भी हुईं—जैसे 1950-51 में कोरिया के संघर्ष में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर जून 1950 में आक्रमण करने के संदर्भ में कोरिया प्रायद्वीप में शांति बहाल करने के लिए सामूहिक दबाव के प्रयोग के लिए संयुक्त राष्ट्र अपने चार्टर को लगभग पूरी तरह क्रियान्वित करने की सीमा तक चला गया था। संयोग से सोवियत रूस ने उस समय सुरक्षा परिषद् की बैठकों का बहिष्कार किया था, क्योंकि परिषद् ने पीपल्स रिपब्लिक ऑफ चीन को संयुक्त राष्ट्र में जियांग झीशी के शासन की जगह देने से इन्कार कर दिया था। सोवियत रूस की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् में इस संबंध में एक प्रस्ताव पारित करा लिया कि उत्तरी कोरिया की सैनिक कार्यवाही चार्टर के आदर्शों एवं उद्देश्यों का गंभीर उल्लंघन है और उसमें दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिए आवश्यक

अंतर्राष्ट्रीय समर्थन का अनुमोदन किया गया। यह प्रस्ताव संबंधित पक्षों के विचारों की सुनवाई के बिना तथा वास्तविक स्थिति की स्वतंत्र रूप से पुष्टि प्राप्त किए बिना ही स्वीकार कर लिया गया।

सुरक्षा परिषद् की अन्य सिफारिश के अनुसार नाटो सेनाओं (वास्तव में उस वक्त जापान में तैनात अमेरिकी फौज) को संयुक्त राष्ट्र के एकीकृत संगठित सैन्य कमान के अंतर्गत लाया गया। यदि सोवियत रूस जून, 1950 में सुरक्षा परिषद् में उपस्थिति होता तो इन दोनों प्रस्तावों पर निश्चित रूप से निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग किया जाता, क्योंकि उत्तरी कोरिया उसका मित्र देश था। जब रूस ने अपने हितों को और अधिक हानि पहुँचने से रोकने के उद्देश्य से परिषद् की बैठकों में भाग लेना शुरू किया तो अमेरिका व उसके मित्र राष्ट्रों ने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध अपने कार्यों के लिए आवश्यक राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए साधारण सभा की ओर देखना शुरू कर दिया। अमेरिका की इच्छानुसार साधारण सभा ने उत्तरी कोरिया की सहायता करने के लिए चीन की आलोचना की तथा 1951 में चीन के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाने की सिफारिश की। ये कदम चार्टर की योजना के अनुसार संयुक्त राष्ट्र द्वारा सामूहिक दबाव द्वारा कार्यवाही करने के उदाहरण थे।

किंतु बारीकी से देखने पर स्पष्ट होता है कि यह सच नहीं है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् को ऐसा निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त थी जो सभी सदस्यों पर बाध्यकारी हों, किंतु परिषद् ने कोरिया के प्रश्न पर ऐसा निर्णय कभी नहीं लिया। इसने केवल कुछ ऐसे तरीके सुझाए जो स्पष्टतः ऐच्छिक प्रकृति के थे। इसका अर्थ है कि पश्चिमी देशों की इच्छानुसार परिषद् के प्रस्ताव लाए गए, जबकि अन्य देशों ने स्वयं को दूर रखा और उनका विरोध किया। इसके अतिरिक्त गंभीर मतभेदों और खतरों को ध्यान में रखते हुए परिषद् के प्रस्तावों में जानबूझ कर चार्टर के सामूहिक दबाव संबंधी प्रावधानों का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया। संयुक्त राष्ट्र ने एक संगठित सदस्यता की बजाए पश्चिमी गुट के देशों के हित में पक्षपातपूर्ण तरीके से काम किया। परिणामस्वरूप, सोवियत रूस और उसके मित्र देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ में पूर्ण अविश्वास व्यक्त किया। अन्त में इसका परिणाम संयुक्त राष्ट्र को शांति स्थापना या उग्रता कम करने और मध्यस्थ की भूमिका निभाने का कोई भी संभावित अवसर प्रदान करने की अस्वीकृति के रूप में हुआ।

18.4.2 1956– एक ऐतिहासिक मीलस्तंभ

कोरिया संकट के प्रति संयुक्त राष्ट्र की भूमिका ने यह सबक सिखा दिया कि अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए बड़ा संकट होने पर क्या किया जाए और क्या नहीं किया जाए, अर्थात् संकट में इसे किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए, बड़ी शक्तियों के झगड़ों में कठपुतली बनने से बचना चाहिए तथा लड़ाई की शीघ्र समाप्ति हेतु कार्य करना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इनसे सबक सीखा है इसका स्पष्टीकरण तब हुआ जब 1956 में इसका मध्य-पूर्व में एक बड़ा सैनिक संघर्ष हुआ। मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर इसे अंतर्राष्ट्रीय नौ-परिवहन के लिए बंद कर दिया। जब ब्रिटेन और फ्रांस ने इज़राइल के साथ सेना भेजकर नहर के आसपास के क्षेत्रों में 31 अक्टूबर को मिस्र पर आक्रमण कर दिया तो स्थिति काफी जटिल हो गई। यह कार्य साफ तौर पर चार्टर में निहित शक्ति के अप्रयोग की अंतर्राष्ट्रीय संहिता तथा संयुक्त राष्ट्र के दो स्थाई सदस्यों द्वारा सबसे पहले उसकी स्थापना के साथ की गई प्रतिबद्धता का खुला उल्लंघन था। जैसी कि आशा थी, ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद् के उस प्रस्ताव को वीटो किया, जिसमें इज़राइल को दोषी बताया गया था और 1949 के संधि-विराम को मानने के लिए कहा गया था। रोचक बात यह है कि दोनों महाशक्तियों ने आक्रमण की आलोचना की और युद्ध से उत्पन्न शत्रुता समाप्त करने की जोरदार माँग की। इस परिस्थिति में साधारण सभा ने "शांति के लिए एकता प्रस्ताव" के प्राधिकार से हस्तक्षेप किया व एक ऐतिहासिक भूमिका निभाई। यद्यपि फ्रांस और ब्रिटेन के आक्रमण का प्रमाण था, फिर भी साधारण सभा ने इस विषय पर अपने प्रस्तावों में संयमित नरम दृष्टिकोण अपनाया। इसने संयुक्त राष्ट्र के तीन सदस्यों द्वारा किए गए आचरण भंग के इस कार्य के लिए "अपराधी' शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि युद्ध से उत्पन्न शत्रुता को तुरंत रोकने और मिस्र के क्षेत्र से विदेशी फौजों की वापसी की माँग की।

इसके लिए साधारण सभा ने सभी पक्षों द्वारा अनुपालना और तत्पश्चात् फौजों की वापसी के निरीक्षण हेतु 1956 में संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन सेना (यू.एन.ई.एफ.) की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्र की अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करने की भूमिका के इतिहास में

यू.एन.ई.एफ. की स्थापना एक नया अध्याय है। यू.एन.इ.एफ. आक्रमण के विरुद्ध लड़ाई करने के उद्देश्य से चार्टर में सोची गई संयुक्त राष्ट्र सेना की तरह नहीं है। यू.एन.ई.एफ. लड़ाई के लिए नहीं, बल्कि युद्धरत देशों के बीच स्वयं को खड़ा कर युद्ध की स्थिति समाप्त करने के उद्देश्य से गठित की गई है।

यू.एन.ई.एफ. के सक्रिय होने के साथ अंतर्राष्ट्रीय मामलों की शब्दावली में एक नया शब्द—"शांति रक्षा" जुड़ गया। संयुक्त राष्ट्र के एक कार्य के रूप में "शांति रक्षा" का स्पष्ट रूप से विश्व संस्था के संस्थापकों द्वारा पूर्वानुमान भी नहीं किया गया था, किंतु विश्व शांति के लिए यह संयुक्त राष्ट्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य बन गया। उदाहरण के लिए 1956 से मध्य-पूर्व में, 1960 के प्रारंभिक वर्षों में कोंगो में और 1964 में साइप्रस में शांति रक्षा अभियान चलाए गए।

संयुक्त राष्ट्र शांति रक्षा अभियानों की एक मुख्य बात यह है कि कुछ आवश्यक अपवादों को छोड़कर स्थाई सदस्यों को इनमें शामिल नहीं किया गया। केवल अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमेरिका के कुछ छोटे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों और यूरोप के कुछ तटस्थ राष्ट्रों (जैसे, स्वीडेन) को ही विभिन्न अभियानों में सैनिक टुकड़ियाँ भेजने के लिए आमंत्रित किया गया था। यद्यपि स्थाई सदस्यों की सद्भावना के बिना कोई भी शांति रक्षा अभियान सफल नहीं हो सकता, किंतु स्थानीय झगड़ों में बड़ी शक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से शामिल होने से रोकने के लिए यह व्यवस्था आवश्यक थी। कई शांति रक्षक अभियानों की सफलता का कारण महासचिवों, विशेष रूप से डेग हेमरस्जोल्ड के समय से, का कुशल मार्ग-प्रदर्शन और नेतृत्व था। फिर भी, शांति रक्षा का मूल्यांकन झूठी आशाओं के दृष्टिकोण से नहीं किया जाना चाहिए। यह विवाद के कारणों का अंतिम हल नहीं करती। इसका उद्देश्य समस्याओं के मूल कारणों का बातचीत के माध्यम से समाधान करने के लिए संबंधित राष्ट्रों के बीच उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना ही है।

18.4.3 अनिश्चिततापूर्ण दशक

कुछ संयुक्त राष्ट्र शांति रक्षक अभियानों की सीमित प्रकृति तथा कुछ अन्य कारणों की वजह से संयुक्त राष्ट्र की शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने की भूमिका में 1960 के दशक के मध्य उत्तरोत्तर कमी हुई है। वियतनाम युद्ध, 1967 में संयुक्त राष्ट्र आपातकालीन सेना की वापसी, 1967 और 1973 के अरब-इज़राइल युद्ध, भारत-पाकिस्तान के बीच 1965 का युद्ध इस अवधि के कुछ विशेष उदाहरण हैं।

महाशक्तियों के संघर्ष में हुई कमी भी, जो धीरे-धीरे 1970 के दशक में पूर्व-पश्चिम के तनाव-शैथिल्य में विकसित हुई, संयुक्त राष्ट्र की कारगर ढंग से शांति बनाए रखने की भूमिका को मजबूत नहीं कर पाई। सार्वजनिक रूप से एक दूसरे को परेशानी में न डालने की नीति के कारण, अमेरिका ने रूस द्वारा 1968 में चैकोस्लोवाकिया में सैन्य हस्तक्षेप करने पर तीव्र प्रतिक्रिया नहीं की। 1956 में रूस द्वारा हंगरी में हस्तक्षेप करने पर संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से जो कुछ अमेरिका करना चाहता था, उसका यह कार्य ठीक उसके विपरीत था।

जब अमेरिका वियतनाम के करतम युद्ध में उलझा हुआ था तो परस्पर आदान-प्रदान के रूप में सोवियत रूस भी चुप एवं तटस्थ रहा। इसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र में एक दूसरे को परेशानी से बचाना ही नहीं था, बल्कि परस्पर हितों की पूर्ति होने तक संयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा करना भी था। उदाहरण के लिए दोनों पक्षों ने संयुक्त राष्ट्र के बाहर शस्त्र नियंत्रण समझौतों, जैसे—परमाणु अस्त्र अप्रसार संधि। (NPT, 1968) और सामरिक शस्त्र परिसीमन संधियों (SALT 1972, 1979) पर वार्ताएँ कीं।

जो भी हो, तनाव शैथिल्य का यह दौर विश्व राजनीति में स्थाई परिवर्तन लाने की दृष्टि से अधिक समय तक नहीं रहा। रूस द्वारा 1979 में अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने के साथ ही तनाव-शैथिल्य की जगह शीतयुद्ध का नया दौर प्रारंभ हो गया। इस नव शीतयुद्ध ने विश्व के विभिन्न भागों में तनाव कम कर सकने की संयुक्त राष्ट्र की क्षमता को काफी अधिक प्रभावित किया है। उनमें से अधिकतर—कम्बोडिया, अफगानिस्तान, दक्षिण अफ्रीका, मध्य अमेरिका, ईरान-ईराक युद्ध, मध्य पूर्व आदि समस्याओं को संयुक्त राष्ट्र के लिए संभाल पाना अत्यधिक कठिन सिद्ध हो रहा है।

18.4.4 ताजा उपलब्धियाँ/सफलताएँ

संयुक्त राष्ट्र नव शीतयुद्ध के दौरान कई उलझी हुई समस्याओं के बारे में कार्यवाही करते हुए अपने प्रस्तावों में उत्तेजक भाषा के प्रयोग से बचने की नीति अपनाता रहा। संयुक्त

राष्ट्र महासचिव ने भी स्वयं अथवा अपने विशेष प्रतिनिधियों के माध्यम से उपरोक्त प्रत्येक समस्या के प्रति किए गए शिथिल प्रयासों को सुझाया और संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों को तीव्र करने के लिए उपयुक्त वातावरण होने तक प्रतीक्षा की। महासचिव को सुरक्षा परिषद् और साधारण सभा दोनों से ही अपने प्रयास करने के लिए अधिकार प्राप्त थे। उदाहरण के लिए, महासचिव पेरेज दि क्वेलर और उनके विशेष प्रतिनिधियों ने 1982 से 1988 की अवधि में अफगानिस्तान और पाकिस्तान के मध्य "अप्रत्यक्ष वार्ताएँ" कराई, जिनका परिणाम अफगान समस्या पर अप्रैल, 1988 में "जिनेवा-समझौते" के रूप में हुआ, जिसके फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में अफगानिस्तान से सोवियत रूस की सेनाओं की वापसी हुई। इसी प्रकार, ईरान-इराक के मामले में संयुक्त राष्ट्र ने अपने प्रयास आठ वर्ष तक जुलाई, 1988 में ईरान-इराक द्वारा युद्ध समाप्त करने की सहमति होने तक जारी रखा। इन सभी तथा अन्य मामलों में हुई उत्साहवर्द्धक प्रगति रूस-अमेरिका के संबंधों में हाल ही में हुए सुधार के कारण संभव हो पाई है।

सोवियत रूस और पूर्वी यूरोपीय देशों में हो रहे परिवर्तनों तथा सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव की "नई-सोच" ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुणात्मक सुधार लाने में काफी योगदान दिया है। गोर्बाचोव ने अंतर्राष्ट्रीय शांति के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कई प्रस्ताव किए हैं। दोनों महाशक्तियों ने हाल ही में अफगानिस्तान, ईरान-इराक, नामीबिया, निकारागुआ आदि में किए गए संयुक्त राष्ट्र शांति रक्षा अभियानों का समर्थन किया है और संयुक्त राष्ट्र इसी प्रकार की भूमिका कम्बोडिया, मध्य अमेरिका और पश्चिमी सहारा में निभाने के लिए तैयार है। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र शांति रक्षा आयोजनों के उनके पिछले योगदान और भविष्य की संभावनाओं के महत्व को मानते हुए उन्हें 1988 का नोबल शांति पुरस्कार दिया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसा लगता है कि हाल ही के वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने कुछ हद तक संयुक्त राष्ट्र में पुनः विश्वास व्यक्त किया है। अभी खाड़ी संकट में, जिसकी बाद में परिणति युद्ध के रूप में हुई, संयुक्त राष्ट्र द्वारा निभाई गई भूमिका ध्यान देने योग्य है।

कुवैत पर इराक के आक्रमण से उत्पन्न स्थिति से निपटने में सैनिक रूप से सक्षम होने के बावजूद विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमेरिका ने भी संयुक्त राष्ट्र की मदद के बिना स्वयं को समस्या में उलझाना उपयुक्त नहीं समझा। सुरक्षा परिषद् के पिछले कुछ वर्षों के इतिहास में प्रथम बार खाड़ी मुद्दे पर वास्तव में मतैक्य जैसी स्थिति हुई और इसने संकट को हल करने और खाड़ी क्षेत्र में शांति स्थापना के लिए कुल बारह प्रस्ताव स्वीकृत किए।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) संयुक्त राष्ट्र की शांति एवं रक्षा अभियानों की प्रमुख विशेषताओं को बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) संयुक्त राष्ट्र की शांति एवं रक्षा अभियानों के कुछ नवीनतम उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

18.5 सारांश

कम्प्यूटर के इस युग में हम समस्याओं के तुरन्त समाधान की अपेक्षा करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की यह आलोचना की जाती रही है कि ज्वलंत समस्याओं की ओर यह ध्यान नहीं देता। इस आलोचना का उत्तर यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ तत्काल परिणाम देने वाली जिरोक्स मशीन की तरह नहीं है। राष्ट्रों के मध्य शांति बनाए रखने के लिए व्यापक शक्तियाँ दिए जाने के तथ्य के बावजूद भी संयुक्त राष्ट्र की संरचना सदस्य राष्ट्रों की इच्छाओं के ऊपर कार्य करने वाली विश्व सरकार के रूप में नहीं की गई थी। संयुक्त राष्ट्र की सफलता राष्ट्रों के समुदाय द्वारा दिए गए सहयोग पर निर्भर करेगी। इस सहयोग के मिलने पर संयुक्त राष्ट्र ने हमेशा शान्ति व सुरक्षा के लिए अपनी उपयोगिता सिद्ध की है और करता रहेगा।

18.6 शब्दावली

विवाद/संघर्ष : ऐसी स्थिति, जिसमें एक या एक से अधिक राष्ट्रों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सैनिक शक्ति का प्रयोग किया गया हो।

वीटो या निषेधाकार : चार्टर द्वारा स्थाई सदस्यों को नकारात्मक मत देने और किसी महत्वपूर्ण प्रस्ताव की स्वीकृति रोकने हेतु प्रदत विशेष अधिकार।

देतान्त या तनाव-शैथिल्य : मूलतः फ्रेंच शब्द है, जिसका अर्थ है, दो देशों के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्धों में कमी होना।

प्रस्ताव : किसी दिए गए प्रश्न पर विचारित दृष्टिकोण के औपचारिक कथन/बयान से युक्त विधिक रूप से स्वीकृत दस्तावेज।

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.एल. बेनेट : अन्तर्राष्ट्रीय संगठन-सिद्धान्त और मुद्दे (1984) (तृतीय संस्करण, एन.जे. एंजिलवुड, प्रेन्टिस हॉल)

एच.जी. निकोलस : एक राजनीतिक संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ (1975) (पांचवाँ संस्करण, लंदनः ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस)

एम.एस. राजन, बी.एस. मणि और सी.एस.आर. मूर्ति : गुटनिरपेक्षता और संयुक्त राष्ट्र संघ (1987) (साउथ एशियन पब्लि., नई दिल्ली)

के.पी. सक्सेना : संयुक्त राष्ट्र संघ और सामूहिक सुरक्षा : एक ऐतिहासिक विश्लेषण (1974) (डी.के. पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली)

संयुक्त राष्ट्र संघ : संयुक्त राष्ट्र संघ के मूलभूत तथ्य (1985) (जन सूचना विभाग, न्यूयार्क)

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) साधारण सभा सिफारिश कर सकती है, जबकि सुरक्षा परिषद् निर्णय लेती है और कार्य करती है। सिफारिशें सदस्य राष्ट्रों पर बाध्यकारी नहीं हैं, जबकि निर्णय बाध्यकारी हैं।

2) किसी प्रस्ताव के प्रति सहमति देने से मना करने या उसके विरुद्ध मत देने का अधिकार है, जो केवल संयुक्त राष्ट्र के पाँच स्थाई सदस्यों—चीन, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका को प्राप्त है।

बोध प्रश्न 2

1) शीत युद्ध की राजनीति के कारण जो बार-बार निषेधाधिकार के प्रयोग रूप में अभिव्यक्त हुई तथा जिसे पूर्वी और पश्चिमी शक्ति गुटों द्वारा व्यवहार में अपनाया गया।

2) पूर्व-पश्चिम के मध्य देतान्त से संयुक्त राष्ट्र की भूमिका अधिक कारगर नहीं हुई, बल्कि इसके परिणामस्वरूप महाशक्तियों ने प्रमुख अवसरों पर जैसे–1973 के अरब-इजराइल युद्ध, संयुक्त राष्ट्र संघ की उपेक्षा की।

बोध प्रश्न 3

1) प्रायः गुटनिरपेक्ष और तटस्थ देशों की सेनाओं से मिलकर बनी होती है, जो किसी के विरुद्ध युद्ध नहीं करते, क्योंकि ये किसी देश को शत्रु नहीं मानते, संघर्षरत पक्षों के मध्य भेदभाव नहीं करते (अतः तटस्थ हैं) तथा जिस देश में उन्हें तैनात किया जाता है, उसके मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते। वे केवल सम्बन्धित पक्षों की सहमति से ही जाते हैं और कार्य करते हैं।

2) अफगानिस्तान, ईरान-इराक, अंगोला, नामीबिया, निकारागुआ, इराक-कुवैत आदि में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को बताएं।

इकाई 19 निरस्त्रीकरण के प्रयास

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 संबंधित अवधारणाएँ और उनके अर्थ
  19.2.1 हथियारों की होड़
  19.2.2 निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण
19.3 निरस्त्रीकरण का तर्काधार
  19.3.1 मानव जीवन का संरक्षण
  19.3.2 पारिस्थितिकीय तर्काधार
  19.3.3 आर्थिक तर्काधार : निरस्त्रीकरण और विकास
19.4 निरस्त्रीकरण में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका
19.5 भारत, निर्गुट आंदोलन और निरस्त्रीकरण
19.6 शस्त्र परिसीमन और निरस्त्रीकरण समझौते : एक सामान्य समीक्षा
19.7 निरस्त्रीकरण : भावी संभावनाएँ
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में शस्त्रों की होड़ के अंतर्निहित कारणों, निरस्त्रीकरण की आवश्यकता और आम तौर पर पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रयासों का अध्ययन किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- शस्त्रों की होड़, शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण के अर्थ को समझा पायेंगे,
- निरस्त्रीकरण और विकास के बीच के सूत्रों को जान पायेंगे,
- निरस्त्रीकरण के पक्ष में दिये जाने वाले विभिन्न तर्कों को बता पायेंगे,
- निरस्त्रीकरण की दिशा में किये गये विभिन्न उपायों की रूपरेखा प्रस्तुत कर पायेंगे, और
- इन उपायों की असफलता के कारण और निरस्त्रीकरण की भावी संभावनाओं के विषय में बता पायेंगे।

19.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग में मनुष्य का जीवन नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रौद्योगिकीय ज्ञान में हुई जबरदस्त प्रगति के परिणामस्वरूप एकदम बदल गया है। आज, मनुष्य का प्रकृति पर कहीं अधिक नियंत्रण है, उसकी उत्पादन क्षमता प्राकृतिक संसाधनों के अधिकाधिक सदुपयोग के कारण बहुत बढ़ गयी है, और वह रोगों से अब कहीं अधिक प्रभावी ढंग से लड़ सकता है। लेकिन, कहानी यहीं खत्म नहीं होती। इस तथाकथित आधुनिक युग में मनुष्य का भविष्य कितना भी सुरक्षित और सुविधाजनक क्यों न हो, लेकिन वह एक घातक स्थिति, अर्थात् राष्ट्रों द्वारा जन संहार के हथियारों के उत्पादन और भंडारण, के हाथों गिरवी रखा हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्वाधीन इकाइयों के रूप में काम कर रहे प्रभुता संपन्न राष्ट्र हथियारों की बे-रोक होड़ में लगे हुए हैं। विश्व युद्ध के बाद विश्व, जो दो महाशक्तियों के नेतृत्व में दो अलग-अलग खेमों में बंट गया था, उसके कारण इन दोनों खेमों में हथियारों की होड़ में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दोनों महाशक्तियों ने केवल अपनी

राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये ही नहीं, बल्कि अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा के लिये भी अनेक सैन्य सिद्धांतों का विकास किया। इस सबके परिणामस्वरूप नये हथियारों, विशेषकर नाभिकीय (न्यूक्लियर) हथियारों, का उत्पादन हुआ। दोनों महाशक्तियां-स्वयं तो भयंकर शस्त्र-होड़ में लगी ही थीं, उन्होंने विकासशील देशों में अपने आश्रित राज्यों को भी हथियार देना शुरू कर दिया। यह विश्व स्तर पर उनकी शत्रुता का तार्किक विस्तार था। विश्व में हथियारों की होड़ का तीसरा कारण विशुद्ध रूप से व्यावसायिक था, अर्थात् धन कमाने के लिये तीसरी दुनिया के देशों को हथियार बेचना। इस तरह विश्व सैन्यीकरण की स्थिति बनी, जिसका अर्थ था विश्व के सभी हिस्सों में हथियारों की होड़, सैन्य हथियारों की संख्या और स्तर में कई गुना वृद्धि होने लगी।

विश्व युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का मुख्य आधार यह धारणा थी कि विरोधी को रोकने के लिये हथियारों का भारी भंडार जमा कर शांति को सुनिश्चित किया जा सकता है। लेकिन इस धारणा ने शांति को सुनिश्चित करना तो दूर, इस धरती पर जीना खतरनाक बना डाला है। अब तक जितने नाभिकीय हथियार जमा हो चुके हैं वे धरती को कई-कई बार नष्ट करने को पर्याप्त हैं। इस भयावह स्थिति से हथियारों की पागल या अंधाधुंध होड़ पर तुरंत और प्रभावी नियंत्रण लगाने की चिंता, और निरस्त्रीकरण की दिशा में गंभीर और सच्चे प्रयास करने की आवश्यकता पैदा हुई। वैसे तो निरस्त्रीकरण अपने आप में हथियारों की होड़ जैसी ही जटिल प्रक्रिया है, फिर भी इसे यदि प्रभावी ढंग से लागू किया जाये तो इससे अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, निर्धनता और विकास, और वैकल्पिक विश्व व्यवस्था जैसी मनुष्य जाति की कुछ नितांत बुनियादी समस्याओं का हल निकल सकता है।

19.2 संबंधित अवधारणाएँ और उनके अर्थ

19.2.1 हथियारों की होड़

निरस्त्रीकरण की मूल धारणा हथियारों के अस्तित्व को मान कर चलती है। दूसरे शब्दों में, निरस्त्रीकरण की आवश्यकता इसलिये है क्योंकि हथियारों के भंडार लगाये जा रहे हैं। वर्तमान संदर्भ में, हथियारों के जमाव के लिये हथियारों की होड़ की चालू स्थिति को उत्तरदायी कहा जा सकता है। सवाल अब यह उठता है कि हथियारों की होड़ क्या है और यह क्यों होती है। जब दो देश या देशों के दो समूह भी गुट अपने यहां उत्पादन करके या विदेश से मंगा कर हथियारों का भंडार लगाने लगते हैं तो कहा जाता है कि उनमें हथियारों की होड़ चल रही है। हथियारों की होड़ का स्रोत दो देशों के बीच की शत्रुता या प्रतिद्वंद्विता होती है। बहुत हद तक, किसी देश की शस्त्र-नीति इस आधार पर बनायी जाती है कि उसके सामने क्या खतरे हैं। जब किसी देश को अपने किसी शत्रु देश, अधिकांशतः पड़ोसी देश, से अपनी सुरक्षा के लिये खतरा होता है तो, वह अपने आपको हथियारबंद करने की प्रक्रिया को तेज कर देता है। इस प्रक्रिया में वह केवल अपने हथियारों की संख्या में ही वृद्धि नहीं करता, उनके स्तर को भी बढ़ाता है। फिर दूसरा देश इसे अपनी सुरक्षा के लिये एक नया खतरा मान लेता है और वह इसके जवाब में तुरंत अपने प्रतिद्वंद्वी के हथियारों की बराबरी करने, और यदि संभव हो तो उससे आगे निकलने की कोशिश में लग जाता है। इससे हथियारों की होड़ की स्थिति बनती है जो तब तक बनी रहती है जब तक एक दूसरे से भय बना रहता है। ये भय हमेशा सच्चे नहीं होते। इसके विपरीत, अधिकांश मामलों में, हथियारों की दौड़ का कारण झूठे भय होते हैं। कई बार तो बाहरी ताकतें देशों को उदारता से आधुनिक हथियार देकर उन्हें हथियारों की होड़ के लिये उकसाती हैं। बड़ी ताकतें अपने सामरिक और आर्थिक हित-साधन के लिये ऐसा करती हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह आवश्यक नहीं है कि हथियारों की होड़ केवल दो शत्रु देशों के बीच ही बने, एक समूचा विशिष्ट क्षेत्र भी हथियारों की होड़ में जकड़ सकता है। उदाहरण के लिये, क्रमशः पश्चिम और पूर्व के प्रतीक, नाटो और वारसा संधि के देश, दो सैन्य समूह हैं जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से हथियारों की होड़ में लगते हैं।

19.2.2 निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण

निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण ये दोनों शब्द एक-दूसरे से बहुत संबंधित होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। बहुत सामान्य अर्थों में लिया जाये तो, निरस्त्रीकरण विद्यमान

हथियारों को कम करने या उन्हें नष्ट करने से संबंध रखता है। वस्तुतः निरस्त्रीकरण, सीमित या विस्तृत निरस्त्रीकरण हो सकता है और व्यापक संदर्भों में, निरस्त्रीकरण "शांति की एक ऐसी स्थिति" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है "जिसमें राष्ट्र राज्य अपने बीच के विवादों को निपटाने के लिये युद्ध में लगने वाले हथियारों और खुद युद्ध का अपनी इच्छा से त्याग करते हैं। "निरस्त्रीकरण" को एक नीति बताते हुए, जे. डब्ल्यू. बर्टन कहता है: "केवल एक नीति ऐसी उभरी है जिसे प्रतिद्वंद्वी शक्ति समूहों या गुटों, की खुली, या स्पष्ट, स्वीकृति मिली हो, और वह नीति निरस्त्रीकरण की नीति है" अंतरराष्ट्रीय राजनीति के एक जाने-माने सिद्धांतविद हैंस जे. मार्गेनथॉ ने निरस्त्रीकरण को "हथियारों की होड़ को समाप्त करने के उद्देश्य से कुछ या सभी हथियारों को कम या नष्ट करने" की प्रक्रिया बताया है। निरस्त्रीकरण का परिभाषक अर्थ जो भी हो जब राष्ट्र राज्य एक सचेत नीति के रूप में इसे अपनाते हैं तो इसका लक्ष्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की सुनिश्चितता बनाना होता है जो धरती पर जीवन को बचाये रखने के लिये बहुत आवश्यक भी है। यह एक स्थिर विश्व व्यवस्था की भी पहली शर्त है।

निरस्त्रीकरण का संबंध केवल विद्यमान हथियारों को कम या नष्ट करने से होता है, इसलिये यह भविष्य में हथियारों के उत्पादन और उनकी भरमार के मसले से निपटने के मामले में कुछ नहीं कर पाता। तेजी से विकास करती प्रौद्योगिकी के कारण हथियार बहुत जल्दी अप्रचलित (या, पुराने जमाने की चीज, होकर रह जाते हैं: बहुत जल्दी-जल्दी बेहतर और उनसे भी बेहतर हथियारों का उत्पादन हो रहा है। इन भावी हथियारों पर कैसे नियंत्रण किया जाये? उन पर कैसे रोक लगायी जाये? जिस प्रक्रिया से इसे अंजाम दिया जाता है उसे शस्त्र नियंत्रण कहते हैं। जैसा कि इस जुमले से स्पष्ट है, शस्त्र नियंत्रण का उद्देश्य भविष्य में हथियारों की परिमाणात्मक और गुणात्मक भरमार को रोकना और उसे नियंत्रण में रखना है। मार्गेनथो ने निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण में इस तरह भेद किया है: "निरस्त्रीकरण का अर्थ तो हथियारों को कम करना या उन्हें नष्ट करना होता है, जबकि शस्त्र नियंत्रण का संबंध सैन्य स्थिरता बनाने के लिये हथियारों की होड़ को नियंत्रण करने से है "फिर, निरस्त्रीकरण ऐसा भी हो सकता है जो नियंत्रित न हो, और नियंत्रण ऐसा भी हो सकता है जिसमें हथियारों को कम करना शामिल न हो, लेकिन ऐसे अंतरों के बावजूद, निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण शब्द एक दूसरे के पूरक हैं। इस विश्व में जहां पूर्ण निरस्त्रीकरण अभी भी दूर का सपना है, हथियारों की होड़ को सीमित करके शस्त्र नियंत्रण करने की प्रक्रिया से निरस्त्रीकरण की दिशा में होने वाले प्रयास और भी आसान हो जाते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) हथियारों की होड़ क्या है? यह क्यों होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण में क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.3 निरस्त्रीकरण का तर्काधार

निरस्त्रीकरण को केवल एक नैतिक मुद्दा नहीं माना जाता, बल्कि आज समूचे विश्व के सामने जो अनेक समस्याएं हैं, निरस्त्रीकरण के उनके आदर्श समाधान के रूप में देखा जाता है। व्यापक विनाश करने वाले हथियारों का भारी जमाव मनुष्य जाति के जीवन के लिये खतरा पैदा करने वाला है। आज नाभिकीय शक्तियों के पास जितने घातक नाभिकीय हथियार हैं, उनसे इस धरती को ही कई-कई बार नष्ट किया जा सकता है। यह बात भी इतनी ही महत्वपूर्ण है कि निरस्त्रीकरण इस बात की बहुत अधिक संभावना बनाता है कि एक बहुत बड़ी धनराशि को हथियारों की होड़ से हटा कर विश्व के जरूरतमंद और गरीब लोगों की जीवन-स्थितियों को बेहतर बनाने की ओर लगा दिया जाये। इन लोगों की जीवन स्थितियों को जो कथित "तीसरे विश्व" में रहते हैं। यहां हम इन मुद्दों की विस्तार से पड़ताल कर सकते हैं:

19.3.1 मानव जीवन का संरक्षण

आज पूरी मानव जाति नाभिकीय हथियारों की बंधक बनी हुई है। 1945 में हिरोशिमा, जापान, पर फोड़े गये पहले नाभिकीय बम के बाद से, विश्व में नाभिकीय हथियारों की लगातार भरमार हो रही है। इन हथियारों को बहुत अधिक घातक भी बना डाला गया है। निरंतर बदलती प्रौद्योगिकी ने इन हथियारों के प्रक्षेपण को भी बहुत सटीक बना दिया है। नाभिकीय हथियारों की कुल संख्या 50,000 को भी पार कर चुकी है, और यह संख्या मानव जाति को कई-कई बार नष्ट करने के लिये पर्याप्त से भी अधिक है। नाभिकीय ताकतें "सीमित नाभिकीय युद्ध" की बात तो करती रहती हैं, लेकिन यदि नाभिकीय युद्ध शुरू हो ही गया तो, इस बात की पूरी संभावना है कि यह नियंत्रण से बाहर हो जायेगा और जितने भी नाभिकीय हथियार इस समय हैं उन सभी का इस्तेमाल उसमें कर लिया जायेगा। ऐसी स्थिति में युद्ध करने वाले देशों की आबादी तो नष्ट होगी ही, बाकी विश्व मे फैली और आबादी भी कष्ट में पड़ जायेगी। यह आवश्यक नहीं है कि नाभिकीय हथियार चलने से समूची मानव जाति ही मर जाये। लेकिन, जो लोग जीवित बच भी जायेंगे वे संभवतः एक धीमी और कष्टदायी मौत मरेंगे, क्योंकि इन हथियारों के छोड़े जाने के दूरगामी परिणामस्वरूप विकिरण, परिस्थितिकीय (या पर्यावरण के) बदलाव, पूरे विश्व में तापमान में अचानक गिरावट जैसी स्थितियां बन जायेंगी। इसलिये, धरती पर जीवन का संरक्षण निरस्त्रीकरण का सबसे पहला तर्काधार होता है।

19.3.2 पारिस्थितिकीय तर्काधार

इस धरती पर, वनस्पति जीवन और प्राणी जीवन दोनों ही प्रतीक रूप में एक-दूसरे से संबंधित हैं: दूसरे शब्दों में, दोनों ही अपने-अपने अस्तित्व के लिये एक-दूसरे पर निर्भर हैं। प्रकृति ने विभिन्न जीवन रूपों के बीच एक बढ़िया संतुलन बनाया हुआ है। यह संतुलन गड़बड़ा जाये तो, प्राणियों के लिये विनाश की स्थिति आ जायेगी। व्यापक विनाश के हथियार इस संतुलन के लिये खतरा है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि धरती पर जीवन को संभव बनाने वाले इस संतुलन को बनने में लाखों वर्ष लगे हैं। लेकिन केवल कुछ हजार नाभिकीय हथियार इस संतुलन को बिगाड़ने के लिये काफी हैं। और, अगर एक बार यह संतुलन बिगड़ गया तो इस धरती पर उसे कभी बनाया न जा सकेगा। इस तरह, धरती पर जीवन को संभव बनाने वाली प्रमुख पोषक व्यवस्थाओं के लिये किसी न किसी समय व्यापक विनाश के हथियारों का इस्तेमाल हो जाने की संभावना के कारण लगातार खतरा बना हुआ है। जोनाथन शेल ने अपनी पुस्तक "फेट ऑफ अर्थ" में नाभिकीय हथियारों के पर्यावरण पर पड़ने वाले (परिस्थितीय) प्रभाव का स्पष्ट वर्णन किया है। उनमें से कुछ से तो सचमुच भयावह स्थितियां बनती हैं। उदाहरण के लिये, अगर दोनों महा-शक्तियों के बीच नाभिकीय हथियार चल गये तो, उससे कथित नाभिकीय शीतकाल की स्थिति बन जायेगी। नाभिकीय अस्त्र चलने के बाद जो धुंआ, धूल और कालिख बनेगी उनसे पृथ्वी का वातावरण ढंक जायेगा जिससे सूरज की किरणें पृथ्वी तक नहीं पहुंच पायेंगी। इससे तापमान में कई अंशों की गिरावट आ जायेगी, जिससे कृषि-उत्पादन और खुद जीवन असंभव हो जायेगा।

19.3.3 आर्थिक तर्काधार : निरस्त्रीकरण और विकास

निरस्त्रीकरण और विकास के बीच किसी सूत्र की तलाश का क्षेत्र बिल्कुल नया तो नहीं है, फिर भी यह हाल ही में विकसित हुआ है। पहले, निरस्त्रीकरण का संबंध शांति और

सुरक्षा की समस्याओं से अधिक हुआ करता था। धीरे-धीरे विश्व की अर्थव्यवस्था के संकट बिंदु पर पहुंचने के साथ यह संबंध विकास के साथ जोड़ा जाने लगा। दूसरे शब्दों में, विश्व में दो स्थितियां बनने लगीं। एक ओर तो, अधिकाधिक धन और विश्व संसाधनों को हथियारों के उत्पादन, प्रतिरक्षा संबंधी प्रौद्योगिकी के विकास और हथियारों की प्राप्ति की दिशा में मोड़ा जा रहा था। दूसरी ओर गरीब और अमीर देशों के बीच की खाई और भी चौड़ी होती जा रही थी। जो लोग विकास की समस्या से जुड़े थे, उन सभी का यह निष्कर्ष था कि जब तक हथियारों की होड़ चलती रहेगी, तब तक विकास संभव नहीं होगा। इंगा टॉर्सन की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति ने एक संयुक्त राष्ट्र संघ की रपट तैयार की थी, जिसमें यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है : "विश्व या तो अपने विशिष्ट उत्साह के साथ हथियारों की होड़ में लगा रह सकता है, या फिर अधिक सचेत होकर और सायास गति के साथ कहीं अधिक स्थायी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के भीतर एक अधिक स्थिर और संतुलित सामाजिक और आर्थिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है। विश्व ये दोनों काम एक साथ नहीं कर सकता। यह मानना चाहिए कि हथियारों की होड़ और विकास के बीच प्रतिद्वंद्विता का संबंध है। आर्थिक वृद्धि और विकास, बेशक, हथियारों की होड़ चालू रहने पर भी होंगे, लेकिन यह तुलनात्मक रूप से धीमे होंगे और विश्व भर में इनकी स्थिति एक-सी नहीं होगी। सामाजिक-आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तेज़ करने के लिए हथियारों की होड़ को समाप्त करने की वांछनीयता के विषय में विवाद करना वस्तुतः असंभव होगा।"

उपर्युक्त विवरण स्पष्ट रूप से इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि निरस्त्रीकरण और विकास का संबंध प्रतिद्वंद्विता का है। उस समय जबकि धरती के गरीब हिस्सों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए विरल संसाधनों की अत्यधिक आवश्यकता है, और औद्योगीकृत बड़ी ताकतें इन्हें हथियारों की होड़ में व्यर्थ खर्च किए दे रही हैं। आंकड़ों से पता चलता है कि इस समय छह करोड़ लोग सेना से संबंधित व्यवसायों में लगे हुए हैं। विश्व का सैनिक खर्च दस खरब डॉलर तक पहुंच चुका है। विनाश के उद्देश्य लिए विरल संसाधनों की यह भारी बर्बादी है। विश्व के कुल सैनिक खर्च का 80 प्रतिशत तो अकेले कुछ औद्योगीकृत देश ही कर देते हैं। इस खर्च का केवल एक हिस्सा ही अगर बचा लिया जाए तो उससे गरीब विकासशील देशों को उनकी बुनियादी आवश्यकताओं और विकास-कार्यों के लिए विशाल धनराशि उपलब्ध कराई जा सकती है। उदाहरण के लिए, विकासशील देशों की भोजन और स्वास्थ्य की बुनियादी आवश्यकताओं के लिए चलने वाले किसी दस वर्षीय कार्यक्रम में जितना धन लगता है, वह विश्व में होने वाले वार्षिक सैनिक खर्च के आधे से भी क्रम बैठेगा। इस तमाम कारणों से निरस्त्रीकरण केवल एक नैतिक अनिवार्यता नहीं बल्कि आर्थिक आवश्यकता भी बन जाती है। हाल में, यह अधिकाधिक महसूस किया जाने लगा है कि निरस्त्रीकरण और विकास के बीच संरचनात्मक संबंध हैं। इसीलिए, कथित "विकासोन्मुख निरस्त्रीकरण" पर जोर दिया जाता है। इस रपट में यह सुझाव दिया गया था कि निरस्त्रीकरण की समस्या को विश्व के विकास संबंधी मुद्दों के कहीं अधिक व्यापक ढांचे में रखकर देखा जाना चाहिए। रपट में यह व्यक्त किया गया कि विकासशील देशों की समस्याओं का समाधान, अन्य बातों के अलावा, ईमानदारी से किए गए निरस्त्रीकरण में है। ओलोफ पाल्मे ने भी "कॉमन सिक्योरिटी : ए प्रोग्राम फॉर डिसार्मामेन्ट" (सामान्य सुरक्षा : निरस्त्रीकरण का कार्यक्रम) शीर्षक से अपनी रपट में यही बात दुहरायी। पाल्मे के शब्दों में, "हम ब्रांट आयोग के इस विचार के हामी हैं कि उत्तर और दक्षिण का विश्व की अर्थव्यवस्था की बहाली में आपसी हित है। विशाल सैनिक तंत्र को पूर्णता देने के लिए काम करने वाले वैज्ञानिकों, तकनीशियनों, दूसरे कुशल कर्मचारियों और सेना पर खर्च किए जाने वाले सरकारी राजस्व उन कुछ संसाधनों में से हैं, जो सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने और विकास के वित्त की व्यवस्था करने के लिए उपलब्ध हैं।"

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि आज निरस्त्रीकरण का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि इसका संबंध अब केवल शांति और सुरक्षा से ही नहीं रह गया है बल्कि यह और भी आगे जाकर, विश्व के तमाम सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को अपने में समेटता है। इस अर्थ में, निरस्त्रीकरण पहले के शांति के आयाम के अलावा एक गंभीर आर्थिक आयाम का भी प्रतीक है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

1) निरस्त्रीकरण के विभिन्न तर्काधारों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) "निरस्त्रीकरण नहीं तो, विकास नहीं"। क्या आप इस नारे से सहमत हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

19.4 निरस्त्रीकरण में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र संघ का जो प्रातिनिधिक चरित्र है, उसके चलते वह निरस्त्रीकरण पर बहस, विचार-विमर्श के लिए और निरस्त्रीकरण को लागू करने के उपाय सुझाने के लिए भी सबसे उपयुक्त मंच हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का वाहन "आने वाली पीढ़ियों को युद्ध के संकट से बचाने और अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देने' के बुनियादी लक्ष्य को सामने रखकर किया गया था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, अपने गठन के समय से ही निरस्त्रीकरण के जटिल मुद्दों से निपटने के कड़े प्रयास किए हैं। इन उद्देश्यों के अनुसार ही, संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में बल प्रयोग या उसकी धमकी का निषेध है, अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान का प्रावधान है, और शांति को खतरे, शांति का उल्लंघन करने और आक्रमण की कार्यवाहियों के संबंध में कार्यवाही करने के तंत्र पर विस्तार से चर्चा है। इन प्रावधानों ने ही निरस्त्रीकरण के उद्देश्यों को प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक सामान्य कानून और राजनीतिक ढांचे की स्थापना की। घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 11 में साधारण सभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह निरस्त्रीकरण और हथियारों के विनियमन को नियंत्रित करने वाले सिद्धांतों पर विचार करे और इस प्रकार के सिद्धांतों के संबंध में अपने सदस्यों या सुरक्षा परिषद् को या दोनों को ही सिफारिशें दे।

इस तरह, निरस्त्रीकरण संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य सूची में सबसे ऊपर है। अभी तक, संयुक्त राष्ट्र संघ ने निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए साधारण सभा की केवल तीन विशेष बैठकें की हैं। 1978 में संपन्न पहली बैठक में हथियारों पर बढ़ते खर्च पर चिंता व्यक्त की गई। इस खर्च का एक बड़ा हिस्सा नाभिकीय हथियारों वाले राज्यों पर दूसरी बड़ी सैन्य ताकतों के खाते में था, लेकिन दूसरे देशों का सैन्य खर्च भी बढ़ रहा था। इस बैठक में इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से 1970 के दशक के मध्य तक पारंपरिक हथियारों से 100 से अधिक युद्ध लड़े गए जिनमें कई लाख जानें गईं। इस बैठक में इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि विश्व बहुत पहले उस बिंदु पर पहुंच चुका है, जहां सुरक्षा केवल निरस्त्रीकरण में और सभी देशों के बीच अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विस्तार में ही ढूंढ़ी जा सकती है। पहली बैठक के अंतिम दस्तावेज़ में यह घोषणा की गई कि सभी राज्यों का अंतिम लक्ष्य तो प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण बना रहना चाहिए, लेकिन निकटतम लक्ष्य नाभिकीय युद्ध के खतरे को समाप्त करना और हथियारों की होड़ को रोकने, बंद करने और स्थायी शांति के लिए मार्ग साफ करने के लिए किए जाने वाले प्रयासों को लागू करना था। इस दस्तावेज़ में यह भी घोषणा थी कि निरस्त्रीकरण के प्रमुख लक्ष्य थे मानव जाति के जीवित रहने को सुनिश्चित करना, युद्ध, विशेषकर, नाभिकीय युद्ध, के खतरे को समाप्त करना, यह सुनिश्चित करना कि युद्ध को अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने के लिए हथियार के रूप में और आगे इस्तेमाल नहीं किया जाएगा, और यह कि बल प्रयोग और बल प्रयोग की धमकी को अंतर्राष्ट्रीय जीवन से मिटा दिया जाएगा। निरस्त्रीकरण के विषय में होने वाली बातचीत

के लिए जो प्राथमिकताएं तय की गईं वे थीं : नाभिकीय अस्त्र, व्यापक विनाश के दूसरे हथियार जिनमें अत्यधिक घातक या विनाशकारी प्रभाव के अस्त्र शामिल हैं, और सशस्त्र सेनाओं में कटौती।

सन् 1982 में हुई दूसरी बैठक में, साधारण सभा किसी विशिष्ट कार्यवाही की दिशा पर एकमत नहीं हो पाई। फिर भी, इस बैठक में नाभिकीय युद्ध को टालने की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका को मज़बूत करने का भी संकल्प किया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह रही कि इस बैठक में समूचे विश्व में लोगों को इस विषय पर जानकारी देने और शिक्षित करने की गरज से एक विश्व निरस्त्रीकरण अभियान शुरू की गई। 1988 में संपन्न संयुक्त राष्ट्र संघ की तीसरी विशेष बैठक में महाशक्तियों के बीच आई.एन.एफ समझौते का स्वागत किया गया और एक बार फिर सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण की आवश्यकता को दोहराया गया। इस बैठक में एक समयबद्ध ढंग से सभी नाभिकीय अस्त्रों को नष्ट करने और पारंपरिक हथियारों में भारी कटौती करने की मांग की गई।

इस तरह, संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व निरस्त्रीकरण अभियान के लिए सबसे उपयुक्त संघ के रूप में सचमुच एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

19.5 भारत, निर्गुट आंदोलन और निरस्त्रीकरण

संयुक्त राष्ट्र संघ के अतिरिक्त, निर्गुट आंदोलन ने निरस्त्रीकरण के उपायों पर विचार-विमर्श के लिए एक और उपयुक्त मंच का काम किया है। 1961 में, बेलग्रेड में अपने पहले ही शिखर सम्मेलन में, निर्गुट आंदोलन ने अपने सदस्यों से हथियारों की होड़ से बाहर रहने का आग्रह किया और यह मांग रखी कि निरीक्षण और नियंत्रण की प्रभावी व्यवस्था के ज़रिए सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण को सुनिश्चित किया जाए। 1964 में, काहिरा में, निर्गुट आंदोलन ने निरस्त्रीकरण को सर्वोच्च महत्ता दी, ताकि मानवता को नाभिकीय विध्वंस के खतरे से बचाया जा सके। आंदोलन ने नाभिकीय शक्तियों को यह उपदेश दिया कि वे सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण पर जितनी तेज़ी से हो सके किसी समझौते पर पहुँचने का प्रयास करें। 1970 के लुसाका अधिवेशन में नाभिकीय निरस्त्रीकरण के लिए विशिष्ट उपायों की रूपरेखा पेश की गई। इसमें हथियारों के उद्देश्य के लिए विखंडित हो सकने वाले सामानों के उत्पादन पर तुरंत पाबंदी, और शांतिपूर्ण उपयोगों के लिए उनका प्रयोग, नाभिकीय अस्त्रों के उत्पादन को बंद करना, और नाभिकीय अस्त्रों के मौजूदा भंडारों को कम और नष्ट करना शामिल थे। 1973 में अल्जीयर्स में हुए निर्गुट आंदोलन के अगले शिखर सम्मेलन में इस बात पर ध्यान दिया गया कि पारंपरिक हथियारों के प्रवाह से निर्गुट देशों की सुरक्षा को खतरा था और इससे तनाव बढ़ते थे। इस सम्मेलन में "सार्वभौमिक (विश्व भर में) और पूर्ण-निरस्त्रीकरण की भी मांग उठाई गई। इस सम्मेलन में निरस्त्रीकरण पर एक अंतर्राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाने का भी सुझाव रखा गया और यह मांग की गई कि नाभिकीय अस्त्रों के परीक्षण पर तुरंत रोक लगाई जाए। 1976 में कोलंबो में संपन्न हुए निर्गुट आंदोलन के शिखर सम्मेलन में निरस्त्रीकरण की नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था से जोड़ा गया, जिसके अनुसार, "हथियारों की होड़ को तेज करने के लिए जिन संसाधनों का इस्तेमाल किया जा रहा है उन्हें, विशेष कर विकासशील देशों के सामाजिक-आर्थिक विकास की दिशा में मोड़ने की तुरंत आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, हथियारों की होड़ नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के प्रयासों के अनुरूप नहीं है।" इसी तरह, 1978 में हवाना में हुई निर्गुट आंदोलन की बैठक में अंतर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया के सामने गंभीर खतरों, और चल रही हथियारों की होड़ पर ध्यान दिया गया। इसमें यह मांग की गई कि निरस्त्रीकरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की जो पहली विशेष बैठक हुई थी, उसमें बनाए गए कार्यवाही कार्यक्रम को तुरंत लागू किया जाए। इसमें यह भी मांग की गई कि नाभिकीय अस्त्रों और उनके प्रक्षेपण के साधनों के गुणात्मक सुधार पर तुरंत रोक लगाई जाय।

निर्गुट आंदोलन के नई दिल्ली और हरारे में संपन्न शिखर सम्मेलनों में भी नाभिकीय हथियारों की होड़ के विनाशकारी मानवीय, आर्थिक और पारिस्थितिकीय परिणामों पर चिंता व्यक्त की गई। अभी हाल ही में, 1989 में, बेलग्रेड में संपन्न निर्गुट आंदोलन के अधिवेश में "पूर्ण निरस्त्रीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास को इस को इस पृथ्वी पर

मानव जाति के अस्तित्व को सुरक्षित करने की एक अनिवार्य आवश्यकता" बताया गया। निरस्त्रीकरण को विकास से जोड़ते हुए इस अधिवेश में भारी सैनिक खर्च पर आर्थिक विकास को प्राथमिकता देने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया। इस तरह, निर्गुट आंदोलन जितने समय से अस्तित्व में है, इस सारे समय में उसने खतरनाक हथियारों की होड़ के विरुद्ध एक मज़बूत जनमत बनाने और निरस्त्रीकरण पर बातचीत के लिए सही वातावरण बनाने का प्रयास किया है।

निर्गुट आंदोलन के अनुरूप, भारत ने भी निरस्त्रीकरण के लिए अपनी आवाज़ बुलंद की और चिंता व्यक्त की है। सच पूछें तो, भारत ने निरस्त्रीकरण के लिए संघर्ष में विकासशील देशों का नेतृत्व किया है। भारत ने समय-समय पर निरस्त्रीकरण के उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए कई पहलें की हैं। 1984 में, भारत ने कथित छह राष्ट्रीय पहल सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें अर्जेंटीना, यूनान, भारत, मेक्सिको, स्वीडन और तंजानिया ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य नाभिकीय निरस्त्रीकरण की अनिवार्यता पर विश्व के ध्यान को केंद्रित करना था। इसमें यह संकल्प किया गया कि ये देश नाभिकीय अस्त्रों के परीक्षण पर एक व्यापक प्रतिबंध लगाने संबंधी संधि, एक निश्चित अवधि के भीतर नाभिकीय अस्त्रों की कटौती और उन्हें नष्ट करने, और संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे के तहत सामान्य और पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए सामूहिक रूप से कार्यवाही करेंगे। 1988 में संपन्न, संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की निरस्त्रीकरण पर तीसरे विश्व सम्मेलन में भारत ने विश्व में निरस्त्रीकरण पर एक कार्यवाही योजना पेश की। इस योजना में नाभिकीय निरस्त्रीकरण और व्यापक विनाश के दूसरे हथियारों, पारंपरिक बलों, अंतरिक्ष अस्त्र व्यवस्थाओं और पुष्टीकरण की प्रक्रियाओं को लिया गया था। थोड़े में कहा जाए तो भारत ने हमेशा निरस्त्रीकरण के उद्देश्य का समर्थन किया है और इस दिशा में ईमानदारी से प्रयास किए हैं।

19.6 शस्त्र परिसीमन और निरस्त्रीकरण समझौते : एक सामान्य समीक्षा

शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण के लिए कुछ कदम उठाए तो गए, लेकिन वे इतने व्यापक और प्रभावी नहीं रहे। फिर भी इन उपायों के परिणामस्वरूप कई संधियों पर हस्ताक्षर तो हुए ही, ये संधियां दोनों महाशक्तियों के बीच या तो द्विपक्षीय, या फिर बहुपक्षीय किस्म की हैं। इस तरह की सभी संधियों पर एक-एक कर विस्तार से चर्चा करना तो संभव नहीं है, फिर भी यहां हम कालक्रम के हिसाब से इन संधियों के मुख्य बिंदुओं की चर्चा कर सकते हैं:

1) **अंटार्कटिक संधि, 1959 :** इस संधि का उद्देश्य अंटार्कटिका (दक्षिण ध्रुव प्रदेश) का असैन्यीकरण था। यह नाभिकीय अस्त्र मुक्त क्षेत्रों की अवधारणा को व्यवहार में लाने वाली पहली संधि थी। बाद में इस संधि को लातीनी अमेरिका, सागर तट और बाहरी अंतरिक्ष पर लागू किया गया। इस संधि में दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में किसी भी सैनिक अभ्यास, अस्त्र परीक्षण, सैनिक अड्डों के निर्माण या सैनिक कार्यवाहियों के फलस्वरूप निकले रेडियोधर्मी कचरे को डालने की मनाही है।

2) **आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि, 1963 :** इस संधि में वातावरण, बाहरी अंतरिक्ष और पानी के अंदर नाभिकीय परीक्षण करने पर प्रतिबंध की व्यवस्था है।

3) **बाह्य अंतरिक्ष संधि, 1967 :** यह संधि चंद्रमा और दूसरे आकाशीय पिंडों समेत बाहरी अंतरिक्ष के दुरुपयोग और इस्तेमाल में राज्यों की कार्यवाहियों को नियंत्रित करने वाले सिद्धांतों के विषय में है। इस संधि में पृथ्वी की कक्षा में नाभिकीय अस्त्रों और व्यापक विनाश के दूसरे हथियारों पर पाबंदी लगाई गई है। आकाशीय पिंडों के सैनिक उपयोग या उन पिंडों पर नाभिकीय अस्त्र रखने की मनाही है, और बाहरी अंतरिक्ष हथियारों पर अड्डा बनाने का भी निषेध है।

4) **त्लातेलेको संधि, 1967 :** इस संधि के तहत एक घनी आबादी वाले क्षेत्र में सबसे पहला नाभिकीय अस्त्र मुक्त क्षेत्र बनाया गया। यह संधि पहला शस्त्र परिसीमन समझौता था, जिसकी पुष्टि एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने की थी।

5) **नाभिकीय अस्त्र-उत्पादन परिसीमन संधि, 1968 :** इस संधि में यह प्रावधान है कि जिन देशों के पास नाभिकीय अस्त्र नहीं हैं, वे नाभिकीय अस्त्रों को न तो प्राप्त कर सकते हैं और न ही उन्हें ये हथियार दिए जा सकते हैं। इस संधि में यह भी सुनिश्चित किया गया है कि शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए नाभिकीय प्रौद्योगिकी उपलब्ध रहेगी। संधि में नाभिकीय अस्त्र वाले देशों पर यह बाध्यता भी लगाई गई है कि वे नाभिकीय हथियारों की होड़ को बंद करने और नाभिकीय निरस्त्रीकरण के लिए उठाए जाने वाले प्रभावी कदमों पर ईमानदारी के साथ बातचीत करेंगे।

6) **सागर तल संधि, 1971 :** इस संधि के तहत सागर-तल के ऊपर या उसके अंदर 12 किलोमीटर के तटीय क्षेत्र से बाहर नाभिकीय अस्त्र या व्यापक विनाश के दूसरे हथियारों को रखने और इस तरह के हथियारों के लिए सुविधाएं बनाने पर पाबंदी लगाई गई है। इस क्षेत्र का हवाला 1958 के जिनेवा सम्मेलन में राज्य क्षेत्रीय सागर और निकटस्थ क्षेत्र के रूप में दिया गया था।

7) **जैविक अस्त्र सम्मेलन, 1972 :** यह सम्मेलन जैविक अस्त्रों (जिनमें कीटाणुओं का इस्तेमाल होता है) और ज़हरीले हथियारों के विकास, उत्पादन और भंडारण पर पाबंदी लगाने और इन हथियारों को नष्ट करने के संबंध में बुलाया गया था।

8) **एनमाड सम्मेलन, 1977 :** यह सम्मेलन पर्यावरण परिष्कार तकनीकों के सैनिक उपयोग या किसी और दुरुपयोग पर प्रतिबंध लगाने के लिए बुलाया गया था। इस सम्मेलन के तहत उन तकनीकों के इस्तेमाल की मनाही की गई है, जिनसे भूचाल, ज्वार-भाट की लहरों और मौसम तथा जलवायु के स्वरूप में बदलाव जैसी पर्यावरण-गत घटनाओं पर व्यापक, स्थायी या गंभीर प्रभाव पड़े।

9) **आकाशीय पिंड समझौता, 1979 :** इस समझौते के तहत चंद्रमा और दूसरे आकाशीय पिंडों पर राज्यों की गतिविधियों पर रोक लगाई गई है। दूसरी बातों के साथ-साथ इसमें सैनिक उद्देश्यों के लिए चंद्रमा और दूसरे आकाशीय पिंडों के इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगाया गया है।

10) **अमानवीय अस्त्र सम्मेलन, 1981 :** इस सम्मेलन में उन बारूदी सुरंगों और चोर फंदों, अग्नि बमों या (या अस्त्रों) और टुकड़ों के इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगाया गया है, जो मानव शरीर में घुसने के बाद एक्स-रे की पकड़ में नहीं आते।

शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण पर महाशक्तियों के बीच प्रमुख समझौते :

साल्ट I, 1972 : सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता (SALT) के फलस्वरूप एक प्रक्षेपास्त्र निरोध प्रक्षेपास्त्र (ए.बी.एम.) संधि हुई, जिसमें अमेरिका और सोवियत संघ ने यह दायित्व लिया कि वे भूमि स्थित या सागर स्थित, वायु स्थित या अंतरिक्ष स्थित चलित ए.वी.एम. (प्रक्षेपास्त्र-निरोध प्रक्षेपास्त्र) व्यवस्थाओं का विकास, परीक्षण या प्रसार नहीं करेंगे। उन्होंने यह भी समझौता किया कि वे ए.वी.एम. व्यवस्था को दो स्थलों तक सीमित रखेंगे और प्रत्येक स्थल पर दो से अधिक प्रक्षेपक नहीं होंगे। 1974 में इसे घटाकर सिर्फ एक स्थल तक सीमित कर दिया गया।

साल्ट, II 1979 : इस समझौते के तहत दोनों महाशक्तियां अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों और पनडुब्बी से प्रक्षेपित किये जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों की संख्या को सवा दो-दो हजार तक परिसीमित करने के लिए सहमत हुई : साल्ट II में अनेक विशिष्ट हथियारों की परिभाषा और पहचान दी गयी है और उसमें विशेष अस्त्र प्रणालियों के परीक्षण, विकास, आधुनिकीकरण और विस्थापन या रूपांतरण पर अनेक विस्तृत परिसीमनों को शामिल किया गया है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि साल्ट II की अमेरिकी संसद ने पुष्टि नहीं की। लेकिन इसके बावजूद अमेरिका ने यह वचन दिया कि वह इसके प्रावधानों का पालन करेगा। साल्ट I और साल्ट II को शस्त्र नियंत्रण के उपाय बताकर महाशक्तियों ने इनका स्वागत तो किया, लेकिन इससे नाभिकीय हथियारों की होड़ पर रोक नहीं लग सकी। साल्ट संधियों में केवल प्रक्षेपण प्रणालियों के परिसीमन की व्यवस्था है, नाभिकीय अस्त्रों के परिसीमन की नहीं। इसका परिणाम यह हुआ है कि और अधिक अस्त्र प्रत्येक प्रक्षेपण प्रणाली पर लगाये जा रहे हैं। 1980 में साल्ट की प्रक्रिया अफगानिस्तान संकट के कारण रुक गयी थी, उस समय तक दोनों महाशक्तियां अपने सामरिक नाभिकीय अस्त्रों की संख्या पांच-पांच हजार से बढ़ाकर बाइस-बाइस हजार कर चुकी थी। कोई आश्चर्य नहीं कि अल्वा मिर्डल ने साल्ट की प्रक्रियाओं को "हथियारों की होड़ का संस्थाकरण" बताया है।

आई एन एफ संधि, 1987 : सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाचोव के प्रयासों से महाशक्तियां अंततः इस बात पर सहमत हो गयी हैं कि वे (माध्यमिक) नाभिकीय बल-आई एन एफ के नाम से जाने वाले मध्यम दूरी और कम दूरी तक मार करने वाली सभी प्रक्षेपास्त्रों को खत्म कर देंगे। आई एन एफ संधि इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि यह दोनों महाशक्तियों की ओर से नाभिकीय निरस्त्रीकरण के लिए किया जाने वाला सबसे पहला उपाय है। इसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ के 1500 और अमेरिका के 400 नाभिकीय अस्त्र खत्म किये जा चुके हैं। ऐसा पहली बार हुआ है कि अमेरिका और सोवियत संघ नाभिकीय अस्त्रों की कुछ श्रेणियों को हमेशा के लिए खत्म कर देने को सहमत हुए हैं, इनमें अत्याधुनिक सोवियत एस एस 20 और अमेरिकी पर्शिंग-II प्रक्षेपास्त्र शामिल हैं। यह एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम है, क्योंकि शस्त्र नियंत्रण के नाम पर केवल उन्हीं हथियारों को विनष्ट किया जाता था जो पुराने पड़ गये हैं। अंतिम बात यह है कि आई एन एफ संधि ने यह दिखा दिया है कि लंबी दूरी तक मार करने वाले अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों पर सहमति भी संभव है।

स्टार्ट वार्ताएँ, 1981 : में शुरू हुई स्टार्ट वार्ताएँ, या सामरिक अस्त्रों की कटौती वार्ताएँ, उन सामरिक अस्त्रों की कटौती से संबंधित रहीं जो 5000 कि.मी. और उससे अधिक दूरी तक मार कर सकते हैं। लेकिन, इन वार्ताओं में कोई सहमति नहीं बन पायी क्योंकि दोनों महाशक्तियों के पास जो सामरिक अस्त्र हैं वे अत्यधिक विषम किस्म के हैं। सोवियत संघ के पास जो अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र हैं उनमें से अधिकांश भूमि स्थित हैं, जबकि अमेरिका के पास कहीं अधिक संख्या में समुद्र स्थित (पनडुब्बी से प्रक्षेपित किये जाने वाले प्रक्षेपास्त्र) और वायु-स्थित लंबी दूरी की प्रणालियां हैं। इससे दोनों महाशक्तियों के लिए अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र को कम करने का ब्यौरा तैयार करने की दिशा में सफलता के बाद, दोनों महाशक्तियां अपने सामरिक अस्त्रों में 50 प्रतिशत की कमी करने के लिए सहमत हो गयी हैं। इस तरह की समझ दोनों में हाल में संपन्न हेल्सिंकी और लंदन सम्मेलनों में बनी है।

पारंपरिक सेना कटौती : यूरोप में वारसा और नाटो की प्रतिद्वंद्विता ने मध्य यूरोप को विश्व का सबसे गहन सैन्यीकृत क्षेत्र बना दिया है। अब तो महाशक्तियों के बीच यूरोप को लेकर समझ बन चुकी है, इसलिए अब यूरोप में पारंपरिक सेनाओं को बहुत ही कम कर देने के लिए वार्ताएँ चल रही हैं। हाल ही में संपन्न एक यूरोपीय निरस्त्रीकरण सम्मलेन में यह निर्णय लिया गया है कि यूरोप में पारंपरिक सेनाओं में भारी कमी की जाएगी और एक नया सुरक्षा ढांचा तैयार किया जाएगा जिसमें केवल न्यूनतम मौजूदगी आवश्यक होगी।

19.7 निरस्त्रीकरण : भावी संभावनाएँ

निरस्त्रीकरण का मुद्दा अब विश्व की कार्य सूची में सबसे ऊपर उभर कर आ चुका है, लेकिन इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो प्रयास किये गये हैं उनमें अभी काफी कमी रह गयी है। हथियारों की होड़ के खतरे को लेकर अधिकाधिक जागरूकता बन तो रही है, लेकिन दुनिया ने घातक हथियारों के खतरे में रहना भी सीख लिया है। नयी प्रौद्योगिकी ने आधुनिक हथियारों को और भी भयंकर रूप से घातक बना दिया है। आज दुनिया में लगभग 50,000 नाभिकीय अस्त्र हैं जिनकी विस्फोटक शक्ति 1945 में हिरोशिमा पर गिरे बम से कोई दस लाख छह सौ हजार गुना अधिक है।

इस शताब्दी के आठवें दशक में दोनों महाशक्तियों ने तनाव शैथिल्य के दौर में प्रवेश किया था तो यह अपेक्षा बनी थी कि इससे हथियारों की होड़ थम जाएगी लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसके विपरीत, हथियारों की होड़ ने एक संस्था का रूप ले लिया। 1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में एक और शीत युद्ध देखने में आया जो कहीं अधिक गहन था। लेकिन, 1980 के दशक के ही मध्य में गोर्बाचेव के प्रयासों ने विश्व के क्षितिज पर एक नये युग का सूत्रपात किया है। जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, वह अब होने लगा है। महाशक्तियों के बीच प्रतिद्वंद्विता या शत्रुता की जो पुरानी धारणाएँ थीं उनके स्थान पर अब एक नया चिंतन आ गया है। इस नये चिंतन के तहत दोनों शक्ति-गुटों के बीच टकराव के प्रमुख मुद्दों को सद्भावना के साथ हल किया जा रहा है। अमेरिका और यूरोप के राजनीतिक वातावरण में भी निरस्त्रीकरण की गर्मी है। इन देशों में नाभिकीय हथियारों की होड़ के विरोध में जबरदस्त शांति आंदोलन जोड़ पकड़ रहे हैं। आई एन एफ संधि एक छोटी-सी सफलता ही है। इस संधि के तहत विश्व के नाभिकीय

अस्त्र भंडार में से केवल चार प्रतिशत ही खत्म किया गया है। लेकिन इससे निरस्त्रीकृत विश्व के पक्ष में और आशाएँ जगती हैं। निरस्त्रीकरण की संभावनाएं शून्य तो नहीं हैं, लेकिन यह काम है बहुत भारी। यह बात अब समझ ली गयी है कि विश्व के अखंड (या, अभिन्न) और परस्पर निर्भर होने के कारण कोई भी देश दूसरे देशों की कीमत पर अपनी सुरक्षा को नहीं बढ़ा सकता, इसलिए निरस्त्रीकरण के प्रयासों में तेजी और जोश आया है। फिर भी, अंतिम विश्लेषण में भविष्य में निरस्त्रीकरण की सफलता या असफलता बुनियादी तौर पर दो बातों पर निर्भर करेगी। पहला, अस्त्रों के जरिये एहसास आएगा कि निरस्त्रीकरण सभी के लिए असमानता और सभी के लिए सुरक्षा पर आधारित एक नया उभरती विश्व व्यवस्था का एक अंग है। दूसरे, औद्योगीकृत विश्व के सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों को असैनिक उत्पादन इकाइयों में परिवर्तित करना होगा, क्योंकि हथियारों के उत्पादन में इन सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों के निहित आर्थिक स्वार्थ हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएँ।

1) निरस्त्रीकरण में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का आकलन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) हाल के घटनाक्रम को देखते हुए क्या आप सोचते हैं कि निरस्त्रीकरण का भविष्य उज्जवल है?

.....

.....

.....

.....

.....

19.8 सारांश

इस इकाई की शुरुआत "शस्त्र नियंत्रण" और "निरस्त्रीकरण" शब्दों में भेद के साथ हुई। हमने देखा कि किस तरह ये दोनों शब्द एक दूसरे से संबंधित होते हुए भी भिन्न हैं। फिर, हमने निरस्त्रीकरण के तर्काधारों पर चर्चा की। मानव जीवन का संरक्षण और विश्व शांति वास्तव में निरस्त्रीकरण को उचित ठहराने वाले प्राथमिक कारक हैं। लेकिन अब इसके तर्क को आर्थिक क्षेत्रों तक भी बढ़ाया जा रहा है। यह पाया गया है कि निरस्त्रीकरण और विकास के बीच एक सीधा संरचनात्मक सूत्र विद्यमान है इसका अभिप्राय यह होता है कि निरस्त्रीकरण विश्व के सामाजिक-आर्थिक विकास की पूर्व शर्त है। इस अर्थ में, निरस्त्रीकरण एक नयी अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए चल रहे व्यापक संघर्ष का एक अंग हो जाता है।

हमने यह भी देखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ और निर्गुट आंदोलन ने निरस्त्रीकरण के लिए विश्वव्यापी अभियान छेड़ने के लिए सबसे व्यापक मंच का काम किया है। युद्ध बाद के दौर में जिन दो महाशक्तियों ने विश्व में हथियारों की होड़ का नेतृत्व किया था, उन्होंने हाल में यह महसूस कर लिया है कि सैनिक टकराव से कुछ हासिल नहीं होने वाला है, इसलिए उन्होंने आपसी संबंधों का एक सहयोगी ढाँचा बनाना शुरू कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप आई एन एफ संधि जैसे कुछ ऐतिहासिक उपाय निरस्त्रीकरण के लिए हुए हैं। लेकिन यह अभी एक छोटी-सी शुरुआत है और अभी मंजिल बहुत दूर है।

19.9 शब्दावली

मध्यम नाभिकीय बल : क्रमशः 1000-2500 कि.मी. और 2500-5000 कि.मी. की दूरी तक मार करने वाले कम दूरी और मध्यम दूरी की क्षमता वाले नाभिकीय अस्त्र और उनकी प्रक्षेपण प्रणालियाँ।

सामरिक हथियार : 5000 कि.मी. और उससे अधिक दूरी तक मार करने वाले नाभिकीय अस्त्र और उनकी प्रेक्षपण प्रणालियां, इन्हें अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के नाम से जाना जाता है।

नाभिकीय शीतकाल : नाभिकीय युद्ध के बाद का परिदृश्य जिसमें पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध का तापमान 20 डिग्री सेल्शियस या उससे भी अधिक गिर जाने की आशंका है, जिसके फलस्वरूप जमाने वाली ठंढ का एक इतना लंबा दौर चलेगा कि मनुष्य जाति का जीवित रहना कठिन हो जाएगा।

सैनिक-औद्योगिक प्रतिष्ठान : इससे अभिप्राय पश्चिम अमेरिका और सोवियत संघ के निजी, सामूहिक और राज्य के स्वामित्व वाले उन उद्योगों से है जो प्रतिरक्षा से संबंधित हथियारों के उत्पादन में लगे हैं। कुछ लोग यह आश्चर्य करते हैं कि अगर सच्चे, सार्थक मायनों में निरस्त्रीकरण हुआ तो इन प्रतिष्ठानों का क्या होगा।

19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ओलोफ पाल्मे, *कॉमन सिक्योरिटी*, प्रोग्राम फार डिसार्मामेंट, लंदन 1982

अतर चंद, *नॉन-एलाइंड नेशंस*, आर्म्स रेस ऐंड डिसार्मामेंट, नई दिल्ली, वीडीएच पब्लिशर्स, 1983

अल्वा मिर्डल, *द गेम ऑफ डिसार्मामेंट*, पेंथियन, 1976

जोनाथन शेल, *द फेट ऑफ दि अर्थ*, पान बुक्स, लंदन, 1982

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) शस्त्रों की होड़ देशों या देश-समूहों के बीच सैनिक होड़ की स्थिति है। यह स्थिति एक पक्ष के मन में दूसरे पक्ष की ओर से अनुमानिक भय बनने के कारण आती है। इसका कारण दो देशों के बीच या किसी भी क्षेत्र में किसी विवाद में दोनों महाशक्तियों का उलझना भी होता है। कभी-कभी हथियारों का वितरण करने वाले देशों के आर्थिक हित भी हथियारों की होड़ को बढ़ावा देते हैं।

2) शस्त्र नियंत्रण बुनियादी तौर पर भविष्य में हथियारों के विनियमन से संबंध रखता है, जबकि निरस्त्रीकरण हथियारों को नष्ट करके उन्हें कम करने से संबंधित है।

बोध प्रश्न 2

1) यहां मानव जीवन के संरक्षण, विश्व शांति और सुरक्षा और सामाजिक आर्थिक कारकों पर चर्चा करें (देखिए भाग 19.3)

2) हां, विश्व विकास के कार्यों को पूर्ण स्तर पर तब तक हाथ में नहीं लिया जा सकता जब तक कि हथियारों की होड़ में खर्च की जाने वाली विशाल धनराशि और विश्व सामग्री और मानव संसाधनों को इस उद्देश्य की दिशा में नहीं मोड़ा जाता।

बोध प्रश्न 3

1) संयुक्त राष्ट्र संघ ने निरस्त्रीकरण के उपाय शुरू करने के लिए एक मंच का काम किया है। इसने निरस्त्रीकरण के लिए होने वाली बातचीत के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया है, निरस्त्रीकरण के विश्वव्यापी अभियान के लिए पहल की है और निरस्त्रीकरण के पक्ष में जनमत बनाया है।

2) दोनों महाशक्तियों के बीच बड़े मतभेदों को समाप्त करने की दिशा में हाल में जो सफलता मिली है उससे आई एन एफ संधि जैसे निरस्त्रीकरण के उपाय सुगम हो गये हैं। अब नाभिकीय और पारंपरिक दोनों तरह के निरस्त्रीकरण के लिए एक अत्यधिक अनुकूल वातावरण बना हुआ है, लेकिन यह संबोधित देशों की बनायी गयी राजनीतिक इच्छा पर बहुत निर्भर करेगा।

इकाई 20 मानव अधिकारों के लिए संघर्ष

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 संयुक्त राष्ट्र संघ
  20.2.1 मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा
  20.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध
  20.2.3 विशिष्ट मानव अधिकारों के साधन
  20.2.4 मानवीय अधिकारों को लागू करना
  20.2.5 समकालीन मानव अधिकारों की धारणा के लक्षण
20.3 तृतीय संतति के अधिकार और उभरती विश्व व्यवस्था
20.4 क्षेत्रीय मानव अधिकार व्यवस्थाएँ
  20.4.1 यूरोपीय व्यवस्था
  20.4.2 अन्तः अमेरिकी व्यवस्था
  20.4.3 अफ्रीकी व्यवस्था
20.5 मानव अधिकारों की वर्तमान समस्याएँ
20.6 गैर-सरकारी संगठन और मानव अधिकार
20.7 सारांश
20.8 शब्दावली
20.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस अध्याय से आपको दो बातें समझने में मदद मिलेगी। पहली बात, समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उभरती हुई नई विश्व व्यवस्था को व्यक्ति के मानवीय अधिकारों के संवर्द्धन और संरक्षण ने किस प्रकार व किस सीमा तक प्रभावित किया है और दूसरी बात मानव अधिकारों के लिए चले रहे संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को न केवल यह अहसास कराया है कि मानव अधिकारों के संवर्द्धन और उनको कार्य रूप देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की चिन्ता उचित है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक "नए कर्ता" अर्थात् "व्यक्ति" का भी परिचय कराया है। इस अध्याय के अध्ययन के बाद आप विश्व में मानव अधिकारों की स्थिति को समझ सकेंगे और मानव अधिकारों के सम्बन्ध में निम्नलिखित की भूमिका का मूल्यांकन कर सकें–

- संयुक्त राष्ट्र संघ,
- यूरोपीय परिषद्,
- अमेरिकी राज्यों का संगठन (ओ.ए.एस.),
- अफ्रीकी एकता संगठन (ओ.ए.यू.),
- अरब राज्यों की लीग, और
- गैर-सरकारी संगठन।

20.1 प्रस्तावना

नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों से संबंधित विचार उतने ही पुराने हैं जितनी राज्य की अवधारणा। परन्तु मानव अधिकारों की अवधारणा ने पश्चिम की महान क्रांतियों की उदारवादी लोकतान्त्रिक परम्पराओं के उदय के साथ मूर्त रूप ग्रहण करना शुरू किया। समसामयिक मानव अधिकारों के "आदर्शों" और "मानकों" का इतिहास जानने के लिए

ब्रिटेन के मैग्नाकार्टा (1215), अमेरिकी स्वतन्त्रता की घोषणा (1776), व्यक्ति व नागरिकों के अधिकारों की फ्रेंच घोषणा (1789) और बोल्शेविक क्रान्ति (1917) को जानना पड़ेगा। मैग्नाकार्टा ने मूलभूत राजनीतिक और संवैधानिक अधिकार प्रदान किए, जिन्होंने इंग्लैण्ड में संवैधानिक सरकार के विकास की भूमिका तैयार की थी। अमेरिकी और फ्रेंच घोषणाओं ने मौलिक नागरिक और राजनीतिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं जैसे—स्वतन्त्रता, समानता (कानून के समक्ष) और भ्रातृत्व, विचार, मानव गरिमा और लोकतान्त्रिक सरकार की स्वतन्त्रता को स्वर प्रदान किया। उसके बाद 1917 की महान् अक्टूबर क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति के साथ आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय की मांग समाजवादी आन्दोलनों का प्रमुख अंग बन गई। साम्यवादी आन्दोलन ने सामाजिक-आर्थिक अधिकारों पर जोर दिया। इस घटना ने यूरोप के गैर साम्यवादी राज्यों और अन्यत्र मानव अधिकारों के विचार को प्रभावित किया।

यद्यपि मानव अधिकारों के लिए संघर्ष 18वीं और 19वीं शताब्दी का प्रमुख लक्षण था, किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप 20वीं सदी में ही प्राप्त कर सका। राष्ट्रों के मध्य बढ़ती परस्पर निर्भरता, पश्चिमी साम्राज्यवाद के उदय और दोनों विश्व युद्धों ने इस प्रक्रिया को और सुदृढ़ बनाया। नाजीवाद जैसी शक्तियों के उदय और साम्यवाद के प्रसार जैसी अन्य बातों के निरन्तर भय ने पश्चिमी उदारवादी लोकतान्त्रिक राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त "बिल ऑफ राइट्स" की घोषणा करने के लिए प्रेरित किया।

20.2 संयुक्त राष्ट्र संघ

संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापना के समय से ही मानव अधिकारों की प्रगति के लिए निरन्तर चिन्तित रहा है। इसके संस्थापक सदस्य राज्यों ने अनुभव कर लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, अन्य बातों के अलावा मानव अधिकारों को मान्यता देने व लागू करने पर निर्भर करती है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और खुशहाली की रक्षा करने के अलावा कुछ और नहीं था। संस्थापक सदस्यों को इस बात का स्पष्ट ज्ञान था कि मानव अधिकारों की अवहेलना करके वे किसी न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने इसके संवर्द्धन और संरक्षण के विश्वास पर एक नए संगठन की आधारशिला रखने के लिए सहमति व्यक्त की।

सेन फ्रांस्को सम्मेलन में मानव अधिकारों के संरक्षण हेतु किसी प्रभावशाली संगठन के लिए बड़ी शक्तियों में कोई सहमति नहीं हो पाई, क्योंकि इनमें से प्रत्येक राज्य में मानव अधिकारों की अपनी-अपनी समस्याएं थीं। अमेरिका में वैध रूप से मान्य जातीय भेदभाव, फ्रांस और ब्रिटेन के औपनिवेशिक साम्राज्य तथा सोवियत रूस की समस्या इसी प्रकार की समस्याएँ थी। फिर भी चार्टर ने समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों के आदर्शों को वैध और अवधारणात्मक आधारशिला प्रदान किया।

चार्टर की प्रस्तावना घोषणा करती है : कि संयुक्त राष्ट्र के लोग मौलिक अधिकारों, व्यक्ति की गरिमा और योग्यता, स्त्री और पुरुष के समान अधिकार छोटे और बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में दृढ़ विश्वास बनाए रखने का संकल्प करते हैं इसके लिए जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना मानव अधिकार और मौलिक स्वतंत्रताओं का संवर्द्धन करना और प्रोत्साहन देना संयुक्त राष्ट्र के चार उद्देश्यों में से एक है (अनुच्छेद एक)। अनुच्छेद 55 और 56 में सभी सदस्यों ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निजी और संयुक्त रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सहयोग करने का संकल्प करता है। चार्टर में मानव अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को यथार्थ रूप प्रदान करने का उत्तरदायित्व साधारण सभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद् और ट्रस्टीशिप कौंसिल को प्रदान किया गया है। संक्षेप में, चार्टर को मानव अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का साधन माना जाता है।

साधारणतया, विद्वान विधिवेता और शिक्षाविद् तथा सदस्य राज्य इन घोषणाओं की प्रायः यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि इन्हें कानूनी शक्ति प्राप्त नहीं है। इनकी शिकायत है कि चार्टर इस प्रकार अधिकारों की परिभाषा करने और सूचीबद्ध करने तथा उनके क्रियान्वयन हेतु साधन उपलब्ध कराने में असफल हो चुका है। किन्तु यह स्थिति केवल मानव अधिकारों के प्रावधानों की ही नहीं है। कई और अन्य ऐसे दायित्व हैं, जिनके प्रवर्तन के साधन चार्टर में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इनकी वैधता असंदिग्ध है।

20.2.1 मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा

मानव अधिकारों के आदर्शों की परिभाषा करने व उनकी व्याख्या करने का कार्य मानव अधिकारों के आयोग को दिया गया था, जो 16 फरवरी, 1946 को अस्तित्व में आया। इसने "अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल" का एक प्रारूप बनाया, जिसमें ये दस्तावेज थे: एक घोषणा, एक अनुबंध, और क्रियान्वयन के तरीके। इसे बाद में स्वीकृति के लिए आम सभा को भेज दिया गया। 10 दिसम्बर, 1948 को आम सभा ने एक प्रस्ताव में अधिकारों के बिल के प्रथम भाग को मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के रूप में घोषित किया। तभी से पूरे विश्व में 10 दिसम्बर, मानव अधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है। घोषणा को सभी व्यक्तियों व राष्ट्रों (गैर सदस्य राष्ट्र भी) के लिए "एक सामान्य मानक" के रूप में स्वीकृत किया गया तथा इसे आम सभा ने सर्वसम्मति से पारित कर दिया। इसमें लगभग सभी प्रमुख और मौलिक नागरिक राजनीतिक अधिकारों, जैसे– आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार जिन्हें चार्टर में परिभाषित नहीं किया गया था, को भी सूचीबद्ध किया। यद्यपि यह बाध्यकारी दस्तावेज नहीं है, किन्तु अब तक इसने एक नैतिक और कानूनी दर्जा प्राप्त कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी इसे परम्परागत कानून के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह एक रोचक बात है कि घोषणा की प्रस्तावना में यह लिखा गया है "राज्य या सरकार नहीं, बल्कि व्यक्ति ही विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति का आधार है।" ऐतिहासिक दृष्टि से यह चौंकाने वाला प्रस्ताव है।

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को समूची मानव जाति का मैग्नाकार्टा कहा जा सकता है। उभरती हुई विश्व व्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव है, क्योंकि इसने न केवल अफ्रीका-एशिया के उदीयमान राष्ट्रों की कई आन्तरिक कानूनी व्यवस्थाओं को अपने संवैधानिक कानून में अधिकार पत्र शामिल करने के लिए प्रेरित किया है, बल्कि मानव अधिकारों की तीन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं को भी प्रेरित किया है– मानव अधिकारों का यूरोपीय अनुबंध, मानव अधिकारों का अंतः अमेरिकी अनुबंध और मानव अधिकारों का अफ्रीकी चार्टर। इसके अलावा चार्टर के मानव अधिकारों के प्रावधानों तथा सार्वभौम घोषणा का प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों में भी दृष्टान्त दिया जाता है।

20.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध

घोषणा की स्वीकृति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल के शेष भाग अर्थात् मानव अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध की ओर ध्यान दिया। इस बिल के हिस्से के रूप में 1966 में आम सभा ने दो पृथक कानूनी दस्तावेजों को स्वीकृत किया (1) नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध (आई.सी.सी.पी.आर.) और इसका स्वैच्छिक प्रोटोकॉल, और (2) आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध (आई.सी.ई.एस.सी.आर.)। आई.सी.सी.पी.आर. ने पश्चिमी उदारवादी समाजों और संस्कृतियों में सामान्य रूप से मान्य परम्परागत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को अंगीकार किया, जबकि आई.सी.ई.एस.पी.आर. ने सामाजिक और आर्थिक प्रकृति के अधिकारों को शामिल करके समाजवादी और तृतीय विश्व के देशों की आकांक्षाओं को पूरा किया। ये दोनों अनुबंध भी एक दूसरे से दृष्टिकोण में काफी भिन्न थे। आई.सी.सी.पी.आर. के प्रावधानों को कानूनी दायित्वों के रूप में तुरन्त लागू होना था, जबकि आई.सी.ई.एस.सी.आर. के प्रावधान धीरे-धीरे वृहत् शिक्षण, आयोजन और प्रगति के द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते थे।

सार्वभौम घोषणा प्रारूप केवल 18 माह में पूरा कर लिया गया था, जबकि अनुबंधों और स्वैच्छिक प्रोटोकॉल को तैयार करने में 18 वर्ष का समय लगा। अन्य बातों के अलावा इतना समय लगने के कारण ये हो सकते हैं– प्रथम, मानव जाति द्वारा तैयार की गई मानव अधिकारों की संधियों में अनुबंध सबसे अधिक विस्तृत थे। द्वितीय, इन अनुबंधों की रचना करते समय संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या बढ़ रही थी। अतः व्यक्तिगत अधिकारों की बात करना निरर्थक था और सभी राष्ट्रों के हितों का सामंजस्य और समायोजन करना संयुक्त राष्ट्र की संस्थाओं के लिए भी दुष्कर हो गया था। अंतिम, संयुक्त राष्ट्र की संस्थाएँ (विशेष रूप से आम सभा) संकटजन्य परिस्थितियों में शान्ति स्थापित करने व उसे बनाए रखने और शांति स्थापना के क्रियाकलापों में अत्यधिक व्यस्त रही।

यद्यपि यह अनुबंध मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा पर आधारित है, किन्तु इनमें संरक्षित अधिकार एक समान नहीं हैं। दोनों अनुबंधों द्वारा नियन्त्रित अधिकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकार, जो सार्वभौम घोषणा में समाविष्ट नहीं हैं, वे हैं–व्यक्तियों

के आत्मनिर्णय का अधिकार, जिसमें उनकी प्राकृतिक संम्पत्ति और संसाधनों की स्तन्त्रतापूर्वक निपटारा करना भी शामिल है। इसके अलावा आई.सी.सी.पी.आर. के अधिकारों की सूची काफी विस्तृत है (अनु. 6 से 27 तक)। इसी प्रकार आई.सी.ई.एस.सी.आर. भी सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों की एक विस्तृत सूची है।

दोनों अनुबंध अर्थात् स्वैच्छिक प्रोटोकॉल सहित आई.सी.ई.एस.सी.आर. और आई.सी.सी.पी.आर. उनकी स्वीकृति के लगभग एक दशक बाद 1976 से लागू हुए। केवल ये ही दो ऐसी मानव अधिकार संधियाँ थीं, जिनको क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिए न्यूनतम समर्थन प्राप्त करने में इतना अधिक समय लगा। इसकी वजह अन्य कारणों के अलावा इनमें अन्तर्निहित दायित्वों की प्रकृति भी हो सकती है, जो कि काफी विस्तृत थे तथा जो संप्रभुता की अवधारणा की पवित्रता को भंग करते हैं।

1 मार्च, 1987 तक आई.सी.सी.पी.आर. की 87 राज्यों ने तथा आई.सी.ई.एस.सी.आर. की 92 राज्यों ने पुष्टि कर दी थी। स्वैच्छिक प्रोटोकॉल को 43 राज्यों द्वारा स्वीकृति प्राप्त है। भारत सरकार ने मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता शासन के दौरान 10 अप्रैल, 1977 को दोनों अनुबंधों की पुष्टि की। यह दुःखद है कि भारत सरकार ने अभी तक स्वैच्छिक प्रोटोकॉल की सदस्यता प्राप्त नहीं की है।

20.2.3 विशिष्ट मानव अधिकारों के साधन

मानव अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल का प्रारूप बनाने के अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ ने अब तक विशेष प्रकार के मानव अधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित कई संधियों की घोषणाएँ की हैं। इनमें जनवध, जातीय भेदभाव, दासता, रंगभेद, स्त्रियों के प्रति भेदभाव, यातना देना आदि शामिल हैं। वर्तमान में मानव अधिकारों के 18 साधन प्रयोग में लाए जा रहे हैं।

नवम्बर, 1989 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बच्चों के अधिकारों का एक और अनुबंध स्वीकार किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के लागू होने और लगभग दो दर्जन मानव अधिकार संधियों की रचना होने से संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में मानव अधिकारों का विषय अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौम हो गया है। अब एक राज्य द्वारा अपने नागरिकों से किए गए व्यवहार का तरीका भी अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय हो सकता है। यहां तक कि अब एक व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का लक्ष्य नहीं रहा है (जैसा परम्परागत रूप से माना जाता है) बल्कि उसका विषय बन चुका है।

20.2.4 मानवीय अधिकारों को लागू करना

संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव अधिकारों की व्यवस्था दो प्रकार की प्रवर्तन की प्रक्रियाएँ उपलब्ध कराती हैं– (1) अभिसमय प्रक्रियाएँ, (2) सामान्य प्रक्रियाएँ। दोनों अनुबंध संयुक्त रूप से तीन भिन्न प्रकार की संरक्षण की विधियाँ उपलब्ध कराते हैं। प्रथम, दोनों अभिसमयों में सूचना देने की व्यवस्था है, जिसके द्वारा वे सरकारें जो अभिसमय की पक्षकार हैं, इस सम्बन्ध में नियमित रूप से रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं कि उन्होंने मानव अधिकारों के संरक्षण की शुरुआत कर दी है। आई.सी.ई.एस.सी.आर. के अन्तर्गत रिपोर्टों पर ई.सी.ओ.एस.ओ.सी. द्वारा विचार किया जाएगा और आवश्यक होने पर यह उन्हें संयुक्त राष्ट्र की अन्य संस्थाओं के पास उनके विचारों के लिए भेजेगा।

ई.सी.ओ.एस.ओ.सी. साधारण सभा को सामान्य प्रकार की सलाह दे सकता है यद्यपि इस अनुबंध के अन्तर्गत रिपोर्टों के पुनरावलोकन के लिए विशेष समिति की स्थापना नहीं की गई है अतः ई.सी.ओ.एस.ओ.सी., जिसने प्रारम्भ में इस काम के लिए एक अल्पकालीन कार्यकारी समूह की स्थापना की थी, पर कार्य का बोझ आ पड़ा। इस समूह ने 1979 से 1986 तक राज्यों की रिपोर्टों का पुनरावलोकन किया। किन्तु इस व्यवस्था से सन्तुष्ट न होने के कारण ई.सी.ओ.एस.ओ.सी. ने 1985 में "मानवं अधिकार समिति" की स्थापना का निर्णय किया। इसकी स्थापना आई.सी.सी.पी.आर. के तहत उस अभिसमय के क्रियान्वयन का निरीक्षण करने के लिए की गई। इस कमेटी की मार्च, 1987 में प्रथम बैठक हुई। कमेटी के सदस्य अपनी व्यक्तिगत क्षमता ने अनुसार कार्य करने वाले स्वतन्त्र विशेषज्ञ होते हैं अतः नई कमेटी पहले की अपेक्षा निरीक्षण के काम को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए प्रयास कर सकती है। इस अनुबंध के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की यह है कि सूचना देने की प्रक्रिया (रिपोर्टिंग) ही इसके कार्यान्वयन का एकमात्र तरीका है। इसमें अन्तर्राज्यीय या व्यक्तिगत शिकायतों की व्यवस्था नहीं है।

इसके विपरीत, आई.सी.सी.पी.आर. में न केवल सूचना देने की प्रक्रिया की व्यवस्था है, वरन् इसमें अन्तर्राज्यीय या निजी रूप से आवेदन करने की व्यवस्था भी है (स्वैच्छिक प्रोटोकॉल के अन्तर्गत)। इस अनुबंध की सूचना देने की व्यवस्था में, राज्य मानव अधिकार समिति को नियतकालिक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं। 18 सदस्यीय मानव अधिकार समिति की स्थापना 1977 में की गई। इसके सदस्य सरकारी प्रतिनिधि नहीं थे, बल्कि व्यक्तिगत क्षमता में कार्य करने वाले मानव अधिकारों के विशेषज्ञ थे। समिति का मुख्य कार्य अनुबंध द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिए उठाए गए कदमों के सम्बन्ध में राज्यों द्वारा प्राप्त रिपोर्टों और इन अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में हुई प्रगति की जांच करना है। धीरे-धीरे समिति ने सूचना देने संबंधी निर्देशों व प्रक्रियाओं का एक व्यापक ढाँचा विकसित कर लिया है। इनकी रचना पक्षकार राज्यों को अपनी रिपोर्ट बनाने में मदद देने और उन्हें संधि की शर्तों के अनुपालन के लिए प्रेरित करने के लिए की गई हैं। किन्तु समिति के पास राज्यों की रिपोर्टों का स्वयं छानबीन करने की शक्ति का अभाव है। किन्तु राज्यों के प्रतिनिधियों से, जिनका समिति के प्रक्रिया संबंधी नियमों के अनुसार रिपोर्ट की जांच के समय उपस्थित होना आवश्यक है, समिति के सदस्य मानव अधिकारों पर अपनी विशेषज्ञता के आधार पर प्रश्न पूछकर अपनी जानकारी प्राप्त कर कर सकते हैं। रिपोर्ट के विषय पर प्रतिनिधियों द्वारा जानकारी प्रदान करने की आवश्यकता के कारण, तथा पूरक सूचनाएँ माँग कर समिति मानव अधिकारों के अनुपालन संबंधी गम्भीर कमियों को सुनिश्चित करती है। इस प्रकार समिति ने अनुबंध के पक्षकार राज्यों से बातचीत की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया है, तो भी यह बात विचारणीय है कि समिति केवल साधारण टिप्पणी करने और सलाह देने के लिए ही अधिकृत है। वस्तुतः अभिसमय में इन टिप्पणियों और सिफारिशों पर अनुवर्ती कार्यवाही करने के लिए कोई प्रावधान नहीं है। इस समिति को मानव अधिकारों के रक्षक या नियन्त्रक संस्था के रूप में कार्य करने की शक्ति नहीं है। फिर भी सूचना देने और बातचीत की प्रक्रिया एक उपयोगी कार्य है।

आई.सी.सी.पी.आर. के अनु. 41 में राज्यों की परस्पर (अंतर्राज्यीय) शिकायतों की प्रक्रिया की व्यवस्था है। यह क्रियान्वयन की दूसरी पद्धति है। यह स्वैच्छिक व्यवस्था है तथा उन्हीं देशों पर लागू होती है, जिन्होंने इसे स्वीकार करने की स्वीकृति दे दी है। इसमें एक पक्षकार राज्य दूसरे पर मानव अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगा सकता है। यदि दूसरा राज्य इस शिकायत पर दोनों को सन्तुष्ट करने वाली कार्यवाही 6 महीने तक नहीं करता है, तो मामला मानव अधिकार समिति को मध्यस्थता के लिए भेजा जा सकता है। यद्यपि यह प्रक्रिया मार्च, 1979 से लागू है, किन्तु अभी तक राज्यों द्वारा कोई शिकायत इसमें नहीं की गई है।

इस प्रक्रिया के प्रति राज्य इतने उदासीन हैं कि आई.सी.सी.पी.आर. के 87 पक्षकार राज्यों में से केवल 23 देशों ने इसे स्वीकार किया है। इसके अलावा प्रतिशोध या बदले की भावना के कारण भी इसे नहीं अपनाया गया है।

आई.सी.सी.पी.आर. के ऐच्छिक प्रोटोकॉल में निहित व्यक्तिगत रूप से आवेदन करने का अधिकार प्रवर्तन की तीसरी प्रमुख विधि है। मार्च, 1989 तक केवल 43 राज्यों ने इस प्रक्रिया को स्वीकार किया। इनमें से अधिकतर पश्चिमी यूरोप के वे राज्य हैं, जो पहले इसी प्रकार की प्रक्रिया को मानव अधिकारों के यूरोपीय अनुबंध में स्वीकार कर चुके थे। इन 43 राज्यों को कोई भी व्यक्ति मानव अधिकार समिति को यह पेटीशन दे सकता है कि आई.सी.सी.पी.आर. के तहत उसके अधिकारों का उल्लंघन किया गया है। इस प्रकार उस व्यक्ति को एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के समक्ष, जो उस व्यक्ति के पक्ष में निर्णय कर सकती है, राज्य के समान दर्जा प्रदान किया गया है।

जब हम इन दोनों अनुबंधों के क्रियान्वयन की प्रक्रियाओं की तुलना करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आई.सी.सी.पी.आर. की प्रक्रिया आई.सी.ई.एस.सी.आर. की प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस दृष्टिकोण को क्यों अपनाया? इसलिए कि, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता होने पर उनके प्रवर्तन को सुनिश्चित करने के लिए राज्य को अतिरिक्त संसाधनों की जरूरत नहीं पड़ती है। ये इस दृष्टि से नकारात्मक अधिकार हैं कि राज्यों को इन अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जबकि सामाजिक, आर्थिक अधिकारों का पूर्ण अनुपालन आर्थिक और तकनीकी स्रोतों, शिक्षा और योजना, सामाजिक प्राथमिकताओं और कई बार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर निर्भर करता है। या साधारण शब्दों में, उनको कार्यरूप देना नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना पर निर्भर करता है।

स्वैच्छिक प्रोटोकॉल, जिसमें व्यक्तिगत शिकायतों की प्रक्रिया है, के 1976 में क्रियान्वित होने से पूर्व ही संयुक्त राष्ट्र सचिवालय में प्रत्येक वर्ष हजारों की संख्या में पहुँचने वाली व्यक्तियों व समूहों की शिकायतों से निपटने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने सामान्य प्रक्रिया विकसित कर ली थी। ई.सी.ओ.एस.ओ.सी. ने "1503" के प्रचलित नाम से एक प्रक्रिया आरम्भ की, जिसमें विश्व का कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह (चाहे वह संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त देश में रहता है, या नहीं) जो यह महसूस करता है कि उन्हें किसी मानव अधिकार या मौलिक स्वतन्त्रता के उपभोग से रोका गया है, संयुक्त राष्ट्र में शिकायत कर सकता है।

मानव अधिकारों की शिकायतों से सम्बन्धित सूचनाओं की गोपनीय विवरणों के रूप में संक्षिप्त किया जाता है तथा "मानव अधिकारों के आयोग" और "अल्पसंख्यकों के संरक्षण और भेदभाव रोकने हेतु उप-आयोग" को भेजा जाता है। शिकायतों की प्रतिलिपियाँ सदस्य राज्यों को भी भेजी जाती हैं। राज्य सरकार (जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है) से प्राप्त कोई भी उत्तर आयोग तथा उप-आयोग को भेजा जाता है। यदि उप-आयोग को लगता है कि प्राप्त सूचनाओं में बड़ी मात्रा में और विश्वसनीय रूप से मानव अधिकारों के उल्लंघन का तथ्य है, तो यह मामले को आयोग को भेज सकता है, जो या तो स्थिति के गम्भीर अध्ययन का निर्णय कर सकता है या जाँच-पड़ताल के लिए तदर्थ समिति बना सकता है। ये सभी प्रक्रियाएँ तब तक गोपनीय होती है और प्राइवेट सभाओं में ही की जाती है, जब तक कि आयोग द्वारा ई.सी.ओ.एस.ओ.सी. के लिए एक रिपोर्ट तैयार नहीं कर ली जाती।

यह एक रोचक बात है कि प्रति वर्ष 15000 से 20000 तक प्राप्त सूचनाओं पर इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विचार किया जाता है। 1978 में शुरू होने के बाद आयोग द्वारा गोपनीयता को कुछ कम कर दिया गया है और आयोग की रिपोर्ट "1503" प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले देशों के लिए एक निर्देश का काम करती है।

20.2.5 समकालीन मानव अधिकारों की अवधारणा के लक्षण

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों का प्रमुख लक्षण यह है कि यह भेदभाव पर आधारित नहीं है। किसी भी मूल, धर्म, जाति, रंग या लिंग का व्यक्ति स्वयं को मानव समाज का सदस्य मानने का अधिकार रखता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इन अधिकारों को सभी राष्ट्रों द्वारा उनके ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मतभेदों और वैचारिक विभिन्नताओं के बावजूद भी सार्वभौम रूप से स्वीकार किया गया है। ये अधिकार इतने व्यापक हैं (किन्तु सर्वांगपूर्ण नहीं) कि मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष का इसमें समावेश है। इसके अलावा, इन अधिकारों की व्याख्या किसी दार्शनिक या विधि-शास्त्री अथवा उनके किसी समूह द्वारा अथवा किसी एक राष्ट्र द्वारा या उनके किसी समूह द्वारा नहीं की गई है, बल्कि मानव जाति की प्रतिनिधि एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय परामर्शकारी संस्था अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गई है।

20.3 तृतीय संतति के अधिकार और उभरती विश्व व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार विधि को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को "प्रथम संतति के अधिकार" कहा जाता है। जबकि सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को "द्वितीय संतति के अधिकार" कहा जाता है। प्रथम प्रकार के अधिकार पश्चिमी उदारवादी, लोकतान्त्रिक व राजनैतिक परम्पराओं को अभिव्यक्त करते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के अधिकार साम्यवादी विश्व में प्रचलित अधिकारों की समाजवादी धारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु विश्व राजनीति में तृतीय बिश्व के देशों के अभ्युदय के साथ 1970 से तथाकथित "तृतीय संतति के अधिकारों" के लिए संघर्ष प्रकाश में आया। ये अधिकार "सॉलिडेरिटी राइट्स" या "जन-अधिकार" के नाम से भी जाने जाते हैं। वस्तुतः ये समूह अधिकार हैं।

तृतीय संतति के अधिकारों की सूची अपेक्षाकृत छोटी है, किन्तु दिन-प्रतिदिन इसका विस्तार हो रहा है। इनमें से कुछ अधिकार हैं– व्यक्ति के आत्मनिर्णय का अधिकार, विकास का अधिकार, अपने विकास के लिए अनुकूल एवं संतोषजनक वातावरण पाने हेतु व्यक्तियों का

अधिकार, शांति का अधिकार आदि। इन अधिकारों की समस्या यह है कि इनका क्रियान्वयन सभी सदस्य राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होने पर ही हो सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में मानव अधिकारों की धारणा का क्या महत्व है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) समकालीन मानव अधिकारों की अवधारणा के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) तृतीय संतति अधिकार क्या हैं और उनका प्रभाव नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था से किस प्रकार सम्बद्ध है?

.....

.....

.....

.....

.....

20.4 क्षेत्रीय मानव-अधिकार व्यवस्थाएँ

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा ने तीन प्रकार की मानव अधिकार व्यवस्थाओं को प्रेरित किया है। ये सभी तीन भिन्न-भिन्न महाद्वीपों-यूरोप (पश्चिमी), अमेरिका और अफ्रीका में हैं।

20.4.1 यूरोपीय व्यवस्था

यह सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में सबसे पुरानी और काफी हद तक सर्वाधिक प्रभावशाली व्यवस्था है। इसकी स्थापना यूरोपीय परिषद् द्वारा की गई है, जो एक क्षेत्रीय अन्त: सरकारी संगठन है। यह व्यवस्था दो मानव अधिकार संधियों पर आधारित है– मानव अधिकारों पर यूरोपीय अनुबंध (4 नवम्बर, 1953 को स्वीकृत) और यूरोपीय सामाजिक चार्टर (18 अक्टूबर, 1961 को स्वीकृत) अनुबंध में मौलिक नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की गारन्टी प्रदान की गई है, जबकि चार्टर आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की एक सूचीबद्ध घोषणा है। इन दोनों संधियों ने, जो क्रमश: 3 सितम्बर, 1953 और 26 फरवरी, 1965 से लागू हुई, मानव अधिकारों के दायित्वों के निरीक्षण हेतु, स्वयं अपना संस्थागत ढांचा विकसित कर लिया है।

यूरोपीय अभिसमय ने अपने प्रावधानों के प्रवर्तन के निरीक्षण कार्य के लिए दो प्रमुख संस्थाओं की स्थापना की है। ये हैं– मानव-अधिकारों का यूरोपीय आयोग तथा मानव

अधिकारों का यूरोपीय न्यायालय। आयोग तथा न्यायालय दोनों स्ट्रासबर्ग (फ्रांस) में हैं, जहाँ यूरोपीय परिषद् का मुख्यालय भी है।

यूरोपीय व्यवस्था मानव अधिकारों के उल्लंघन का निदान करने के लिए अन्तर्राज्यीय शिकायत प्रक्रिया और व्यक्तिगत आवेदन को अधिक विश्वसनीय मानती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की व्यवस्था के विपरीत यहां अन्तर्राज्यीय शिकायत प्रक्रिया ऐच्छिक नहीं है। अनुबंध का कोई भी पक्षकार राज्य अन्य पक्षकार राज्य पर उल्लंघन का आरोप लगाकर आयोग को शिकायत कर सकता है। किन्तु व्यक्तिगत शिकायतों की अपेक्षा आयोग की राज्यों द्वारा काफी कम शिकायतें प्राप्त होती हैं। ऐसा इसलिए होता है कि इसकी गैर-मैत्रीपूर्ण कार्य के रूप में व्याख्या की जा सकती है तथा यह राज्यों के मध्य राजनयिक सम्बन्धों को प्रभावित कर सकता है।

फिर भी इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि कुछ स्कैंडिनेवियन राज्यों द्वारा ग्रीस (1967 से 1975 के सैनिक शासन के दौरान) और टर्की के विरुद्ध की गई कानूनी कार्यवाहियाँ मानवीय आधारों के दबाव के कारण की गई थीं।

अनुबंध के अनु. 25 के तहत व्यक्तिगत आवेदन का अधिकार 1955 से लागू हुआ। इस अनु. के तहत कोई भी व्यक्ति, गैर सरकारी संगठन अथवा व्यक्तियों का समूह किसी भी पक्षकार राज्य द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन से पीड़ित होने पर आयोग को आवेदन कर सकता है। पिछले 35 वर्षों में 150000 से अधिक आवेदन आयोग को प्राप्त हुए हैं, जिनमें से केवल लगभग 300 को स्वीकृत घोषित किया गया। एक बार मुद्दे के स्वीकृत होने पर बन्द कमरे में सुनवाई होती है और आवेदक तथा उस राज्य को, जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है, अपने पक्ष में तर्क करने की अनुमति होती है। साधारणतया आयोग सम्बन्धित पक्षों के मध्य "मैत्रीपूर्ण समाधान" करने का प्रयास करता है। किन्तु इसमें असफल रहने पर वह एक रिपोर्ट बनाता है, जिसमें यह निर्णय होता है कि क्या मानव अधिकारों का उल्लंघन हुआ है। अन्तिम निर्णय या तो यूरोपीय परिषद् के मंत्रियों की समिति द्वारा लिया जाता है, जो एक राजनीतिक इकाई है या क्षेत्राधिकार होने व मामला भेजे जाने पर मानव अधिकारों के यूरोपीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। यह निर्णय बाध्यकारी होता है व सम्बन्धित राज्य को इसका पालन करना चाहिए।

इस अध्याय के लिखे जाने तक आयोग ने कई रिपोर्टें, स्वीकृति संबंधी लगभग 1200 निर्णय प्रकाशित किए हैं तथा न्यायालय ने 50 से अधिक निर्णय दिए गए हैं। इनके परिणामस्वरूप कई व्यक्तियों को परेशानियों से मुक्ति मिली या बदले में क्षतिपूर्ति की राशि मिली है तथा कई पक्षकार राष्ट्रों को अभिसमय के दायित्वों को निभाने के लिए अपने राष्ट्रीय कानूनों या प्रशासनिक व्यवहारों को बदलना पड़ा है। यूरोपीय सामाजिक चार्टर में भी, जो कि यूरोप में आई.सी.ई.एस.सी.आर. के समकक्ष है, विशेषज्ञों की समिति के रूप में स्वतन्त्र संस्था द्वारा व्याख्या करने का प्रावधान है। यह राष्ट्रों से प्राप्त नियतकालीन रिपोर्टों की जाँच करती हैं और उन पर अपनी टिप्पणियों का प्रकाशन करती है। इसके कारण भी कई राज्यों के आन्तरिक कानूनों पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

20.4.2 अन्तः अमेरिकी व्यवस्था

लेटिन अमेरिका में, 1948 में अमेरिकी राज्यों के संगठन (ओ.ए.एस.) ने व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों की घोषणा को स्वीकृति दी। अमेरिकी अनुबंध कुछ भिन्नताओं के अलावा काफी हद तक मानव-अधिकारों के यूरोपीय अनुबंध तथा आई.सी.सी.पी.आर. दोनों से मिलता है। अमेरिकी अभिसमय के क्रियान्वयन के दो अंग है– मानव अधिकारों का अन्तः अमेरिकी आयोग, जो कि यूरोपीय आयोग तथा आई.सी.सी.पी.आर. की मानव अधिकार समिति की तरह ही है। दूसरा– मानव अधिकारों का अन्तः अमेरिकी न्यायालय। अन्तः अमेरिकी व्यवस्था में व्यक्तियों द्वारा आवेदन करने का अधिकार स्वतः प्रवृत्त है, जबकि यूरोपीय व्यवस्था में यह स्वैच्छिक है।

अमेरिकी अनुबंध कई अन्य बातों में भी यूरोपीय व्यव्यस्था से भिन्न है। प्रथम, अमेरिकी अनुबंध अधिक महत्वाकांक्षी है। इसमें कुछ विलक्षण अधिकार सम्मिलित है, उदाहरणतः, "उत्तर देने का अधिकार" और "एक नाम का अधिकार"। दूसरा, इसमें व्यक्तियों के अधिकारों से सम्बद्ध कर्तव्यों की भी उल्लेख है और अन्ततः यूरोपीय आयोग से इस बात से भिन्न है कि अन्तः अमेरिकी आयोग की ओ.ए.एस. संगठन के प्रमुख अंग के रूप में, इस संगठन के उन सदस्य राज्यों में मानव अधिकारों की स्थिति पर पृथक क्षेत्राधिकार है, जिन्होंने अभी अनुबंध की पुष्टि नहीं की है। इस कार्य को करने के लिए इसे प्रत्येक विवाद

के स्थल पर ही जाँच-पड़ताल करने तथा विभिन्न अमेरिकी राज्यों में मानव अधिकारों की सामान्य स्थिति देखने के लिए अधिकार प्राप्त हैं तथा यह उनकी रिपोर्टें प्रकाशित करता है। पक्षकार राज्यों में इसकी भूमिका अधिकारों के संरक्षण की होती है तथा गैर सदस्यों के लिए अधिकारियों के संवर्द्धन से होती है।

यह व्यवस्था अभी मानव अधिकारों के संरक्षण के उपकरण के रूप में प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पायी है। एक व्यापक व्यवस्था होने के बावजूद भी अर्जेंटीना, बोलिविया, चिली, हैती व अन्य देशों में मानव अधिकारों का काफी उल्लंघन हुआ है और उनके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया गया है। लेटिन अमेरिका में सैनिक तानाशाहों ने प्रायः मानव अधिकारों की अवहेलना की है। अफसोस है कि अभी तक अमेरिका ने भी इस अनुबंध की पुष्टि नहीं की है।

20.4.3 अफ्रीकी-व्यवस्था

मानव एवम् व्यक्तियों के अधिकारों का अफ्रीकी चार्टर, अफ्रीका एकता संगठन (ओ.ए.यू.) ने 1981 में पारित तथा 1986 से लागू हुआ। इसमें ओ.ए.यू. के संस्थागत ढाँचे में ही कार्य करने के लिए मानव अधिकारों के संवर्द्धन और संरक्षण की व्यवस्था की गई है। यह चार्टर यूरोपीय और अमेरिकी चार्टरों से कई बातों से भिन्न है। प्रथम, इसमें अधिकारों के साथ कर्तव्यों की भी घोषणा की गई है। दूसरा, इसमें न केवल व्यक्तियों के ही अधिकार शामिल हैं, बल्कि जनता के अधिकार भी शामिल हैं, जिन्हें तृतीय संतति के अधिकार कहा जाता है। तीसरा, इसमें नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अलावा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की भी सुरक्षा की गई है। चौथा, यह राज्यों की परस्पर शिकायतों और व्यक्तिगत शिकायतों को प्राप्त करने के लिए केवल आयोग की स्थापना करता है, किसी न्यायालय की नहीं। अन्तिम, यह अपने द्वारा घोषित अधिकारों के कार्यान्वयन हेतु पक्षकार राज्यों को व्यापक प्रतिबन्ध और सीमाएं आरोपित करने की अनुमति देता है।

यह कहा जा सकता है कि यह चार्टर संवर्द्धनकारी और अर्द्ध-न्यायिक कार्यों की रूपरेखा है। संवर्द्धनकारी कार्यों में अध्ययन करने, सम्मेलन आयोजित करने, प्रकाशन संबंधी योजनाओं को शुरू करने, सूचनाओं का वितरण करने तथा मानव अधिकारों से सम्बन्धित राष्ट्रीय और स्थानीय संस्थाओं से सहयोग करने की व्यापक शक्तियां शामिल हैं। अर्द्ध न्यायिक शक्तियों का सम्बन्ध अन्तर्राज्यीय या व्यक्तिगत शिकायतों पर विचार करते समय संधि की व्यवस्था करने से है।

इन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है। यूरोपीय व्यवस्था संरक्षण का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण तथा अफ्रीकी व्यवस्था सबसे दुर्बल साधन उपलब्ध कराती है। फिर भी अधिकारों की प्राप्ति के लिए मानव संघर्ष में इन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं को ऐतिहासिक और क्रांतिकारी विकास माना जाना चाहिए।

दुर्भाग्यवश एशिया में कोई क्षेत्रीय व्यवस्था नहीं है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, यहाँ ओ.ए.एस. या ओ.ए.यू. की तरह कोई क्षेत्रीय संगठन नहीं है। इसके अलावा एशिया काफी भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं, भिन्न धर्मों और ऐतिहासिक परम्पराओं वाला काफी बड़ा महाद्वीप है। फिर भी अरब लीग द्वारा उठाए गए सकारात्मक कदम पर विचार जरूर किया जाना चाहिए। अरब लीग ने 1968 में मानव अधिकारों के स्थाई आयोग की व्यवस्था की। इस आयोग से मानव अधिकारों का अरब चार्टर तैयार करना अपेक्षित था, किन्तु अब तक इस्राइल द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन किए जाने के संबंध में काफी बड़ी रिपोर्ट देने के अलावा और कोई वास्तविक परिणाम नहीं आए हैं।

20.5 मानव अधिकारों की वर्तमान समस्याएँ

संयुक्त राष्ट्र संघ, यूरोपीय परिषद्, ओ.ए.एस. ओ.ए.यू. और अरब लीग के प्रयासों के बावजूद विश्व के कई भागों में मानव अधिकारों का उल्लंघन हो रहा है। रंगभेद (द. अफ्रीका में) लघु स्तर पर निरंकुश रूप से प्राणदंड देना, शरणार्थियों का वृहत्तर स्तर पर पलायन, बाल-श्रम और बंधुआ मजदूर और ऐसी ही अन्य कई समस्याएँ चल रही हैं।

उल्लंघन के कुछ बुरे उदाहरण स्वयं राज्यों ने स्थापित किए हैं। कई सरकारों ने या तो इन अधिकारों की अवहेलना करने की प्रवृत्ति दिखाई है या उनके प्रति झूठी सहानुभूति प्रकट करके सन्तुष्ट हो गए हैं। तृतीय विश्व के देश केवल नए तकनीकी और आर्थिक युग में तेजी से प्रवेश करना चाहते हैं। वे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सूचना व्यवस्था आदि के लिए तो वार्ताएँ कर रहे हैं, किन्तु अभी तक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, नवीन मानव-व्यवस्था, जिन पर अन्य सभी विश्व व्यवस्थाएँ आधारित हैं, को स्थापित करने के प्रति अनिच्छुक हैं। यह कहना सही है कि चाहे मानव अधिकारों की धारणा सार्वभौम हुई या नहीं, किन्तु इनका उल्लंघन निःसन्देह सार्वभौम है। कुछ राज्य ऐसे हैं जहाँ मानव अधिकारों का उल्लंघन नहीं हुआ है और कुछ ही ऐसे हैं, जो अधिकारों को संरक्षण देने को तैयार हैं।

मानव अधिकारों के गम्भीर उल्लंघनों से निपटने की सामान्य अक्षमता वर्तमान विश्व व्यवस्था की प्रमुख कमजोरी है। वर्तमान व्यवस्था इस प्रकार के उल्लंघनों के प्रति काफी उदार है। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि विश्व के सभी भागों में मानव अधिकारों के बारे में जागरूकता बढ़ी है।

20.6 गैर-सरकारी संगठन और मानव अधिकार

जैसाकि ऊपर बताया गया है, अन्तः सरकारी संगठन व्यक्ति की गरिमा बनाए रखने और उनके अधिकारों के संरक्षण में बहुत अधिक सफल नहीं हुए हैं, अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई गैर सरकारी संगठन स्थापित किए गए है। उनमें से कुछ प्रमुख हैं– एम्नेस्टी इन्टरनेशनल, मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय लीग तथा विधि शास्त्रियों का अन्तर्राष्ट्रीय आयोग। मानव अधिकारों के क्षेत्र में बहुत से संगठन काम कर रहे हैं और इनमें से कई ने काफी अधिक सफलता भी प्राप्त की है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) क्या आप सहमत हैं कि मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए यूरोपीय व्यवस्था अन्य क्षेत्रीय व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अफ्रीका चार्टर की यूरोपीय और अमेरिकी अभिसमयों से तुलना कीजिए। यह उनसे किस प्रकार भिन्न है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) मानव अधिकारों के उल्लंघन के प्रमुख कारणों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

20.7 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में मानव अधिकारों और उनके संवर्द्धन तथा संरक्षण ने काफी महत्व प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने न केवल अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल का प्रारूप तैयार किया है, बल्कि मानव-अधिकारों की देखभाल सुनिश्चित करने के लिए कार्यान्वयन हेतु संगठन की भी स्थापना की है।

मानव अधिकारों के संरक्षण की तीनों क्षेत्रीय व्यवस्थाओं में उनके संरक्षण व निरीक्षण के लिए यूरोपीय अनुबंध सबसे अधिक प्रभावशाली व्यवस्था करता है। संरक्षण की क्षेत्रीय व्यवस्था में अमेरिकी व्यवस्था तुलनात्मक रूप से अफ्रीकी व्यवस्था से अधिक प्रभावशाली है। दुर्भाग्यवश, एशिया में मानव-अधिकारों की कोई क्षेत्रीय व्यवस्था नहीं है। गैर-सरकारी संगठनों की व्यवस्था मानव अधिकारों के संघर्ष को आगे बढ़ाने में अधिक सक्रिय और सफल रही है।

संयुक्त राष्ट्र संघ, यूरोपीय परिषद्, ओ.ए.एस., ओ.ए.यू. और अरब लीग के प्रयासों के बावजूद भी विश्व के कई भागों में मानव-अधिकारों का उल्लंघन होता है। मानव अधिकारों के लिए किए जा रहे संघर्ष की प्रक्रिया में एक सकारात्मक प्रगति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में "व्यक्ति" एक नए कर्ता के रूप में उभरकर सामने आया है। वस्तुतः "व्यक्ति" अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का विषय बन गया है।

20.8 शब्दावली

रंगभेद : दक्षिणी अफ्रीका में व्यवहृत प्रजातीय भेदभाव की सरकारी नीति।

संसूचन : शिकायतें या आवेदन।

अनुबंध : एक बहु-पक्षीय संधि।

प्रपत्र : एक लिखित प्रमाण या दस्तावेज, जो विधिक रूप से बाध्यकारी नहीं है।

मैग्नाकार्टा : ब्रिटेन के राजा द्वारा 1215 में जनता को, विशेष रूप से लार्ड्स को, प्रदान किए गए अधिकार व विशेष सुविधाएँ।

प्रोटोकॉल : एक प्रमुख या बड़ी संधि के साथ संलग्न दस्तावेज, जो संधि का पूरक है तथा उसकी विशेषताओं का उल्लेख करता है।

20.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

थॉमस ब्यूरगेंथल : *संक्षिप्त रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार*, 1988 (वेस्ट पब्लिशिंग कं.,, सेंट पाल, मिन.)

ए.एच. रोबर्टसन : *विश्व में मानव अधिकार*, 1982 (द्वितीय संस्करण) (मैन चेस्टर प्रेस)

पॉल सीघर्ट : *मानव जाति के वैध अधिकार—मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय विधि-संहिता का एक परिचय*, 1985 (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड)

नगेन्द्र सिंह : *मानव अधिकारों का क्रियान्वयन*, 1986 (ईस्टर्न लॉ हाऊस, कलकत्ता)

आर.जे. विनसेन्ट : *मानव अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध*, 1986 (केम्ब्रिज, यूनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज)

20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों ने मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए एक व्यापक व्यवस्था स्थापित कर ली है। अब मानव अधिकारों के सम्बन्ध में व्यक्ति और

सरकार का संबंध केवल राज्य के आन्तरिक मामलों का विषय नहीं रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय हो गया है। व्यक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विषय बन गया है।

2) अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों की प्रकृति वास्तव में सार्वभौम है। इनकी रचना अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा की जाती है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कहीं भी रहता हो, जाति, रंग, लिंग, धर्म या राष्ट्रीयता के भेदभाव के बिना उनकी माँग कर सकता है।

3) संयुक्त राष्ट्र के वर्तमान प्रयास तृतीय संतति के अधिकारों जैसे– विकास करने का अधिकार, शांति का अधिकार, वातावरण का अधिकार आदि को पहचानने की ओर प्रवृत्त है। अफ्रीका चार्टर प्रथम अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज है, जिसमें इनको सूचीबद्ध किया गया है।

बोध प्रश्न 2

1) हाँ, यूरोपीय व्यवस्था सर्वाधिक प्रभावशाली क्षेत्रीय व्यवस्था है। यूरोपीय आयोग तथा मानव अधिकारों का न्यायालय अन्तर्राज्यीय शिकायतों और व्यक्तिगत आवेदनों पर सक्रिय कार्यवाही करते हैं। अब तक 200 से अधिक व्यक्ति आवेदनों से उत्पन्न विवादों पर निर्णय दिए गए हैं, जिनके कारण सम्बन्धित राज्यों के आन्तरिक कानूनों में भी परिवर्तन हुए है। जबकि अफ्रीका चार्टर में अफ्रीका आयोग के संरक्षण के कार्यों की अपेक्षा संवर्द्धन के कार्यों पर विचार किया गया है। इसके अलावा इसमें किसी न्यायालय की स्थापना नहीं की जाती।

2) अधिकारों के सम्बन्ध में अफ्रीका चार्टर काफी व्यापक है। इसमें नागरिक व राजनीतिक तथा सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार के अधिकार शामिल हैं। इसमें जनता के अधिकार या तृतीय संतति अधिकार तथा व्यक्तियों के कर्तव्य भी शामिल किए गए हैं। किसी न्यायालय की स्थापना नहीं की गई है, किन्तु आयोग का कार्य काफी सामान्य है।

3) अधिकारों के उल्लंघन के कारण–अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय क्रियान्वयन के दुर्बल उपाय, महाशक्तियों के दोहरे मूल्य, राष्ट्र-राज्यों की संप्रभुता, लोगों में अधिकारों के प्रति जागरूकता का अभाव, राष्ट्रीय नेताओं की प्रतिबद्धता का अभाव।

इकाई 21 क्षेत्रीय संगठन एवं एकीकरण—दक्षेस (सार्क) के विशेष संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 क्षेत्रीयता का अर्थ
  21.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  21.2.2 क्षेत्रीय संगठनों का वर्गीकरण
  21.2.3 बहु-उद्देश्यीय संगठन
  21.2.4 सैन्य (सैनिक) संगठन
  21.2.5 आर्थिक (कार्यरत) संगठन
21.3 क्षेत्रीयतावाद बनाम विश्ववाद
  21.3.1 क्षेत्रीय संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ
21.4 क्षेत्रीय एकीकरण के सिद्धांत
  21.4.1 संघवाद (फेडेरेलिज्म)
  21.4.2 कृत्यवाद (फंक्शनलिजम)
  21.4.3 नव-कृत्यवाद (निओ-फंक्शनलिज्म)
21.5 दक्षिण एशिया में क्षेत्रीयतावाद—दक्षेस (सार्क) एक नमूना अध्ययन
  21.5.1 दक्षेस (सार्क) का उद्भव एवं उद्देश्य
  21.5.2 दक्षेस (सार्क) की संरचना एवं कार्य
  21.5.3 दक्षेस (सार्क) की समस्यायें एवं संभावनायें
21.6 सारांश
21.7 शब्दावली
21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आधारभूत लक्षणों का परिचय दिया जायेगा अर्थात् क्षेत्रीय संगठनों और क्षेत्रीय एकीकरण की भावना के उदय तथा उनके कार्यों का ज्ञान कराया जाएगा, खास तौर पर दक्षिणी एशियायी प्रदेशों का। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित बातों के लिए योग्यता प्राप्त कर सकेंगे।

- क्षेत्रीय संगठनों की प्रकृति तथा उनके आयाम का समझना,
- क्षेत्रवाद के ऐतिहासिक विकास को ठीक तरह से समझना,
- विभिन्न तरह के क्षेत्रीय संगठनों में अन्तर करना,
- संयुक्त राष्ट्र संघ और क्षेत्रीय संगठनों के सम्बन्ध का विश्लेषण करना,
- क्षेत्रीय एकतावाद के प्रमुख सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना, और
- क्षेत्रीय सहयोग के लिए बने दक्षिण एशिया सहयोग संगठन—दक्षेस (सार्क) की प्रकृति, संरचना एवं भावी अ"ा को समझना।

21.1 प्रस्तावना

समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विशेष तौर से सबसे महत्वपूर्ण विकासों में से एक यह है कि विश्व के विभिन्न भागों में तथा विकसित एवं विकासमान देशों में क्षेत्रीय संगठनों की एक बाढ़ सी आयी हुयी है। इस विकास को यूरोप

में यूरोपियन समाज (ई.सी.) और यूरोपीय अखण्डता की प्रक्रिया से बड़ी सफलता मिली है। क्षेत्रीय संगठनों का विश्व के दूसरे भागों में भी उद्‌भव हुआ है। खासतौर पर अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में। तृतीय विश्व में क्षेत्रीयता की अपूर्व उत्पत्ति इस तथ्य को महत्व प्रदान करती है कि क्षेत्रीय सहयोग, आर्थिक विकास निर्भरता, सुरक्षा और विवादों को सुलझाने की प्रबल समस्याओं के निदान का एक अधिक सार्थक मार्ग है। दूसरे शब्दों में, यह प्रवृत्ति एक निरन्तर बढ़ती हुई समझ को महत्व प्रदान करती है कि मानवता के समक्ष जो निर्णायक समस्यायें हैं उन्हें विभिन्न स्तरों पर जैसे उप-क्षेत्रीय स्तर, क्षेत्रीय स्तर और महाद्वीपीय स्तर, दक्षिण-दक्षिण स्तर आदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से अधिक प्रभावशाली ढंग से हल किया जा सकता है। क्षेत्रीय संगठन की प्रवृत्ति और विकास को अच्छी प्रकार समझने के लिए हम कुछ अवधारणात्मक बिन्दुओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

21.2 क्षेत्रीयता का अर्थ

हम क्षेत्रों की धारणा से इसे प्रारम्भ करेंगे। एक क्षेत्र क्या है? परम्परागत रूप से क्षेत्रों की परिभाषा मुख्य रूप से भौगोलिक दृष्टि से की जाती है उदाहरण के लिए, यूरोप उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, एशिया आदि। पर इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि कुछ क्षेत्रीय संगठन जैसे उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) पारस्परिक आर्थिक सहयोग परिषद् (कोमेकोन) कॉमनवेल्थ आदि इस परिभाषा में समाविष्ट नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि भौगोलिक सामीप्यता को छोड़कर जो घटक हैं वे क्षेत्रीय संगठनों के आधार का निर्माण करते हैं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक क्षेत्र उन राज्यों का समूह है जिनकी सुरक्षा या राजनैतिक हित या आर्थिक तथा सामाजिक मूल्य और उद्देश्य, संगठन या उसके बिना, समान हों। इस प्रकार एक क्षेत्र की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह उन प्रभुत्व संपन्न राज्यों तक सीमित है जो एक निश्चित भू-भाग में बसे हुए हों या उस क्षेत्र में जिनके हित समान हों।

क्षेत्रीय शब्द का अर्थ "क्षेत्र से सम्बन्धित" है। क्षेत्रीय संगठन वे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो एक क्षेत्र तक सीमित रहते हैं और सामान्यतया निम्न बातों पर आधारित रहते हैं—(1) इसमें शामिल होने वाली राज्यों सरकारों के मध्य एक औपचारिक समझौता हो। (2) जिनका कूटनीतिक मंच हो। (3) एक अन्तर्राष्ट्रीय नौकरशाही से जिसे सहायता प्राप्त हो। क्षेत्रीयता की यह अवधारणा उस क्षेत्रीय विचार की ओर इंगित करती है जो क्षेत्रीय संगठन, क्षेत्रीय पद्धतियों और क्षेत्रीय नीतियों के स्वरूप में होता है।

क्षेत्रीय सहयोग और "क्षेत्रीय एकरूपता या अखण्डता" जैसे शब्द एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। सामान्य रूप से "क्षेत्रीय सहयोग" जैसे शब्द किसी निश्चित अर्थ को प्रकट नहीं करते हैं। इसके अन्तर्गत कोई भी अन्तर्राज्यीय गतिविधि आ सकती है जो सारे विश्व के भाग लेने की बात से कुछ कम होती है तथा जिसका उद्देश्य सामान्य आवश्यकता की पूर्ति होता है। इसके विपरीत "क्षेत्रीय एकता या अखण्डता" जैसे शब्द एक सुनिश्चित अर्थ को प्रकट करते हैं तथा अधिक तकनीकी हैं।

क्षेत्रीय एकता का मतलब वह प्रक्रिया है जो क्षेत्रीय, आर्थिक, राजनैतिक या सैनिक समूहों के रूप में एक नये सामाजिक समुदाय को उत्पन्न करती है। क्षेत्रीय राजनैतिक अखण्डता में राष्ट्रों का एक समूह होता है जो सामूहिक संस्थानों और पद्धतियों के माध्यम से लिए गये सार्वजनिक निर्णयों को क्रियान्वित करते हैं। इनका क्रियान्वयन औपचारिक रूप से स्वतंत्र राष्ट्रीय इकाइयों से नहीं किया जाता है। इन समूहों में कई राष्ट्र सम्मिलित रहते हैं (तीन या उससे अधिक) जो किन्हीं खास समानताओं के चलते एक दूसरे से संबद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, उनकी जनसंख्या, पारस्परिक सद्‌भावना, विश्वास और समानरूपता। या उनके नेता कमोवेश रूप से उन विश्वसनीय आशाओं को रखते हों, जिनकी भागीदार वहाँ की जनता आवश्यक रूप से बनती, जहाँ कि सामान्य समस्यायें शांतिपूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। ऐसे समूहों की विशिष्टता यह होती है कि इनमें आपस में गहरे आर्थिक लेन-देन या उत्पादन के घटकों (श्रम, पूँजी, सेवायें) का स्वच्छन्द आदान-प्रदान होता है। इन स्वरूपों का वर्णन करते समय हम सामाजिक समुदाय, सुरक्षा समुदाय, सामान्य बाजार, या आर्थिक संघ आदि की बात करते हैं। इस विषय के एक प्रसिद्ध विद्वान, जोसेफन्ये ने कहा है कि "एकरूपता एक क्रिया पद्धति है जो राजनैतिक समुदाय का निर्माण करती है— यह ऐसी शर्त है कि जिसमें व्यक्तियों का एक समूह पारस्परिक आभार को स्वीकार करता है तथा सामान्य हित के विचारों को सामान्य मान्यता प्रदान करता है।

अर्नेस्ट हास ने क्षेत्रीय अखण्डता की परिभाषा देते हुए कहा है "यह वह क्रिया पद्धति है जिसमें विभिन्न राष्ट्रीय परिवेश में कार्यरत राजनीतिज्ञ इस बात के लिए फुसलाये जाते हैं कि वे अपनी स्वामि-भक्ति पूर्ण आशायें, और राजनीतिक गतिविधियों को एक बड़े और नये केन्द्र की ओर मोड़ दें जिसके संस्थानों का क्षेत्राधिकार पहले से स्थित राष्ट्रीय राज्यों पर है।" संक्षेप में क्षेत्रीय एकरूपता को एक जटिल क्रियापद्धति के रूप में समझा जा सकता है जो एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र को सामूहिक निर्णयों के माध्यम से संस्थानों द्वारा जोड़ती है। अब हम इसकी ऐतिहासिक भूमिका पर चर्चा करेंगे।

21.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि क्षेत्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई पद्धति है पर क्षेत्रीयता के विचार और क्रियाविधि किसी भी अर्थ में नई नहीं है। प्राचीन काल से एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में स्थित राज्यों के समूह में यह सामान्य बात थी कि वे एक दूसरे के साथ मिल कर अपने साझे उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। इस प्रकार पारस्परिक सुरक्षा समूहों की स्थिति यूनानी नागरीय राज्यों में तथा ईसा के पूर्व चीन के छोटे राज्यों में पायी जाती थी। प्रारंभ की शतियों में रोम साम्राज्य ने इस प्रवृत्ति को सफलतापूर्वक कुचल दिया। जब 17 वीं शती में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ तो विश्व के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय समूह पुनः उभरने लगे। 19वीं शती में क्षेत्रीय सुरक्षा समूहों की मौजूदगी के कई उदाहरण देखे गये जैसे पवित्र संगठन और जर्मन परिसंघ। 1890 में वाशिंगटन डी.सी. में (यू.एस.ए.) अमेरिकन गणतंत्रों (बाद में अमेरिका के राज्यों का संगठन ओ.ए.एस.) की स्थापना।

लीग ऑफ नेशन्स के समय (1919-1939) क्षेत्रीयता एक बड़े महत्व की बात नहीं थी। लीग का जन्म सामूहिक सुरक्षा की विश्व पद्धति के रूप में हुआ था ताकि गठजोड़ और शक्ति संतुलन की पद्धति का वह स्थान ले सके। इतना होते हुए भी अन्तः युद्ध काल में लीग की सामूहिक सुरक्षा पद्धति की प्रारंभिक प्रभावहीनता ने अनेकों क्षेत्रीय प्रयोगों को जन्म दिया जैसे ड्राफ्ट ट्रीटी आफ मुचुअल असिस्टेन्स (1923) लोकार्नो पैक्ट (1925, जर्मनी, बेल्जीयम, फ्रांस, ब्रिटेन और इटली) तथा लिटिल एन्टेन्टे (1933 युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया और रुमानिया) और बाल्कन एन्टेन्टे (1934 युगोस्लाविया, रुमानिया, यूनान और टर्की के बीच) विश्व के पश्चिमी गोलार्द्ध में अन्तः अमेरिका पद्धति (आगे चलकर ओ.ए.एस.) तीव्र गति से विस्तृत हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समय में अनेक तरह के क्षेत्रीय संगठन पहले यूरोप में और बाद में तीसरी दुनिया में बड़ी संख्या में सामने आये। इस बात की आवश्यक रूप से जांच की जानी आवश्यक है कि 1945 के बाद क्षेत्रीयता की भावना इतनी तीव्र गति से क्यों फैली? प्रारंभिक काल में सैनिक एवं कूटनीतिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के कारण क्षेत्रीय समूह उभर कर आये। इतने पर भी समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभुतासंपन्न राज्यों की अपने नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न में असफलता ने क्षेत्रीय समूहों की उत्पत्ति के लिए उर्वर भूमि तैयार की। आज अधिक शक्तिशाली प्रभुतासंपन्न राज्य भी ज्यादातर दूसरों पर निर्भर हो चुके हैं ताकि अपने नागरिकों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। छोटे और कमजोर राष्ट्र दूसरों पर अधिक निर्भर हैं। इस प्रकार उनकी संप्रभुता की बात एक मजाक बन कर रह गयी है।

क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद को व्यक्तिगत राष्ट्र और विश्व संघ के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में माना जाता है। इन तथा इनसे मिलते-जुलते दूसरे कारणों से, जो अधिक अच्छे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को उत्पन्न करने में मूलभूत भूमिका निभाते हैं, ने हाल ही के वर्षों में क्षेत्रवाद की उत्पत्ति को प्रोत्साहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज क्षेत्रीय संगठनों की एक लम्बी कतार सामने आ गयी है जो विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है। अब हम संक्षिप्त रूप से बड़े स्वरूप वाले क्षेत्रीय संगठनों का सर्वेक्षण कर सकते हैं।

21.2.2 क्षेत्रीय संगठनों का वर्गीकरण

क्षेत्रीय संगठनों को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। यह वर्गीकरण भिन्न भिन्न सिद्धान्तों, कार्य क्षेत्र, सदस्यता की प्रवृत्ति, एकरूपता की सीमा जो उस क्षेत्र तक सीमित हो आदि के आधार पर किया जाता है। अपने बड़े अभिविन्यास और कार्य पर आधारित क्षेत्रीय संगठनों का तीन समूहों में वर्गीकरण किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, 1) बहुउद्देशीय संगठन, 2) गठजोड़ संगठन, 3) कार्यरत या कार्यशील संगठन।

21.2.3 बहु-उद्देशीय संगठन

आज जो बड़े स्वरूप वाले क्षेत्रीय संगठन है वे बहु-उद्देशीय हैं। वे इस अर्थ में बहु-उद्देशीय हैं कि उनके मोटे उद्देश्य और गतिविधियाँ केवल राजनैतिक और सैनिक मामलों को ही समाहित नहीं करती वरन् आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को भी अपने परिवेश में लपेटती हैं। बहु-उद्देशीय क्षेत्रीय संगठनों के उदाहरणस्वरूप अमेरिका की राज्य, (ओ.ए.एस.) अरब राज्यों की संघ परिषद् अफ्रीकी एकता संगठन (जी.ए.यू.) दक्षिणी एशिया के राष्ट्रों का संघ (एसेन) आदि का नाम लिया जा सकता है। ये संगठन एकाधिक प्रकार का कार्य करते हैं जो राजनैतिक सामाजिक-आर्थिक और सैनिक प्रवृत्ति के होते हैं, यद्यपि ऐसे संगठन मुख्य रूप से राजनैतिक संगठन होते हैं।

21.2.4 संधि (सैनिक) संगठन

संधि दो या दो से अधिक संप्रभुतासंपन्न राज्यों के बीच पारस्परिक सैनिक सहायता की प्रतिज्ञा या आश्वासन है। संधि और सैनिक संगठन जैसे उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो), वारसा पैक्ट, दक्षिणी-पूर्वी एशिया संधि संगठन (सीएटो-अब अस्तित्वविहीन) आदि मूलतः बाहरी शत्रु से सुरक्षा हेतु किये जाते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि अधिकांश सैनिक संगठन पूर्व-पश्चिम शीत युद्ध के दौरान स्थापित किये गये और 1990 में शीत युद्ध के बाद आज उनका महत्व अधिक नहीं रह पाया है। वारसा संधि ने अपने सैनिक कार्य-व्यापारों को विघटित कर दिया है। यह कार्य मार्च 31, 1991 से प्रारम्भ हुआ है।

21.2.5 आर्थिक (कार्यरत) संगठन

क्षेत्रीय संगठनों का आज जो जबर्दस्त बहुमत है वे सब कार्यगत संगठन हैं जो मुख्य रूप से आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक सहयोग की बात को आगे बढ़ाते हैं तथा सैनिक सुरक्षात्मक घटकों की ओर बहुत कम ध्यान रखते हैं। ऐसे संगठनों के उदाहरणों में यूरोपीय आर्थिक समाज (ई.ई.सी.) पारस्परिक आर्थिक सहयोग परिषद् (कोमेकोन) पश्चिमी अफ्रीकी राज्यों के आर्थिक समुदाय (एकोवाज) दक्षिणी अफ्रीकी विकास समन्वयन कान्फरेन्स (साइक) लेटिन अमेरिका का स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (लफ्टा) अमेरिका का केन्द्रीय सामान्य बाजार (सी.ए.सी.एम.) कोरेवियन समुदाय, पेट्रोलियम निर्यात वाले देश (ओपेक) और क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशिया संघ दक्षेस (सार्क) आदि। वे मुख्यतया क्षेत्रीय एकरूपता के कार्यरत सिद्धांतों पर आधारित है। वे मुख्यतया पारस्परिक हितों से सम्बन्धित हैं जिससे सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी सम्बन्धों को सुधारा जा सके। इस तरह गठजोड़ वाले संगठनों के विपरीत कार्यरत संगठनों का कार्य या भाग 1990 के बाद युग में तथा आगे भी विवादित होने की पूरी संभावना बनी है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलाएँ।

1) क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय संगठनों की परिभाषा दीजिये।

.....

.....

.....

.....

2) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् क्षेत्रीय संगठनों की उपज के लिए मूलभूत कारण कौन से

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्षेत्रीय संगठनों के तीन मुख्य वर्ग कौन से हैं? उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.3 क्षेत्रीयतावाद बनाम विश्ववाद

यहाँ यह संगत है कि क्षेत्रीयतावाद के दावों एवं प्रतिदावों के विवरणों की विस्तृत जाँच की जाये। क्षेत्रवाद के समर्थक बहुधा विश्ववाद पर क्षेत्रवाद की श्रेष्ठता साबित करने के लिए निम्नलिखित दावे करते हैं:

1) आसपास बसे हुए राज्यों के छोटे समूहों में क्षेत्र पर आधारित हितों की परम्परा और मूल्यों की एकरूपता की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

2) एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में बसने वाले राज्यों में राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक एकरूपता या अखण्डता अधिक होती है। विश्व के विभिन्न भागों में बसने वाले राज्यों में यह उतनी नहीं होती।

3) क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग अतीव सक्रिय एवं सक्षम आर्थिक इकाइयों को जन्म देता है जो छोटे राज्यों में संभव नहीं है। ये बड़ी इकाइयाँ विश्व के बाजार में सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकती हैं।

4) किसी भी ओर से उठे हुए शांति के खतरों का सामना उस क्षेत्र के राज्य अधिक गति और इच्छा से कर सकते हैं। यह बात संघर्ष स्थल से दूर स्थित राज्यों के लिए संभव नहीं है जिनका हित इसमें जुड़ा हुआ नहीं रहता।

5) राज्यों को एक क्षेत्रीय संगठन के रूप में जोड़ने से विश्व में शांति संतुलन कायम रखा जा सकता है तथा विश्व शांति एवं विश्व सुरक्षा को प्रोन्नत किया जा सकता है।

6) विश्व अपने स्तर पर ऐसा कोई संगठन बनाने को तैयार नहीं है जो विश्व शांति की रक्षा कर सके और मानव के कल्याण को आगे बढ़ा सके। क्षेत्रवाद वह पहला कदम है जिससे अनुभव की प्राप्ति होती है और सहमति के क्षेत्रों का निर्माण होता है जिससे अन्तर्राज्यीय समन्वय एवं एकरूपता पैदा होती है।

7) विश्ववादी लोग सारे विश्व में व्याप्त राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक घटकों की विषमता की ओर दृष्टिकोण नहीं करते जो विश्व की एकता में अवरोधक हैं।

8) इन समस्याओं का समाधान आपानी से एक क्षेत्रीय ढाँचे के अन्तर्गत किया जा सकता है।

दूसरी ओर विश्ववाद के समर्थक बहुत तर्क करते हैं कि निम्नलिखित कारण क्षेत्रवाद पर विश्ववाद की श्रेष्ठता के उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं:

1) विश्व की अन्तर्निभरता ने अनेक समस्यायें पैदा की हैं जिनका विश्वस्तर पर ही समाधान संभव है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का निदान क्षेत्रवाद की सीमाओं के अंदर असंभव है।

2) किसी क्षेत्र के राज्यों की समस्याओं के निदान के लिए क्षेत्रीय साधन बहुधा अपर्याप्त सिद्ध होते हैं।

3) चूँकि शांति विभाज्य नहीं है इसलिए केवल विश्व संगठन ही उन शांति के खतरों का सफलता से मुकाबला कर सकता है। अगर इन खतरों का मुकाबला नहीं किया गया तो वे स्थानीय या क्षेत्रीय सीमा से बाहर फैल जाते हैं।

4) केवल विश्व संगठन ही एक बड़े राज्य की शक्ति पर पर्याप्त अंकुश लगा सकता है जो बहुधा क्षेत्रीय व्यवस्था के सदस्य पर हावी हो जाती है।

5) आक्रामक राज्य के प्रति आर्थिक प्रतिबन्ध साधारणतया प्रभावहीन हो जाते हैं अगर उनका प्रयोग क्षेत्रीय आधार पर किया गया हो। ऐसी अवस्था में आक्रमणकारियों को उस क्षेत्र के बाहर से मदद मिलती रहती है।

6) क्षेत्र अस्थायी और अनिश्चित होते हैं। इस बात पर कोई समझौता संभव नहीं है कि उन क्षेत्रों की क्या पद्धति हो जिसमें विश्व को सुविधापूर्वक बांटा जा सके।

7) क्षेत्रीय गठजोड़ के क्षेत्र में सैनिक वर्चस्व कायम करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रतियोगिता का आधार बनाते हैं जो आगे चलकर बड़े युद्ध की संभावना पैदा कर देता है।

8) सामान्य स्तर के अनेकों विश्वस्तरीय संगठन राज्यों की तथा लोगों की उस इच्छा का इजहार करते हैं कि वे विश्व के आधार पर एक दूसरे से सहयोग करें। वे इस बात की आवश्यकता नहीं मानते कि पहले क्षेत्रीय संगठनों को एक प्रयोगशाला के रूप में प्रयुक्त किया जाये जिससे सहमति के क्षेत्रों या समुदायों का धीरे-धीरे विकास संभव हो।

विश्ववाद के दावों की चाहे जितनी विश्वसनीयता या वैधता हो, वर्तमान समय में क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। क्षेत्रवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि क्षेत्रवाद पर आधारित इकाई विश्व स्तरीय इकाई से अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकती है। इसके अलावा क्षेत्रवाद के समर्थक इस अर्थ में भी इसकी उपयोगिता मानते हैं कि यह आगे चलकर विश्ववाद का मार्ग प्रशस्त करता है। यहां मुख्य रूप से यह बात ध्यान में रखने की है कि क्षेत्रीय अभिकरण विश्व संस्थान के प्रतिस्थापक नहीं किन्तु पूरक हैं। यह बात तब स्पष्ट होती है जब हम क्षेत्रीय संगठनों और संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.) के सम्बन्धों की जाँच करते हैं।

21.3.1 क्षेत्रीय संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जब संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थापना की तैयारियाँ हो रही थीं तो बहुतों ने क्षेत्रवाद को विश्व संस्था का आधार मानने की वकालत की थी। कुछ लोगों ने सिर्फ क्षेत्रीय संगठनों के स्थापना की ही बात कही जैसे यूरोप, अमेरिका, एशिया आदि के लिए एक संगठन बनाने की बात। इसका कारण यह था कि उस समय तक विश्व संगठन के विचार को अव्यवहार्य या काल्पनिक माना जाता था। कुछ लोगों का प्रस्ताव था कि एक क्षेत्रीय स्वरूप वाले विश्व संगठन की स्थापना की जाये जो क्षेत्रीय संगठनों पर आधारित हो तथा जो विश्व संगठन में समरूपता से समाहित हो। उदाहरण के लिए, विन्सटन चर्चिल ने द्विस्तरीय विश्व संगठन का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार विश्व स्तर पर एक विश्व परिषद् बने जिसे यूरोप, अमेरिका एशिया आदि में बने क्षेत्रीय संगठनों की सहायता प्राप्त हो। संक्षेप में उस समय जब संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा पत्र (चार्टर) बन रहा था, उस समय क्षेत्रवाद को समर्थन प्रदान करने वाली शक्तियाँ काफी मजबूत और शक्तिशाली थीं। इन्होंने विश्व स्तरीय ढाँचे में अपने आप को व्यवस्थित करने में सफलता प्राप्त की।

यहाँ यह बता देना महत्वपूर्ण है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के ढाँचे में क्षेत्रीय संगठनों का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने तक सीमित है। व्यवहार में इसके बावजूद आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में क्षेत्रीय अभिकरणों का बढ़ा चढ़ा कर उपयोग किया जाता है क्योंकि चार्टर में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिससे उनकी स्थापना पर प्रतिबन्ध लगे और यही कारण है कि उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। संयुक्त राष्ट्र के ढाँचे में फिर भी बहुत से आर्थिक आयोग जैसे यूरोपीय आर्थिक आयोग (ई.सी ई.), लेटिन अमेरिका के लिए आर्थिक आयोग (ई.सी.एल.ए.) संयुक्त राष्ट्र की अधिकृत संरचना के भाग हैं तथा उनका निर्माण आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (ई.सी.ओ.एस. ओ.सी.) के अन्तर्गत उसके कार्यों में सहायता पहुंचाने के लिए हुआ है।

चार्टर की क्षेत्रवादी धारायें जो 52-54 अनुच्छेदों में हैं, ने निम्नलिखित सिद्धान्तों की स्थापना की है। इनका सम्बन्ध क्षेत्रीय संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ से है।

1) क्षेत्रीय संगठनों की मौजूदगी अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के विवाद को सुलझाने के लिए हो सकती है। ऐसे विवाद क्षेत्रीय स्तर पर निपटाये जा सकते हैं। इसमें यह ध्यान

रखना जरूरी है कि उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों से असंगति न रखती हो।

2) राज्यों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपने स्थानीय झगड़ों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में भेजने से पूर्व क्षेत्रीय अभिकरणों में सुलझा लें।

3) सुरक्षा परिषद् भी इन अभिकरणों का उपयोग स्थानीय झगड़ों के निपटारे में कर सकती है।

4) सामान्यतया बिना सुरक्षा परिषद की स्वीकृति के क्षेत्रीय अभिकरणों को अपना निर्णय लागू नहीं करना चाहिए।

5) शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने सम्बन्धी सभी गतिविधियों का संकल्प करने एवं उन्हें क्रियान्वित करने के पूर्व सुरक्षा परिषद् को इनसे पूरी तरह अवगत रखना चाहिए।

इन सिद्धान्तों के प्रतिस्थापन का इरादा स्पष्ट रूप से इस लिए किया गया था कि जब भी क्षेत्रीय संगठन और संयुक्त राष्ट्रसंघ में क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद उठ खड़ा हो तो विश्ववाद को हमेशा क्षेत्रीयतावाद पर तरजीह दी जाये। इस बात पर भी ध्यान दिया जाये कि अधिकांश क्षेत्रीय संगठन जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित हुये उनके सम्बन्ध में इसी प्रकार की व्यवस्थायें है।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि चार्टर में जिस सैद्धान्तिक संतुलन की व्यवस्था की गयी है वह बहुत सी सुरक्षा संबंधी क्षेत्रीय अभिकरणों के कार्य व्यवहार से विशेष कर शीतयुद्ध के समय भंग हो गया। क्षेत्रवाद के पक्ष में स्पष्ट रूप से एक ऐसी प्रवृत्ति का संस्थापन हुआ जिसने संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के सैद्धान्तिक अधिकार की उपेक्षा कर दी।

उक्त भूमिका के साथ अब हम क्षेत्रीय एकरूपता के विविध सिद्धान्तों एवं दृष्टिकोणों को जाँचने का प्रयत्न करेंगे।

21.4 क्षेत्रीय एकीकरण के सिद्धान्त

विश्वक्रम के प्रसंग में क्षेत्रीय संगठनों एवं क्षेत्रीय अखण्डता की परीक्षा करते हुए हम तीन बड़े सिद्धान्तों या मतों की पहचान कर सकते हैं। 1) संघवाद, 2) कृत्यवाद और 3) नव-कृत्यवाद। हम इन तीनों सिद्धान्तों के मूलभूत स्वरूपों का विवरण देंगे (चौथा सिद्धान्त जिसे संरचना का सिद्धान्त कहा जाता है के बारे में यहाँ चर्चा नहीं की जा रही है)।

21.4.1 संघवाद (फेडेरेलिज्म)

संघवाद प्रमुख रूप से एक कानूनी या राजनैतिक दृष्टिकोण है जो अखण्डता का परिचायक हैं। यह राजस्वरूपी एकरूपता का आदर्श उपस्थित करता है जिसकी परिकल्पना राष्ट्रीयोपरिउद्देश्य की है। एक संघीय राज्य की तरह यह अपने संघीय भागों के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रीकृत सत्ता की उपस्थिति के बावजूद स्वशासिता की परिकल्पना लेकर चलता है। बहुधा क्षेत्रीय संघों की यह कह कर वकालत की जाती है कि वे विश्व संघ की ओर कदम हैं। स्पष्ट रूप से यह एक आदर्शवादी और महत्वाकांक्षी दृष्टिकोण है।

ग्रीक नगरीय राज्य के समय से लेकर विश्व क्रम के लिए संघीय योजनाओं की बात ज्ञात है। 19वीं एवं 20वीं शदी में बहुत से शांतिवादी विचार रखने वालों ने विश्व संघ की विश्व क्रम में एक दृष्टिकोण के रूप में वकालत की है। इतने पर भी इस विचार का वास्तविक प्रतिफलन क्षेत्रीय या विश्व स्तर पर अभी तक अप्राप्य ही बना हुआ है। सभी जगह प्रमुख प्रवृत्ति वर्तमान में स्थित इकाइयों के एकीकरण की बजाय उनके विघटन की है। शांति एवं परिकल्याण की समस्याओं का मुकाबला करने में राष्ट्रीय राज्यों की अपर्याप्तता प्रमाणित हो चुकी है। इससे संघीय विचार को एक बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला है। दुनिया के अधिकांश भागों में क्षेत्रीय संघों की बजाय क्षेत्रीय संगठनों की संख्या में वृद्धि हुई है। यूरोप में भी जहां क्षेत्रीय अखण्डता की प्रक्रिया ने शीघ्र कदम बढ़ाये हैं, वहाँ भी ई.ई.सी. एक संघीय राज्य पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करती यद्यपि आर्थिक एकरूपता स्थापित करने में इसका भाग महत्वपूर्ण है।

21.4.2 कृत्यवाद (फंक्शनलिज्म)

कृत्यवादियों का क्षेत्रीय एकरूपता संबंधी दृष्टिकोण संघीय दृष्टिकोण से, जिसके बारे में हम विचार कर चुके हैं, बिल्कुल भिन्न या विरोधी है। जबकि संघवादी दृष्टिकोण की जड़ें सत्ता की राजनीति एवं दमनकारी साधनों में तथा सांवैधानिक तरीकों में निहित है, कृत्यवादियों के दृष्टिकोण की जड़ें गैर-राजनीतिक या टेक्नीकल गतिविधियों में है जिन्हें कभी-कभी "टेक्नीकल आत्म निर्णय" की संज्ञा प्रदान की जाती है। कृत्यवादी सिद्धान्त का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि एकरूपता की प्रक्रिया सबसे अच्छी तरह वहाँ प्रस्थापित हो सकती है जहाँ विशिष्ट कार्य हो। राजनैतिक कार्य क्षेत्र में यह घटित नहीं हो सकती। इस बात पर सहमति है कि संगठनात्मक स्वरूप को कृत्यवादी दिशाओं का अनुसरण करना चाहिए।

कृत्यवादी सहयोग के राज़नीतिक प्रभाव को देखते हैं जो इसमें भाग लेने वालों के दृष्टिकोण में घटित होता है। उनका तर्क है कि एक कार्यक्षम शांति पद्धति का धीरे-धीरे विकास होगा और अन्तर्राज्यीय संघर्ष कम होगा क्योंकि इससे अवान्तर राष्ट्रीय स्वामी भक्ति की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा। यह आवश्यक कृत्य की पूर्ति के द्वारा न कि उच्च राजनीतिक विचार द्वारा एक सुरक्षा की भावना पैदा करेगी। कृत्यावादियों के दृष्टिकोण का मुख्य बल इस बात पर है कि कार्यकारी संगठन उन दिशाओं या क्षेत्रों से शुरू होना चाहिए जहाँ सीमा पार से मिले सहयोग द्वारा परिकल्याण सर्वाधिक रहा हो। इससे शक्ति पर आधारित राजनीति का भाग कम हो जायेगा।

कृत्यीवादी यह भी तर्क देते हैं कि क्षेत्रीय संगठन खास तौर से वे जो आर्थिक "एकरूपता" से सम्बन्धित हैं वे कार्यकारी सहयोग के लिए सबसे अच्छी व्यवस्था है। इससे राज्य, हिंसक संघर्ष के लिए अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग करने में कम प्रवीण होंगे। इस सहयोग के साथ साथ एक समुदाय या धनात्मक भावनायें विभिन्न राज्यों के लोगों के बीच विकसित होगी। इस प्रकार कृत्यवादी लोगों का जोर प्रभुसत्ता के अवमूल्यन या कम करने पर उतना नहीं है जितना विभिन्न राज्यों को विभिन्न कार्यकारी गतिविधियों एवं सम्बन्धों में जोड़ कर इसे कम खतरनाक बनाने में है।

21.4.3 नव-कृत्यवाद (निओ-फंक्शनलिज्म)

क्षेत्रीय अखण्डता का तीसरा मुख्य दृष्टिकोण नव कृत्यवाद है जो प्रकट रूप से कृत्यवाद का एक विभिन्न प्रकार मात्र है। नव कृत्यवाद के सिद्धान्त का विकास 1950 में काल के बाद किया गया जो तीन यूरोपीय समुदायों, यूरोपीयन कोल एण्ड स्टील कम्यूनिटी (ई.एस.एस.सी.), यूरेटोम और यूरोपीयन इकोनोमिक कम्यूनिटी, के अनुभव पर आधारित था। 1950 में जब फ्रांस के तत्कालीन विदेश मंत्री रोबर्ट शूमैन के यूरोप के कोयला एवं इस्पात के बाजारों के एकीकरण की घोषणा की। यह कार्य गैर राजनैतिक एवं कल्याण की भावना से समाहित (कृत्यवादी) था और जरा भी राजनीति या कानून की भावना से प्रभावित नहीं था। इस पर भी यूरोप की एकरूपता का अंतिम लक्ष्य यूरोप का राजनैतिक एकीकरण ही रहा या एक संयुक्त यूरोपीयन राज्य (एक संघवादी लक्ष्य) की उत्पत्ति रहा। वास्तव में शूमैन ने अपनी योजना को यूरोप को एक संग बनाने के लिए पहला कदम बताया। इस प्रकार का दृष्टिकोण जिसमें संघीय लक्ष्य की पूर्ति कार्यकारी साधनों से की जाती है उसे नव कृत्यवादी दृष्टिकोण के नाम से अभिहित किया गया जो आगे चलकर एक रूपता की ओर ले जाता।

दूसरे शब्दों में, नव कृत्यवादी तर्क देते हैं कि शक्ति (राजनीति) और परिकल्याण (आर्थिक) एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं रखे जा सकते। राजनीतिक खेल को खेलना ही होगा पर यह खेल एक कार्य विन्यासित (टास्क ओरिएन्टेड) रणनीति के माध्यम से खेला जायेगा, कानूनी और वैधानिक-रणनीति से नहीं। इस बात का ध्यान रहे कि "राष्ट्रोपरि," का सिद्धान्त ई.सी.एस.सी. की सबसे बड़ी पहचान थी। यही बात ई.सी.सी. पर लागू थी। अरनेस्ट हास जो नव कृत्यवाद के प्रवर्तक सिद्धान्तवादी थे, ने इस बात का उल्लेख किया है कि राष्ट्रोपरि एकरूपता क्षेत्रीय व्यवस्था में (जैसे यूरोप में) इस बात के महत्व को प्रकट करती है कि अब सदस्य राष्ट्रों की सार्व भौमिकता बीते युग की बात और अर्थहीन वस्तु बन गयी है। नव कृत्यवाद के अनुसार, राष्ट्रोपरि की भावना जैसी ई.सी.एस.सी. और ई.ई.सी. में पाई जाती है वस्तुतः राजनीति पर अर्थ नीति की विजय का प्रतीक है। राजनीति को इस कारण से परिकल्याण के अनुचर के रूप में कार्य करना होगा। परिकल्याण या राजनीति पर वर्चस्व एक क्षेत्रीय एकरूपता और राष्ट्रोपरि ढाँचे में संभव है। इस पर भी अब तक के यूरोप के अनुभव ने यह दिखा दिया है कि आर्थिक एकरूपता

के प्रयत्नों में काफी उन्नति होने पर भी यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की बात अब भी सिर पर चढ़ी हुयी है। वस्तुतः नव कृत्यवादियों की स्थिति का समर्थन करने के लिए बहुत कम गवाही मिलती है जो शांति एवं परिकल्याण को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय सरकारों को भंग करने की बात करते हैं।

अंत में यह कहा जा सकता है कि नव कृत्यवाद का सिद्धान्त उसी तरह अपर्याप्त सिद्ध हुआ है जिस तरह संघीय दृष्टिकोण अप्राप्य और आदर्शवादी साबित हुआ। इन तीनों दृष्टिकोणों में जिनके बारे में ऊपर विचार किया गया है कृत्यवादी सिद्धान्त अपने गर्भ में बड़ी संभावना छिपाये हुये है। यह वह मार्ग है जिसे प्रभुसत्ता संपूर्ण राष्ट्रीय राज्यों द्वारा भविष्य में अनुसरण किये जाने की अधिक संभावनायें हैं। यह बात खास तौर से एशिया और तीसरी दुनिया की क्षेत्रीय एकरूपता की क्रिया पद्धति से विशेष संगति रखती है।

अब हम क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिणी एशियायी संघ दक्षेस (सार्क) के विस्तृत अध्ययन का प्रयत्न कर सकते हैं जो क्षेत्रीय सहयोग के कार्यकारी दृष्टिकोण पर आधारित है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर को मिलाएँ।

1) क्षेत्रवाद के पक्ष-विपक्ष में दिये जा रहे तर्कों को संक्षेप में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) संयुक्त राष्ट्र संघ आज्ञा पत्र में दिये गये क्षेत्रीय संगठनों और संयुक्त राष्ट्र संघ के आपसी सम्बन्धों पर अपने विचार प्रकट करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्षेत्रीय अखण्डता के बड़े सिद्धान्त क्षेत्र कौन-कौन से हैं? इनमें से कौन-सा सिद्धान्त आज अधिक संगत और लागू होने योग्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.5 दक्षिण एशिया में क्षेत्रीयतावाद–दक्षेस (सार्क) एक नमूना अध्ययन

यूरोप तथा इसकी जगहों के विपरीत एशिया में क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय संगठनों का विकास खासतौर पर दक्षिणी एशिया में, अपेक्षाकृत एक हाल का विकास है। 1970 के अंत तक 7 दक्षिणी एशिया के राज्यों (बंगलादेश, भूटान, भारत, मालदीव नेपाल, पाकिस्तान

और श्रीलंका में द्विपक्षीय या बहुपक्षीय आर्थिक व्यवहार था, पर क्षेत्रीय व्यवस्था जैसी कोई चीज का प्रस्ताव उसके सामने नहीं था। इसलिए दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन-दक्षेस (सार्क) साउथ एशियन एसोसियेशन ऑफ रीजनल कोपरेशन-दक्षेस (सार्क) जिसमें ऊपर के सात राज्य सम्मिलित थे, 1985 में ढ़ाका में स्थापित हुआ। इसे दक्षिणी एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक ऐतिहासिक विकास या घटना माना जा सकता है।

21.5.1 दक्षेस (सार्क) का उद्‌भव एवं उद्‌देश्य

दक्षेस (सार्क) के निर्माण की पहल ने बंगलादेश के राष्ट्रपति जिया-उर-रहमान ने की जिन्होंने पड़ोस के देशों में 1977-80 में अपनी राजकीय यात्राओं के अवसर पर इस क्षेत्र के लोगों के सामान्य हित के लिए सहयोग को संघटित करने का विचार रखा।

नवम्बर 1980 में "दक्षिणी एशिया में क्षेत्रीय सहयोग विषय पर बंगलादेश ने एक दस्तावेज तैयार किया जो इन देशों में भेजा गया। इस दस्तावेज में उस विशाल संभावना की ओर सघनरूप से ध्यान दिलाया गया, जो क्षेत्रीय सहयोग के लिए प्राप्त था। साथ ही उन लाभों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया जो सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से क्षेत्र के देशों को प्राप्त होते। इस क्षेत्र के देशों के मध्य प्रारंभिक विचार-विमर्श में इस बात पर भी जोर दिया गया कि प्रस्तावित क्षेत्रीय सहयोग आपसी विश्वास एवं एक दूसरे को समझाने में ही सहायक नहीं हो किन्तु सार्वभौमिक एकता, क्षेत्रीय अखण्डता, एक दूसरे के काम में अहस्तक्षेप तथा पारस्परिक लाभ के सिद्धान्तों पर स्पष्ट रूप से आधारित हो।

यह कल्पना की गयी कि यह सहयोग आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में धीरे-धीरे आगे बढ़ेंगे। प्रारम्भ में इसने 11 क्षेत्रों को परिचिन्हित किया है जिसमें सदस्य राष्ट्रों द्वारा पारस्परिक सहयोग की शुरुआत की जा सकती है।

1) दूर संचार
2) मौसम विज्ञान
3) परिवहन
4) जहाजरानी
5) कृषि अनुसंधान
6) पर्यटन
7) संयुक्त उद्यम
8) बाजार का विस्तार
9) वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक सहयोग
10) शैक्षणिक एवं प्राविधिक सहयोग, और
11) सांस्कृतिक सहयोग

इस क्षेत्र के दूसरे देशों ने बंगलादेश के प्रस्ताव का पारस्परिक लाभ और राष्ट्रीय हित के विचारों के आधार पर समर्थन किया। बंगलादेश संभवतः स्वयं भारत से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता था उन विवाद बिन्दुओं पर जिनसे दोनों देश सम्बन्धित थे, जैसे, गंगा के पानी के बंटवारे के प्रश्न पर। भारत के दूसरे छोटे पड़ोसी देशों की भी भारत से कुछ पारस्परिक समस्यायें थीं। उनकी भी यह आशा थी कि द्विपक्षीय व्यवस्था के मुकाबले इससे भारत से अधिक अच्छा व्यवहार मिलेगा। समस्याओं के प्रति क्षेत्रीय दृष्टिकोण को विशुद्ध द्विपक्षीय या अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों के मुकाबले अधिक प्रभावशाली माना गया। यह भारत पर हुआ और पाकिस्तान इस बारे में सशंक रहे अर्थात् उन्होंने खुलकर अपने विचार प्रकट नहीं किये। पाकिस्तान को डर था कि दक्षिणी एशिया में क्षेत्रीय मंच स्थापित करके भारत अपने वर्तमान क्षेत्रीय वर्चस्व को कानूनी रूप प्रदान करने में समर्थ हो सकेगा। भारत ने भी सोचा कि छोटे पड़ोसी राज्यों ने इस प्रस्ताव की परिकल्पना इस क्षेत्र में भारत के प्रभाव को सीमित करने के लिए की है। फिर भी अन्य विचारों के साथ विश्व एवं क्षेत्रीय स्तर पर शक्ति संतुलन के विचारों ने भारत को दक्षेस (सार्क) में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया। यह बात भी ध्यान में रखना जरूरी है कि भारत और पाकिस्तान दोनों ने कुछ पूर्व शर्तें रखी थीं जैसे दक्षेस (सार्क) के कार्य क्षेत्र से द्विपक्षीय या विवादास्पद बिन्दुओं को परे रखना और हर सदस्य राष्ट्र का निषेधाधिकार के साथ समन्वित होना।

इसके अतिरिक्त दक्षिणी एशिया के लिए खराब होती आर्थिक जलवायु, जो उत्तर दक्षिण की वार्ता के भंग होने का परिणाम थी, ने दक्षिणी एशिया के नेताओं को प्रेरणा दी कि वे उन साधनों एवं तरीकों पर विचार करें जिनसे वे अपनी आर्थिक स्थिति का मुकाबला कर सकें। बंगलादेश का प्रस्ताव लोगों की इच्छा और आकांक्षा के अनुसार था जो दक्षिण

एशिया में आर्थिक, प्रौद्योगिक और सांस्कृतिक कार्यक्षेत्र में सहयोग चाहता था। इसलिए दक्षिणी एशिया का कोई देश इसका विरोध नहीं कर सकता था। इन्हीं विचारों के कारण दक्षेस (सार्क) का अन्त में निर्माण 8 दिसम्बर, 1985 में ढाका शिखर वार्ता में हुआ जिसमें दक्षिणी एशिया के सात देशों के राज्यों और सरकारों के सर्वोच्च अधिकारी सम्मिलित हुए

दक्षेस (सार्क) के मुख्य उद्देश्य जो चार्टर में उल्लिखित हैं, निम्नलिखित हैं :

क) दक्षिणी एशिया के लोगों के कल्याण को आगे बढ़ाना और उनके जीवन स्तर में उन्नति करना या जीवन में गुणात्मक उन्नति करना।

ख) इस क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उन्नति एवं विकास की गति को तेज करना।

ग) दक्षिणी एशिया के देशों में सामूहिक आत्मनिर्भरता की उन्नति करना और उसे सुदृढ़ करना।

घ) एक दूसरे में विश्वास उत्पन्न करना, एक दूसरे को समझना और दूसरे की समस्याओं का सही आकलन करना।

ङ) सक्रिय सहयोग को प्रोन्नत करना और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, प्राविधिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना।

च) दूसरे विकासशील देशों से सहयोग को सुदृढ़ करना।

छ) सामान्य हित के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर आपस में सहयोग की भावना को सुदृढ़ करना।

ज) समान उद्देश्यवाले अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठन से सहयोग करना।

ये उद्देश्य यह ध्यान में रहें, एक गैर राजनीतिक स्पर्श को तथा निम्न स्तर पर सहयोग की भावना को प्रतिबिम्बित करते हैं।

21.5.2 दक्षेस (सार्क) की संरचना एवं कार्य

1) **राज्य या सरकारों के सर्वोच्च व्यक्तियों का सम्मेलन :** यह सर्वोपरि नीति निर्माण करने वाला अंग है तथा साधारणतया साल में एक बार शिखर स्तर पर इसकी बैठक होती है। सार्क शिखर सम्मेलन अब तक ढाका में (1985) बंगलोर (1986), काठमांडू (1987), इस्लामाबाद (1988) और माले में (1990) में आयोजित हुये हैं।

2) **मंत्रिपरिषद् :** इसमें सदस्य राष्ट्रों क विदेश मंत्री शामिल हैं। इस परिषद् की साल में साधारणतया दो बार बैठकें होती हैं। इसका काम नीति निर्धारण, सहयोग की प्रगति आदि का लेखा-जोखा करना है।

3) **स्थायी-समिति :** इसमें सदस्य देशों के विदेश सचिव होते हैं। यह समग्र रूप से देखभाल एवं नियंत्रण तथा सहयोग के कार्यक्रम का समन्वय, साधनों का एकीकरण, सहयोग के नये क्षेत्रों की खोज आदि का कार्य करती है। इसकी जब आवश्यकता हो तब बैठक हो सकती है पर साधारणतया कम से कम साल में दो बार इसकी बैठकें होती हैं।

4) **प्राविधिक समिति :** इस समिति में सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। यह क्रियान्वयन समन्वय और अपने-अपने स्थान में सहयोग के क्षेत्रों के कार्यक्रमों का नियंत्रण एवं देखभाल करती है। यह स्थायी समिति को समय-समय पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। इसकी बैठक जब चाहे हो सकती है।

5) **कार्य समिति :** स्थायी समिति कार्य समितियों की नियुक्ति कर सकती है। इसमें सदस्य देश शामिल होते हैं। इसका काम योजनाओं का क्रियान्वयन है। इसमें सभी सदस्य राज्य नहीं होते हैं पर दो से अधिक की उपस्थिति हो सकती है।

6) **सचिवालय :** 1987 में काठमांडू में एक स्थायी सचिवालय स्थापित किया गया था जिसमें मुख्य सचिव एवं उसके कर्मचारी थे। यह कार्यक्रमों के क्रियान्वयन व समन्वय पर नियंत्रण एवं देखभाल रखता है तथा दक्षेस (सार्क) के विभिन्न अंगों द्वारा आयोजित होने वाली बैठकों की आवश्यकता की पूर्ति करता है।

21.5.3 दक्षेस (सार्क) की समस्यायें एवं संभावनायें

दक्षेस (सार्क) पिछले 6 वर्षों से (1985-91) अवस्थित है। इस पर भी इस संस्था की उपलब्धियां बहुत उत्साहजनक नहीं हैं। दक्षेस (सार्क) के निर्माण का यह अर्थ था कि दक्षिणी एशिया के राज्यों में अचानक गहरी समृद्धि विकसित हो तथा वे एक दूसरे से सहयोग करें और संघर्षों को भूल जायें। वास्तव में शुरू से ही दक्षेस (सार्क) की प्रगति निरन्तर जारी रहने वाले संघर्ष और तनाव से ग्रसित रही है। कई राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, एवं प्रजातिगत कारणों से सदस्यों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। निम्नलिखित सुनिश्चित घटकों की बात कही जा सकती है जिसके कारण दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग की प्रक्रिया प्रभावित हुयी है।

क) **क्षेत्रीय असंतुलन एवं भारत भय** : विश्व का कोई भी क्षेत्र एक सदस्य से इतना प्रभावित नहीं हुआ है जितना दक्षिण एशिया भारत से। भारत के पास इस क्षेत्र का 72 प्रतिशत भाग है, तथा 77 प्रतिशत जनसंख्या है तथा क्षेत्र की 78 प्रतिशत सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय (ग्रोस नेशनल प्रोडक्ट)। इस क्षेत्र को छोटी राज्यों की आयातों सीमागत अवस्थिति है तथा वे एक दूसरे की ओर सहायता की दृष्टि से देखते हैं।

इन देशों में से पाकिस्तान को छोड़ कर कोई भी देश भारत को खतरा पैदा नहीं कर सकता। ये सभी भारत की उनको राजनीतिक रूप से अस्थिर करने की शक्ति से परिचित हैं। इसके लिए वह उनकी प्रजातिगत एवं धार्मिक समस्याओं से फायदा उठा सकता है। संक्षेप में भारत का भय दक्षेस (सार्क) को कई तरह से विपरीत रूप से प्रभावित कर रहा है। यही कारण है कि दक्षेस (सार्क) के छोटे सदस्य देश इस क्षेत्र में विदेशी शक्तियों की उपस्थिति के लिए प्रोत्साहित होते हैं ताकि इस क्षेत्र में भारत के वर्चस्व का मुकाबला किया जा सके।

ख) **नृवंश सम्बन्धी तनाव** : नृवंश सम्बन्धी तनाव दक्षिणी एशिया में स्थानीय हो गये हैं। इसका केन्द्र बिन्दु भी भारत है। चाहे तमिल जाति रही हो या असमीया, बंगाली तनाव हो या हिन्दू-मुसलमान झगड़े हों, भारत को चाहे अनचाहे इससे जोड़ लिया जाता है। इसका कारण इसकी प्रधान भौगोलिक स्थिति जातीय तथा धार्मिक बहुलता आदि है। घरेलू जातीय तनाव एक देश से दूसरे देश को प्रभावित करते हैं। वस्तुतः दक्षिणी एशिया की राष्ट्र के पार की जातीय एवं धार्मिक समस्यायें किसी को भी क्षेत्रीय सहयोग और संगठन के सम्बन्ध में निराशावादी बना देती हैं। ये जातीगत तनाव क्षेत्रीय सहयोग की जड़ों पर ही कुठाराघात करते हैं।

ग) **विभिन्न राजनैतिक परिकल्पनायें** : यह सुविदित है कि दक्षिणी एशिया की राजनीति पर भारत-पाक संघर्ष हावी है। इन दोनों देशों में संघर्ष का संतोषजनक हल नहीं निकलने की दशायें पारस्परिक अविश्वास एवं शत्रुता बनी रहेगी तथा यह दक्षेस (सार्क) के विचार विमर्श और गतिविधियों पर हावी रहेगी। यद्यपि द्विपक्षीय एवं विवादास्पद बातें दक्षेस (सार्क) के कार्य क्षेत्र से बाहर रखी जाती हैं तथापि इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि ये विवाद बिन्दु खास कर भारत-पाक के बीच के विवाद बिन्दुओं ने दक्षेस (सार्क) के विचार-विमर्श को बिगाड़ कर रख दिया है। यह हमेशा सरल नहीं होता कि राजनैतिक घटकों की बात अलग रख दी जाये यद्यपि सामूहिक आर्थिक लाभ की बात दक्षेस (सार्क) के निर्माण के पीछे मुख्य तर्कसंगत बात रही है।

घ) **पारस्परिक अविश्वास** : अविश्वास, गलत परिकल्पना, एक दूसरे को गलत समझने की बात इस क्षेत्र के देशों में पायी जाती है जो दक्षिणी एशिया में क्षेत्रीय सहयोग की अनुपस्थिति के लिए जिम्मेदार है। भारत एवं पाकिस्तान में स्थानीय संघर्ष सुविदित है। श्रीलंका से भारत के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे हैं खासतौर से हाल ही के वर्षों में। इसका कारण तमिल प्रश्न है। नेपाल से भी भारत के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे हैं जिसके कारण नेपाल ने भारत के विरुद्ध उसके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप की शिकायतें की हैं। कुल मिलाकर पारस्परिक असहयोग एवं भारतीय वर्चस्व मुख्य रूप से दक्षिण एशिया में सहयोग की प्रगति न होने के लिए जिम्मेदार हैं।

ङ) **सार्क का भविष्य** : जैसा कि हमने पढ़ा है दक्षेस (सार्क) के सामने कई बाधायें हैं तथा इसका भविष्य समस्याग्रस्त है। इसकी समस्यायें ओर कमजोरियाँ, ऐसा प्रतीत होता है, इसके गुण और शक्ति के मुकाबले ज्यादा हैं। सामान्य राजनीतिक सुरक्षात्मक अवधारणा के बिना तथा सहयोग के प्रमुख क्षेत्र जैसे व्यापार और उद्योगों को इसके

कार्यक्षेत्र से बाहर रख कर तथा इसके कार्य संचालन के लिए धनराशि संग्रह को ऐच्छिक रख कर वस्तुतः दक्षेस (सार्क) के सहयोगी प्रयत्नों को काफी कमजोर बना दिया गया है। तब सार्क दक्षेस (सार्क) क्या उपलब्धि कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदस्य राज्य आर्थिक प्रश्न को काफी महत्व देते हैं। तो भी दक्षेस (सार्क) के कारण इन देशों में बहुत आर्थिक विकास नहीं हो पाया है। भारत के आर्थिक वर्चस्व का भय और सदस्यों के बीच राजनैतिक विश्वास की पूर्ण कमी ने दक्षिणी एशिया में इस सहयोग पर आधारित कार्य को बिगाड़ कर रख दिया है।

दक्षिण एशिया में वर्तमान में भी क्षेत्रीय सहयोग को हर देश की विदेश नीति का विस्तार माना जाता है और इसे हर देश के क्षेत्रीय वातावरण के घात प्रतिघात में निम्नस्तरीय प्राथमिकता दी जाती है। अगर इस प्रयोग को सफल होना है तो यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय सहयोग को निर्णय लेने की प्रक्रिया में तथा हर देश के विकास की योजनाओं में प्रमुख स्थान देना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त विश्व के मामलों में एक मजबूत एवं सुसंयुक्त दक्षिणी एशिया जो नये विश्व क्रम की ललकार को सह सके, को बनाने की बड़ी कल्पना आवश्यक है। इस प्रसंग में जो महत्वपूर्ण एवं मौलिक बात है वह यह है कि एक दक्षिणी एशिया चेतना को उत्पन्न किया जाये, खासतौर से इस क्षेत्र के लोगों में, जो मानव की संख्या का 1/5 भाग है। जब तक दक्षेस (सार्क) को जनता का आन्दोलन नहीं बना दिया जाता तब तक इसकी उपलब्धियाँ परिधिगत या सीमित ही रहेंगी। इस क्षेत्र के लोग इस क्षेत्र में बिना किसी भय और बाधा के परिभ्रमण कर सकें और सूचना एवं विचार के उन्मुक्त प्रवाह के मार्ग की बाधायें हटा दी जायें। अतीव आवश्यक रूप से जो महत्वपूर्ण है वह लोगों में 'अपनापन' की भावना का पैदा होना है। इसके साथ-साथ सहयोग तनावों से रहित हो तथा उस जड़ता एवं कठोरता से रहित हो जो ऊपर से आरोपित संस्थागत परिजाल में मुख्य से विद्यमान रहती है। लोगों का लोगों से संपर्क जो दक्षेस (सार्क) के माने की लय है, अब वस्तुतः प्रवरों से प्रवरों के सहयोग में परिवर्तित हो गया है। जो इससे अधिक महत्वपूर्ण है वह लोगों का इसमें भाग लेना है। यह भाग गैर-सरकारी संस्थाओं, समुदाय के नेताओं तथा लोगों के आन्दोलन, बुद्धिवादियों, विद्यार्थियों एवं विचार निर्माताओं को सदस्य राष्ट्रों में है उनके द्वारा लिया जा सकता है। केवल इसी प्रकार की जनता की भागीदारी जो इतने विस्तृत आधार पर होगा विभिन्न स्तरों पर विश्वास पैदा कर सकता है और कम से कम उन परिस्थितियों को पैदा कर सकेगा जिनसे दक्षिणी एशिया में क्षेत्रीय सहयोग बढ़ेगा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) दक्षेस (सार्क) के सदस्य कौन से देश हैं तथा इसके प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) दक्षेस (सार्क) की संगठनात्मक संरचना का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) दक्षेस (सार्क) की सफलता में कौनसी प्रमुख समस्यायें तथा दबाव बाधायें उत्पन्न कर रही हैं?

.....

.....

.....

4) दक्षेस (सार्क) को किस प्रकार शक्तिशाली बनाया जा सकता है?

21.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने क्षेत्रीय संगठनों तथा एकीकरण की प्रकृति तथा गत्यात्मकता का दक्षेस (सार्क) के विशेष संदर्भ में अध्ययन करने का प्रयास किया है। यह व्यापक रूप से स्वीकृत तथ्य है कि क्षेत्रीय संगठनों को किसी भी व्यावहारिक विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत एक सक्रिय भूमिका का निर्वहन करना है। आर्थिक विकास की समस्याओं का सामना करने, विकसित उत्तरी देशों के मुकाबिले में छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों की सौदाकारी शक्ति में वृद्धि तथा उत्तरी राष्ट्रों पर उनकी निर्भरता में कमी करने के प्रयोजन से क्षेत्रीय एकीकरण एक हितकारी मार्ग समझा जाता है। वास्तव में यहां छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों के मध्य, विशेष रूप से वह भी तृतीय विश्व के देशों में, क्षेत्रीय सहयोग की काफी आवश्यकता है।

विद्यमान क्षेत्रीय संगठनों को इनके उद्देश्यों तथा गतिविधियों से सम्बन्धित विषयों के आधार पर बहुउद्देशीय, सैन्य समझौते तथा आर्थिक संगठनों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। यह विचारणीय तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ तथा क्षेत्रीय संगठनों के उद्देश्य एक समान हैं तथा इन दोनों प्रकार के संगठनों की गतिविधियाँ परस्पर अनुपूरक हो सकती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में इन सम्बन्धों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है।

क्षेत्रीय संगठनों तथा एकीकरण की प्रक्रिया के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव आये तथा पश्चिमी यूरोप में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप वहाँ यह प्रक्रिया पूर्ण आर्थिक तथा बाजार एकीकरण के निकट पहुँच गयी है। कई अन्य क्षेत्रों ने भी शीघ्रगामी प्रगति की है। हालांकि दक्षिण एशिया विभिन्न कारणों से इस प्रक्रिया में बहुत पीछे रहा है लेकिन सन् 1985 से दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन (दक्षेस यानी "सार्क") ने इस क्षेत्र में आर्थिक सहयोग हेतु एक आधार प्रदान किया है। यद्यपि इसका भविष्य अनिश्चित रहेगा क्योंकि यह दक्षेस (सार्क) गंभीर विरोधों तथा अन्तर्विरोधों से घिरा हुआ है।

21.7 शब्दावली

क्षेत्रीय एकीकरण (रीजनल इण्टीग्रेशन) : वह प्रक्रिया जिसमें राष्ट्रों अथवा अन्य राजनीतिक इकाइयों की निष्ठा एक राष्ट्रीय परिधि से हटकर एक क्षेत्रीय सत्ता की तरफ स्थानान्तरित हो जाती है।

विश्व व्यवस्था (वर्ल्ड ऑर्डर) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की एक आदर्श स्थिति जिसके अन्तर्गत प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के मध्य सम्बन्धों का संचालन शक्ति राजनीति तथा बलनीति के स्थान पर कानून तथा न्याय के आधार पर हो।

संयोजन राजनीति (लिंकेज पॉलिटिक्स) :अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सिद्धान्तों तथा राष्ट्रीय व्यवहार के सिद्धान्तों के मध्य एक वैचारिक सेतुबन्ध।

स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (फ्री ट्रेड एरिया) : वह क्षेत्र जिसमें व्यापारिक माल तथा उत्पाद बिना सीमा शुल्क के स्वतंत्र रूप से लाये-ले जाये जा सकते हैं।

सीमा शुल्क संघ (कस्टम यूनियन): एक स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र जिसमें एक सामान्य बाह्य सीमा शुल्क का प्रावधान होता है।

सांझा मंडी (कॉमन मार्केट) : सीमा शुल्क संघ जिसके अन्तर्गत उत्पाद तथा उपकरणों के संदर्भ में एकीकृत किये गये क्षेत्र में श्रमिकों एवं पूँजी को स्वतंत्र रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया ले जाया जा सकता है।

आर्थिक संघ (इकॉनॉमिक यूनियन) : एक सांझा मंडी जिसके अन्तर्गत सदस्य देशों के मध्य मौद्रिक, वित्तीय तथा अन्य आर्थिक नीतियों को एकीकृत किया गया हो।

21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अर्नेस्ट बी. हास, 1958. *यूनाइटिंग ऑफ यूरोप : पॉलिटिकल, सोसियल एण्ड इकॉनॉमिक फोर्सेज, 1950-57.* केलिफॉर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस : स्टेन फॉर्ड।

रामा एस. मेलकोट, 1990, *रीजनल ऑर्गेनाइजेशंस : ए थर्ड वर्ल्ड परस्पेक्टिव,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स : न्यू दिल्ली।

भबानी सेन गुप्ता, 1986, *रीजनल कॉर्पोरेशन एण्ड डेवलपमेन्ट इन साउथ एशिया,* 2 वॉल्यूम्स, साउथ एशिया पब्लिशर्स : न्यू दिल्ली।

प्राण चोपड़ा, (एडी.), 1986, *फ्यूचर ऑफ साउथ एशिया,* मेकमिलन इण्डिया लि. : न्यू दिल्ली।

21.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिये अनुच्छेद– 21.2
2) देखिये अनुच्छेद– 21.2.1
3) देखिये अनुच्छेद– 21.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिये अनुच्छेद– 21.3
2) देखिये अनुच्छेद– 21.3.1
3) देखिये अनुच्छेद– 21.4

बोध प्रश्न 3

1) देखिये अनुच्छेद– 21.5 तथा 21.5.1
2) देखिये अनुच्छेद– 21.5.2
3) देखिये अनुच्छेद– 21.5.3
4) देखिये अनुच्छेद– 21.5.3

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS-05 (N)
समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंध

खंड
8

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समकालीन मुद्दे

इकाई 22
विश्व असमानता और नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था 5

इकाई 23
उत्तर-दक्षिण वार्ता में द्वन्द्व एवं सामंजस्य 12

इकाई 24
गुट-निरपेक्षता 23

इकाई 25
नव-उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगम और बहुपक्षीय एजेन्सियां 34

खण्ड 8 की प्रस्तावना

इस खण्ड में कुल चार इकाईयां हैं, जो कि कुछ प्रमुख समकालीन मुद्दों से आपका परिचय करवाती हैं। ये समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए अत्यन्त प्रासंगिक हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में आर्थिक साधनों और राजनीतिक शक्ति का "विकसित" और "विकासशील" देशों के बीच विषम विभाजन है। साथ ही, विकासशील देशों के आर्थिक शोषण के अतिसूक्ष्म और जटिल तरीकों को इज़ाद किया गया है जो, औपनिवेशिक काल से भिन्न, एकदम सीधे और दिखने वाले नहीं हैं बल्कि, अप्रत्यक्ष और अदृश्य हैं। इसे "नव-उपनिवेशवाद" कहते हैं जो मुख्यतः बहुराष्ट्रीय निगमों और बहुपक्षीय एजेंसियों के माध्यम से कार्यवाही करता है। इसलिए, विकासशील देशों ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में मूलभूत ढांचागत् परिवर्तनों की दुहाई दी है। 1970 के दशक की शुरुआत में यह विकास के मुद्दे का राजनीतिकरण कर पाए और सफलतापूर्वक संयुक्त राष्ट्र में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर प्रस्ताव पारित करवा सके। अधिकांश विकासशील देशों ने गुट-निरपेक्षता की नीति अपनायी है जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बलपूर्वक परिलक्षित करती है और उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विभिन्न रूपों से लड़ती है। साथ ही, गुट-निरपेक्ष देश एक वैकल्पिक विश्व व्यवस्था का सृजन करने की कामना करते हैं जो शोषण विहीन हो और पक्षपाती न हो। यह खण्ड इन तमाम मुद्दों पर कुछ गहराई से बहस करता है।

22वीं इकाई "विश्व असमानता और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था" पर है। यह इकाई समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में "असमानता" शब्द को परिभाषित करती है और इसे एक ऐतिहासिक संदर्भ में रखती है। उसके बाद नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बनाने के प्रयासों की चर्चा की गयी है जिससे कि वर्तमान अर्थव्यवस्था की असमानताएं दूर की जा सकें।

23वीं इकाई जिसका शीर्षक है "उत्तर-दक्षिण वार्ता में विवाद और मतैक्य", 22वीं इकाई की विषय वस्तु को आगे जारी रखती है और विकसित, औद्योगिक देशों तथा विकासशील, औद्योगीकरण की प्रक्रिया में लगे देशों के बीच मौजूद विभाजन को देखने की कोशिश करती है। यहाँ, इस बड़े विभाजन के विभिन्न आयामों को दिखाने की कोशिश की गयी है। इसके अलावा, उत्तर-दक्षिण के बीच मतभेदों के प्रमुख क्षेत्रों को चिन्हित किया गया है। अन्त में "उत्तर-दक्षिण वार्ता" के प्रति दृष्टिकोण में मतैक्य की जरूरत जो इनके आपसी हित में है, इसे इस इकाई में बताने की कोशिश की गयी है। निष्कर्ष रूप में इस वार्ता की धीमी प्रगति के लिए जिम्मेदार कारकों को समझाया गया है।

24वीं इकाई गुटनिरपेक्षता के बारे में है। इसमें उस ऐतिहासिक पृष्टभूमि (उपनिवेशवाद) की व्याख्या की गयी है, जिसमें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्म हुआ। यह इकाई नव स्वतंत्र देशों की आकांक्षाओं की चर्चा करती है जो खुद को गुटनिरपेक्ष नीति में अभिव्यक्त करती है। आंदोलन के विकास, इसके सिद्धान्त, साथ ही इसके विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक अन्तर्वस्तु की विश्लेषणात्मक चर्चा की गयी है। इसकी भावी संभावनाओं का जायजा लेने से पहले आन्दोलन की उपलब्धियों, इसकी सफलताओं और असफलताओं तथा इसकी सीमाओं को भी स्पष्ट किया गया है।

इस खण्ड की आखिरी इकाई (25वीं इकाई) जिसका शीर्षक है "नव-उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगम और बहुपक्षीय एजेन्सियां"। यह इकाई नव-उपनिवेशवाद के कार्य तंत्र, नव-उपनिवेशवाद के विस्तार के लिए जिम्मेदार प्रमुख एजेन्सियों और साथ ही इसके विभिन्न कार्य क्षेत्रों से आपका परिचय करवाती है। अंत में, यह तीसरी दुनिया के देशों के विशेष संदर्भ में नव-उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन करती है।

यह "समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों" के पाठ्यक्रम का अंतिम खण्ड है। हमने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के ढांचे, इकाई और प्रक्रिया की स्पष्ट समझदारी देने की कोशिश की है। हम आशा करते हैं कि आपको इन इकाईयों को पढ़ने में मजा आया होगा, जो कि खुद को सिखलाने के अंदाज में लिखे गये हैं। इस पाठ्य सामग्री के संदर्भ में आपकी टिप्पणियां और सुझावों का विश्वविद्यालय में स्वागत है।

इकाई 22 विश्व असमानता और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 विश्व असमानता का अर्थ और इसके कारण
  22.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  22.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं
  22.2.3 विश्व असमानता की वर्तमान स्थिति
22.3 नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की परिभाषा और उत्पत्ति
  22.3.1 नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ
  22.3.2 नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएं
  22.3.3 नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
22.4 नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान दौर
22.5 भविष्य के लिए संभावनाएं
22.6 सारांश
22.7 शब्दावली
22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

वर्तमान विश्व असमानता के भीतरी कारणों की आलोचनात्मक समझदारी इस इकाई का उद्देश्य है। यह इकाई विश्व असमानता की समस्या के विभिन्न आयामों को भी उजागर करती है। इसलिए, यह संक्षेप में इन असमानताओं और एक ज्यादा न्याय संगत विश्व व्यवस्था के प्रयासों पर बहस करने की कोशिश करती है। इस संदर्भ में, हम उस चीज पर ज्यादा जोर देंगे जिसे "नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था" कहा जाता है। इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप

- विश्व असमानता की ऐतिहासिक पृष्टभूमि और भीतरी कारणों का अर्थ समझ पाएंगे,
- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा के जन्म और विकास की व्याख्या कर पाएंगे, और
- नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं, इसकी वर्तमान स्थिति और भावी व्यवहारिकता का मूल्यांकन कर पाएंगे।

22.1 प्रस्तावना

विश्व असमानता एक सापेक्ष और बहुमुखी तथ्य है। यह कई स्तरों पर मौजूद है, एक स्तर पर यह मुखर और स्पष्ट है जबकि दूसरे स्तर पर सूक्ष्म किन्तु विकृत है। इसकी अभिव्यक्ति असमान व्यापार, वित्त एवं वित्तीय संस्थाओं में असमानता, विज्ञान और तकनीक के विकास के स्तरों में असमानता, उद्योग और विश्व वित्तीय संस्थाओं के नियंत्रण, उर्जा के असमान उपभोग एवं विभिन्न अन्य तरीकों से होती है। पहले विश्व असमानता मुट्ठी भर देशों द्वारा उपनिवेश और साम्राज्य बनाने के रूप में प्रकट हुई। औद्योगिक क्रांति तथा विज्ञान और तकनीक में प्रगति के चलते इन देशों ने दुनिया के अधिकांश भागों पर कब्जा कर उन्हें उपनिवेश बना दिया । बाद में स्वतंत्रता की भावना जागने से विदेशी शासन का कड़ा विरोध हुआ और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद का सीधे तौर पर राजनीतिक स्वामित्व खत्म हो गया किन्तु, यह नव-उपनिवेशवाद के नये रूप में सामने आया। नव-उपनिवेशवाद आज तक मौजूद है। इस एकतरफा निर्भरता को खत्म करने के लिए एक न्यायसंगत नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग होने लगी।

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग ने मई 1974 को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा में पारित प्रस्ताव "नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना और कार्यक्रम" के प्रस्ताव में ठोस आकार ग्रहण किया। इसके दो लक्ष्य थे: मौजूदा अन्याय को दूर करना और विकसित और विकासशील देशों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश करना। किन्तु बाद का इतिहास बताता है कि यह मांगें अभी तक पूरी न हो सकीं।

इस इकाई में सबसे पहले हम विश्व असमानता शब्द को इसके ऐतिहासिक संदर्भ में परिभाषित करेंगे और उसके बाद वर्तमान विश्व असमानता के कारणों का विश्लेषण करेंगे। उसके बाद हम देखेंगे कि नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग कैसे पैदा हुई और इसका क्या अर्थ है। उसके बाद हम नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को सूत्रबद्ध तथा लागू करने के प्रयासों की मांग के उतार-चढ़ाव भरे इतिहास का अध्ययन करेंगे। हम इसकी वर्तमान स्थिति और भविष्य में इसकी व्यवहारिकता पर भी विचार करेंगे।

22.2 विश्व असमानता का अर्थ और इसके कारण

विश्व असमानता का अर्थ है विश्व का विकसित और विकासशील देशों के बीच आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों पर बंटवारा। वर्तमान व्यवस्था की यह एक कठोर सच्चाई है। वर्तमान अन्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था के लिए यह बंटवारा जिम्मेदार है और जिसके कारण असंतोष ने मौन और उग्र विस्फोटों का रूप धारण किया है जिससे वर्तमान व्यवस्था को बदला जा सके। इस प्रकार यह जरूरी है कि "नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विगत और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं और उन मान्यताओं को जिन पर वह निर्भर थे और हैं, को समझा जाए। इससे वर्तमान विश्व असमानता को समझने में मदद मिलेगी।

22.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पहले विश्व असमानता उपनिवेशवाद के रूप में सामने आयी जो मूलतः मुट्ठी भर औद्योगिक देशों की महत्वाकांक्षा की देन थी जो दूसरे देशों की भूमि को हड़पने और उनकी प्राकृतिक संपदा को पाने के लिए उनको सीधे तौर पर दबा देते थे। इसकी परिणति उपनिवेशों के नंगे शोषण के रूप में हुई। आजादी की ललक ने खुद को विदेशी शासन के खिलाफ कड़े प्रतिरोध के रूप में उजागर किया जिसके फलस्वरूप राजनीतिक रूप में उपनिवेशवाद का खात्मा हो गया । किन्तु इसने आगे नव-उपनिवेशवाद का रूप ग्रहण किया और ज्यादा सूक्ष्म हो गया। नव-उपनिवेशवाद ने उपनिवेशों पर प्रत्यक्ष क्षेत्रीय नियंत्रण को खत्म कर दिया परन्तु उन देशों की अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व कायम रखा।

द्वितीय विश्व युद्ध ने पश्चिमी देशों को यह महसूस करवाया कि युद्ध का कारण आर्थिक था। इसलिए विश्व युद्ध के बाद 1930 के दशक की अस्त-व्यस्त अर्थव्यवस्था की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए भिन्न राष्ट्र एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बनाने पर सहमत हुए। इसके लिए उन्होंने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की ।

22.2.2 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं

राष्ट्रों के बीच आर्थिक संबंधों को संचलित करने के लिएं 'ब्रेटन वुड' में जिन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की गई वह हैं :

i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष — इसका उद्देश्य मुद्राओं का संचालन कर्ता बनना, विनिमय दरों के स्थायित्व को बढ़ावा देना और व्यापार को ज्यादा मुक्त करने की कोशिश करना था।

ii) पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक — इसकी स्थापना यूरोप, जापान और विकासशील दुनिया के पुनर्निमाण के लिए उधार देने के लिए हुई।

iii) सीमा शुल्क और व्यापार पर आम सहमति (गैट) — अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संचालन के लिए।

इन संगठनों के निर्माणकर्ताओं द्वारा जिस अर्थव्यवस्था की कल्पना की गई थी, और जो 'ब्रेटन वुड्स' सिस्टम के रूप में जाना जाता है, मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गैर-भेदभाव पर आधारित था। जैसे साल बीतते गए, विकासशील देशों को एहसास हुआ कि इस व्यवस्था ने उन्हें दरकिनारे कर दिया था और वह वर्तमान अर्थव्यवस्था की गैर-बराबरी को भी समझने तथा उस पर असंतोष व्यक्त करने लगे। तब UNCTAD का उदय हुआ जिसने 'वरीयता की सामान्य योजना' पर निर्णय लेना शुरू किया। परन्तु धीरे-धीरे 60 के दशक के अंत में उत्तर और दक्षिण के बीच कटु आदान-प्रदान ने वातावरण को बिगाड़ दिया, जिसके दो कारण थे: (क) विकसित देशों की आर्थिक बहाली का बदतर होते जाना (ख) विकसित देशों की मदद में पीछे की ओर खिंचाव (Pull backs)। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए विश्व बैंक ने पीयरसन कमीशन की बहाली की। इसने विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को अपने कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का 1% देने का आग्रह किया। परन्तु कम विकसित देशों की खुशहाली के लिए यह तमाम व्यवस्थाएं कुछ भी करने में विफल रहीं।

22.2.3 विश्व असमानता की वर्तमान स्थिति

विकासशील देशों को आभास हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मुक्त व्यापार और गैर-भेदभाव उनके महत्वपूर्ण हितों के खिलाफ था, और उन्हें विकसित देशों द्वारा खड़ी की गई व्यवस्था का दुश्मन और घुसपैठिया समझा जाता था। वर्तमान में, अमीर और अमीर देशों के बीच न सिर्फ दरार है बल्कि वह बढ़ता ही जा रहा है। अमीर देश तमाम क्षेत्रों में आगे बढ़ रहे हैं जबकि गरीब देश व्यापार, विकास, उद्योग, विज्ञान और तकनीक तथा विभिन्न दूसरे क्षेत्रों

में पिछड़ गए हैं। औसत आयु और भूख की समस्या में जो अन्तर है, उसके पीछे विकसित और विकासशील देशों की आर्थिक मजबूती के बीच की गैर-बराबरी है। अपनी आर्थिक शक्ति के चलते उत्तर के देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के कायदे कानूनों, व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, मुद्रा और वित्त पर अपना वर्चस्व बनाए रखते हैं। विकासशील देश महसूस कर चुके हैं कि अगर आर्थिक ताकतों को यूं ही छोड़ दिया जाए तो उससे असमानता और ज्यादा बढ़ेगी। इस प्रकार विकासशील देशों ने 1954 में पहली बार आयातों पर प्रतिबंध लगाने के लिए ज्यादा स्वतंत्रता और मालों की मूल्य अस्थिरता को रोकने के उपायों की मांग की। इस मांग के बावजूद और अन्य सम्मेलनों और शिखर वार्ताओं के बावजूद एक न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था की दिशा में आशातीत प्रगति नहीं हुई है। हम अभी भी देखते हैं कि विश्व अमीर और गरीब के बीच बंटा हुआ है और यह खाई बढ़ती ही जा रही है। यह जरूरी है कि यह प्रवृति बदले और उदासीनता और टकराहट के रवैया की बजाय पारस्परिक सहयोग और समझदारी को अपनाया जाए।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) आज उपनिवेशवाद किस रूप में मौजूद है?

.....

.....

.....

.....

2) दो महत्वपूर्ण संस्थाओं का नाम बताएं, जिनकी स्थापना 'ब्रेटन वुड्स' सम्मेलन के फलस्वरूप हुई?

.....

.....

.....

.....

22.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की परिभाषा और उत्पत्ति

द्वितीय विश्व युद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं थी। प्रत्येक देश अपने आर्थिक लक्ष्यों को अपने हिसाब से लागू करने की कोशिश करते थे चाहे इसका दूसरे राष्ट्रों पर कैसा भी असर क्यों न हो। दूसरे देश प्रतिकारात्मक कार्यवाही करते थे जिसका नतीजा होता सारे देशों के लिए अव्यवस्था का फैलना। ऐसी प्रवृत्तियां "बड़ी मंदी" के दौरान ज्यादा उजागर हुईं। द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत ने सब पर यह जाहिर कर दिया कि आर्थिक कारक इसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार थे।

यह तथ्य कि विकसित और विकासशील देशों के बीच खाई बढ़ती जा रही थी और जो गैर-बराबरी को जारी रखे हुए थी, और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हुए नवीनतम विकासों के बीच द्वन्द्व ने, इस व्यवस्था की अपूर्णता की ओर ध्यान खींचा। इस बात को लगातार महसूस किया जा रहा है कि विश्व एक परस्पर निर्भर इकाई है। यह भी महसूस किया गया कि विकासशील देशों की खुशहाली और उनके विकास और प्रगति के बीच करीब का अन्तर-संबंध था। इस एहसास की परिणति नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग के रूप में हुई।

22.3.1 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अर्थ

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग का उदय गैर-बराबरी के एहसास और उसे सुधारने की इच्छा के कारण हुआ। इसने विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ती हुई खाई को खत्म करने का लक्ष्य रखा और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को निष्पक्षता के सिद्धान्त, प्रभुसत्ता की बराबरी, अन्तर निर्भरता, हितों की समानता और राष्ट्रों के बीच सहयोग पर आधारित करने का प्रयास किया। यह मुख्यतः आर्थिक मदद से संबंधित नहीं है। यह मूलतः नियमों और व्यवस्थाओं के विषय में है जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में स्थिरता और व्यवस्था को सुधारा जा सके। यह निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित है:

1) राज्यों की प्रभुसत्तात्मक बराबरी और निष्पक्षता पर आधारित विस्तृत सहयोग,

2) अपनी प्राकृतिक संपदा और अपनी तमाम आर्थिक गतिविधियों पर प्रत्येक राज्य की पूर्ण और स्थायी प्रभुसत्ता,

3) बहुराष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियों पर नियंत्रण और उनका निरीक्षण,

4) विकासशील देशों द्वारा आयातित और निर्यातित खनिज पदार्थों, मौलिक मालों, उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में न्यायपूर्ण और उचित संबंध,

5) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के तमाम क्षेत्रों में जहां कहीं भी संभव हो, विकासशील देशों के लिए अधिमान्य और गैर-पारस्परिक प्रतिपादन,

6) विकासशील देशों के लिए वित्तीय संपदाओं के स्थानांतरण के लिए अनुकूल परिस्थितियों को सुरक्षित करना,

7) विकासशील देशों के बीच वैयक्तिक और सामूहिक गतिविधियों द्वारा पारस्परिक अर्थव्यवस्था, व्यापार, वित्तीय और तकनीकी सहयोग को मजबूत करना, मुख्यतः अधिमान्य आधार पर।

22.3.2 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएं

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ने वर्तमान अर्थव्यवस्था के संबंध को दुष्प्रभावित करने वाली त्रुटियों की ओर स्पष्ट इशारा किया। इसने कुछ ज्यादा मूलभूत समस्याओं पर विचार किया और उनके समाधान के लिए खुद को संबोधित किया।

i) प्रथम समस्या खनिज पदार्थों और मौलिक मालों की है जो व्यापार और विकास से संबंधित हैं। यह महसूस किया गया कि खनिज पदार्थों और मौलिक मालों, जो विकासशील देशों के आयातों के मुख्य भाग थे, के मूल्यों के ह्रास को रोकने की सख्त जरूरत थी। इसने विकासशील देशों के लिए अन्न उत्पादन की वृद्धि और उसकी उपलब्धता की मांग की। इसने मांग की कि विकसित देशों में शुल्कों और गैर-शुल्क अवरोधों को क्रमशः हटाया जाए और व्यापारिक व्यवहार की पुनर्संरचना की जाए जिससे उनके बाजार में बेहतर प्रवेश मिल सके। इसने यह भी महसूस किया कि विकासशील देशों के लिए गैर-पारस्परिकता और अधिमान्य व्यवहार के सिद्धांतों द्वारा संचालित विकासशील देशों के निर्यात के लिए 'वरीयता की सामान्य व्यवस्था' को लागू करने और सुधारने की आवश्यकता है।

ii) यह विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था में सुधारों और उनके विकास के लिये वित्तीय सहायता पर विचार करता है। साथ ही, यह विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को हस्तान्तरित मुद्रास्फिति को रोकने के उपायों पर विचार करता है। यह अन्य उपायों पर राय देता है जैसे, विकासशील देशों के लिए अतिरिक्त कर्ज प्राप्त करने के अधिकार का आवंटन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था में अस्थिरता का खात्मा, खास तौर से विनिमय दरों की अनिश्चितता का।

iii) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा इसके लिए अधिक प्रयास की जरूरत है, जिससे विकासशील देशों के औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए उपाय किए जा सकें।

iv) यह विकासशील देशों के वातावरण और जरूरतों से मेल खाते प्रौद्योगिकी के स्थानांतरण और साथ में वहां स्वदेशी अनुकूल प्रौद्योगिकी को पैदा करने के लिए विस्तारित मदद की बात करता है।

v) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों को संचालित और नियंत्रित करने का ध्येय भी रखती है। यह बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता को बनाने, अपनाने और लागू करने के प्रयासों की बात करती है। यह बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा मेजबान देशों के अन्दरूनी मसलों में दखल अंदाजी रोकने के लिए जरूरी है। साथ ही, यह तमाम पक्षों के वैध हितों को ध्यान में रखते हुए मुनाफों के प्रत्यावर्त्तन को संचालित करने की बात करती है।

vi) यह विकासशील देशों के बीच सहयोग बढ़ाने की बात करती है और दक्षिण-दक्षिण सहयोग की जरूरत पर जोर देती है जो विकासशील देशों के बीच सामूहिक आत्मनिर्भरता और सहयोग के सिद्धांतों पर आधारित है। इसने विकासशील देशों के बीच आयातों को बढ़ाने और उनके लिए बाजार के स्थिरीकरण और उसमें बेहतर पहुंच तथा उनके आयात योग्य मालों के मूल्यों की सुरक्षा के लिए समुचित तंत्र को सुदृढ़ करने पर जोर दिया।

vii) यह प्राकृतिक संसाधनों पर राष्ट्रों की स्थायी संप्रभुता को हासिल करने की कोशिश करती है।

viii) इसने आर्थिक अधिकारों और कार्यों की एक घोषणा अपनाने की योजना बनायी, और आशा की कि यह नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्थापित करने में एक असरदार भूमिका निभाएगी।

ix) यह आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में राष्ट्र संघ को मजबूत करने का आह्वान करती है क्योंकि राष्ट्रसंघ और उससे संबंधित संगठन विश्व विकास के कार्य के लिए केन्द्रीय बन गए हैं।

22.3.3 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पहले पहल 1960 की शुरुआत में विकासशील देशों ने मजबूती के साथ सुधार की मांग को अभिव्यक्त किया। 1964 में व्यापार और विकास की संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलन (UNCTAD) की एक स्थायी संगठन के रूप में

स्थापना हुई जिसने इन मांगों की अभिव्यक्ति के लिए एक बड़ा मंच प्रदान किया। UNCTAD की स्थापना का बहुतेरे विकसित देशों ने विरोध किया। ब्रेटन वुड्स सम्मेलन से उपजी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक व्यवस्था से कम विकसित देश असंतुष्ट थे। विरोध दो स्तरों पर था। प्रथम स्तर पर, उसने व्यापार और विकास के बीच प्रचलित संबंधों को चुनौती दी और दूसरी ओर उत्तर और दक्षिण के बीच व्यापार संबंधों में सुधार के लिए नीतिगत् प्रस्ताव रखे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक व्यवस्था को यह चुनौती, ब्रेटन वुड्स व्यवस्था के निर्माणकर्ताओं के उदारवादी हस्ताक्षेपवादी व्यवस्था पर, मूलभूत हमला था। इसके मार्ग दर्शक सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गैर-भेदभाव और मुक्त व्यापार थे। इस सम्मेलन से निकले IMF और GATT ने विकासशील देशों को हाशिए पर ला दिया था। इसलिए इन कम विकसित देशों ने गैर-भेदभाव और पारस्परिकता के विचार को अस्वीकार कर दिया। कम विकसित देशों द्वारा बढ़ते दबाव के कारण 1970 में राष्ट्रसंघ की आम सभा की विशेष बैठक अप्रैल 1974 में बुलायी गई। तब से उत्तर और दक्षिण के बीच, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की घोषणा और व्यावहारिक प्रोग्राम, वार्ता के आधार रहे हैं। परन्तु जैसा बैन्ट कमीशन रिपोर्ट ने उजागर किया है, इस दिशा में विकास धीमा रहा है। फरवरी 1983 में बैन्ट कमीशन ने दूसरी रिपोर्ट तैयार की जिसमें उसने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्थापित करने की दिशा में विकास की कमी को फिर से उजागर किया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की क्या विशेषताएं हैं?

.....

.....

.....

.....

2) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग की उत्पत्ति के लिए कौन से प्रमुख कारण थे?

.....

.....

.....

.....

22.4 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान दौर

जब से 1974 में राष्ट्रसंघ की आम सभा के विशेष अधिवेशन में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग को औपचारिक रूप दिया गया, कुल मिलाकर परिदृश्य बहुत उत्साहजनक नहीं है। प्रारंभ में इस दिशा में कुछ प्रगति के बाद, हाल में उत्तर के देशों ने वर्तमान आर्थिक ढांचे की पुनर्संरचना की प्रक्रिया में अवरोध खड़े कर दिए हैं। अमीर देशों द्वारा गरीब देशों को दिए जाने वाली, विकास के लिए सरकारी मदद में भी क्रमशः ह्रास हुआ है। सहायता में यह प्रतिकूल प्रवृत्ति, व्यापारिक क्षेत्र की दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति से मेल खाती है। मौलिक उत्पादों को निर्यात करने वाले देश व्यापार की शर्तों में आयी गिरावट से प्रभावित हुए हैं। दक्षिण के देशों की समस्याओं को बढ़ाने में विदेशी कर्ज में कमी ने भी भूमिका निभायी है। एक दूसरी प्रतिकूल प्रवृत्ति है, अति विकसित देशों के आर्थिक स्वास्थ्य में गिरावट जिसने उनकी अर्थव्यवस्था को ज्यादा आत्म केन्द्रित बना दिया है। विकसित देश अब भेदभावपूर्ण उदारता की कार्यवाही कर रहे हैं। उन्होंने विश्व मुद्रा कोष (IMF) जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं पर अपनी पकड़ ढीली करने की तमाम कोशिशों का भी विरोध किया है, जो विश्व मुद्रा प्रबंधन की प्रमुख संस्थाएं बन गई हैं। इस प्रकार, विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ती खाई का कारण अंशतः आर्थिक है और अंशतः राजनीतिक।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति के लिए जिम्मेवार महत्वपूर्ण कारण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

22.5 भविष्य के लिए संभावनाएं

हालांकि आज तक बहुत सारे कारणों से नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग मोटे तौर पर पूरी नहीं हुई है, परन्तु भविष्य में इसमें कुछ बदलाव होना अवश्यमभावी है। मौजूदा विश्व अर्थव्यवस्था बहुतेरे विकासशील देशों की विश्वस्तरीय उत्पादकता और उनके नव आर्जित ताकत से मेल नहीं खाती। विकासशील देशों की परिस्थितियों को सुधारने के लिए, जो विश्व जनसंख्या का सत्तर प्रतिशत हैं और विश्व आय के सिर्फ तीस प्रतिशत के लिए जिम्मेदार हैं, विश्व आर्थिक संबंधों में बड़े संरचनात्मक बदलावों की जरूरत है। बहुतेरे क्षेत्रों में दक्षिण-दक्षिण सहयोग को सुधारने की सख्त जरूरत है। उत्तर-दक्षिण संवाद को चालू रखने की जरूरत है क्योंकि सिर्फ यही कदम उन प्रतिरोधों को हटा सकते हैं जो विकास के रास्ते में अवरोध हैं। इसलिए इस तथ्य के बावजूद कि कुछ विकसित देशों की सरकारें नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए इच्छुक नहीं हैं, अंततः उन्हें इतिहास के अवश्यमभावी तर्क के सामने झुकना पड़ेगा जो अर्थव्यवस्था में बदलावों की मांग करता है। इसके लिए, मौजूदा ढांचे को सुधारने की सख्त जरूरत है जो सिर्फ सौदेबाजी से आगे बढ़ कर अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की ओर लक्षित है। विश्व शांति और विकास वर्तमान समय की जरूरतें हैं। सिर्फ नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ही विश्व को आर्थिक सुधार की ओर ले जा सकती है, उसको वर्तमान संकट से उबार कर।

22.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि कैसे वर्तमान विश्व व्यवस्था सही नहीं है और कैसे यह मुख्यतः अमीर देशों के हितों की पूर्ति करती है। कैसे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कम विकसित देशों के अधिकारों और हितों के खिलाफ कार्य करते हैं। हमने देखा है कि आज भी विश्व व्यवस्था विश्व असमानता पर आधारित है और इसका ढांचा ऐसा है कि यह अमीर और गरीब देशों के बीच बढ़ती दरार में सहायक है।

विश्व असमानता की इस पृष्ठभूमि में विश्व अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना की मांग उठी। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्थाओं का एक दूसरे में बढ़ता दखल और वर्तमान व्यवस्था की गैर-बराबरी के बढ़ते एहसास जैसे विभिन्न कारणों ने दक्षिण के देशों को नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को लागू करने की मांग उठाने की जरूरत महसूस करवायी। हालांकि इस दिशा में हुई प्रगति धीमी और मन्द है, वर्तमान व्यवस्था की पुनर्संरचना की आकांक्षा मजबूत हुई है। वर्तमान व्यवस्था में बदलाव और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का कार्यान्वयन अब अवश्यमभावी हो गए हैं। जो सवाल अब अनुत्तरित रह जाता है वह यह है कि संपूर्ण मानवता की बेहतरी को बढ़ावा देने वाले बदलावों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय कितना समय लेता है।

22.7 शब्दावली

NIEO (नीओ) : नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था।

IMF (आई एम एफ) : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।

GATT (गैट) : सीमा शुल्कों और व्यापार पर आम सहमति।

IBRD (आई बी आर डी) : पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक।

UNCTAD (अंकटाड) : व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन।

UNESCO (युनेस्को) : संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद्।

NORTH (नार्थ) : अमीर, औद्योगीकृत और विकसित देशों का समूह।

SOUTH (साउथ) : गरीब, कम विकसित देशों का समूह।

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गौहर, अल्ताफ, (संपादित), 1983, *दी रिच एण्ड दी पुअर : डेवलपमेन्ट, निगोशिएशन्स एण्ड कोऑपरेशनः ऐन एसेस्मेन्ट.* थर्ड वर्ल्ड फाउन्डेशन फार सोशल एण्ड इकोनामिक स्टडीज : लंदन।

विल्सन, पीटर, 1986, *इंटरनेशनल इकोनोमिक्स : थियरी, एविडेन्स एण्ड प्रैक्टिस,* हारवेस्टर प्रेस ग्रुप : ससेक्स।

झा, एल. के., 1982, *नार्थ-साउथ डीबेट;* चाणक्य पब्लिकेशन्स : दिल्ली।

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आज उपनिवेशवाद नव-उपनिवेशवाद के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह पुराने उपनिवेशवाद से भिन्न इस मायने में है कि यह नव-स्वतंत्र पुराने उपनिवेशों पर नियंत्रण नहीं रखता।

2) ब्रेन वुड्स सम्मेलन के फलस्वरूप जिन तीन संस्थाओं की स्थापना की गई, वह है :
   क) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
   ख) पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
   ग) सीमा शुल्कों और व्यापार पर आम सहमति

बोध प्रश्न 2

1) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, व्यापार और विकास से संबंधित मौलिक वस्तुओं और कच्चे मालों की समस्या की ओर साफ इशारा करती है और उनका समाधान ढूंढने की कोशिश करती है, विकासशील देशों के औद्योगिकरण को बढ़ावा देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था में सुधार और विकासशील देशों में विकास को वित्तीय सहायता की कोशिश करती है, प्रौद्योगिकी का हस्तान्तरण और स्वदेशी प्रौद्योगिकी का विकास, बहुराष्ट्रीय निगमों का नियमन और उन पर नियंत्रण, दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्रसंघ की प्रभुता पर जोर देती है।

2) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में निहित गैर-बराबरी से असंतुष्टि, उत्पादकता की सार्वभौमिकता और राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था का एक दूसरे पर बढ़ता प्रभाव, अमीर और गरीब देशों के बीच बढ़ती दरार और बहुतेरे विकासशील देशों द्वारा नव अर्जित ताकत।

बोध प्रश्न 3

1) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान अवस्था के लिए जिम्मेवार कारक : पुनर्संरचना की प्रक्रिया का उत्तर के कुछ देशों द्वारा विरोध, दक्षिण-दक्षिण सहयोग की कमी, बहुतेरे विकसित देशों के आर्थिक स्वास्थ्य में ह्रास और उत्तर के देशों द्वारा विश्व मुद्रा प्रबंधन के प्रमुख संस्थाओं पर कब्जा।

इकाई 23 उत्तर-दक्षिण वार्ता में द्वन्द्व और सामंजस्य

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 उत्तर-दक्षिण : परिवेश
  23.2.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
23.3 उत्तर-दक्षिण द्वन्द्व के आयाम
23.4 उत्तर-दक्षिण संवाद की जरूरत
23.5 वार्ता के मंच
  23.5.1 गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM)
  23.5.2 व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (UNCTAD)
  23.5.3 संयुक्त राष्ट्र की आम सभा (UNGA)
23.6 नई शुरुआतें : ब्रान्ट कमीशन रिपोर्ट का महत्व
23.7 कांकुन शिखर वार्ता
23.8 दक्षिण-दक्षिण सहयोग
23.9 सारांश
23.10 शब्दावली
23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई में उत्तर-दक्षिण बहस को उसके विभिन्न आयामों में जांचने का प्रयास किया गया है जिससे आपको दुनिया के अमीर और गरीब देशों के बीच उस बड़ी दरार का मूल्यांकन करने का मौका मिले। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न चीजों को जान पाएंगे :

- क्यों इसे उत्तर-दक्षिण वार्ता कहा जाता है,
- उत्तर और दक्षिण के बीच वर्तमान दरार के ऐतिहासिक जड़ों के चिन्ह क्या हैं, उत्तर द्वारा भूत और वर्तमान में दक्षिण के शोषण के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे?
- समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए इस वार्ता के महत्व को समझ पायेंगे,
- महत्वपूर्ण विश्व मंचों पर उत्तर-दक्षिण वार्ता के लिए की गई विभिन्न पहलकदमियों और उत्तर का उनके प्रति जवाबों का विश्लेषण कर पायेंगे, और
- उन मुद्दों पर बहस कर पायेंगे जो नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना से सम्बद्ध हैं।

23.1 प्रस्तावना

जिस दुनिया में हम रहते हैं वह विभिन्न आधारों पर (या बहुत माने में) बंटी है। इस प्रकार, देश, महाद्वीप एक दूसरे से भौगोलिक रूप से अलग-अलग हैं। यह एक दूसरे से रंग, जाति, सिद्धांत और संस्कृति के आधार पर भी भिन्न हैं। परन्तु, सबसे बड़ी बात है एक साफ विभाजन विद्यमान है— गरीब और अमीर के बीच का विभाजन, एक आर्थिक विभाजन जो तमाम दूसरे विभाजनों पर भारी पड़ता है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मुख्यतः दो हिस्सों में बँटा है, 'उत्तर', जिसमें कुछ दौलतमंद देश आते हैं और, 'दक्षिण' जहाँ शामिल हैं बड़ी संख्या में ऐसे देश जिनकी पहचान है अपूर्ण विकास। दक्षिण में रहने वाले लोग कमोवेश वंचित हैं— सिर्फ कुछ लोग ही जीवन की जरूरतों को पूरा कर पाते हैं—बाकी अल्पपोषित और अल्पवस्त्रधारी हैं। उत्तर और दक्षिण के बीच विषमता यहीं खत्म नहीं होती। चूंकि दक्षिण गरीब है, वह अमीर उत्तर की तुलना में शक्तिविहीन भी है। आर्थिक गैर-बराबरी का विस्तार शक्ति के क्षेत्र में भी होता है। शक्ति का अर्थ है आर्थिक रूप से अमीर उत्तर का गरीब दक्षिण पर राजनीतिक, प्रौद्योगिक और सैन्य प्रभुत्व। ऐसा क्यों है? क्या यह इन देशों में प्रचलित कुछ निहित खामियों के चलते है जिससे यह देश इतने गरीब हैं? यह इकाई स्वयं को इन दो मूल सवालों से संबोधित करती है। इन सवालों का जवाब देने की कोशिश में यह इकाई उस तथ्य पर बहस करती है, जिसे "उत्तर-दक्षिण वार्ता" कहा जाता है। संबंधित धारणाओं को यहां स्पष्ट किया गया है और यह प्रयास किया गया है कि उत्तर-दक्षिण (यानि अमीर-गरीब) विभाजन को उसके सही संदर्भ में रखा जाए। यह संदर्भ, निश्चित तौर पर, भारतीय दृष्टिकोण से, एक तीसरी दुनिया का संदर्भ होगा।

23.2 उत्तर-दक्षिण : परिवेश

आरम्भ में हम खुद को "उत्तर-दक्षिण— शब्दावली से परिचित करवा लें। उत्तर और दक्षिण शब्दावलियों का इस्तेमाल एक ज्यादा विस्तृत परिप्रेक्ष्य में होता है, जिससे "उत्तर" और 'दक्षिण' दोनों की कुछ बहुत महत्वपूर्ण विशेषताओं पर जोर दिया जा सके जो एक दूसरे से इतने अलग हैं, पर साथ ही एक दूसरे से ऐतिहासिक माने में नजदीक से जुड़े हुए हैं। जैसा कि हम जानते हैं, पृथ्वी भूमध्य रेखा द्वारा दो गोलार्धों में विभाजित है, यानि उत्तरी और दक्षिणी। अधिकांश आर्थिक रूप से अमीर, औद्योगिक देश पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में अवस्थित हैं। इस प्रकार, यूरोप और उत्तरी अमेरिका के देश मुख्य रूप से "उत्तर" का प्रतिनिधित्व करते हैं और एशिया, अफ्रीका एवं लातिन अमेरिका के देश "दक्षिण" शब्दावली के अंतर्गत शामिल हैं। फिर भी, इस सामान्यीकरण के कुछ अपवाद हैं। उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड, जो अमीर और औद्योगिकृत हैं, दक्षिणी गोलार्ध में अवस्थित हैं। इसी प्रकार, सऊदी अरब, कुवैत जैसे तेल निर्यातक देश हैं, जो भूमध्य रेखा के दक्षिण में हैं परन्तु अपने तेल और पेट्रो-डालरों की वजह से उत्तर के कुछ देशों से भी अमीर हैं (तेल संसाधनों और पेट्रो-डालरों के चलते) दरअसल, "उत्तर" की तुलना में "दक्षिण" ज्यादा विषमताओं को प्रस्तुत करता है। इस तरह, हम पाते हैं तेल निर्यातक (OPEC) देश, अर्द्ध-औद्योगिक देश जैसे बंगलादेश, भूटान और नेपाल— ये तमाम "दक्षिण" देशों की श्रेणी में आते हैं। दक्षिण के कुछ अमीर देश, जैसे सउदी अरब और कुवैत, प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के कारण अपनी आर्थिक संपदा को शक्ति में नहीं बदल पाते। परिणामस्वरूप ये आर्थिक संपदा होने के बावजूद, दक्षिण की अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं। चीन तथा भारत जैसे देश, हालांकि औद्योगिक प्रौद्योगिक विकास की अच्छी खासी मंजिल पर हैं, फिर भी, घनी आबादी के चलते शक्ति का नियंत्रण नहीं कर पाते और इसलिए, ये भी 'दक्षिण" का हिस्सा हैं। इस प्रकार, एक एकरूप, अखण्डित, स्थायी समूहीकरण के अभाव में उत्तर और दक्षिण मोटे तौर पर "अमीर" और "गरीब", "विकसित" और "विकासशील" का पर्याय हैं।

इसलिए, हालांकि मूल रूप से उत्तर-दक्षिण शब्दावली एक भौगोलिक परिप्रेक्ष्य लिए हुए हैं, यह अनिवार्य रूप से एक ओर ज्यादा अमीर, औद्योगिक और विकसित देशों और दूसरी ओर ज्यादा गरीब, गैर-औद्योगिक और विकासशील देशों की ओर संकेत करती है।

23.2.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

अमीर और गरीब के बीच की बड़ी दरार बहुत पुरानी नहीं है, बल्कि हाल की है, जो हमें सिर्फ पिछली दो शताब्दियों में वापस ले जाती है जिसके दौरान पश्चिमी औद्योगिक शक्तियों का उदय हुआ और उन्होंने लगभग समस्त "दक्षिण" या "तीसरी दुनिया" को उपनिवेश बना लिया।

इन औपनिवेशिक शक्तियों ने शीघ्र ही नए दखल किए गए उपनिवेशों पर उनकी कमजोरी का फायदा उठा कर अपनी आर्थिक और राजनीतिक पकड़ को मजबूत किया तथा उनकी संपत्ति की बहुत ही योजनाबद्ध शोषण और लूट शुरू कर दी। अपनी साम्राज्यवादी नीति का आक्रामक अनुसरण करते हुए, इन उपनिवेशवादी शक्तियों ने बाकी दुनिया के भौतिक और अन्य संसाधनों का खुद के लिए दोहन करना शुरू किया। यह दोहन औद्योगिक प्रयोजन के लिए उपनिवेशों से ज्यादातर सस्ते कच्चे पदार्थ के रूप में, प्राप्त किया गया। साथ ही, ताकत का इस्तेमाल कर सस्ते श्रम का कठोरतापूर्वक शोषण किया गया। न सिर्फ यही, बल्कि, इन उपनिवेशों को औपनिवेशिक देशों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बड़े बाजार में परिणत कर दिया गया। यह उपनिवेश साम्राज्यवादी शक्तियों की आर्थिक जरूरतों को पूरा करते थे। इस प्रकार, वह प्रक्रिया शुरू हुई जिसके द्वारा उपनिवेश की संपत्ति का औपनिवेशिक शक्ति की ओर निकास होने लगा। उपनिवेशों के लिए इस नीति का प्रतिफल विध्वंसकारी हुआ। उनकी अर्थव्यवस्था न सिर्फ रुक गई, बल्कि और ज्यादा बिगड़ गई। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में, इन नव स्वतंत्र देशों की अर्थव्यवस्था का विकास, औद्योगिक क्रांति की जरूरतों के अनुकूल, एक उपोत्पादन और एक पूरक के रूप में किया गया। इस प्रकार उपनिवेशवाद ने न सिर्फ "उत्तर" में होने वाली औद्योगिक क्रांति में योगदान किया और उसकी संपत्ति में वृद्धि की बल्कि दूसरी ओर दक्षिण के उपनिवेशों को भूखमरी और अल्प विकास की ओर क्रमशः बढ़ाया।

अंततः, इन शोषित देशों में 20वीं सदी की शुरुआत में उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन का उदय हुआ जो एक लंबे, दीर्घकालिक संघर्ष के बाद दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता हासिल करने में सफल हुए हैं। परन्तु यह कैसी स्वतंत्रता थी? औपचारिक रूप से कहा जाए तो इसका अर्थ था सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता। इस प्रकार की स्वतंत्रता में कोई आर्थिक तत्व नहीं था। उनकी अर्थव्यवस्था सदियों की लूट और शोषण से छिन्न-भिन्न पड़ी थी। सबसे बुरा तो यह था कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए और स्वतंत्रता को सच्चा अर्थ प्रदान करने के लिए न पूंजी थी और न ही प्रशिक्षित मानव शक्ति। नव स्वतंत्र देशों को अमीर, औद्योगिक देशों पर आर्थिक और प्रौद्योगिक संसाधनों के लिए निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ा। इस कमजोरी ने एक बार फिर उत्तर के अमीर देशों को उनके शोषण के लिए नया अवसर दिया, हालांकि, इस बार ज्यादा सूक्ष्म तरीके से। उपनिवेशवाद की जगह "नव-उपनिवेशवाद" आ गया।

इस तौर में उत्तर, दक्षिण पर व्यापार और कारोबार के क्षेत्र में अपनी शर्तों को थोपता है। व्यापार और अन्य आर्थिक

संबंधों में गैर-बराबरी है जो उत्तर के पक्ष में जाता है। व्यापार की शर्तें और अन्य आर्थिक संबंध उत्तर के पक्ष में और उसके अनुकूल हैं। नव-उपनिवेशवाद का कुल परिणाम है दक्षिणी देशों में अल्पविकास का जारी रहना।

इसलिए यह कहने की जरूरत नहीं है कि, "दक्षिण" के देशों की परेशानियों के लिए बहुत हद तक अमीर औद्योगिक शक्तियां जिम्मेवार हैं। तीसरी दुनिया के देश खुद को एक बड़े घेरे में पाते हैं। उनके औपनिवेशिक भूत ने उन्हें गरीब, वंचित और अस्थिर बनाया और आज वह अपने भूत के कारण खुद के आधार पर खड़े होने में असमर्थ हैं। और जब तक वह खुद का विकास नहीं कर पाते, वह "उत्तर" के अमीर देशों से अपने संबंध में हरदम घाटे में रहेंगे। परन्तु, दक्षिण का विकास एक दूर की संभावना रहेगी जब तक कि "उत्तर" गरीब दक्षिण के साथ एक नए, बराबरी के संबंध की स्थापना नहीं करता। इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर, "उत्तर-दक्षिण" का भूत, वर्तमान और भविष्य एक दूसरे से जटिल रूप से जुड़ा हुआ है, और इस प्रकार सिर्फ वर्तमान से उन्हें नहीं आंका जा सकता।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) "उत्तर-दक्षिण" शब्दावली से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) उत्तर-दक्षिण विभाजन की ऐतिहासिक जड़ें क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

23.3 उत्तर-दक्षिण द्वन्द्व के आयाम

जैसा कि हमने देखा, उत्तर-दक्षिण संबंधों को सही तौर पर एक "गैर-बराबरी" का संबंध कहा जा सकता है जिसमें उत्तर जबरदस्त प्रभुत्व की स्थिति में है। फिर भी, उत्तर-दक्षिण द्वन्द्व एक बहुआयामी समस्या है इसलिए, इसका मूल्यांकन ज्यादा विस्तृत ढांचे में करने की जरूरत है। इस ढांचे में सम्मिलित है वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, और अपनी तमाम अवस्थाओं में प्रस्तावित नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की व्यवहार्यता।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रमुख विशिष्ट लक्षण है उत्तर-दक्षिण विभाजन। यह विभाजन दक्षिण को उत्तर से आर्थिक खुशहाली, सैन्य क्षमता और प्रौद्योगिकी विकास के स्तर पर अलग करता है। संपूर्ण विश्व की जनसंख्या में उत्तर का हिस्सा मात्र 25% है, परन्तु वह दुनिया की कुल आय के 80% का उपभोग करता है। उत्तर और दक्षिण के बीच व्यापक विषमता निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट हो जाती है:

		विकसित देश	विकासशील देश
1.	जनसंख्या	1.1 अरब	3.4 अरब
2.	प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पाद	$ 6408	$ 597
3.	जन्म के समय अनुमानित जीवन काल	72 वर्ष	56 वर्ष
4.	साक्षरता दर	99%	52%
5.	शिक्षा पर खर्च	$ 286	$ 18
6.	प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष सैन्य खर्च	$ 300	$ 29
7.	जन स्वास्थ्य पर खर्च	$ 199	$ 6.50

स्रोत : न्यूजवीक, अक्तूबर 26, 1981.

परन्तु उत्तर और दक्षिण के बीच विषमता की तुलना सिर्फ आंकड़ों के प्रस्तुतिकरण से ही खत्म नहीं हो जाती। एक दाता-प्राप्तकर्ता संबंध में उत्तर के विकसित देश विभिन्न तरीकों से विकासशील देशों को धमकी देने और ब्लैकमेल करने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए, वह मदद प्राप्त करने वाले देशों (दक्षिण) को खुद (उत्तर) के

हितों के अनुरूप आन्तरिक आर्थिक और राजनीतिक नीतियों को अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। इसका परिणाम होता है विकासशील देशों की आन्तरिक नीतियों में सीधा हस्तक्षेप और उनकी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण। ऐसे हस्तक्षेप दक्षिण के देशों पर खुलेआम नव-उपनिवेशवाद द्वारा अपराधकर्म हुआ। हम याद कर सकते हैं कि जब भारत ने 80 के दशक की शुरुआत और फिर 1990 के दशक की शुरुआत में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लिया तो उसके साथ भारत को अपनी आर्थिक नीतियों को पुनर्संघटित करने की कुछ शर्तें भी थीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका द्वारा भारत पर "सुपर 301" कानून लगाने की धमकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

दूसरा, उत्तर द्वारा उन तमाम बहुपक्षीय संस्थाओं पर लगातार आक्रमण हुए हैं, जहाँ जनतांत्रिक आधार पर एक राष्ट्र-एक वोट द्वारा नियंत्रण रखा जाता है जैसे-युनेस्को (UNESCO), अंकटाड (UNCTAD), यूनीडो (UNIDO), इत्यादि। तीसरी दुनिया के देशों के साथ विकसित देशों द्वारा बराबरी के संबंध का अस्वीकार्य होना इन बहुपक्षीय संस्थाओं के वित्त में भारी कटाव करने की धमकी के रूप में सामने आता है। तीसरा, जब भी उत्तर द्वारा दक्षिण के देशों को द्विपक्षीय सहायता दी जाती है इसका मुख्य कारण होता है दाता देशों की असली विकास की जरूरतें। पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा आर्थिक और सैन्य मदद ऐसा ही एक उदाहरण है। पाकिस्तान को बड़ी मात्रा में अमेरिकी मदद इसलिए नहीं मिलती कि वह पाकिस्तान का सही मायनों में विकास चाहता है, बल्कि इसलिए कि वह इस इलाके में अमेरिका के महत्वपूर्ण सामरिक हितों की पूर्ति करता है। दूसरी ओर, भारत जैसे देश जो इन बड़ी शक्तियों के सामरिक निर्देशों को मानने से इंकार करते हैं, खास तौर पर से अमेरिका के, उन्हें सबसे नई प्रौद्योगिक और सैन्य हथियारों से वंचित रखा जाता है। इसी प्रकार, एन० पी० टी० (NPT) संधि जो परमाणु हथियारों के विश्वव्यापी फैलाव को रोकने की कोशिश करती है, परमाणु हथियारों की प्रौद्योगिकी में विकासशील देशों के प्रवेश को अस्वीकारती है और साफ तौर पर बड़ी शक्तियों के आधिपत्य को बचाने के लिए है। इस प्रकार, मुद्दों का एक पूरा स्वरग्राम है, जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में साफ तौर पर ध्रुवीकरण लाते हैं जिसे उत्तर-दक्षिण विभाजन, विकसित और विकासशील देशों के विभाजन, सधन और निर्धन के बीच के विभाजन के रूप में जाना जाता है। परन्तु, इस बड़े विभाजन के बहुआयामी चरित्र के बावजूद, उत्तर-दक्षिण द्वन्द्व का सबसे ज्यादा दीखने वाला चिन्ह है—आर्थिक विभाजन। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था अमीर और गरीब देशों के इस आर्थिक विभाजन के लिए जिम्मेवार है। इसलिए, तीसरी दुनिया के देशों द्वारा नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की मांग की गयी। अब हम अपना ध्यान इस विषय वस्तु की ओर मोड़ते हैं।

23.4 उत्तर-दक्षिण संवाद की जरूरत

उत्तर और दक्षिण के बीच बातचीत का केन्द्र बिन्दु है नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सृष्टि। नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की जरूरत इसलिए महसूस की गई चूंकि विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ढांचा विश्व समुदाय के बड़े उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा है और सिर्फ उन्हीं (उत्तर) के हितों की पूर्ति करने में लगा है जिन्होंने उसे बनाया। वर्तमान अर्थव्यवस्था के तीन मुख्य स्तंभ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD) जिसे आम तौर पर विश्व बैंक के रूप में जाना जाता है और सीमा शुल्कों तथा व्यापार पर आम सहमति (GATT), संयुक्त राज्य अमेरिका के ब्रेटन वुड्स में हुए एक सम्मेलन की उपज थे। ब्रेटन वुड्स व्यवस्था मूलरूप से एक पाश्चात्य व्यवस्था बन गई चूंकि उस वक्त वर्तमान विकासशील देशों में से अधिकांश औपनिवेशिक शासन के तहत थे। सोवियत संघ ने ब्रेटन वुड्स व्यवस्था का हिस्सेदार बनने से इंकार कर दिया और बदले में पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के बीच अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए अपना खुद का ढांचा — कोमेकान (COMECON) खड़ा किया। सिर्फ कुछ लातिन अमेरिकी देश और अपवाद के रूप में, भारत, ब्रेटन वुड्स वार्ताओं में सम्मिलित हुए। परिणामस्वरूप ब्रेटन वुड्स की वित्तीय संस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विकास के प्रबंधन के प्रावधानों को पाश्चात्य हितों के अनुकूल बनाया गया जिसमें मिलाजुला कर विकासशील देशों के हितों को नजरअंदाज किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) में, जिसकी स्थापना भुगतान-संतुलन की जरूरत की पूर्ति के लिए अल्प-अवधि ऋण देने के लिए हुई, निर्णय लेने का अधिकार अमेरिका जैसे अमीर देशों के पास रहा जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संसाधनों में बड़ा योगदान देते थे। उन्हें उनके वित्तीय योगदान के अनुपात में वोटों का हिस्सा मिला। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में अधिक वोट देने के अधिकार का इस्तेमाल विकासशील देशों को ऋण देने के निर्णयों के वक्त निषेधाधिकार के रूप में किया जाने लगा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि विकासशील देशों को मिले निम्नतर वोट के अधिकारों के कारण यह देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्णयों में शायद ही कोई दखल रख पाए। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से लिया गया कोई भी बड़ा उधार खास शर्तों पर आधारित था जिसे उधार लेने वाले देश को पूरा करना था। बहुत बार इन शर्तों का अर्थ होता था उधार लेने वाले देश की राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में सीधा दखल। हम याद कर सकते हैं उस हंगामे को जब भारत ने 80 के दशक की शुरुआत और फिर 1991 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से बड़ा उधार लेने की पेशकश की थी जिसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कुछ शर्तें लगा दी थीं। यह शर्तें उधार लेने वाले देशों की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को उदार बनाने की थी जिससे कि इनका बाजार उत्तर के बहुराष्ट्रीय निगमों की लागतों के लिए खोला जा सके। यह उधार लेने वाले देशों की राष्ट्रीय प्रकृति के विपरीत जाता है जो अपनी अर्थव्यवस्था को गैर-पूंजीवादी रास्ते पर विकसित करना चाहते थे जिससे कि अर्थव्यवस्था का संतुलित विकास हो सके। इसी प्रकार विश्व बैंक या IBRD से आशा की जाती थी कि वह दीर्घकालिक आधार पर उधार लेने वाले देशों की विभिन्न परियोजनाओं को वित्त

दे। यहां भी, प्रत्येक परियोजना की व्यवहार्यता और दुरुस्ती को विश्व बैंक द्वारा अनुमोदित किया जाना था, जिसमें निर्णय करने का अधिकार मुख्यतः उत्तर के देशों के पास था। इसके आगे, विश्व बैंक उधार लेने वाले देशों के निजी क्षेत्र में लागत को तरजीह देकर "मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था" की प्रवृति को भी बढ़ावा देने की कोशिश करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा अपनायी गई उधार देने की नीतियों का कुल प्रभाव द्विस्तरीय है, यथा, यह घाटे में चलने वाले देशों की संपूर्ण आर्थिक नीतियों को प्रभावित करती है और दूसरा, यह एक खास तरह के विकास का पक्षपाती है(निजी, मुक्त बाजार)।

हालांकि, 1970 के दशक के शुरू में ब्रेटन वुड्स व्यवस्था खुद ही टूट गई जब संयुक्त राज्य अमेरिका डॉलर को सोने में बदलने में ज्यादा असमर्थ होता गया और उसे मजबूरन अगस्त 1971 में डालर को सोने से विलग करना पड़ा। पर, यह सिर्फ डालर-सोने के बीच संबंधों का टूटना था न कि इन वित्तीय संस्थाओं के भेदभावपूर्ण प्रकृति का।

सीमा शुल्क और व्यापार पर आम सहमति (GATT) की उत्पत्ति इस अनुभूति से हुई कि चूंकि अब तक न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और न ही विश्व बैंक मालों की समस्या को उठा रहा था,अतः, एक अलग संस्थागत व्यवस्था द्वारा व्यापारिक मुद्दों को उठाया जाना चाहिए। इस तरह, GATT, जहां तक व्यापार का संबंध था, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मुख्य उपकरण के रूप में उदित हुआ। GATT में किए गए प्रबंध ने व्यापार में "वरीयता" को खत्म करने की कोशिश की और दी गई छूट ली गई छूट के बीच बराबरी की नीति को लागू किया। परन्तु बराबरी का यह व्यवहार विकासशील देशों के खिलाफ काम करते थे, जो किसी भी हालत में जितना पाते थे उतना देने में सक्षम नहीं थे।

ऊपर की बहस से, यह साफ तौर पर जाहिर होता है कि कैसे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वर्तमान ढांचा भेदभावपूर्ण है और इसलिए, उसमें ढांचागत् और मूलभूत बदलावों की जरूरत है। यही उत्तर-दक्षिण संवाद का मर्म है जिसकी ओर हम अब मुड़ते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) उत्तर-दक्षिण संवाद में सम्मिलित मुद्दों को चिन्हित करें।

.....

.....

.....

.....

23.5 वार्ता के मंच

23.5.1 गुट-निरपेक्ष आंदोलन

गुट निरपेक्ष आंदोलन (NAM) नव-स्वतंत्र, विकासशील देशों का वह पहला संयुक्त मंच बना जहां उत्तर-दक्षिण मुद्दों पर पहली बार चर्चा की गई। अपने औपनिवेशिक शोषण की ताजी याददाश्त लिए NAM ने पहली बार 1950 के दशक में उपनिवेशवाद के खात्मे को संबोधित किया। परन्तु 1960 के दशक में जब तक उपनिवेशवाद का खात्मा लगभग पूरा हो चुका था, NAM का केन्द्र, उपनिवेशवाद के खात्मे से हटकर, विश्व आर्थिक गैर-बराबरी की ओर चला गया था।

1964 में बेलग्रेड में आयोजित NAM का प्रथम शिखर सम्मेलन मुख्य रूप से साम्राजयवाद विरोध और रंगभेद-विरोध जैसे राजनीतिक मुद्दों से संबंधित था। परन्तु उसने उपनिवेशवाद और साम्राजयवाद से विरासत में मिले आर्थिक असंतुलन पर भी ध्यान दिया और ऐसे असंतुलनों के खात्मे पर जोर दिया। 1964 में काहिरा में आयोजित NAM के दूसरे सम्मेलन ने भी मूलतः राजनीतिक रुख ही अपनाया। 1970 में लुसाका में आयोजित NAM के तीसरे शिखर सम्मेलन में जा कर आंदोलन के आर्थिक आयाम साफ तौर पर उभरे। उसने विकसित और विकासशील देशों के बीच ढांचागत गैर-बराबरी पर पहली बार अपनी समझ का इजहार किया। उसने विकसित और विकासशील देशों के बीच तेजी से बढ़ते हुए विभाजन को दृष्टिगोचर किया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा था। इसने विकासशील देशों के विश्व निर्यात व्यापार में घटती हिस्सेदारी को चिन्हित किया जो 1950 में एक तिहाई से 1969 में छठा भाग रह गया था। कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के प्रतिशत से संबंधित, विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को जाने वाले वित्त में ह्रास और विकासशील से विकसित देशों को जाने वाले वित्त में बढ़ोत्तरी को भी चिन्हित किया गया। इसने घोषणा की कि "विकासशील देशों की गरीबी की परिस्थितियां तथा इनका विकसित देशों पर आर्थिक निर्भरता वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था की ढांचागत कमजोरी का हिस्सा है।" इसने "प्रौद्योगिकी उपनिवेशवाद" को रोकने की सख्त जरूरत पर जोर दिया। इसने बड़े पैमाने पर

हथियारों से विकास की परियोजनाओं के लिए विश्व स्तर पर लागतों के स्थानांतरण की दुहाई दी। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ से "विश्व अर्थव्यवस्था, में खास तौर से व्यापार, वित्त और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जल्द बदलाव लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मशीनरी लगाने" का अनुरोध किया। इसने यह भी मांग की कि विकसित देशों से विकासशील देशों की ओर कुल वित्तीय हस्तान्तरण को प्रत्येक विकसित देश की कुल राष्ट्रीय उत्पाद का कम से कम 1 प्रतिशत होना चाहिए, और इन कोषों का 15 प्रतिशत सरकारी स्रोतों से आना चाहिए। NAM में भाग लेने वालों ने यह भी तय किया: उप-क्षेत्रीय स्तरों पर भी आर्थिक सहयोग और एकता बढ़ाया जाना; अपने बीच माल के समझौतों के निष्कर्षों को आगे बढ़ाना; संयुक्त राष्ट्र संघ की क्षमताओं को मजबूती प्रदान करना; गुप ऑफ 77 की एकता और भाईचारे को आगे बढ़ाना (जिसके विषय में हम बाद में बहस करेंगे)"।

गुट निरपेक्ष आंदोलन के द्वारा आर्थिक आयाम पर दबाव की दिशा 1973 में एलजियर्स में आयोजित इसके चौथे शिखर सम्मेलन में जारी रही। यहां, दो विश्वों के बीच बढ़ती आर्थिक खाई को आंकड़ों द्वारा प्रदर्शित किया गया, और एकमत से कहा गया कि विकास की अन्तर्राष्ट्रीय समरनीति विफल हो गई है। इसने दर्ज किया कि "ब्रेटन वुड्स में बनाई गई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था ने सिर्फ कुछ विकसित देशों के हितों को पूरा किया" और इसकी पुनर्संरचना की मांग की। बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका की निंदा करते हुए, इन्होंने अपनी नीतियों के इन निगमों के खिलाफ समन्वित करने का संकल्प लिया।

1976 में कोलंबो की NAM मीटिंग भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों के संबंध में विचार मग्न रही। इसकी आर्थिक घोषणा में कहा गया कि विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ते विभाजन " तनाव और संघर्ष के जोखिम भरे स्रोतों में से एक है।" इसके अलावा, इसने कहा कि "वर्तमान व्यवस्था विकासशील देशों के विकास के आगे बढ़ने को सुनिश्चित नहीं कर सकती जिससे कि गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा को दूर किया जा सके। इसने घोषणा की कि " नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की संपूर्ण पुनर्संरचना के बिना विकासशील देश विकास का एक मान्य स्तर नहीं पा सकेंगे"।

हवाना में 1977 की NAM शिखर वार्ता ने भी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के गैर-बराबर आर्थिक ढांचे की ओर इशारा किया और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना में देरी की निंदा की। 1983 में नई दिल्ली में, NAM सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के अन्तर-निर्भर चरित्र पर जोर दिया और उत्तर-दक्षिण सहयोग का आह्वान किया। उसने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रति उत्तर के रुख में बदलाव की वकालत की। इसी तरह, 1986 में आयोजित NAM के हरारे सम्मेलन में भी आर्थिक संकट के जारी रहने पर चिन्ता प्रकट किया गया और नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए काम करने का संकल्प लिया गया। उसने उत्तर-दक्षिण वार्ता में आयी रुकावट के लिए विकसित देशों को दोषी बताया और दक्षिण-दक्षिण सहयोग की जरूरत को दुहराया। बेलग्राद में 1989 में हुए सबसे हाल के NAM शिखर वार्ता में भी विश्व अर्थव्यवस्था को जकड़े संकट को नोट किया गया और उससे पार पाने के लिए तात्कालिक कार्यवाहियों पर जोर दिया गया। उसने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के जनतांत्रिकरण का आह्वान किया और आशा की कि उत्तर से दक्षिण की ओर संसाधनों का ज्यादा उदारतापूर्वक स्थानांतरण होगा।

23.5.2 व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन

उत्तर-दक्षिण मुद्दों का दूसरा महत्वपूर्ण मंच है व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र का सम्मेलन (UNCTAD)—एक संस्था जिसका प्रस्ताव विकासशील देशों ने एक विश्व सम्मेलन के रूप में किया था जो, व्यापार व विकास से संबंधित मामलों को पूरा करता और जिसमें तमाम संयुक्त राष्ट्र सदस्यों की विश्वव्यापी हिस्सेदारी को सुनिश्चित किया जा सके। शुरुआती विरोध के बावजूद आखिर में विकसित देश इस मंच की बहसों में हिस्सा लेने पर तैयार हो गए। एक योजना के तहत, विकासशील देशों ने एक गुट की स्थापना की जिसे "ग्रुप-77" (G-77) के रूप में जाना जाता है, जिससे कि UNCTAD की बहसों में विकासशील देश विकसित देशों के मुकाबले एक एकीकृत, एकल गुट के रूप में कार्य कर सकें। हालांकि अभी इस ग्रुप की सदस्यता 126 तक पहुंच गई है, यह अभी भी अपने मूल नाम, G-77 द्वारा जाना जाता है। 'उत्तर' के पश्चिमी देशों और कम्युनिस्ट देशों ने भी मोल-तोल करने के लिए ऐसे ही सामूहिक ग्रुपों की स्थापना की। शुरू में UNCTAD ने व्यापारिक मुद्दों और "वरीयताओं की सामान्यीकृत योजना (GSP) में अच्छी प्रगति की। इसके तहत विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों को दिए जाने वाले वरीयता परन्तु भेदभावपूर्ण सीमाशुल्क छूट के पहले वाले तरीके को खत्म किया गया। फिर भी, जल्द ही UNCTAD की बैठकों में उत्तर और दक्षिण के बीच वित्त को लेकर उनके दृष्टिकोणों में बढ़ता विभाजन नजर आया जिसमें दक्षिण की इस मांग के प्रति कि संरक्षणवाद की नीति और दूसरे व्यापारिक अवरोधों को हटाया जाए, उत्तर ने इसे न सुनने की ठान ली।

23.5.3 संयुक्त राष्ट्र की आम सभा (UNGA)

एक मंच के तौर पर, जहाँ संख्या के आधार पर तीसरी दुनिया का प्रभुत्व है, संयुक्त राष्ट्र की सामान्य परिषद् ने दक्षिण को एक बड़ा अवसर उपलब्ध करवाया जहां उत्तर-दक्षिण मुद्दों पर बहस हो और वर्तमान व्यवस्था में ढांचागत बदलावों की मांग की जा सके। परन्तु 1974 में जाकर UNGA ने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग औपचारिक रूप से उठायी। 1973 में OPEC देशों द्वारा तेल का हथियार के रूप में प्रभावशाली इस्तेमाल ने, हालांकि आंशिक रूप में ही, अमीर उत्तर को दक्षिण के तर्कों के प्रति ज्यादा जवाबदेह बनाया, साथ ही, 1973

में अलजीयर्स के NAM सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्र के तहत नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए काम करने की ज़रूरत पर बल दिया। परिणामस्वरूप, संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने अपने छठे विशेष अधिवेशन में विकसित और विकासशील देशों के बीच विभाजन को कम करने के लिए, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की जरूरत का इजहार करते हुए इसकी स्थापना का निर्णय लिया। उसने एक घोषणा की कि ये सदस्यगण तमाम देशों के बीच समदृष्टि, संप्रभु बराबरी, अन्तर-निर्भरता, सर्वहित और सहयोग के लिए, अपनी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में भिन्नता के बावजूद कार्य करेंगे, जो असमानताओं को दुरुस्त करेगा और वर्तमान अन्याय को सुधारेगा, विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ते हुए विभाजन के खात्मे को संभव बनाएगा और वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए आर्थिक और सामाजिक विकास तथा शांति और न्याय की नींव मजबूत करेगा"।

दूसरे प्रस्ताव द्वारा संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए एक क्रिया की योजना (Programme of Action) बनाया। इस योजना में व्यापार, प्रौद्योगिक और संसाधनों के हस्तांतरण, मदद, मौद्रिक व्यवस्था में सुधार इत्यादि समावेषित थे जो उत्तर-दक्षिण वार्ता के विस्तृत आधार थे। यहाँ खास महत्व की बात थी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में ज्यादा समझदारी और साम्यता को सरल बनाने की दृष्टि से राज्यों के आर्थिक अधिकारों और कर्त्तव्यों को अपनाना।

इस प्रकार, 1974 में अपने विशेष अधिवेशन से शुरू होकर, UNGA ने उत्तर-दक्षिण मुद्दों पर विकासशील देशों की चिन्ता का इजहार करने के सही मंच के रूप में खुद को लगातार अर्पित किया है और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की मांग पर जोर देता रहा है। परन्तु, इन मांगों के प्रति उत्तर का क्या रुख रहा है? इसका उत्तर नकारात्मक है। इन्होंने व्यापार की शर्तों को बदलने, सीमा शुल्क अवरोधों को कम करने, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं के पुनर्संघटन के लिए कदम उठाने से इंकार कर दिया। यहां तक कि विकसित देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पाद के 1 प्रतिशत को सबसे कम विकसित देशों को हस्तान्तरित करने की छोटी सी मांग पर भी उत्तर ने ध्यान नहीं दिया। इसके बदले, उत्तर की संरक्षणवादी नीतियां जारी हैं जिसके कारण बहुराष्ट्रीय निगमों ने सस्ते श्रम और राष्ट्रीय संसाधनों के शोषण द्वारा अपनी गतिविधियों का विस्तार सबसे कम विकसित देशों में किया है। ऐसी परिस्थिति में, उत्तर-दक्षिण वार्ता मिलाजुला कर एकपक्षीय रही जिसमें सिर्फ दक्षिण बहस करता रहा, जबकि अधिकांश समय, उत्तर देखता रहा है। 1975-76 में पेरिस की क्रमागत् बातचीत भी, जहां उत्तर-दक्षिण वार्ता ने द्विपक्षीय स्वरूप ग्रहण किया, आंकाक्षानुरूप नहीं रही।

जैसा कि हमने ऊपर देखा, 50 से 60 के दशक में ही विभिन्न मंचों द्वारा उत्तर-दक्षिण मुद्दों को उठाया जाता रहा है। इन दशकों में उत्तर ने दक्षिण के तर्कों के प्रति कुछ सहानुभूतिपूर्ण नजरिया अपनाया चूंकि विकसित देशों में आम तौर पर आर्थिक खुशहाली थी। परन्तु, बाद में, उत्तर की विकसित अर्थव्यवस्थाओं को खुद विभिन्न संकटों का सामना करना पड़ा यथा, मुद्रास्फीति, बेरोजगारी इत्यादि। खुद की आर्थिक समस्याओं को हल करने में असमर्थ उत्तर से दक्षिण के प्रति उदारता की कम ही आशा थी। उन्होंने तमाम मंचों पर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तर-दक्षिण वार्ता के प्रस्ताव का विरोध शुरू कर दिया। साथ ही, वे चाहते थे कि ऐसी तमाम बहसें विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और GATT जैसी एजेन्सियों में हो, जहां उन्हें वोट देने की अत्यधिक ताकत थी जिससे ऐसे किसी भी निर्णय का निषेध किया जा सके, न कि सही मायनों में UNGA जैसे विश्व मंचों पर जहां विकासशील देशों का बहुमत था। इस प्रकार उत्तर-दक्षिण वार्ता में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई। ब्रान्ट कमीशन का गठन इसी संदर्भ में एक नयापन देने और शुरुआत करने के लिए हुआ।

23.6 नई शुरुआतें : ब्रान्ट कमीशन रिपोर्ट का महत्व

1970 के दशक ने उत्तर-दक्षिण वार्ता में सीधा टकराव देखा। एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए। दक्षिण ने बहुपक्षीय मदद, सरकारी विकास में सहयोग में उत्तर द्वारा भारी कटौती की शिकायत की जबकि उत्तर ने दक्षिण को "आधारहीन गढ्ढा" कहा जिसमें हस्तान्तरित संसाधन की लगातार फिजूलखर्ची हो रही थी। इसका नतीजा हुआ संवाद में पूर्ण गतिरोध। नए आधारों को तलाशना जरूरी था। इन परिस्थितियों में, संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने "अन्तर्राष्ट्रीय विकास के मुद्दों पर स्वतंत्र कमीशन" का गठन पश्चिम जर्मन के भूतपूर्व चांसलर विली ब्रान्ट के नेतृत्व में किया। उत्तर-दक्षिण मुद्दों के गहन परीक्षण के बाद, ब्रान्ट कमीशन ने 1980 में "उत्तर-दक्षिण : उत्तर जीविता का एक कार्यक्रम" का प्रकाशन किया। इस कमीशन द्वारा दी गई सलाह की दिशा, पूर्ववर्ती दिशा से भिन्न थी। इसने "नीतियों की सार्वभौमिकता" का आह्वान किया — क्योंकि समस्याएं मानव-जाति को पूर्णता में प्रभावित करती थीं और इसलिए इन समस्याओं के समाधानों का भी अनिवार्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना होगा। एक दूसरे अर्थ में, ब्रान्ट कमीशन की दृष्टि मौलिक थी। यह उत्तर और दक्षिण के बीच परस्पर निर्भरता के सिद्धांत पर आधारित थी। यह इंगित किया गया कि उत्तर और दक्षिण दोनों का एक दूसरे की खुशहाली और विकास में स्वार्थ था।

ब्रान्ट रिपोर्ट ने ऐसे तरीके सुझाए जिसमें उत्तर को दक्षिण के विकास में मदद देने से फायदा पहुंचेगा। इसने चीजों को सार्वभौमिक आलोक में देखने पर जोर दिया जिससे कि संपूर्ण मानव जाति के भविष्य के महत्वपूर्ण संदर्भ में, उत्तर-दक्षिण सहयोग के महत्व को समझा जा सके। इसने दिखाया कि कैसे दक्षिण का विकास बेरोजगारी, धीमे निर्यात आदि समस्याओं का समाधान कर सकता है जिसका सामना उत्तर कर रहा है। उदाहरण के लिए, अगर

उत्तर की मदद से दक्षिण की अर्थव्यवस्थाओं को विकसित किया जाये तो यह दक्षिण की क्रय शक्ति को बढ़ाएगा जिससे विकसित देशों के निर्यातों में वृद्धि होगी। निर्यातों में यह बढ़ोत्तरी उत्तर में ज्यादा रोजगार पैदा करेगी। इस बात को साबित करने के लिए, रिपोर्ट ने इस तथ्य की ओर इशारा किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में 20 में से 1 नौकरी विकासशील देशों को उसके द्वारा किए गए निर्यात पर निर्भर है।

कमीशन ने सबसे कम विकसित देशों की आशाविहीन परिस्थिति को चिन्हित किया और उनकी इस स्थिति के लिए कुछ प्राकृतिक अक्षमताओं को जिम्मेवार ठहराया जो उनके "गरीबी के पट्टों" में स्थित होने के कारण थी। रिपोर्ट ने इन-सबसे कम विकसित देशों में विद्युत सिंचाई परियोजनाओं में उदार शर्तों पर जबरदस्त लागत की अनुशंसा की। इसके अलावा, इसने तीसरी दुनिया के लिए बड़े मदद के हस्तांतरण, विकासशील देशों को ज्यादा सस्ता ऋण देने के लिए उधार देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों में सुधार तथा तेल और मालों के दामों में स्थिरता की अनुशंसा की। इसने जनसंख्या, पर्यावरण, निरस्त्रीकरण की समस्याओं को छुआ और इन तमाम मसलों पर इसने एक "सार्वभौमिक दृष्टि" का आह्वान किया जिसमें दोनों उत्तर और दक्षिण को अन्तनिर्भरता के आधार पर कड़ी मेहनत करनी होगी।

जल्द ही ब्रान्ट कमीशन रिपोर्ट के बाद खुद ब्रान्ट की अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय विकास पर एक और स्वतंत्र कमीशन् आया जिसने 1983 में "सामूहिक संकट : विश्व समुत्थान के लिए उत्तर-दक्षिण सहयोग" शीर्षक से एक रिपोर्ट पेश किया। उत्तर-दक्षिण वार्ता में हुई धीमी प्रगति को चिन्हित करते हुए, इसने पुनः उत्तर और दक्षिण के बीच आर्थिक अन्तरनिर्भरता को दुहराया, संकट-ग्रस्त विश्व अर्थव्यवस्था को "सामूहिक संकट" कहा और यह दिखाया कि कैसे विश्व अर्थव्यवस्था के एक हिस्से में संकट, दूसरे हिस्सों के प्रदर्शन को प्रभावित करता है। 1980 के दशक में विकसित देशों की संरक्षणवादी नीतियों में होने वाली कमी ने पहले विकासशील देशों को प्रभावित किया, लेकिन अंततः यह विकसित देशों पर ही जा गिरा। दूसरे शब्दों में, जब तक दक्षिण तेजी से आर्थिक विकास नहीं करेगा, उत्तर खुशहाल नहीं हो सकता, और इसका ठीक उल्टा भी सही है। इसने उत्पादन में घटाव, बेरोजगारी की प्रवृत्ति और विकासशील देशों के बीच बढ़ती विषमता को उलटने के लिए समयबद्ध कदम उठाने का आह्वान किया। सुधार के जिन क्षेत्रों में दबाव बनाना था वह थे वित्त, व्यापार और माल, औद्योगिकरण और प्रौद्योगिकी। इस रिपोर्ट ने, इस प्रकार, एक बार फिर विश्व अर्थव्यवस्था के "अन्तरनिर्भर" चरित्र को साफ तौर पर उभारा तथा उत्तर और दक्षिण दोनों की अर्थव्यवस्थाओं को परस्पर लेन-देन के आधार पर इस संकट से उबारने के लिए खास तरीके सुझाए। फिर भी, यहां ध्यान देने वाली बात है कि दोनों रिपोर्टें उत्तर और दक्षिण के बीच वर्त्तमान संबंधों को बदलने में कोई मदद नहीं कर सकीं। इस निर्भीक सुधारवादी चिन्तन पर उत्तर की पुरानी समझदारी हावी रही।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) उत्तर-दक्षिण वार्ता को आकार देने में गुट-निरपेक्ष आंदोलन की क्या भूमिका रही है?

.....

.....

.....

.....

2) ब्रान्ट कमीशन रिपोर्ट के महत्व और सलाहों की संक्षिप्त जानकारी दें।

.....

.....

.....

.....

23.7 कांकुन शिखर वार्ता

जैसा कि हमने ऊपर देखा, उत्तर-दक्षिण वार्ता के लिए विभिन्न मंचों का उपयोग हो रहा था। परन्तु दो कारणों से, उन्हें उत्तर की ओर से बहुत कम जवाब मिला, जिनको वार्ता संबोधित थी। पहला, यह मंच आवश्यक रूप से तीसरी दुनिया के मंच थे और इसलिए विकसित देशों को अच्छे नहीं लगते थे। दूसरा, ये तमाम मीटिंगें कूटनीतिज्ञों, नौकरशाही, या ज्यादा से ज्यादा, विदेश मंत्रियों के स्तर पर होती थीं। उत्तर और दक्षिण दोनों की ओर से शिखर वार्ता स्तर की बातचीत, जिसमें सबसे प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति आमने सामने मुद्दों पर बहस करें, अभी होनी बाकी थी। ब्रान्ट कमीशन रिपोर्ट ने विश्व नेताओं की ऐसी शिखर वार्ता की सलाह दी थी, जो विश्व की वर्तमान समस्याओं और उनके संभावित हलों पर एक नया संकेंद्रण, और एक नयी रोशनी डाल सके।

इस सोच के साथ, 1981 के अक्तूबर में, कांकुन, मेक्सिको में, एक शिखर सम्मेलन हुआ, जिसमें 22 राष्ट्राध्यक्षों ने हिस्सा लिया। अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के दबाव पर विचार-विमर्श के लिए कोई औपचारिक कार्य सूची तैयार नहीं की गई। राजनीतिक नेताओं का उत्तर-दक्षिण मुद्दों पर एक दूसरे के दृष्टिकोण को जानने का यह एक अनौपचारिक मिलन था। फिर भी, शिखर वार्ता के नेताओं को अन्तर्निर्भरता और हितों की परस्परता का और साथ ही भोजन, विद्युत और संसाधनों के हस्तांतरण के क्षेत्र में भी कार्य योजना की सख्त जरूरत का एहसास हुआ। परन्तु इन आम समस्याओं के आगे ठोस रूप में कांकुन शिखर वार्ता बहुत आगे कुछ न कर पायी। रीगन ने बाजार के जादू के अपने शब्दाडम्बर को दुहराया तथा बाजार की शक्तियों और निजी पूंजी को विकासशील देशों की समस्याओं का समाधान बताया। इस दृष्टिकोण को दक्षिण के नेताओं ने चुनौती दी जिनके अनुसार विकासशील देशों की कमजोर अर्थव्यवस्थाओं को बाजार की शक्तियां हानि पहुंचाऐंगी। संसाधनों के हस्तांतरण के निर्णायक सवाल पर विकसित देशों ने कोई वचन नहीं दिया जैसा ब्रान्ट रिपोर्ट में विचार किया गया था। न ही G-77 की आशाएं कि कांकुन सम्मेलन को विश्व-स्तर पर वार्ताओं को शुरू करने के लिए राष्ट्रसंघ के ढांचे के तहत जरूरी प्रेरक शक्ति बनना चाहिए, पूरी हो सकी। इसके विपरीत, रीगन ने जोर दिया कि बातचीत को वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं की शक्तियों और कार्यों का सम्मान करना चाहिए। उनके विचारानुसार, इन संस्थाओं का वर्तमान ढांचा मूलतः सही है और इनमें बदलाव की कोई जरूरत नहीं है जैसा कि दक्षिण ने सलाह दिया है।

इस प्रकार, जहां तक उत्तर-दक्षिण वार्ता में ठोस मुद्दों का सवाल है, कांकुन एक निरर्थक प्रयास बन गया। अगर इस सम्मेलन को कुछ सफलता मिली तो वह यह कि अमीर उत्तर के प्रतिनिधियों ने दक्षिण को संयम से सुना। कांकुन से, विश्वस्तरीय बातचीत की शुरुआत करने जैसी बड़ी आशा मिथ्या साबित हुई।

23.8 दक्षिण-दक्षिण सहयोग

अपने असंतुलित इतिहास में उत्तर-दक्षिण संवाद बहुत सारे उतराव चढ़ाव से गुजरा, जिसमें "उतराव" दृश्य पटल पर ज्यादा उभरे। लगातार असफलता ने दक्षिण को उत्तर के अमीर, औद्योगिकृत देशों से मिलने वाली किसी भी मदद के प्रति निराशावादी बना दिया। परन्तु इस असफलता से, दक्षिण ने एक महत्वपूर्ण सबक सीखा। दक्षिण के गरीब, विकासशील देशों को जल्द ही इसका बोध हुआ कि उत्तर उनकी बातों को सुनने से तब तक इंकार करेगा जब तक कि दक्षिण की उत्तर से मोल-तोल करने की क्षमता कमजोर रहेगी। इन विकसित देशों पर जितना ज्यादा ये निर्भर रहेंगे, उन्हें छूटों के रूप में उतना ही कम फायदा होगा। इस बोध ने उस विचार को जन्म दिया जिसे दक्षिण के "सामूहिक आत्म-निर्भरता" के रूप में जाना जाता है। यह सामूहिक आत्म-निर्भरता दक्षिण-दक्षिण सहयोग के बढ़े हुए स्तर द्वारा ही हासिल की जा सकती थी। दूसरा, बहुत सारे ऐसे क्षेत्र पहले से मौजूद थे जहाँ दक्षिण के देशों के बीच सहयोग की अपूर्व संभावनाएं थीं। ब्रान्ट रिपोर्ट ने भी अनुशंसा की थी कि : "क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय संघटन, या सहयोग के दूसरे क्लासिक रूप, अभी भी विकासशील देशों खास तौर से छोटे देशों के बीच आर्थिक विकास और ढांचागत बदलाव को उत्प्रेरित करने के लिए व्यावहारिक विकल्प प्रदान कर सकते थे।

इस तरह, उत्तर से दक्षिण के लिए किसी महत्वपूर्ण छूट की आशा व्यर्थ थी जब तक कि दक्षिण, एक दूसरे के सहयोग से, सामूहिक मोल-भाव की ताकत को काफी नहीं बढ़ा लेता। इसको प्राप्त करने हेतु भारत, जो एक अग्रगामी तीसरी दुनिया का देश था, ने पहल की और 1982 फरवरी में नई दिल्ली में विदेश मंत्री स्तर की बातचीत का आयोजन किया जिसे "नई दिल्ली मन्त्रणा" के नाम से जाना जाता है। दक्षिण के तैंतालिस विकासशील देशों ने इस मीटिंग में दक्षिण-दक्षिण सहयोग की संभावनाओं को तलाशने के लिए हिस्सा लिया। इस मीटिंग से यह बात उभरी कि ऐसे सहयोग की बड़ी संभावना थी। विकासशील देश खुद के बीच व्यापार का विकास कर सकते थे और इस प्रकार दक्षिण के संरक्षणवादी व्यापार नीतियों से बच सकतें थे। दक्षिण के कुछ देश, जिनके पास अच्छाखासा औद्योगिक-प्रौद्योगिकी आधार था, दूसरे विकासशील देशों को अपनी प्रौद्योगिकी हस्तान्तरित कर सकते थे। संसाधनों को इकट्ठा करने के लिए भी दक्षिण के पास खुद की क्षमता थी। दक्षिण के तेल निर्यातक देशों के पास पश्चिम के बैंकों में अतिरिक्त पेट्रो-डालर बंद थे जिन पर पश्चिम बड़ा मुनाफा कमा रहा था। पेट्रो डालरों का यह आधिक्य ज्यादा गरीब विकासशील देशों में लागत के लिए पुनर्संयोजित किया जा सकता था। यहां तक कि दक्षिण के भीतर से संसाधनों को इकट्ठा करने के लिए एक "तीसरे विश्व बैंक" की स्थापना की जा सकती थी।
परन्तु, दक्षिण-दक्षिण सहयोग की संभावना कितनी भी बड़ी क्यों न हो, उसे कभी कार्यक्रम में नहीं उतारा गया। क्योंकि इसके लिए विकासशील देशों के राजनीतिक नेतृत्व में मूल, नए सोच की और राजनीतिक संकल्प की जरूरत थी जिसकी दुर्भाग्यवश कमी थी। विकासशील देशों ने पाया कि उत्तर के साथ बहुत दिनों से बने संबंधों को तोड़ना मुश्किल था और उनके बदले नए संबंधों को बनाने के प्रति वह सशंकित थे। यह कठमुल्ला विचार खुद में आत्म पराजित करने वाला था, जिसका नतीजा है कि अभी भी उत्तर और दक्षिण के बीच, दक्षिण की कीमत पर, दानकर्त्ता-दान प्राप्तकर्ता का संबंध बना हुआ है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) कांकुन में परिलक्षित उत्तर का दक्षिण के प्रति क्या रवैया रहा है?

.....

.....

.....

.....

2) दक्षिण-दक्षिण सहयोग की क्या संभावना है? क्या आप सोचते हैं कि यह उत्तर के साथ मोलतोल की क्षमता बढ़ाएगा?

.....

.....

.....

.....

23.9 सारांश

उत्तर-दक्षिण वार्ता, मोटे तौर पर एक बेहतर दुनिया की दिशा में बदलाव का संवाद है जिसमें पूरा विश्व समुदाय एक दूसरे के साथ बराबरी के आधार पर और एक जैसी परिस्थितियों में मेल से रह सकें। यह एक संवाद है जो इतिहास द्वारा निर्मित विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच खड़े किए गए अवरोधों को धराशायी करना चाहता है। यह ऐतिहासिक गलतियों को सुधारना चाहता है और विकास में तमाम देशों के लिए बराबरी की हिस्सेदारी का हिमायती है। परन्तु यह किसी दूसरे के मूल्य पर ऐसा नहीं करना चाहता। बल्कि, यह संवाद उच्चतर आकांक्षाओं द्वारा प्रेरित है। यह संपूर्ण मानव जाति के लिए एक नई विश्व व्यवस्था को बढ़ावा देने की बात करता है। यह तभी किया जा सकता है जब संवाद में शामिल दोनों पक्ष, उत्तर और दक्षिण, इस मूल तथ्य को समझें। राष्ट्रों के बीच वर्तमान गैर-बराबरी द्वेष को बढ़ावा दे रही है। सैकड़ों भूखों, बेघर, बेरोजगार लोगों के रहते चिरकाल के लिए विश्व शांति नहीं हो सकती। विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ती खाई विश्व व्यवस्था को क्रमशः दुर्बल और अस्थिर बना रही है और इस अस्थिरता से किसी को फायदा नहीं होगा। इसलिए, उत्तर और दक्षिण दोनों का शांति और स्थिरता को बढ़ावा देने में निहित स्वार्थ है। इसे करने का सबसे बढ़िया तरीका है एक दूसरे की जरूरतों और फायदों को पहचानना। उत्तर-दक्षिण संवाद वर्तमान के परस्पर विरोधी संबंधों की बजाय अमीर और गरीब के बीच जरूरतों की पारस्परिकता पर आधारित संबंधों के सहयोगात्मक ढांचे के निर्माण की कोशिश है। इसलिए, यह कहना काफी सही होगा कि उत्तर-दक्षिण वार्ता पसंदी-ना पसंदी का सवाल नहीं है बल्कि मजबूरी है— एक मजबूरी जो भविष्य के भयावह विचारों से निकली है। यह एक दुखदायी तथ्य है कि उत्तर के अमीर, औद्योगिक देश, इस मजबूरी से पूरी तरह वाकिफ होते हुए भी, इसके अनुरूप काम करने के लिए तैयार नहीं हैं। इस मायने में दक्षिण के पास कुछ करने का कम ही विकल्प बचता है— चूँकि उसे हरदम घाटे में रहना पड़ता है।

23.10 शब्दावली

उत्तर-दक्षिण: मूलतः एक भौगोलिक शब्दावली, परन्तु यह दुनिया के अमीर और गरीब देशों के बीच आर्थिक विभाजन की ओर संकेत करता है।

अन्तर्निर्भरता: एक दूसरे पर निर्भर, इसका अर्थ होता है पारस्परिक निर्भरता।

23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एल.के. झा, 1982, *नार्थ-साउथ डीबेट,* चाणक्या पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

विलि ब्रान्ट, 1980, *नार्थ-साउथ : ए प्रोग्राम फार सरवाइवल,* पैन बुक्स, लंदन।

जे. बन्दोपाध्याय, 1982, *नार्थ ओवर साउथ : ए नान-वेस्टर्न परस्पेक्टिव ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स,* साऊथ एशियन पब्लिशर्स, दिल्ली।

के.बी. हादजोर, 1988, *न्यू परस्पेक्टिव्स इन नार्थ-साऊथ डायलाग,* आई.बी.टारिस एण्ड कं., लंदन।

23.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर-दक्षिण शब्दावली के आर्थिक और भौगोलिक अर्थों की व्याख्या करें।

2) गरीब और अमीर देशों के बीच के आर्थिक विभाजन, उत्तर और दक्षिण के बीच वर्तमान गैर-बराबरी के लिए जिम्मेवार ऐतिहासिक कारणों की चर्चा करें।

बोध प्रश्न 2

1) मदद, व्यापार, संसाधनों के हस्तांतरण इत्यादि, जैसे राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों की संक्षिप्त चर्चा करें साथ ही वर्तमान अन्यायपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की चर्चा करें।

बोध प्रश्न 3

1) नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा अपने विभिन्न शिखर वार्ताओं में ली गई पहलकदमियों की चर्चा करें।

2) उन कारणों को बताएं जिनकी परिणति कमीशन की स्थापना में हुई और उसकी सिफारिशों को बताएं।

बोध प्रश्न 4

1) कांकुन में उत्तर का रवैया यथास्थितिवाद को बनाए रखना था। परिणामस्वरूप, उत्तर-दक्षिण के बीच अर्थपूर्ण संवाद की संभावनाएं बहुत क्षीण दीखती हैं।

2) हालांकि सहयोग की बहुत सारी संभावनाएं मौजूद हैं, इनका दक्षिण के देशों द्वारा इस्तेमाल नहीं किया गया है। निश्चित रूप से यह उत्तर को दक्षिण की मांगों के प्रति ज्यादा उत्तरदायी बनाएगा।

इकाई 24 गुट-निरपेक्षता

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 एशियाई देशों की गुट-निरपेक्ष नीति का विकास
24.2.1 युगोस्लाविया की गुट-निरपेक्षता
24.3 परिभाषा और विशिष्टताएं
24.4 गुट-निरपेक्ष आंदोलन का विकास
24.5 गुट-निरपेक्ष आंदोलन के सिद्धांत
24.5.1 शांति और निरस्त्रीकरण
24.5.2 आत्म-निर्णय का अधिकार और प्रजातीय समानता
24.5.3 आर्थिक समानता और नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (नीओ)
24.5.4 सांस्कृतिक स्वतंत्रता
24.6 आंदोलन की उपलब्धियां
24.7 आंदोलन का भविष्य
24.8 सारांश
24.9 शब्दावली
24.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
24.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई का लक्ष्य, युद्धोपरांत निर्मित नए गठबन्धनों के सन्दर्भ में एशिया, अफ्रीका और लेटिन-अमेरिका के नए स्वतंत्र देशों की समस्याओं का अध्ययन करना और साथ ही उन परिस्थितियों में उनके द्वारा अपनी अखण्डता व कार्य करने की स्वतंत्रता को बरकरार रखने हेतु अपनाई गई नीति व उपायों का भी विवेचन करना है। इस इकाई का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्न के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

- गुट-निरपेक्षता की परिभाषा,
- शीत युद्ध के विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में विकसित गुट-निरपेक्षता की नीति के बारे में,
- किस प्रकार गुट-निरपेक्षता की नीति के आधार पर एक आंदोलन का जन्म हुआ,
- इस आंदोलन के स्वरूप के संबंध में,
- इस आंदोलन के सिद्धांतों के बारे में,
- आंदोलन की उपलब्धियों का ब्यौरा,
- आंदोलन के भविष्य के बारे में।

24.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट-निरपेक्षता का शाब्दिक अर्थ असंलग्नता है। इस शब्द का प्रयोग उन छोटे देशों की विदेश-नीति के लिए किया जाता है जिन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए किसी भी महाशक्ति के साथ राजनैतिक संलग्नता रखने से इंकार कर दिया है। गुट-निरपेक्ष देशों ने अपने-अपने प्रयासों को सफलतापूर्वक समन्वित कर एक आंदोलन प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप, विश्व-राजनीति में, "तीसरे विश्व" के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभरने से आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। गुट-निरपेक्षता के कारण ही अब विश्व राजनीति केवल महाशक्तियों की राजनीति नहीं रह गयी।

24.2 एशियाई देशों की गुट-निरपेक्ष नीति का विकास

एशियाई देशों के गुट-निरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास को समझने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि शीत युद्ध व उसमें शरीक मुख्य देशों के बारे में इन नये देशों की क्या धारणाएं थीं और किस प्रकार उन्होंने इन देशों के साथ अपने संबंध स्थापित करने के प्रयास किए।

नये राष्ट्रों ने सामान्य तौर पर शीत युद्ध को एक अप्रासंगिक संघर्ष के रूप में लिया जिसके लिए वे न तो कोई प्रयास करने के इच्छुक थे न ही अपने कोई साधन जुटाना चाहते थे। भौगोलिक रूप से विवाद-क्षेत्र बहुत दूर था

और जिन मुद्दों के कारण संघर्ष बढ़ा, उनसे उनका लगभग कोई सरोकार नहीं था। फलतः उन्होंने सही ही निष्कर्ष निकाला कि वे विवाद के घेरे से बाहर थे।

परन्तु, महाशक्तियों के प्रति उनका रवैया उदासीन महत्वहीनता का ही नहीं, अलगाव (विमुखता) का भी था। औपनिवेशिकता के मुद्दे पर मित्र राष्ट्रों के दृष्टिकोण ने उन्हें पहले ही विरोधी बना दिया था। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में वे सिद्धांत थे जिनके आधार पर महाशक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को व्यवस्थित करना चाहती थीं, इसमें उपनिवेशों की स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान नहीं की गयी थी। वास्तव में, 1945 के बाद पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों ने उन उपनिवेशों पर पुनः कब्जा जमाने की हर संभव कोशिश की जहां उनका नियंत्रण युद्ध के दौरान समाप्त हो गया था। फलतः फ्रांस ने हिन्द-चीन में पुनः प्रवेश किया, डचों ने इण्डोनेशिया, और ब्रिटेन ने मलाया और सिंगापुर में। यहां तक कि वैचारिक तौर पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर्थक सोवियत संघ उन देशों के साथ बहुत कम सहानुभूति रखता था जिनमें राष्ट्रीय आंदोलनों का नेतृत्व गैर-कम्युनिस्ट संगठनों के हाथों में था। इस प्रकार, नए स्वतंत्र राष्ट्रों और अब भी औपनिवेशिक शासन से मुक्ति हेतु संघर्ष कर रहे राष्ट्रों ने महसूस किया कि स्वतंत्रता के उनके मिशन को पूरा करने में महाशक्तियां अड़चनें पैदा करेंगी, सहायता प्रदान नहीं करेंगी।

शीत युद्ध विवाद ने नए राष्ट्रों के इस नकारात्मक दृष्टिकोण को और भी अधिक मजबूती दी, क्योंकि उनकी कार्य करने की स्वतंत्रता खतरे में पड़ गई। यहां हमें उन खतरों में भेद करना है जिनकी आशंका नये राष्ट्रों को दोनों महाशक्तियों से थी। सोवियत संघ द्वारा प्रत्यक्षतः उन्हें कोई खतरा नहीं था। वार्सा संधि का मुख्य उद्देश्य यूरोप में कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं की सुरक्षा करना और इस गुट के भीतर ही सोवियत आधिपत्य को सुनिश्चित करना था। दूसरी ओर, अमेरिका और उसकी गठबंधन वाली व्यवस्था इन नए राष्ट्रों की कार्य करने की स्वतंत्रता को प्रत्यक्ष खतरा था। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए था कि अमेरिका उनके साथ राजनैतिक और सैन्य संबंध स्थापित करना चाहता था। विगत में जिस प्रकार औपनिवेशिक शक्तियों की कच्चे पदार्थों और बाजारों की खोज ने उपनिवेशों की स्थापना की थी अब शीत युद्ध में अमेरिका द्वारा राजनैतिक मित्रों की आवश्यकता ने एक नए प्रकार के प्रभुत्व की संभावना प्रस्तुत की जिससे नए राष्ट्र परिचित नहीं थे। यह नव-उपनिवेशवाद था जिसमें बिना वैध नियंत्रण के राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्रों को आज्ञाकारी (सहायक) और आश्रित का दर्जा प्राप्त होता था।

अधिकतर नए, स्वतंत्र राष्ट्रों ने अपनी सम्प्रभुता को लेकर किसी भी हस्तक्षेप को ठुकरा दिया। उन्होंने अनुभव किया कि विश्व आर्थिक व्यवस्था में उनके असमान दर्जे के कारण आर्थिक शक्ति के केन्द्रों द्वारा उन पर दबाव पड़ सकता है, क्योंकि विडम्बना यह थी कि वे इन केन्द्रों के साथ अपने सम्बन्ध तोड़ नहीं सकते थे क्योंकि वे उनके राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण थे। इन परिस्थितियों में वे अमेरिका के राजनैतिक सहयोगी की भूमिका स्वीकार कर ऐसे हस्तक्षेप का जोखिम मोल नहीं लेना चाहते थे क्योंकि अमेरिका पूंजीवादी विश्व में आर्थिक शक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। इसके अलावा, वे शीघ्र विकास द्वारा अपनी आर्थिक स्वतंत्रता को मजबूत करना और बढ़ाना चाहते थे। विकास हेतु उन्हें शांतिमय वातावरण की आवश्यकता का जिसमें हस्तक्षेप न हो जिससे वे अमेरिका और उसके पश्चिमी सहयोगी राष्ट्रों द्वारा नियंत्रित विश्व आर्थिक व्यवस्था के साथ अपने सम्बन्धों का उपयोग, अपने भविष्य को बनाने में अपनी नीतियों की स्वतंत्रता के साथ बिना समझौता किए, कर सकें।

गुट-निरपेक्षता ने यह रणनीति प्रदान की, जिसकी नये राष्ट्रों को तलाश थी। यद्यपि औपचारिक तौर पर गुट-निरपेक्षता ने दोनों खेमों की निन्दा की, फिर भी यह बात ध्यान देने की है कि एशियाई राष्ट्रों की नीति दोनों शक्ति-गुटों से समान दूरी बनाये रखने की नहीं होकर अमेरिका द्वारा अपनाई जा रही नवीन साम्राज्यवादी रणनीति के विरुद्ध विद्रोह की रही है। इसका अर्थ यह नहीं कि सोवियत संघ का दूसरों पर प्रभुत्व कायम करने का झुकाव नहीं था। परन्तु उसका अधिकार-क्षेत्र भिन्न था। जब युद्धोपरांत वर्षों में पश्चिमी गठबन्धनों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ तो सोवियत संघ ने एशियाई देशों की निष्ठा प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया। उसके हितों के लिए एशिया अप्रासंगिक था।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुट-निरपेक्षता में साम्राज्यवाद-विरोधी भावना अन्तर्निहित थी। इसका अर्थ यह है कि एक दृष्टिकोण के तौर पर यह बाहरी प्रभुत्व के विरुद्ध थी, हालांकि जिस प्रकार के प्रभुत्व का इससे सामना था वह परंपरागत साम्राज्यवाद न होकर नव-साम्राज्यवाद था। इस स्थिति में, खुले व प्रत्यक्ष राजनैतिक प्रभुत्व की बजाय एक कमजोर और अल्पविकसित देश पर राजनैतिक और आर्थिक दबावों द्वारा प्रभुत्व स्थापित किया जाता है। यह मानना सही नहीं होगा कि साम्राज्यवाद-विरोधी और नव-साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाएं अलग-अलग विकसित हुईं। इसके विपरीत, वे साथ-साथ ही विकसित हुईं। इन देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों के नेता विश्व में बढ़ते हुए नव-साम्राज्यवादी खतरे से परिचित थे, और इसके फलस्वरूप अपने औपनिवेशिक स्वामियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी उन्होंने नव-साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपना नकारात्मक रवैया स्पष्ट कर दिया। इससे, राष्ट्रीय आंदोलन के काल में ही, उन्हें स्वतन्त्रता पश्चात् देश की विदेश-नीति की रूपरेखा निर्धारित करने में सहायता मिली। भारत के संदर्भ में यह बात विशेष रूप से खरी थी जहाँ पश्चिमी जगत में अमेरिका की बढ़ती सर्वश्रेष्ठता की पृष्ठभूमि में चौथे और पांचवें दशकों में जवाहरलाल नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाया। यही बाद में गुट-निरपेक्षता कहलायी। नेहरू ने इस सदी के तीसरे दशक के अंत तक यह अनुभव कर लिया था कि विश्व के बड़े भाग में अमेरिका किस प्रकार एक आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा था और किस प्रकार इससे उसे लेटिन अमेरिका के निर्धन और अल्पविकसित देशों पर दबाव और प्रभाव जमाने में बल मिला। अप्रत्यक्ष प्रभुत्व की इस रणनीति से परिचित हो नेहरू को यह सोचने को मजबूर होना पड़ा कि क्या प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन का अंत,

अधीनता के युग को समाप्त कर देगा। इस प्रकार नेहरू ने भारत को, आजादी नहीं मिलने से पूर्व ही, गुट-निरपेक्ष बनाने का निश्चय किया।

इसी प्रकार इण्डोनेशिया और बर्मा के राष्ट्रवादी नेताओं ने भविष्य में एक स्वतंत्र विदेश नीति पर चलने का निर्णय किया।

24.2.1 युगोस्लाविया की गुट-निरपेक्षता

अभी तक हमने पश्चिमी गठबन्धनों के परिणामों का विश्लेषण किया है। अब हम, सोवियत संघ के नेतृत्व में गठित समाजवादी गठबन्धन का इसी संदर्भ में अध्ययन करेंगे।

एक महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का, उसके सहयोगी देशों और अन्य देशों के प्रति, दृष्टिकोण और व्यवहार बहुत अधिक भिन्न नहीं था, जबकि युद्ध में हुए विनाश ने, उसे अमेरिका की तुलना में आर्थिक और सैन्य दृष्टि से एक कमजोर शक्ति बना दिया था। सोवियत संघ के लिए एक और असुविधा थी। अन्य देशों के साथ मित्रता स्थापित करने में वैचारिक प्रतिबंध अड़चनें पैदा करते थे। इसलिये उसके राजनैतिक और कूटनीतिक चालों से अधिक देशों की स्वतन्त्रता को खतरा नहीं था। परन्तु, सोवियत संघ द्वारा निर्मित सैन्य गुट में पश्चिमी गुट की अपेक्षा अधिक अखंडता और एकता विद्यमान थी। इस गुट के भीतर ही सहयोगी देशों को अपने नेता सोवियत संघ निर्णयों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। ऐसी स्थिति पश्चिमी गठबंधन के भीतर नहीं थी। दूसरे शब्दों में, अपने महाशक्ति अगुआ के साथ संबंधों में पश्चिमी यूरोप के देश पूर्वी-यूरोप के देशों से कहीं अधिक स्वतंत्र थे। इसका परिणाम एक पूर्वी यूरोपीय देश के द्वारा विद्रोह में व्यक्त हुआ जिसने बाद में गुटनिरपेक्षता के मार्ग पर चलने का निश्चय किया।

यह देश युगोस्लाविया था। युगोस्लाविया के द्वारा स्वतन्त्र मार्ग अपनाने की इच्छा को समझने के लिए वहां की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास और विकास की ओर ध्यान देना होगा। युद्ध के पहले के वर्षों में यह एक गैर-कानूनी पार्टी थी। परन्तु युगोस्लाविया पर जर्मन कब्जे और वहां की वैध सरकार के पतन के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ने आगे बढ़कर जर्मन आधिपत्य के खिलाफ लड़ने और उसका विरोध करने की चुनौती स्वीकार की। 1941 से लगभग युद्ध के अंत तक कम्युनिस्टों ने युगोस्लाविया में जर्मन विरोधी संघर्ष की अगुवाई की और अपने देश के अधिकतर हिस्सों को जर्मन कब्जे से मुक्ति दिलाई। केवल युद्ध के अंतिम महीनों में ही उन्हें सोवियत सेना और मित्र-राष्ट्रों की सेना का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। जर्मनों से मुक्ति उन्हें मुख्यतया अपने संघर्ष के परिणामस्वरूप मिली थी इसलिये कम्युनिस्टों ने स्वाभाविक रूप से स्वयं को जर्मनी को पराजित करने के मित्र-राष्ट्रों के प्रयासों में समान रूप से भागीदार पाया। उनके आत्म-विश्वास और इस उपलब्धि की भावना के कारण उन्हें कोई भी अधीन स्थिति स्वीकार नहीं थी। यह स्थिति उन अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों से बिल्कुल विपरीत थी जहां एक छोटा-सा विरोधी आंदोलन नाजी-विरोधी संघर्ष में लिप्त था, परन्तु, जर्मन आधिपत्य से अंतिम मुक्ति रूसी सेनाओं द्वारा ही संभव हो सकी। इन देशों में आंदोलन का नेतृत्व करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों ने बाद में वहां सरकारें बनाई। परन्तु ये कम्युनिस्ट सरकारें सत्ता में मुख्य रूप से रूसी कब्जे के परिणामस्वरूप आयीं, न कि वहां के अधिसंख्यक जनता की रुचि पर। ये सरकारें अपने अस्तित्व के लिए रूसी सैन्य शक्ति की ऋणी थीं, इसलिये, स्वाभाविक रूप से सोवियत संघ के सन्दर्भ में उनकी स्थिति अधीनता की थी। युगोस्लाविया के लिए यह संभव नहीं था। जहां जर्मनों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी सहज रूप से प्रभुत्व प्राप्त कर, युगोस्लाव लोगों का न्यायसंगत पथ-प्रदर्शक बन गई थी। अतः टीटो के नेतृत्व में युगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत संघ की किसी प्रकार की अधीनता ठुकरा दी। उसका कहना था कि वैचारिक रूप से युगोस्लाविया सोवियत संघ का स्वाभाविक सहयोगी था और इसीलिए वह रूस द्वारा बनाए गए समाजवादी गठबन्धन का सदस्य बना। परन्तु इस गठबन्धन के भीतर युगोस्लाविया ने सोवियत संघ के साथ अपने संबंधों को, समान रूप से सहयोग के तौर पर देखा, अधीनता के रूप में नहीं क्योंकि गठबन्धन में इसकी सहभागिता उसकी एकजुटता की भावना की अभिव्यक्ति थी।

सोवियत संघ इस दलील को मानने को तैयार नहीं था। साम्यवाद की सुरक्षा हेतु उसे अखंडित राष्ट्रों के एक ऐसे संघ के निर्माण की जरूरत थी जिसमें उसका प्रभुत्व (आदेश) सर्वोपरि रहे। इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों में विवाद छिड़ा, जो युद्धोपरांत वर्षों में अधिक गहरा हुआ क्योंकि युगोस्लाविया ने घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर निर्णय लेने की अपनी स्वतंत्रता का बलपूर्वक दावा किया। विवाद 1948 में चरम सीमा तक पहुंच गया और अंततः युगोस्लाविया को कोमिन्फोर्म से बहिष्कृत कर दिया गया। सोवियत संघ से संबंध-विच्छेद के बाद भीषण आर्थिक समस्याओं के बावजूद युगोस्लाविया के लिए यह निष्कासन एक वरदान था क्योंकि इसने उसकी स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाए रखने में सहायता दी। छठवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में उसने उन देशों से निकट सम्पर्क बनाए जिन्होंने इसी प्रकार अपनी स्वतंत्रता को पश्चिमी नव-साम्राज्यवाद से सुरक्षित रखने की नीति अपनाई थी। युगोस्लाविया ने उनके साथ एक साझा उद्देश्य स्थापित करते हुए छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता को बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप से बचाने हेतु उनके प्रयासों में योगदान दिया। बाद में, गुट-निरपेक्ष आंदोलन को प्रारंभ करने में युगोस्लाविया ने इन देशों के साथ सहयोग किया।

इस तरह, हम देखते हैं कि किस प्रकार एशिया के नए स्वतंत्र राष्ट्र अमेरिका द्वारा एक महाशक्ति की भूमिका के निर्वाहन से असुरक्षित महसूस करने लगे। इसी प्रकार युगोस्लाविया भी सोवियत संघ द्वारा ऐसी ही भूमिका निभाने से असुरक्षित महसूस करने लगा। अपनी स्वतंत्रता के लिए उनके साझे चिंतन ने उन्हें गुट-निरपेक्षता के झंडे तले ला खड़ा किया। इस सन्दर्भ में युगोस्लाविया की गुट-निरपेक्षता भी समान दूरी की नीति का संकेत नहीं देती है।

24.3 परिभाषा और विशिष्टताएं

हम गुट-निरपेक्षता को एक ऐसी अभिवृत्ति (नीति) के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो युद्धोपरांत छोटे राष्ट्रों, विशेषतः एशिया के नए स्वतंत्र देशों, की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता के फलस्वरूप विकसित हुई।

गुट-निरपेक्षता को, कुछ लोगों/देशों ने तटस्थवाद के रूप में गलत समझा। परंतु यह ध्यान रहे कि गुट-निरपेक्षता एक सकारात्मक धारणा है जो तटस्थवाद की नकारात्मक धारणा से बहुत भिन्न है। एक गुट-निरपेक्ष राष्ट्र किसी संघर्ष में भाग लेने से न केवल इंकार करता है, बल्कि अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक घटना के गुण-दोषों का अध्ययन भी करता है। इस प्रकार गुट-निरपेक्षता तटस्थवाद की निष्क्रियता के बजाय राष्ट्रों के लिए एक सक्रिय भूमिका प्रस्तुत करती है। गुट-निरपेक्षता की इस सकारात्मक और सक्रिय प्रवृत्ति के बल पर बाद में एक सफल आंदोलन विकसित हुआ जिसने छोटे देशों को अपने हितों में विश्व के राजनैतिक और आर्थिक संबंधों की पुनर्व्यवस्था के लिए संघर्ष करने हेतु मंच प्रदान किया।

कुछ अन्यों ने गुट-निरपेक्षता की आलोचना अवसरवादिता के रूप में की है जो एक शक्ति के विरुद्ध दूसरी को सामने कर अथवा दोनों गुटों से आर्थिक लाभ प्राप्त करती है। यह भी गुट-निरपेक्षता की धारणा की गलत व्याख्या है। एक नीति के रूप में गुट-निरपेक्षता को किन्हीं अवसरवादी लाभों के लिए नहीं अपनाया गया था। यह सत्य है कि कुछ देशों ने दोनों ही गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त की। परन्तु इस प्रकार की स्थिति तब उत्पन्न हुई जब एक या दोनों ही महाशक्तियों ने किसी विशेष गुट-निरपेक्ष राष्ट्र को विरोधी शक्ति के प्रभाव से दूर करना चाहा हो। इसी प्रकार यह कहना ठीक नहीं है कि किसी गुट-निरपेक्ष राष्ट्र ने कभी भी एक महाशक्ति को दूसरे के विरुद्ध लड़ाने की कोशिश की। यदि किसी गुट-निरपेक्ष राष्ट्र ने एक महाशक्ति के साथ मित्रतापूर्ण संबंध विकसित करने में सफलता प्राप्त की तो इसका तात्पर्य यह है कि किसी महत्वपूर्ण मुद्दे पर उस देश के और उस महाशक्ति और उसके गुट के हितों में समानता पायी गई होगी।

गुट-निरपेक्षता के विरुद्ध एक और आलोचना यह रही है कि विश्व के दो प्रतिद्वन्द्वी खेमों में बंटने के प्रति इसकी आपत्ति के बावजूद स्वयं इसने विश्व में एक तीसरे गुट का निर्माण कर दिया है। यह आरोप भी सही नहीं है। गुट-निरपेक्ष वर्ग को एक "खेमा" नहीं कहा जा सकता। एक खेमे में एक नेता की आवश्यकता होती है जिसके चारों ओर उसके सम्पूर्ण गतिविधियां चलती हैं। जबकि, इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसा कोई राष्ट्र नहीं है, जो आर्थिक या सैन्य रूप से सर्वश्रेष्ठ हो, जिससे यह वर्ग का नेता बन जाए। दूसरे, सभी गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की सम्मिलित सैन्य शक्ति भी उतनी सैन्य क्षमता के बराबर न होगी जो एक गुट की स्थापना के लिए आवश्यक होती है। अंतिम बात यह कि, गुट-निरपेक्ष वर्ग कभी भी एक सैन्य-गुट के रूप में एक रूप नहीं हो सकता क्योंकि इसके सदस्य राष्ट्र पूर्ण रूप से समान विदेश नीति का पालन नहीं करते हैं। गुट-निरपेक्षता पर ये राष्ट्र आपस में सहमति रखते हैं वह उनकी विदेश-नीति का केवल एक पहलू है। क्षेत्रीय और अन्य हितों के लिए अपनी नीति पर वे अन्य कई मुद्दों पर आपस में मतभेद रख सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास हुआ?

.....

.....

.....

.....

2) निम्न वाक्यों में से कौन से सही या गलत हैं। √ या × द्वारा चिन्हित करें।

अ) स्वतंत्र हुए नए राष्ट्रों ने गुट-निरपेक्षता का मार्ग इसलिए अपनाया क्योंकि विश्व युद्ध में गठबन्धनों और शास्त्रों के निर्माण के परिणामस्वरूप इन पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले देशों को नव-साम्राज्यवादी आधिपत्य का खतरा महसूस हुआ ( )

ब) गुट-निरपेक्षता की नीति साम्राज्यवाद-विरोधी प्रकृति की है क्योंकि यह किसी देश पर बाहरी प्रभुत्व या नियंत्रण को स्वीकार नहीं करती है। ( )

स) युगोस्लाविया ने गुट-निरपेक्षता का रास्ता इसलिए नहीं अपनाया क्योंकि इसे सोवियत संघ की प्रभुत्वशाली भूमिका से खतरा नहीं था। ( )

द) गुट-निरपेक्षता का अर्थ दोनों महाशक्तियों से समान दूरी रखना नहीं था और यह एक ऐसी अभिवृत्ति है जो विश्व राजनीति में स्वतन्त्र नीति पर बल देती है। ( )

य) गुट-निरपेक्षता को तटस्थवाद भी कहा जा सकता है। ( )

र) गुट-निरपेक्ष वर्ग को एक तीसरा गुट नहीं कहा जा सकता है। ( )

24.4 गुट-निरपेक्ष आंदोलन का विकास

गुट-निरपेक्ष आंदोलन की शुरुआत किसी एक विशेष दिन से नहीं हुई। यह अलग-अलग गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा महाशक्तियों और नव-साम्राज्यवादी प्रभुत्व के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप धीरे-धीरे विकसित हुआ। भारत के जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के गमाल अब्दल नासिर और युगोस्लाविया के जोसिप ब्रोज टीटो ने आंदोलन को गठित करने की दिशा में प्रथम कदम उठाए। इन प्रथम निर्माताओं में से नेहरू को विशेष रूप से याद किया जाएगा। बढ़ते हुए नव-साम्राज्यवाद और इसके परिणामस्वरूप छोटे देशों में असुरक्षा की भावना से संबंधित उनके शुरुआती विचारों ने इस आंदोलन को बनाने में प्रमुख योगदान दिया। नेहरू का मानना था कि एशिया और अफ्रीका के देशों को नव-साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई हेतु एक एकजुटता वाला गठबंधन बनाना चाहिए। इस दिशा में प्रथम कदम उठाते हुए उन्होंने पाँचवें दशक में एक एशियाई मोर्चा संगठित किया। 1947 में उन्होंने नई दिल्ली में एक एशियाई संबंध सम्मेलन आयोजित किया। छठवें दशक में अफ्रीकी देशों द्वारा औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के परिणामस्वरूप इस मोर्चे के आधार को विस्तृत करना आवश्यक हो गया। अतः अप्रैल 1955 में, नेहरू ने इण्डोनेशिया, बर्मा, श्रीलंका और पाकिस्तान के नेताओं के साथ मिलकर बांडुन्ग (इण्डोनेशिया) में एक अफ्रो-एशियाई सम्मेलन आयोजित किया। इन दोनों सम्मेलनों में उस समय नए स्वतन्त्र राष्ट्रों पर छाए राजनैतिक और आर्थिक असुरक्षा के खतरे को उजागर किया गया। लेकिन, बांडुन्ग सम्मेलन एक समांगी एशियाई-अफ्रीकी मोर्चा बनाने में असफल रहा क्योंकि कई एशियाई और अफ्रीकी देशों ने अपने विदेश-संबंधों को नव-साम्राज्यवाद विरोधी झंडे तले संचालित करने से इंकार कर दिया। वे या तो पहले ही विभिन्न पश्चिमी सैन्य गठबन्धनों में शामिल हो गये थे या उन्होंने अपने हितों को पश्चिमी देशों के हितों के समान पाया था। दोनों गुटों में मतभेद बांडुन्ग सम्मेलन में ही स्पष्ट हो गए थे। बांडुन्ग के बाद के वर्षों में क्षेत्र के आधार पर नहीं बल्कि सिद्धांतों के आधार पर गुट-निरपेक्ष देशों की पहचान बनाना आवश्यक हो गया। इस नीति के कारण ये राष्ट्र युगोस्लाविया के साथ एकजुट हो गये, जो इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी राजनीतिक पहचान बनाने का प्रयास कर रहा था। बाद में होने वाले गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों की भूमिका के रूप में प्रथम संगोष्ठी जून 1956 में, ब्रिओनी (युगोस्लाविया) में सम्पन्न हुई। यहां टीटो ने नेहरू और नासिर के साथ उनके बीच के अघोषित बन्धन को मूर्त रूप प्रदान करने की संभावना पर परामर्श किया। इस दिशा में प्रयास जारी रहे जिनके परिणामस्वरूप अंत में, 1961 में बेलग्रेड में प्रथम गुट-निरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन हुआ।

फिर भी, ऐसा नहीं था कि प्रथम सम्मेलन के आयोजन के साथ ही यह आंदोलन एक सुस्पष्ट मार्ग पर चल पड़ा। सातवें दशक तक भी गुट-निरपेक्ष देश स्थायित्व की समस्या से जूझ रहे थे। इसके परिणामस्वरूप पहले दशक में आंदोलन पूर्ण रूप से तदर्थवाद पर आधारित रहा। तीन वर्षों पश्चात् काहिरा में दूसरा सम्मेलन हुआ परन्तु इसे प्रथम सम्मेलन को जारी रखने वाले सम्मेलन के रूप में नहीं लिया गया। यह अलग तरीके से आयोजित किया गया था क्योंकि आंदोलन ने किसी संस्थागत संरचना की स्थापना नहीं की थी जो द्वितीय सम्मेलन को प्रथम के साथ औपचारिक रूप से जोड़ सके। 1964 के पश्चात् गुट-निरपेक्ष देशों के प्रतिनिधि और मंत्री संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी विभिन्न शाखाओं में अपनी गतिविधियों को समन्वित करने हेतु आपस में मिलते रहे। परन्तु सातवें दशक में ये प्रयास तदर्थ और अनिश्चित प्रकृति के थे। आठवें दशक में सदस्यता में वृद्धि के साथ आंदोलन ने एक संस्थागत चरित्र प्राप्त किया। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की क्रियाशीलता को कारगर बनाने हेतु प्रयास किए गए। उदाहरण के तौर पर, 1970 में लुसाका में आयोजित तीसरे सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में गुट-निरपेक्ष देशों का सम्मेलन तीन वर्ष के अंतराल से नियमित रूप से आयोजित किया जाना चाहिए और अंतिम सम्मेलन का मेजबान देश बीच की अवधि के दौरान आंदोलन के अध्यक्ष और प्रवक्ता की हैसियत से कार्य करे। अध्यक्ष का कार्य सदस्य राष्ट्रों के मध्य संबंध बनाये रखना, आंदोलन में निरन्तरता को सुनिश्चित करना एवं सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों, निर्णयों और निर्देशों को लागू करना था। दो वर्षों बाद जार्जटाउन में संपन्न विदेश मंत्रियों की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में गुट-निरपेक्ष राष्ट्र प्रत्येक दो वर्षों में आपसी हितों के आर्थिक मामलों पर विचार करने हेतु आपस में मिलेंगे और क्षेत्रीय आधार पर चयनित चार सदस्य राष्ट्र, गुट-निरपेक्ष देशों और अन्य विकासशील देशों के मध्य आर्थिक विषयों पर सहयोग को समन्वित करेंगे।

शिखर और अन्य सम्मेलनों की तैयारी हेतु अप्रैल 1970 में, दारेस्सलाम में एक स्थायी समिति का चयन किया गया। 16 राष्ट्रों वाली समिति ने लुसाका सम्मेलन के लिए तैयारी समिति के रूप में कार्य किया। बाद में इसी समिति ने दोबारा चयनित होकर 1972 के जार्जटाउन मंत्रीय सम्मेलन और 1973 के अल्जीयर्स शिखर सम्मेलन के पूर्व उसी तरह कार्य किया। इस कमेटी को 1973 में अल्जीयर्स में आयोजित चौथे शिखर सम्मेलन द्वारा गठित समन्वयी ब्यूरो का अग्रदूत कहा जा सकता है। कोलम्बो में आयोजित अगले सम्मेलन ने इस ब्यूरो के गठन और अधिकारों को विस्तृत किया।

आज यह समन्वयी ब्यूरो इस आंदोलन के प्रमुख अंग के रूप में विकसित हो गया है। दो सम्मेलनों के बीच की अवधि में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की सभी गतिविधियों को समन्वित करने के लिए यह ब्यूरो उत्तरदायी है। इस ब्यूरो के सदस्यों का चयन राष्ट्राध्यक्षों के सम्मेलन द्वारा संतुलित भौगोलिक विभाजन, निरन्तरता और अनुक्रम के आधार पर किया जाता है। इस ब्यूरो की विदेश-मंत्रियों अथवा सरकार के विशेष प्रतिनिधियों के स्तर पर, वर्ष में एक बार बैठक होती है। संयुक्त राष्ट्र में गुट-निरपेक्ष देशों के स्थायी प्रतिनिधियों के स्तर पर इसकी प्रति माह बैठक होती

है। समन्वयी ब्यूरो के पूर्ण विकसित होने से गुट-निरपेक्ष आंदोलन एक मतभेद युक्त अनियत रूप आंदोलन की स्थिति से एक ऐसे आंदोलन में परिवर्तित हो गया है जो आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यन्त संगठित, मुखर और सक्रिय है। संयुक्त राष्ट्र में यह एक शक्तिशाली गुट के रूप में कार्य करता है जिसकी राजनीतिक महत्ता की शायद ही कोई राष्ट्र अवज्ञा कर सके। अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों से संबंधित मामलों में गुट-निरपेक्ष समूह अपना स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है जो अक्सर अंतिम हल ढूंढने में प्रमुख योगदान देता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी i) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1) गुट-निरपेक्ष आंदोलन के विकास में जवाहरलाल नेहरू का क्या योगदान रहा?

.....

.....

.....

.....

24.5 गुट-निरपेक्ष आंदोलन के सिद्धांत

अब हम उन सिद्धांतों पर विचार करेंगे जिनका व्यवहार में गुट-निरपेक्ष आंदोलन समर्थन करता है।

24.5.1 शांति और निरस्त्रीकरण

गुट-निरपेक्ष आंदोलन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत शांति और निरस्त्रीकरण रहा है। इसने महाशक्तियों के मध्य संघर्ष और विवाद को समाप्त करने का आग्रह किया। गुट-निरपेक्ष देशों के अनुसार युद्ध या शीत युद्ध अपरिहार्य नहीं है। उनके अनुसार विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राष्ट्रों को शांति भंग किए बिना एक दूसरे के साथ सह-अस्तित्व की भावना से रहना चाहिए और उनकी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व ही विश्व शांति की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

केवल महाशक्तियों के मध्य संघर्ष को टालना ही पर्याप्त नहीं समझा गया, क्योंकि शांति को न केवल महाशक्तियों के संघर्ष से वरन् अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अप्रजातांत्रिक स्वरूप से भी खतरा हो सकता है। गुट-निरपेक्ष देश विशेष रूप से इस तथ्य से परिचित हैं कि विश्व-राजनीति के निर्धारण में उनकी बहुत सीमित भूमिका है, जिस पर बड़े देशों का प्रभुत्व है। गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने इस अवास्तविक स्थिति को समाप्त करने का आह्वान किया है। इसने राष्ट्रों के आचरण संबंधी कुछ निश्चित नियमों को बनाने की दिशा में प्रयास किए जिससे छोटे देशों की विश्व राजनीति में सार्थक भागीदारी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को लोकतांत्रिक बनाया जा सके।

स्थायी शांति हेतु आंदोलन द्वारा रखी गई तीसरी आवश्यक शर्त निरस्त्रीकरण की है। इस बात पर बल दिया गया है कि शस्त्रों की होड़ समाप्त की जाए, क्योंकि यह विभिन्न तरीकों से मानव-दुर्दशा के लिए जिम्मेदार है। शस्त्र-उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि युद्ध के संकट को बढ़ाती है। इससे राष्ट्रों के स्रोतों का एक बड़ा हिस्सा अनुत्पादक क्षेत्रों में चला जाता है जिससे पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं के लिए महंगाई और बेरोजगारी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में उपभोग वस्तुओं की विकट समस्या उत्पन्न होती है। अंत में, यह आरोप लगाया जाता है कि शस्त्रों की आसान आपूर्ति ने एक विश्व शस्त्र संस्कृति की स्थापना कर दी है जिसके अनुसार शस्त्रों के क्रय, उत्पादन और प्रोत्साहन द्वारा सभी विस्फोटक समस्याओं का हल संभव है। गुट-निरपेक्ष आंदोलन विशेष रूप से विकासशील देशों की दुर्दशा की ओर ध्यान खींचता है जो इस संस्कृति के प्रभाव में अपने अपर्याप्त साधनों का उपयोग लोक-कल्याण और विकास-कार्यों की जगह या तो बड़ी मात्रा में शस्त्रों को महाशक्तियों से खरीदने में या उन्हें स्वदेश में ही निर्मित करने में लगाते हैं। अतः हाल ही के वर्षों में आंदोलन ने अविकसित और पिछड़े देशों की आर्थिक प्रगति और शांति से अधिक निरस्त्रीकरण के विश्वव्यापी मुद्दे के समर्थन में अपने विचार रखे हैं।

24.5.2 आत्म-निर्णय का अधिकार और प्रजातीन समानता

गुट-निरपेक्षता का दूसरा सिद्धांत विश्व के समस्त लोगों और उनके मध्य प्रजातीय समानता के लिए दो प्रकार का आत्म-निर्णय का अधिकार है।

प्रथम, यूरोपीय शक्तियों के औपनिवेशिक शासन से राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना। सातवें दशक के गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में चर्चा का मुख्य विषय इसी के इर्द-गिर्द रहा। बेलग्रेड और काहिरा के दोनों सम्मेलनों में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों द्वारा समकालीन राष्ट्रीय आंदोलनों को नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक सहयोग प्रदान करने की प्रतिज्ञा ली गई। इन आंदोलनों को नेतृत्व देने वाले संगठनों को इन सम्मेलनों के पूर्ण सदस्य का दर्जा दिया गया। इन आंदोलनों

को समर्थन देते हुए सातवें दशक में गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने उपनिवेशों द्वारा चलाए जा रहे सशस्त्र संघर्षों का अनुमोदन किया, क्योंकि इन्हें आंदोलन, महाशक्तियों के मध्य उस सशस्त्र संघर्ष के विपरीत न्यायसंगत और आवश्यक मानता था जिसका वह कट्टर विरोधी था।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा समर्थित दूसरे प्रकार का आत्म-निर्णय छोटे राष्ट्रों की सुरक्षा और भौगोलिक अखंडता के लिए खतरा पैदा करने वाले सभी प्रकार के साम्राज्यवादी और नव-साम्राज्यवादी दबाव, हस्तक्षेप और प्रभुत्व से मुक्ति का है। इस प्रकार के समर्थन से गुट-निरपेक्ष आंदोलन का वास्ता भिन्न-भिन्न समस्याओं से पड़ा है। पश्चिम एशिया में इसने फिलिस्तीनी लोगों के मातृभूमि के अधिकार का समर्थन किया है और पश्चिमी शक्तियों के गुप्त सहयोग से इजरायल द्वारा शारीरिक विनाश और वहां के मूलवासियों के विस्थापन की नीति की भर्त्सना की है। इससे पूर्व वियतनाम के सन्दर्भ में इसने वियतनामी जनता के, उनकी पसंद की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था चुनने के अधिकार का अनुमोदन किया। सातवें और आठवें दशकों में दक्षिण रोडेशिया (आधुनिक जिम्बाब्वे) की जातिवादी अल्पसंख्यक सरकार के विरुद्ध अश्वेत बहुसंख्यकों के संघर्ष के प्रति आंदोलन की सहानुभूति रही, और उसने बहुसंख्यकों को स्वतंत्रता प्रदत्त करने में ब्रिटिश सरकारों की असफलता की भर्त्सना की। लेटिन अमेरिका में, उदाहरणार्थ क्यूबा में, गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने अमेरिकी सुरक्षा में पनपी शोषणकारी स्थानीय सत्ताओं के विरुद्ध नव-उपनिवेशवाद-विरोधी आदोलनों को समर्थन प्रदान किया।

आत्म-निर्णय के अधिकार के अन्तर्गत ही आंदोलन ने द. अफ्रीका की रंगभेद नीति द्वारा प्रजातीय अन्याय और शोषण की निन्दा की। आंदोलन दक्षिण अफ्रीका और नामीबिया के बहुसंख्यक अफ्रीकियों के अधिकारों के उल्लंघन को उस महाद्वीप में न्याय और शांति की स्थापना में बड़ी रुकावट मानता है। कई वर्षों के लम्बे संघर्ष के बाद नामीबिया ने हाल ही में स्वतंत्रता प्राप्त की। परन्तु अश्वेत द. अफ्रीका के लिये गुट-निरपेक्ष आंदोलन आज भी समर्थन का एक प्रमुख आधार बना हुआ है।

24.5.3 आर्थिक समानता और नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (नीओ)

गुट-निरपेक्ष आंदोलन का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत आर्थिक समानता से संबंधित है। इस सिद्धांत के आधार पर गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का आह्वान किया।

औपनिवेशिक शासन से मुक्त नए राष्ट्रों ने छटवें और सातवें दशक में यह पाया कि उनकी राजनीतिक सम्प्रभुता से उनके असमान आर्थिक दर्जे में परिवर्तन नहीं हुआ है। वे अब भी कच्चा माल पैदा करने वाले देश ही रहे जिन्हें स्थायी रूप से व्यापार की प्रतिकूल शर्तों से हानि उठानी पड़ती थी। वे अपनी वस्तुएं विकसित देशों को कम कीमत पर बेचकर उसी स्रोत से तैयार माल को ऊँची दर पर खरीदने को मजबूर थे। उनके अधिकांश उद्योग औपनिवेशिक काल में आरंभ किए गए थे और वे अब भी विदेशी पूंजी निवेश पर निर्भर थे। उदार आर्थिक व्यवस्थाओं को ठुकराकर कोमेकोन (COMECON) का गठन करने वाले समाजवादी देशों से भिन्न इन देशों की दुर्दशा यह थी कि उन्हें अनिवार्य रूप से उस आर्थिक व्यवस्था से जुड़े रहना पड़ा जो उनके लिए शोषणकारी थी। इससे खराब स्थिति यह कि पूंजीगत माल, वित्त और प्रौद्योगिकी हेतु विकसित अर्थव्यवस्थाओं पर उनकी निर्भरता उनकी आर्थिक विकास में तेजी के साथ और भी बढ़ेगी। अतएव इन देशों के सामने समस्या यह है कि इस निर्भरता और उनकी आर्थिक गतिविधियों पर समानता और सम्प्रभुता की आकांक्षा के मध्य किस प्रकार सामंजस्य स्थापित हो।

इस समस्या के हल के लिये गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने कुछ प्रमुख बातों पर बल दिया है। इनमें से प्रथम विकासशील देशों की आर्थिक सम्प्रभुता है। बेलग्रेड से आज तक के सभी सम्मेलनों के घोषणा पत्रों में गुट-निरपेक्ष देशों ने अपने प्राकृतिक साधनों और आर्थिक गतिविधियों पर स्थायी सम्प्रभुता पर बल दिया है। उन्होंने अपनी पसंद की आर्थिक व्यवस्था अपनाने के अधिकार पर भी बल दिया है।

दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा, आंदोलन के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तीसरे विश्व के साथ न्याय का रहा है। इसने तथाकथित मुक्त व्यापार के जी.ए.टी.टी. (जनरल ऐग्रीमेंट, ऑन टैरिफ ऐंड ट्रेड—शुल्कदर और व्यापार पर सामान्य समझौता) नियमों में संशोधन की मांग की, जो राष्ट्रों के मध्य सीमा-शुल्कों और आयात-कोटों की प्रयोजनीयता में बिना भेद-भाव और व्यापार-समझौतों में सुविधाओं के आदान-प्रदान के सिद्धांतों पर आधारित है। अपनी कम विकास-दर को देखते हुए, गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने अपना यह अधिकार समझा कि वे आयात-नियंत्रण और विकसित देशों पर उच्च-शुल्क व्यवस्था द्वारा अपने विदेश-व्यापार में हस्तक्षेप कर सकें। इसी आधार पर उन्होंने विकसित देशों की रियायतें समाप्त करनी चाहीं।

तीसरे, गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने यह भी मांग रखी कि विकसित देशों के बाजारों में उनके कच्चे माल और तैयार माल को बिना शुल्क और शुल्क-रहित प्रतिरोधों के, सीधा प्रवेश मिले।

इस संदर्भ में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने औद्योगिकी के स्थानांतरण की समस्या और बहु-राष्ट्रीय निगमों की भूमिका की बात भी उठायी जिससे उनकी सम्प्रभुता पर आँच आती है। उन्होंने बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्य-प्रणालियों की सामान्य तौर पर निन्दा करते हुए उचित शर्तों पर, और गैर-कानूनी प्रतिबंधों से मुक्त परिस्थितियों में प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण की मांग रखी।

गुट-ानरपक्ष राष्ट्रों ने अपनी भुगतान-संतुलन संबंधी समस्याओं को देखते हुए विकासशील देशों को इस संकट से उबरने हेतु क्षतिपूरक (अनुपूरक) वित्तीय व्यवस्था की मांग उठायी। उपलब्ध बाहरी सहायता को बढ़ाने हेतु उन्होंने विशेष आहरण अधिकार (एस.डी.आर) के गठन और विकासात्मक मदद की व्यवस्था के मध्य स्थापित करने का आग्रह किया। उनके अनुसार अल्प-विकसित देशों को एस.डी.आर का सीधा आवंटन होना चाहिए। गुट-निरपेक्ष देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में स्वयं की अधिक भूमिका पर भी बल दिया है।

24.5.4 सांस्कृतिक स्वतंत्रता

पिछले दो दशकों के दौरान गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने अपना ध्यान पश्चिमी संचार व्यवस्थाओं द्वारा सांस्कृतिक प्रभुत्व की समस्या की ओर लगाया है। इस प्रभुत्व को तीसरी दुनिया में कई प्रकार से अनुभव किया जाता है। पहले, पश्चिमी माध्यमों द्वारा दी गई सूचनाएं अक्सर इन समाजों के पारंपरिक मूल्यों को नष्ट कर विश्व बाजार अर्थव्यवस्था से जुड़ी उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म देती हैं। दूसरे, कई बार इन माध्यमों की सूचनाओं का उपभोग पश्चिमी देशों की विदेश नीति का अनुकरण करने हेतु किया जाता है। इस प्रकार की सांस्कृतिक घुसपैठ तीसरी दुनिया के किसी देश की राजनीतिक सम्प्रभुता को, बिना किसी सीधे दबाव के, नष्ट कर सकती है। संचार माध्यमों की ये सूचनाएं तब और भी अधिक विनाशकारी हो जाती हैं जब वे तीसरी दुनिया के देशों से संबंधित तथ्यों के सायास तोड़-मरोड़ पर आधारित होती हैं। यह तोड़-मरोड़ किसी समस्या पर विश्व जनमत को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि इन देशों के आसपास के क्षेत्र की शांति और सुरक्षा के लिए खतरा भी पैदा करती हैं।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की इस समस्या से जूझते हुए गुट-निरपेक्ष आंदोलन एक गुट-निरपेक्ष समाचार संघ की स्थापना की। इस समाचार संघ के गठन ने पश्चिमी माध्यमों के एकाधिकार को समाप्त कर दिया है और इसे सही सूचना के स्वतंत्र प्रवाह की दिशा में एक बड़ा कदम समझा गया है। सूचना-प्राप्ति हेतु, गुट-निरपेक्ष देश अब एक दूसरे के सहयोग पर और आंदोलन के भीतर ही विकसित क्षैतिजीव (या, समान स्तर की) सहलग्नता पर अधिक निर्भर रहते हैं, पुरानी संचार सूचनाओं पर कम।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा शांति को कायम रखने हेतु इनमें से कौन-सी पूर्व शर्त नहीं है?

अ) सैन्य गुटों की समाप्ति

ब) शस्त्रीकरण

स) महाशक्तियों के मध्य संघर्ष को टालना

द) अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को लोकतंत्रीय बनाना

2) इनमें से कौन-सा कथन सही है?

अ) राजनैतिक स्वतंत्रता एक प्रकार का आत्म-निर्णय है जिसको गुट-निरपेक्ष आंदोलन समर्थन देता है।

ब) गुट-निरपेक्ष देशों ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को पुनर्व्यवस्थित करने की मांग इसलिये उठायी क्योंकि औपनिवेशिक शोषण ने उन्हें असमान आर्थिक हिस्सेदार बना दिया था।

स) गुट-निरपेक्ष आंदोलन विकासशील देशों की आर्थिक सम्प्रभुता पर बल नहीं देता।

द) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अच्छा बरताव, गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा रखी गई एक आर्थिक मांग है।

24.6 आंदोलन की उपलब्धियां

गुट-निरपेक्ष आंदोलन इतिहास के पृष्ठों पर अंकित सफलतम आंदोलनों में से एक है। इसके द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के समर्थन से युद्धोपरांत वर्षों में उपनिवेशवाद के विखण्डन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। अफ्रीकी महाद्वीप के संबंध में यह विशेष रूप से सत्य है जहां सातवें और आठवें दशकों में, उत्तर में अल्जीरिया से दक्षिण में अंगोला और मोजाम्बिक तक को हिला देने वाले सशस्त्र संघर्षों को गुट-निरपेक्ष आंदोलन द्वारा समर्थन देने से उनकी स्वतंत्रता अधिक जल्दी संभव हुई।

गुट-निरपेक्षता के कारण विश्व में शांति की संभावनाएं गहरी हुईं और इसने शीत युद्ध के तनाव को कम करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांतों के लिये प्रतिबद्ध है इसलिये उपनिवेशवाद के विखण्डन की प्रक्रिया की गति तेज होने के साथ अधिक से अधिक नए राष्ट्रों ने आंदोलन की सदस्यता ग्रहण की। इससे और अधिक राष्ट्रों द्वारा गठबन्धन (खेमों) व्यवस्थाओं में जाने की संभावनाएं कम हो गईं।

उपनिवेशवाद के विखण्डन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए गुट-निरपेक्षता ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के संयोजन को परिवर्तित करने में सफलता पाई और इसके परिणामस्वरूप इसके द्वारा संचालित अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दिशा में भी परिवर्तन हुआ। पांचवें और छठवें दशकों में सं.रा.सं. के अंगों में भी विचार-विमर्श के दौरान महाशक्तियां और उनके सहयोगी राष्ट्र हावी रहते थे। गुट-निरपेक्षता के आने से यह स्थिति बदल गयी। इसने न केवल सामान्य सभा में एक नया मतदाता बहुसंख्यक वर्ग पैदा किया बल्कि एक साझा मोर्चा भी, जहां से तीसरी दुनिया अपने लिए आवाज उठा सके। इस मोर्चे की अवहेलना करना अब संभव नहीं है। आज तीसरी दुनिया के विचारों को इतने प्रभावशाली ढंग से संयुक्त राष्ट्र संघ में रखा जाता है कि अक्सर वे विकसित दुनिया के विचारों पर भारी पड़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुट-निरपेक्षता ने विश्व-राजनीति में तीसरी दुनिया की हिस्सेदारी को बढ़ा दिया है और इस प्रक्रिया में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रजातांत्रिक बना दिया है।

आर्थिक न्याय हेतु गुट-निरपेक्ष आंदोलन के संघर्ष ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि विश्व को पूर्व और पश्चिम में बाँटने की बजाय उत्तर व दक्षिण में विभाजित करना अधिक यथार्थवादी होगा। इसने प्रदर्शित किया कि बहुसंख्यक मानवता की चिंता का विषय पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य चयन नहीं बल्कि निर्धनता और समृद्धि के मध्य चयन है। गुट-निरपेक्षता के विचारों ने एक सीमा तक विकसित देशों को भी अनुभव करवा दिया कि तीसरी दुनिया की आर्थिक हानि का इनकी संपन्नता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसने, एक बड़ी सीमा तक, उन्हें तीसरी दुनिया की आर्थिक मांगों पर बातचीत शुरू करने को बाध्य करने के अलावा कुछ विशिष्ट मुद्दों पर भी अपनी लड़ाई जीती है। उदाहरण के तौर पर, प्राकृतिक साधनों पर आर्थिक सम्प्रभुता के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है। गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने विकासशील देशों द्वारा अपनाई जाने वाली हस्तक्षेपीय व्यापार-नीति को वैधता दिलाने में भी सफलता प्राप्त की है। इसने सफलतापूर्वक विश्व-जनमत का ध्यान, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका से, विशेष रूप से प्रौद्योगिकी स्थानान्तरण के संदर्भ में, उत्पन्न समस्याओं की ओर खींचा। इसने आई.एम.एफ. (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) को अनुपूरक वित्तीय व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में प्रेरित करने में सफलता प्राप्त की जिसके फलस्वरूप विकासशील देशों को अपने भुगतान-संतुलन संबंधित समस्याओं से उबरने में सहायता प्राप्त होती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में समाचार एजेन्सियों के संघ की स्थापना आंदोलन की एक उपलब्धि मानी जाएगी। इतिहास में पहली बार राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्रों के लिए सूचनाएं प्राप्त कर उन्हें बाहरी दुनिया को बिना किसी पश्चिमी संचार व्यवस्था के संचारित करना संभव हुआ।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इसने विकासशील देशों को, विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में रहते हुए, पूंजी और प्रौद्योगिकी के लिए विकसित देशों पर निर्भर होने के बजाय स्वतंत्र आर्थिक विकास के मार्ग पर चलना सिखाया। भारत जैसा देश यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार एक नवीन स्वतंत्र गुट-निरपेक्ष देश पिछड़ी अर्थव्यवस्था के साथी भी, राजनीतिक और आर्थिक दबावों का सामना करते हुए विकसित देशों के साथ अपने आर्थिक संबंधों का लाभ उठाते हुए आगे बढ़ सकता है। सदस्य राष्ट्रों को विकास के इस मार्ग पर बढ़ने देने हेतु गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने उन राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की रणनीति प्रस्तुत की। इसके द्वारा प्रोत्साहित दक्षिण-दक्षिण सहयोग के सिद्धांत ने कई छोटे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों को इस योग्य बनाया कि वे भारत जैसे बड़े देशों द्वारा अपनाये जाने वाले आर्थिक विकास के मार्ग को अपना सकें।

24.7 आंदोलन का भविष्य

गुट-निरपेक्षता का विकास शीत युद्ध के विशिष्ट सन्दर्भ में हुआ, इसलिए इसकी भविष्य की संभावनाओं पर 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में ही उस समय प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया जब शीत युद्ध तनाव काफी हद तक कम हो गया। कई लोगों ने सोचा कि गुट-निरपेक्षता की अब आवश्यकता नहीं रही। इसके भविष्य के संदर्भ में यह आशंका तब अलग धर दी गयी जब आठवें दशक में गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने अपना ध्यान राजनैतिक सवालों से हटा कर आर्थिक सवालों पर केन्द्रित किया। आज यह कहा जाता है कि चूंकि विकसित देश अपने हितों के लिए बनी व्यवस्थाओं में कभी भी आधारभूत परिवर्तन के लिए सहमत नहीं होंगे, इसलिये विकासशील दुनिया के लिए एक आदर्श नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना एक दूर का स्वप्न मात्र बनी रहेगी। गुट-निरपेक्ष आंदोलन ने अब तक जो कुछ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है वह संभवतया लाभों या छूट की अधिकतम सीमा है जो समृद्ध देश प्रदान करने को सहमत हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भविष्य में भी आर्थिक मोर्चे पर आंदोलन को बहुत कम सफलता की संभावना है। और यह तर्क दिया जाता है कि इसी कारण आंदोलन को जीवित रखना आवश्यक नहीं रह जायेगा।

हाल ही के वर्षों में रूस और पूर्वी यूरोप में पेरेस्त्रोइका के प्रभाव और उदारवादी परिवर्तनों ने भविष्य में गुट-निरपेक्ष आंदोलन के विकास को हतोत्साहित करने में सहयोग दिया है। पेरेस्त्रोइका ने न केवल कम्युनिस्ट देशों में स्थापित राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को गिरा दिया है बल्कि आधी शताब्दी पुराने शीत युद्ध को भी समाप्त कर दिया है। अमेरिका और रूस अब राजनैतिक दुश्मन नहीं हैं। वास्तव में, वे धीरे-धीरे अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर पूर्ण सहमति की स्थिति पर पहुंच रहे हैं। इन परिस्थितियों में, गुट-निरपेक्षता को अपने लिए द्विध्रुवीकरण की धारणा से मुक्त हो रहे इस विश्व में, प्रासंगिकता प्राप्त करनी होगी।

फिर भी, गुट-निरपेक्ष आंदोलन के लिए एक निराशाजनक भविष्य की तस्वीर खींचना बहुत जल्दबाजी होगी। जब तक आर्थिक असमानता और अन्याय से यह विश्व उत्तर और दक्षिण में विभाजित रहेगा, गुट-निरपेक्ष आंदोलन को तीसरी दुनिया की समस्याओं के प्रतिनिधित्व की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभानी होगी। आर्थिक हालात में प्रगति से सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप का एकीकरण संपन्न देशों के साथ हो जाने की स्थिति में यह कार्य और भी महत्वपूर्ण हो जायेगा। पश्चिमी यूरोप और अमेरिका यूरोप के कम्युनिस्ट देशों को उनके आर्थिक संकट से उबारने को तैयार हैं। यदि यह प्रक्रिया सफल हो जाती है तो तीसरी दुनिया के देशों को पूर्व और पश्चिम के एकीकृत समृद्धशाली देशों से मुकाबला करना पड़ सकता है। अभी तक समाजवादी देशों ने विकासशील देशों की आर्थिक मांगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया था क्योंकि वे स्वयं पश्चिमी देशों द्वारा हासिल विशेषाधिकारों से रिक्त थे। यदि ये देश समृद्ध और वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के अभिन्न अंग बनते हैं तो अल्पविकसित देशों के प्रति उनकी वही सहानुभूति और चिन्ता न रह पायेगी। उस परिस्थिति में गुट-निरपेक्ष आंदोलन को विकासशील देशों के आर्थिक अधिकारों की रक्षा हेतु एक प्रभावशाली भूमिका के निर्वाहन हेतु तैयार रहना होगा।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1) गुट-निरपेक्ष आंदोलन की उपलब्धियों का वर्णन कीजिये।

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या भविष्य में गुट-निरपेक्ष आंदोलन कोई उपयोगी भूमिका निभा पायेगा?

.....

.....

.....

.....

24.8 सारांश

युद्धकालीन मित्रों के मध्य आपसी संदेह और अविश्वास ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारें स्थापित कीं। इसके फलस्वरूप शीत युद्ध प्रारंभ हुआ और दो प्रतिद्वन्द्वी सैन्य गठबन्धनों के संगठन निर्मित हुए। अमेरिका ने साम्यवादी विचारधारा को बुराई बताते हुए यह निश्चय किया कि वह यूरोप में ही नहीं, बल्कि जहां कहीं भी इसका प्रभाव है वहां इसके खिलाफ संघर्ष करेगा। इस रणनीति ने उसे पश्चिमी जगत ही नहीं वरन् नए स्वतंत्र देशों में विशेष रूप से एशिया में, नए राजनीतिक मित्र प्राप्त करने को प्रेरित किया, जहां साम्राज्यवाद का प्रभाव फैल रहा था। शीत युद्ध से लड़ने की इस अमेरिकी रणनीति से नए स्वतंत्र देशों की सम्प्रभुता खतरे में पड़ गई क्योंकि औपचारिक तौर पर तो उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त थी, परन्तु उनकी अर्थव्यवस्थाओं के विशिष्ट लक्षणों ने उन्हें नव-साम्राज्यवादी नियंत्रणों के सन्दर्भ में असुरक्षित बना दिया था। इस खतरे के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने गुट-निरपेक्षता का मार्ग अपनाकर अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता कायम रखनी चाही।

जिस प्रकार एशियाई देशों ने अपनी स्वतंत्रता पर अमेरिका के नव-साम्राज्यवाद से सुरक्षित रखनी चाही, युगोस्लाविया ने स्वयं को सोवियत संघ के प्रभुत्वकारी नियंत्रण से मुक्त करने की योजना बनाई और इसने उसे गुट-निरपेक्ष आंदोलन में शामिल होने को प्रेरित किया।

सातवें दशक में दोनों खेमों की व्यवस्थाओं के विरोधी देशों ने सम्मिलित होकर गुट-निरपेक्ष आंदोलन को प्रारंभ किया। प्रारंभ में आंदोलन तदर्थ प्रकृति का था। परंतु बाद के वर्षों में इसने एक प्रभावी संगठनात्मक ढांचा विकसित किया जिससे यह विकासशील देशों की जायज आवाज उठाने वाला प्रभावशाली मंच बन गया।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन उन सिद्धांतों पर आधारित है जो विकासशील देशों के लिए राजनैतिक और आर्थिक न्याय का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यह असाधारण रूप से एक सफल आंदोलन साबित हुआ है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में मौजूद प्रतिकूल प्रवृत्तियों के बावजूद इस आंदोलन को भविष्य में बनाए रखना तर्कसंगत होगा।

24.9 शब्दावली

उदारवादी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (एल.आई.ई.ओ.): द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, अन्तर्राष्ट्रीय सहमति के साथ एक विश्व आर्थिक व्यवस्था स्थापित की गई जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विनिमय-दर नीति और अन्तर्राष्ट्रीय लिक्विडिटी (liquidity) के प्रबन्धन संबंधी नियमों को स्वीकार किया गया। इसे एल.आई.ई.ओ. कहा जाता है। यह व्यवस्था, आई.एम.एफ., विश्व बैंक और जी.ए.टी.टी. की स्थापना के साथ ही प्रारंभ हुई।

व्यापार स्थिति: एक देश की व्यापार स्थिति का निर्धारण उसके आयात और निर्यात के मूल्यों के मध्य संबंधों द्वारा होता है। यदि आयात मूल्यों में निर्मित मूल्यों से अधिक वृद्धि होती है तो उस देश की व्यापार-स्थिति घटती हुई होती है। दूसरी तरफ यदि निर्यात मूल्यों में तीव्र वृद्धि होती है तो उस देश की व्यापार स्थिति उज्ज्वल होती है।

(एस.डी.आर.एस.) विशेष आहरण अधिकार: ये दस देशों (बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड, स्वीडन, कनाडा, जापान, ब्रिटेन और अमेरिका) की सहमति द्वारा गठित कृत्रिम अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित इकाइयां हैं।

भुगतान संतुलन : किसी देश के द्वारा आयातों के फलस्वरूप किए गए भुगतानों और उसके निर्यातों द्वारा प्राप्त भुगतानों की कीमत में परिवर्तन।

अहस्तक्षेप नीति : वह अर्थव्यवस्था जो व्यापार में निजी व्यवसायों को खूली छूट देती है।

कोमिन्फोर्म : ब्यूरो ऑफ कम्युनिस्ट इन्फारमेशन जो सितम्बर 1947 में स्थापित और अप्रैल 1956 में भंग हुआ।

सी.ओ.एम.ई.सी.ओ.एन. या सी.एम.ई.ए. : अप्रैल, 1949 में स्थापित कौंसिल फार म्युच्युअल इकोनोमिक कोओपरेशन।

24.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बाजपेई, यू.एस. (सं०), 1983, *नॉन अलायनमेंट; परस्पैक्टिव एण्ड प्रोस्पेक्ट्स,* लांसर पब्लिशर्स : नई दिल्ली।

नेहरू, जवाहरलाल, 1971, *इंडियाज फारेन पालिसी,* पब्लिकेशन डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ आई.बी., नई दिल्ली।

विलेट्स, पीटर, 1978, *द नॉन अलायंड मुवमेंट,* पापुलर प्रकाशन बाम्बे।

चोपड़ा, प्राण, 1970, *नॉन अलायनमेंट इन द सेवेंटीस द चेंजिंग कान्टेक्स्ट एण्ड द न्यु चैलेन्जेज।*

24.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) शीत युद्ध प्रतिद्वन्द्वित ने अमेरिका को साम्यवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष हेतु प्रोत्साहित किया,
   ब) इस उद्देश्य के अन्तर्गत उसने एशियाई राष्ट्रों को अपना राजनैतिक सहयोगी बनाना चाहा,
   स) इसके फलस्वरूप उन देशों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ गई,
   द) अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने हेतु इन देशों ने गुट-निरपेक्षता का मार्ग अपनाया।

2) (अ) √ (ब) √ (स) × (द) √ (य) × (न) √

बोध प्रश्न 2

1) अ) सर्वप्रथम नेहरू ने एशियाई संबंधों पर सम्मेलन और एशियाई अफ्रीकी सम्मेलन आयोजित कर एक एशियाई अफ्रीकी मोर्चे की स्थापना के प्रयास किए।
   ब) बाद में उसने युगोस्लाविया जैसे समान प्रकृति के राष्ट्रों के साथ मिलकर एक विश्व-व्यापी मोर्चा बनाया।

बोध प्रश्न 3

1) ब)

2) अ), ब), द)

बोध प्रश्न 4

1) आंदोलन ने उपनिवेशवाद को छिन्न-भिन्न करने की प्रक्रिया प्रारंभ की, शांति की संभावनाओं में वृद्धि की, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को लोकतांत्रिक बनाने में सहयोग दिया, विश्व को आर्थिक अन्याय की समस्या से अवगत कराया, आंशिक काम से आर्थिक अधिकारों के लिए सफलता प्राप्त की, और पश्चिमी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की रणनीति को निष्फल बनाया।

2) हाँ, चूंकि आज भी आर्थिक विभाजन राष्ट्रों के मध्य प्रमुख विभाजन के रूप में है, और भविष्य में भी रहेगा इसलिये गुट-निरपेक्ष आंदोलन की, तीसरी दुनिया की आर्थिक मांगों के लिए संघर्ष करने के महत्वपूर्ण कार्य हेतु, आवश्यकता रहेगी।

इकाई 25 नव-उपनिवेशवाद, बहुराष्ट्रीय निगम और बहुपक्षीय एजेन्सियां

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 नव-उपनिवेशवाद क्या है?
25.3 साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद
  25.3.1 पूंजीवाद और उपनिवेशवाद
  25.3.2 साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद
25.4 नव-उपनिवेशवाद की एजेन्सियां
  25.4.1 बहुराष्ट्रीय निगम
  25.4.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक
25.5 नव-उपनिवेशवादी संचालन-प्रक्रिया
  25.5.1 आर्थिक प्रभुत्व
  25.5.2 राजनैतिक हस्तक्षेप
  25.5.3 सैन्य-हस्तक्षेप
25.6 विकासशील देश और नव-उपनिवेशवाद
25.7 सारांश
25.8 शब्दावली
25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत तीसरी दुनिया के देशों की मूलभूत समस्याओं में से एक, नव-उपनिवेशवाद का अध्ययन किया गया है। तत्कालीन औपनिवेशिक साम्राज्यों के पतन ने विश्व राजनीति में नवीन सहसंबंधों को जन्म दिया, जिसमें पूर्व के औपनिवेशिक देश अपने भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के साथ संबंधों को नये सिरे से स्थापित करने को मजबूर हुए। दूसरी तरफ, उन्होंने (भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियां) इन देशों पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण जारी रखने के लिए नये-नये तरीके अपनाए। इस इकाई में आप नव-उपनिवेशवाद की संचालन प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे, और साथ ही बहुराष्ट्रीय निगम, मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं जैसी अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की भूमिका का भी आकलन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्न शीर्षकों के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे :

- नव-उपनिवेशवाद की धारणा,
- नव-उपनिवेशवाद के माध्यमों के रूप में बहुराष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय और मौद्रिक संस्थाओं की भूमिका,
- उपनिवेशवाद के अंत के पश्चात् तीसरी दुनिया के देशों में राज्य का स्वरूप।

25.1 प्रस्तावना

आप "नव-उपनिवेशवाद", "नव-औपनिवेशिक हस्तक्षेप", "नव-औपनिवेशिक शासन" इत्यादि, से परिचित होंगे। सामान्य रूप से इनका अर्थ हम, स्वतंत्रता के बाद भी औपनिवेशिक आधिपत्य द्वारा नए स्वतंत्र हुए देशों की राजनीति और अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप को बनाये रखने से लेते हैं। हम यहां कह सकते हैं कि आज भी देश बाहरी दबाव से मुक्त नहीं हैं: उदाहरणार्थ, अमेरिका, नाभिकीय हथियारों के संस्थापन के सन्दर्भ में ब्रिटेन पर दबाव डाल सकता है। परन्तु, हम ब्रिटेन को एक नव-उपनिवेश नहीं कह सकते। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक बाहरी हस्तक्षेप को नव-औपनिवेशिक नहीं कहा जा सकता। नव-उपनिवेशवाद, पहले की औपनिवेशिक शक्तियों और उनकी भूतपूर्व उपनिवेशों के मध्य एक विशिष्ट संबंध के सन्दर्भ में होता है। बहुत सरल शब्दों में, इसका संबंध तीसरी दुनिया के देशों और उनकी पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के मध्य आधिपत्य और शोषण के लगातार सिलसिले के सन्दर्भ में अधीनता का जारी रहना है। अब हम नव-अपनिवेशवाद के अर्थ और उसकी धारणा का अध्ययन करेंगे।

25.2 नव-उपनिवेशवाद क्या है?

नव-उपनिवेशवाद की आदर्श परिभाषा, घाना के भूतपूर्व राष्ट्रपति क्वामें नक्रुमा के इस कथन में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त होती है :

"नव-उपनिवेशवाद का सार यह है कि इसके अधीन आने वाला देश, सिद्धांत रूप से, स्वतंत्र होता है और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता के सभी बाह्य लक्षण उपस्थित होते हैं। जबकि वास्तव में, इसकी आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक नीति पर बाहरी नियंत्रण होता है।"

"इस नियंत्रण के तरीके और रूप", नक्रुमा के अनुसार, "कई प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर किसी गंभीर मामले में कोई साम्राज्यवादी शक्ति अपनी सैन्य टुकड़ियों को नव-औपनिवेशिक राज्य में तैनात कर शासन पर नियंत्रण कर सकती है। तथापि, अधिकांशतः नव-औपनिवेशिक नियंत्रण आर्थिक और मौद्रिक माध्यमों के द्वारा होती है। नव-औपनिवेशिक देश पर यह दबाव डाला जा सकता है कि वह तैयार माल केवल उस पर नियंत्रण रखने वाले साम्राज्यवादी देश से खरीदें न कि दूसरे देशों से, जहां वही माल प्राप्त हो सकता है। एक नव-औपनिवेशिक राज्य में सरकार की नीतियों पर नियंत्रण राज्य को चलाने की कीमत पर अत्यधिक भुगतानों के जरिए, प्रभावशाली नागरिक सेवा अधिकारियों को अपने पक्ष में कर, और साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा नियंत्रित बैंकिग व्यवस्था के द्वारा विदेशी विनिमय पर मौद्रिक नियंत्रण द्वारा किया जा सकता है"।

इस विस्तृत कथन से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि नव-उपनिवेशवाद क्या है और यह कैसे कार्य करता है? चूंकि नव-उपनिवेशवाद का संबंध, साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों के मध्य बदले हुए संबंधों से है, हम पूर्व में इनके बीच संबंधों का जायजा लेकर यह देखेंगे कि संबंधों में परिवर्तन कैसे और कहाँ हुआ?

25.3 साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद, इन शब्दों के अर्थ की स्पष्ट व्याख्या करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इस इकाई में इनका बार-बार प्रयोग होगा, और इन दोनों की धारणाओं और उनके मध्य अंतर को सही ढंग से समझे बिना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर सार्थक बहस नहीं हो सकती।

साम्राज्यवाद एक सामान्य और व्यापक अवधारणा है जिसके अन्तर्गत किसी विशिष्ट ऐतिहासिक विकास की अवस्था में अधीनस्थ देश और उस पर प्रभुत्व रखने वाले देश के मध्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सैन्य और सांस्कृतिक संबंधों का एक सम्पूर्ण जाल होता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम अंधाधुंध तरीकों से सैनिक-विजय और राजनैतिक अधीनता की प्रत्येक घटना को साम्राज्यवादी नहीं ठहरा सकते। चंगेज खां के भारत-अभियान को हम मंगोल-साम्राज्यवाद नहीं कह सकते और न ही रोम साम्राज्य द्वारा विभिन्न प्रदेशों पर प्रभुत्व को साम्राज्यवाद कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, साम्राज्यवाद आधुनिक युग की देन है, अर्थात् इसकी उत्पत्ति सामाजिक विकास की एक विशिष्ट अवस्था में होती है। इसका संबंध पूंजीवाद के उदय से है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां पूंजीवाद अपने प्रारंभिक काल से विस्तारवादी और बहिर्गामी प्रवृत्ति का रहा है, इसकी सभी विस्तारवादी कार्यवाहियों को साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, उपनिवेशों की चाहत पूंजीवाद में इसके प्रारंभिक काल से ही अन्तर्निहित रही है परंतु, इसे साम्राज्यवाद की संज्ञा, स्वयं पूंजीवाद के विकास की एक निश्चित अवस्था में दी गई। इसकी विस्तार से चर्चा के पूर्व संक्षेप में विकास का जायजा लेंगे। इससे हमें पूंजीवाद में आए संरचनात्मक परिवर्तन की जानकारी प्राप्त होगी, जिससे कि पूंजीवाद की एक विशिष्ट अवस्था में ऐतिहासिक विभेदीकरण की सार्थकता का पता चल सके।

25.3.1 पूंजीवाद और उपनिवेशवाद

हमने पूर्व-पूंजीवादी साम्राज्यों और रोम साम्राज्य अथवा चंगेज खां के दूसरों पर प्रभुत्व जमाने का उल्लेख किया है। इन पूर्व-पूंजीवादी दौर के विस्तारवाद और पूंजीवाद के विस्तारवाद के मध्य एक मूलभूत अंतर यह है कि पूर्व-पूंजीवादी साम्राज्य अपने अधीन किए गए प्रदेशों की सामाजिक-आर्थिक संरचना में हस्तक्षेप या परिवर्तन नहीं करते थे। वे या तो जीते हुए प्रदेशों को लूट कर माल प्राप्त करते थे या पारंपरिक रूप से प्राप्त की जाने वाली आर्थिक धन को नियमित रूप से वसूल करते थे।

15वीं शताब्दी के उत्तर काल और 16वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल से प्रारंभ हुई पूंजीवादी उपनिवेशीकरण के अन्तर्गत परंपरागत व्यवस्था में बड़े पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुए और उन्हें पूंजीवादी साम्राज्यों के परिधीय केन्द्रों के रूप में सम्मिलित किया गया। यूरोप की सामाजिक क्रान्तियों, सामंतवाद के पतन और वाणिज्य तथा वस्तु उत्पादन में तीव्र प्रगति से अकल्पनीय रूप से विश्व व्यापार को बल मिला।

प्रारंभ में उनकी रुचि स्वर्ण, चांदी, मसाले और चीनी में थी जिनका उत्पादन कई एशियाई, अफ्रीकी और दक्षिण अमरीकी देश करते थे, और गुलामों में, जिनका उपयोग साम्राज्यवादियों द्वारा अपने यहां के बागानों के लिए किया जाता था। औद्योगीकरण के साथ ही सस्ते कच्चे-माल, खाद्य-सामग्रियों और तैयार माल के लिए बाजारों की जरूरत पैदा हुई। औद्योगीकरण की इस तेजी के कारण विदेशिक-विस्तार और उपनिवेशों के लिए संघर्ष प्रारंभ हुआ। पूंजीवादी उद्योग और वित्तीय व्यवस्था के विकास से ये उपनिवेश पूंजीवादी निवेश की दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध हुए। परन्तु, परंपरागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाएं, पूंजीवादी विकास के केन्द्रों की आवश्यकताओं को भली-भांति पूरा करने में बाधाएं उत्पन्न कर रही थीं। इसके फलस्वरूप जो परिवर्तन लाए गए उनका आभास हमारे देश के इतिहास

से मिलता है। "व्यापार करने" के उद्देश्य से आई ब्रिटिश डच, फ्रेन्च और पुर्तगाली वाणिज्य कंपनियों ने धीरे-धीरे यहां स्थायी रूप से अपना अड्डा जमाना चाहा। इस दौड़ में अंततः ईस्ट इंडिया कंपनी सफल हुई जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आधिपत्य की अग्रदूत कही जा सकती है। हमारे देश में अपनाए गये कुछ तरीकों में, भूमि में निजी संपत्ति, नील और चाय का जबरन उत्पादन और स्थानीय उद्योग को नष्ट करना, सम्मिलित थे। सूती वस्त्रों के निर्यातक भारत को बाद में आयात करने पर मजबूर किया गया।

यद्यपि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न तरीके अपनाए गए किंतु सभी का सार तत्व एक ही था: इन देशों का उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्थाओं के रूप में मूल भूत रूपान्तरण। इसके साथ ही राजनैतिक और प्रशासकीय परिवर्तन किए गए। नए कानून, न्याय-व्यवस्था, पुलिस और सैन्य संगठन धीरे-धीरे विकसित किए गए।

हैरी मेगडफ के अनुसार, प्रारंभिक उपनिवेशवाद की विकास प्रक्रिया में दो सुस्पष्ट अवस्थाएं प्रकट होती है :

1) लगभग 17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी के अंत तक वाणिज्य अथवा व्यापारिक पूंजी की प्रधानता। उत्पादन में तीव्र वृद्धि ने एक सुस्पष्ट औपनिवेशिक नीति की मांग की : एक ऐसे आत्म निर्भर साम्राज्य की स्थापना करना, जिसमें प्रचुर मात्रा में कच्चा माल और खाद्य सामग्री तथा निर्मित वस्तुओं के लिए एकान्तिक बाज़ार उपलब्ध रहे। इस युग की एक मुख्य विशेषता दास-व्यापार पर आधारित खेत उपनिवेशों (वॉयट सेट्लर कॉलानीज़) की स्थापना है।

2) औद्योगिक पूंजी का उद्भव : 18वीं शताब्दी के अंतिम भाग से 19वीं शताब्दी के सातवें दशक तक। इस द्वितीय दौर में कच्चे माल और बाजारों के लिए औद्योगिक देशों की असंतृप्त मांग ने उन्हें बागानों और उपनिवेशों से परे सोचने को मजबूर कर दिया। पूंजी संचयन प्रक्रिया और विकसित प्रौद्योगिकी के दबावों ने, मेगडफ के अनुसार, गैर-पूंजीवादी देशों को उपभोक्तावादी बनाने का प्रयास करते हुए उन गैर-पूंजीवादी समाज व्यवस्थाओं के विखण्डन की प्रक्रिया प्रारंभ करने को मजबूर किया। निजी संपत्ति को न्यायसंगत बनाना, धन और विनिमय का बढ़ता उपयोग, प्रतियोगी स्वदेशी उद्योगों का विनाश इत्यादि, ये सब इस युग के पूंजीवादी बहिर्गामी विस्तारवाद की विशेषताएं थीं—इस युग में उपनिवेशवाद ने अपनी अधीनस्थ प्रदेशों पर अपनी उत्पादन पद्धति आरोपित की।

25.3.2 साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में पूंजीवादी उपनिवेशवाद अपने तीसरे चरण में पहुंचा, अर्थात् साम्राज्यवाद का दौर। इस चरण में विदेशी प्रदेशों पर कब्जा करने की छीना-झपटी अपने चरम काल में पहुंची। बाहरी प्रदेशों को विजित कर उन पर अपना अधिकार करने की दौड़ में और कई देश शामिल हुए, जिससे प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, सैन्यीकरण और युद्ध का माहौल बना और इसकी अंतिम परिणति विश्व युद्ध में हुई।

पूंजीवाद के इस चरण में नवीन बात क्या थी? नये-नये प्रदेशों पर कब्जा करने की इस प्रवृत्ति के पीछे क्या कारण थे? सबसे आधारभूत परिवर्तन जो इस युग को इसके पूर्व के युग से ऐतिहासिक रूप से विभेदित करता है, वह यह था कि पूर्व के प्रतियोगी पूंजीवाद (कम्पीटीटिव केपिटलिज्म) का स्थान लगभग एकाधिकार पूंजी (मोनोपोली केपिटल) ने ले लिया था। इसका अर्थ यह है कि किसी एक उद्योग से संलग्न कई फर्मों की बजाय अब कम से कम फर्म होगी। बाजारों और कच्चे माल के लिए संघर्ष में छोटी फर्म पिछड़ गई और धीरे-धीरे उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। पूंजी का संग्रहण बहुत कम फर्मों के हाथों में रहा। इन बड़े निगमों की प्रतियोगिता अब अन्य कई देशों के बड़े निगमों के साथ प्रारंभ हुई जिसके फलस्वरूप आधिपत्य के लिए और प्रदेशों के पुनर्विभाजन हेतु और भी भीषण संघर्ष प्रारंभ हुए। इस चरण में वस्तुओं के निर्यात के साथ ही पूंजी का उपनिवेशों में सीधा निर्यात और उपनिवेशों से मुनाफे का प्रत्यावर्तन भी प्रारंभ हुआ। इस युग के औद्योगिक देशों के लिए, शेष विश्व उनके यहां की तैयार वस्तुओं के लिए बाजार बन चुका था जो बदले में उन्हें कच्चा माल, खाद्य-सामग्री और अत्यधिक सस्ता श्रम प्रदान करता था।

यद्यपि, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विशेष अध्ययन से संबंधित कुछ मुद्दे विवादास्पद हैं, यहां उन विवादों से हम परे रहेंगे। इस संबंध में छात्र अपनी रुचि के अनुसार इकाई के अंत में दी गई पुस्तकों का सहारा ले सकते हैं। अतएव अधिक विवादास्पद मुद्दों का यहां विस्तार से विश्लेषण नहीं किया जा रहा है। विवादास्पद मुद्दों की श्रेणी में आने वाले सवाल हैं— वित्तीय पूंजी की अवधारणा, पूंजी के निर्यात की धारणा, साम्राज्यवाद की नये प्रदेशों की मांग की प्रकृति इत्यादि। अंत में विवाद इस बात को लेकर भी है कि किन स्पष्ट कारणों की वजह से साम्राज्यवादी बहिर्गामी विस्तार हेतु प्रेरित होता है। यहां हम संक्षेप में पूंजीवाद की इन अवस्थाओं को निरूपित कर सकते हैं :

अ) वाणिज्यिक या व्यापारिक (मर्केन्टॉयल या कामर्शियल कैपिटल) पूंजी की प्रधानता के प्रारंभिक दिनों से ही उपनिवेशों की आवश्यकता पूंजीवाद से मूलभूत रूप से जुड़ी हुई है।

ब) औद्योगिक पूंजी की प्रधानता के अन्तर्गत "नवीन पूंजीवाद" में अधीनस्थ प्रदेशों पर प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति लागू की गई।

स) एकाधिकार पूंजी (मोनोपोली कैपिटल) के युग में उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद बड़े-बड़े निगमों का आविर्भाव और पूंजी का उपनिवेशों को निर्यात। विभिन्न पूंजीवादी शक्तियों के अधीनस्थ प्रदेशों के रूप में विश्व का पुनर्विभाजन।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि : उपनिवेशवाद एक व्यापक शब्द है, जिसका संबंध पूंजीवाद के प्रारंभिक दिनों से विदेशी प्रदेशों के अधिग्रहण की प्रवृत्ति से है। तब से, और विशेष रूप से औद्योगिक पूंजी के उदय के काल से इसका अर्थ अधीनस्थ प्रदेशों पर सीधा राजनैतिक नियंत्रण से है। परन्तु प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण का औपनिवेशिक लक्षण केवल इसके पूर्व साम्राज्यवादी काल का ही नहीं है, यह द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व काल में भी साम्राज्यवाद का लक्षण रहा है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत यह संबंध हमेशा प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण का ही हो, यह जरूरी नहीं है। साम्राज्यवाद किसी देश को औपचारिक तौर से उपनिवेश में परिवर्तित किए बिना उस पर अपना आधिपत्य और नियंत्रण कर सकता है। इसे आवश्यक रूप से सही मायनों में उपनिवेशों की जरूरत नहीं भी हो सकती, अर्थात्, वे देश जो अपनी सम्प्रभुता खो चुके हैं और उन पर पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी राजनैतिक नियंत्रण है।

इसके बाद, नव-उपनिवेशवाद की धारणा का विवेचन हम अगले भाग में करेंगे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी i) अपने उत्तरों के लिए दिए गए स्थान का उपयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाएं।

1) आपकी समझ में उपनिवेशवाद की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) खाली स्थान पूरा कीजिए :
गैर-पूंजीवाद समाजों का पूंजीवाद समाजों में रूपान्तर की प्रक्रिया ..... की उत्पत्ति से प्रारम्भ हुई।

25.4 नव-उपनिवेशवाद की एजेन्सियां

आप नव-उपनिवेशवाद की धारणा के बारे में क्वामें नक्रुमा के विचारों को पढ़ चुके हैं। उपनिवेशवाद संबंधी विवेचन के बाद अब हम नक्रुमा के इस कथन का अर्थ भलीभांति समझ सकते हैं : एक राज्य—जो सिद्धान्तः स्वतंत्र है..... अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता के बाह्य लक्षण मौजूद होते हैं, परन्तु, वास्तव में इसकी आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक नीति पर बाहरी नियंत्रण होता है।

चौथे ऐतिहासिक चरण को यह उद्धरण इंगित करता है : द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भूतपूर्व औपनिवेशिक साम्राज्यों का विखण्डन। कई देश, जिनमें हमारा देश भी सम्मिलित है, इस दौर में स्वतन्त्र हुए। उपनिवेशी जनता द्वारा चलाए गए शक्तिशाली राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के दबाव में भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों को उपनिवेशों से हटने के लिए मजबूर होना पड़ा। राजनैतिक स्वतंत्रता प्रदान की गई परन्तु बड़ी मात्रा में औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा किए गए पूंजी निवेश के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण उनके हाथों में रहा। और इस आर्थिक नियंत्रण के बल पर राजनैतिक नियन्त्रण के भी प्रयास किए गए यद्यपि ऐसा सीधा हस्तक्षेप मुख्यतः प्राचीन उपनिवेशवाद से संबंधित रहा है। फिर, नव-उपनिवेशवाद का क्रियान्वयन कैसे होता है? किन साधनों या एजेन्सियों के द्वारा? 1961 में काहिरा में आयोजित तीसरे ऑल अफ्रीकन पीपुल्स कान्फ्रेन्स ने अफ्रीका में नव-उपनिवेशवाद की निम्न कारगुजारियों की भर्त्सना की :

अ) प्रतिक्रियावादी तत्त्वों, जन-विरोधी राजनीतिज्ञों, बुर्जुआ कम्प्राडोर अथवा भ्रष्ट नागरिक या सैन्य अधिकारियों पर आधारित कठपुतली सरकार की स्थापना।

ब) स्वतंत्रता से पूर्व या पश्चात् किसी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा स्वयं से संबंधित किसी ऐसे संघ के साथ प्रदेशों का पुनः संयोजन

स) कृत्रिम प्रदेशों की स्थापना कर, उदाहरणार्थ, कतांगा, मारिटानिया, युगान्डा के सन्दर्भ में, प्रदेशों का सोच समझ कर राजनैतिक विखण्डन अर्थात् बाल्कनीकरण करना।

द) स्वतंत्रता से पूर्व औपनिवेशिक देश की आर्थिक मोर्चाबंदी और औपचारिक रूप से राष्ट्रीय सम्प्रभुता प्राप्ति के बाद भी निर्भरता जारी रहना।

य) औपनिवेशिक आर्थिक गठबन्धनों के साथ एकीकरण की प्रक्रिया (जो अफ्रीकी अर्थव्यवस्था की अल्पविकसित प्रकृति को बनाए रखते हैं) को जारी रखना।

र) स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् किसी विदेशी शक्ति द्वारा पूंजी-निवेश, ऋण और मौद्रिक सहायता या तकनीकी ज्ञान, असमान प्रकृति के विशेषतः लम्बी अवधि के अनुदानों द्वारा आर्थिक घुसपैठ।

ल) जिन नए स्वतंत्र देशों में वित्तीय नियन्त्रण सीधे औपनिवेशिक शक्तियों के हाथों में रहता है वहाँ प्रत्यक्ष मौद्रिक निर्भरता को कायम रखना।

न) स्वतंत्रता से पूर्व या पश्चात् और या स्वतंत्रता की शर्त के रूप में वैज्ञानिक शोध केन्द्रों या प्रशिक्षण संस्थानों के रूप में सैनिक अड्डों की स्थापना।

25.4.1 बहुराष्ट्रीय निगम

जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, द्वितीय विश्व-युद्धोपरांत युग में भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों को उपनिवेश से पीछे हटकर उन्हें औपनिवेशिक रूप से स्वतंत्रता प्रदान करने को मजबूर होना पड़ा। परन्तु, इन देशों के बड़े-बड़े निगमों द्वारा उपनिवेशों में लगाई गई पूंजी निवेश शेष ही नहीं रही वरन् अधिक तेजी से उसमें वृद्धि होती गई। आज के बहुराष्ट्रीय निगम (एम.एन.सी.), जो ट्रॉन्स नेशनल कारपोरेशन भी कहलाते हैं, उन निगमों के अति विकसित रूप हैं। यद्यपि युद्धोपरांत हुई हेर-फेर में अमेरिका ने ब्रिटेन की नेतृत्वकारी क्षमता को समाप्त कर दिया, उपनिवेशवाद के अंत के बाद भी तीसरी दुनिया के देशों पर प्रभुत्व और उनका शोषण जारी रहा।

ये बहुराष्ट्रीय निगम अत्यन्त विस्तृत निगम होते हैं जो सहयोगी फर्मों के माध्यम से अपने देश की सीमाओं से परे कार्य करते हैं और एक से अधिक देशों के बाजारों पर इनका नियंत्रण होता है। ये बहुराष्ट्रीय निगम अपनी विशालता, कार्यक्षमता की व्यापक सीमा और श्रेष्ठ तकनीकी पर नियंत्रण के बल पर सभी बाजारों में अपने लिए एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं। अतएव बहुराष्ट्रीय निगम एक नियम के रूप में कई बाजारों में कार्य करते हैं— भौगोलिक और उत्पाद के हिसाब से दोनों बहुराष्ट्रीय निगम अपनी प्रतिष्ठा के बल पर अन्य फर्मों के प्रवेश पर रोक लगाकर ऐसे बाजार तैयार करते हैं जहां बहुत कम प्रतियोगी हों। उदाहरण के लिए, 1976 में प्रकाशित मेक्सिको संबंधी एक सर्वेक्षण के अनुसार वहां बहुराष्ट्रीय निगमों की कुल बिक्री का 61% उन बाजारों में संभव हुआ जहां 4 प्रमुख संयंत्रों का हिस्सा ही 50% या उससे अधिक था। इसकी तुलना में मेक्सिको की फर्में उन अत्यधिक संकेन्द्रि बाजारों में केवल 29% बिक्री कर सकी।

कई बाजारों में एक साथ व्यवसाय करने की अपनी क्षमता के बल पर उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त है, जो छोटी एवं बाजारीय फर्म नहीं प्राप्त कर सकती। इनमें किसी एक उत्पादन से बाजार में लाभ उठाकर इसे किसी दूसरे उत्पादन में हुए आर्थिक कमी को दूर कर सकने जैसी योग्यताएं शामिल हैं।

प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग में वृद्धि के रहते, बहुराष्ट्रीय निगमों की किसी एक विशेष उद्योग में विभिन्न देशों के कई बाजारों में उन्हीं फर्मों के साथ प्रतियोगिता हो सकती है। ऐसी स्थिति में संबंधित बहुराष्ट्रीय निगम अन्य बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ अपने संबंधों को इस तरह पुनर्व्यवस्थित कर सकता है कि वे विश्व-बाजारों में सांठ-गांठ कर समानान्तर गतिविधियों द्वारा व्यवसाय कर सकें। इससे उन्हें अल्पाधिकारी/एकाधिकारी सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं। उत्पादक संघों की स्थापना, प्रभाव-क्षेत्रों का विभाजन, हिस्सा बाजारों में खासा-सहयोग इत्यादि भी इसी से जुड़े हुए हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों में एक महत्वपूर्ण पहलू, उनके द्वारा कई बाजार संबंधी प्रकार्यों का स्वयं उनके द्वारा नियोजित करना है। इसके बल पर वे मूल्यों में हेर-फेर और मनमानी कर सकते हैं। अतः मूलभूत रूप से जो दो देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता है, वास्तविकता में वह एक ही फर्म से संबंधित एक प्रक्रम से दूसरे प्रक्रम के सौदाबाजी में बदल जाता है। दूसरे शब्दों में, इसके अन्तर्गत लेन-देन एक ही फर्म तक सीमित रहता है, जिसके फलस्वरूप यह मूल्यों को नियंत्रण करने के बाजार नियमों से अप्रभावित रहता है। उपयुक्त प्राधिकारी, निगम के लाभों को अधिकतम रखने की दृष्टि से मूल्य-निर्धारण करते हैं। इस प्रकार मेजबान देशों को आयातित सामग्री की मूल्य-दर बढ़ा कर या निर्यात वस्तुओं की कीमत घटा कर वे स्थानीय करों, सीमा शुल्कों और विनिमय-दर नियंत्रणों से बच जाते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के "वाह्य-संक्रम (इन्ट्रा-फर्म)" प्रकृति का यह व्यापार विकासशील देशों के आयात और निर्यात का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। बहुराष्ट्रीय निगम अपने आधिपत्य को खनिज, कृषि उत्पादन और अन्य सुविधाओं पर अपने नियंत्रण के बल पर जारी रखते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों का विश्व-व्यापार, विशेष रूप से प्राथमिक वस्तुओं पर असाधारण नियंत्रण होता है, जो तीसरी दुनिया के देशों के व्यापार का मुख्य भाग है।

तकनीकी पर उनका नियंत्रण और उसका तीसरी दुनिया को "स्थानान्तरण" भी उतना ही महत्वपूर्ण है। जैसा कि ज्ञात है, स्थानीय फर्मों के साथ सहयोग समझौतों में बहुराष्ट्रीय निगम तकनीकी ज्ञान पर अपना सख्त नियंत्रण रखते हैं और स्वदेशीकरण के किसी गंभीर प्रयास का विरोध करते हैं। केवल पुरानी तकनीकी कला ही तीसरी दुनिया की घरेलू फर्मों को प्रदान की जाती है।

यद्यपि आनुपातिक दृष्टि से, तीसरी दुनिया के देशों में प्रत्यक्ष नियोजन में काफी कमी आई है, फिर भी यह तीसरी दुनिया के शोषण के महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। उदाहरण के लिए, 1970 और 1980 के मध्य तीसरी दुनिया के देशों में निवेशित किए प्रत्येक एक डालर के बदले में बहुराष्ट्रीय निगमों ने $ 2.2 को अपने गृह देशों के लिए अर्जित किया। इसी अवधि के दौरान, विकसित देशों के 80% की तुलना में तीसरी दुनिया के देशों को कुल प्रत्यक्ष नियोजन का केवल 18% प्राप्त होने के बावजूद अमेरिका की बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उपार्जित विश्व स्तरीय लाभों का हिस्सा 36% रहा। इसका 71% भाग अमेरिका में ही रहा और केवल 29% हिस्सा पुनः विकासशील देशों में निवेशित किया गया।

इसके बावजूद लगभग पिछले 20 वर्षों से प्रत्यक्ष नियोजन शोषण का मुख्य स्रोत नहीं रहा है। यह तो बहुराष्ट्रीय बैंकों द्वारा निर्यात किए जाने वाली "ऋण पूंजी" है जिसने विकासशील देशों पर अपनी कड़ी पकड़ बनाए रखी है।

इस प्रकार के आर्थिक शोषण के अतिरिक्त 1970 तक इन बहुराष्ट्रीय निगमों का विकासशील देशों की आंतरिक राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप रहा है। उदाहरण के लिए 1973 के चिली विद्रोह में इण्टरनेशल टेलिग्राफ्स एण्ड टेलिफ्रोन्स की भूमिका सर्व-विदित है।

25.4.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक

उत्तर युद्ध काल में ब्रेटन वुड्स (अमेरिका) और हवाना में एक नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का मसौदा तैयार किया गया। 1944 की इस व्यवस्था ने औपचारिक रूप से विश्व अर्थव्यवस्था पर अमेरिका की प्रधानता स्थापित की। इसी ब्रेटन वुड्स व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.बी.आर.डी.), जिसे विश्व बैंक भी कहते हैं, की स्थापना की गई।

अपनी सार्थक मौजूदगी और संख्यात्मक श्रेष्ठता के बावजूद विकासशील देशों का आई.एम.एफ. के भीतर प्रभाव नाममात्र का भी नहीं है। इस कोष में शक्ति संतुलन का निर्धारण कोटा (अभ्यशों) द्वारा होता है, जिन पर सदस्य देशों के भुगतान कर्तव्य, ऋण-सुविधाएं और मताधिकार आधारित होते हैं। इन कोटा (अभ्यशों) का निर्धारण एक ऐसी योजना के अन्तर्गत किया गया जिसमें एक देश की राष्ट्रीय आय, स्वर्ण, और विदेशी-मुद्रा के स्रोत, विदेश व्यापार में उतार-चढ़ाव और उसका दायरा और निर्यात निर्भरता, इन सभी कारकों को भिन्न-भिन्न महत्व दिया गया। यह कोटा प्रणाली स्वाभाविक तौर से 1940s के समय के शक्ति-संतुलन को प्रदर्शित करती है। इसीलिए, इस पर पूर्ण रूप से औद्योगिकृत पश्चिमी देशों, विशेषतः अमेरिका का नियंत्रण है।

औपचारिक तौर पर आई.एम.एफ. का मुख्य कार्य, इसके सदस्य राष्ट्रों को समय-समय पर उनके भुगतान-संतुलन संबंधी संकटों से उबरने हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करना था। इस उद्देश्य के पीछे भावना यह थी कि घाटे से प्रभावित देश ऐसी नीतियां न अपनाएं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उससे प्रभावित हों। मुद्रा कोष से एक देश कितना सहायता ले सकता है, यह उसके कोटे पर निर्धारित होता है। अक्सर आई.एम.एफ. ऋण देते समय ऐसी शर्तों को साथ लगाता है, जिससे भुगतान-संतुलन संबंधी घाटा समाप्त हो जाए। ये शर्तें गैर-बाध्यकारी सलाहों से लगाकर अत्यन्त कठोर और गंभीर शर्तें हो सकती हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों का अनुभव बताता है कि उन पर कड़ी शर्तें लादी गईं।

आई.एम.एफ. का ऋणों के साथ शर्तों का बांधना अब एक मानदण्ड बन गया है और आपातकाल प्रबन्धों, जिसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्र भविष्य के लिए ऋण की आवश्यकता को देखते हुए कुछ सहायता प्राप्त करते हैं, में अक्सर आर्थिक शर्तों का कड़ाई से पालन करवाया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रार्थी देशों को आई.एम.एफ. द्वारा प्रवर्तित स्थायीकरण कार्यक्रमों को स्वीकार करना पड़ता है।

नये विकासशील देशों को आई.एम.एफ. के साथ समझौते दबाव स्वरूप करने पड़ते हैं क्योंकि इसी एकमात्र साधन द्वारा वे अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजारों में अपनी साख/उधार पात्रता बना सकते हैं। यहां तक कि अन्य ऋणदाताओं से उधार प्राप्ति हेतु आई.एम.एफ. की "अनुमोदन की मोहर" आवश्यक है।

आई.एम.एफ. के स्थायीकरण कार्यक्रमों के मुख्य लक्षणों में सामान्यतया अवमूल्यन, बजट घाटे में कमी, घरेलू उधार पर प्रतिबन्ध और सार्वजनिक वस्तुओं को अर्थसहायता में कमी आदि सम्मिलित हैं। चाहे ऋण-संकट बाहरी या घरेलू कारणों से उत्पन्न हो, इन व्यवस्थाओं का पालन आवश्यक रूप से किया जाए। दीर्घकालिक घाटों की स्थिति में आई.एम.एफ. की नजर में विदेशी मुद्रा संकटों की मूल जड़ है। मुद्रा स्फीति के विरुद्ध अभियान हेतु आई.एम.एफ. द्वारा सामान्यतः राष्ट्रीय मुद्राओं के अवमूल्यन, आयात और विदेशी मुद्रा पर नियंत्रण को समाप्त करने, मूलभूत खाद्य-सामग्री और सेवाओं हेतु प्रदत्त अर्थ-सहायता में अधिकतम कटौती जैसे प्रस्ताव रखे जाते हैं।

इन सभी उपायों का सार यह है : अ) बाजार-शक्तियों के लिए मुक्त वातावरण ब) मौद्रिक उपायों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की उपस्थिति स) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवरोधों की समाप्ति। निदान और उपाय की दोनों की संदिग्धता के बावजूद, अन्य कोई विकल्प की अनुपस्थिति में, विकासशील देश ऋण हेतु आई.एम.एफ. के द्वार पर पंक्तिबद्ध खड़े हैं।

इन देशों द्वारा इस प्रकार की शर्तों को लागू करने की स्थिति में, अक्सर सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भारी कीमत चुकानी पड़ती है। इन नीतियों के फलस्वरूप सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों में कमी, उच्च आय असमानताएं, बहुराष्ट्रीय निगमों और निर्यात से जुड़े घरेलू शासक वर्ग की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है। ऐसी ही नीतियों के फलस्वरूप ही व्यापक छंटनी, बेरोजगारी और लगभग भुखमरी की सी स्थितियां पैदा हुई हैं। इसके परिणाम स्वरूप आम हड़तालों, दंगों और असंतोष का वातावरण बनता है। इसी सन्दर्भ में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

1) आई.एम.एफ. द्वारा थोपी गई वास्तविक मजदूरी में कटौती के विरुद्ध जून, 1981 में मोरक्को के कासबलान्का शहर में मजदूरों ने हड़ताल की। हड़ताल को दबाने हेतु सैनिक हस्तक्षेप हुआ। 66 लोग मारे गये (सरकारी आंकड़े)।

2) जनवरी, 1984 में, आई.एम.एफ. प्रेरित नीतियों ने ट्युनीसिया में रोटी के लिए संघर्ष को जन्म दिया। इस संघर्ष को कुचल दिया गया जिसमें आधिकारिक तौर पर 140 लोग मारे गए।

3) जनवरी, 1977 में जनता के आंदोलन के दबाव में आकर मिस्र सरकार को आटे, चीनी, तम्बाकू इत्यादि के लिए सरकारी अर्थव्यवस्था पुनः बहाल करनी पड़ी। इस असंतोष में 79 लोग मारे गये। ऐसी घटनाओं के और भी उदाहरण मिल सकते हैं।

अक्सर आई.एम.एफ. के इशारों पर चलने से कई सरकारें गिर चुकी हैं। इस संबंध में 1976 में अर्जेन्टीना की घटना का राजनैतिक परिणाम प्रभावशाली है।

मजदूर संगठनों के प्रबल विरोध के फलस्वरूप आइसाबेल पेरान की नागरिक सरकार आई.एम.एफ. मांगों को लागू करने में असफल रही। सेना ने हस्तक्षेप कर सत्ता संभाली और जन-आंदोलन को कुचल कर आई.एम.एफ. कार्यक्रम को क्रियान्वित किया। इस संबंध में कोस्टारिका के एक राजनीतिज्ञ का कहना है: "सेनाओं से अधिक आई.एम.एफ. द्वारा कई सरकारें गिराई जा चुकी हैं"। यह कथन भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो, पर वस्तुस्थिति का सही ढंग से सार-तत्व प्रकट करता है।

विश्व बैंक भी, सामान्यतया विशिष्ट परियोजनाओं के सन्दर्भ में, ऋण प्रदान करता है। 1980 से इसने "संरचनात्मक ऋण" (स्ट्रक्चरल एडजस्मेंट लोन) प्रारंभ किए हैं, जिनकी अवधि तीन से पांच वर्षों तक होती है। तथापि, आई.एम.एफ. से भिन्न यह बैंक शर्तों की अनुपालना, निर्धारित समष्टिगत आर्थिक करों के आधार पर न कर विशिष्ट उपायों को लागू करने, जैसे, कर-सुधारों या मूल्यों के निश्चित वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि, पर करती है। इसके अलावा, विश्व बैंक के पास सरकारी उद्यमों, निर्यात वर्धन और कृषि से संबंधित कुछ नीतिगत निर्देश होते हैं। परन्तु, सामान्य तौर पर यह बैंक आई.एम.एफ. की एक सहयोगी संस्था के रूप में कार्य करती है और अक्सर सहयोगी निर्देश, आई.एम.एफ. के स्थायीकरण कार्यक्रमों के अधीनस्थ होते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी i) उत्तरों के लिए दिए गए स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाएं।

1) एक बहुराष्ट्रीय निगम की व्याख्या आप कैसे करेंगे?

.....

.....

.....

.....

2) खाली स्थानों को पूरा कीजिए।

i) आई.एम.एफ. स्थायीकरण कार्यक्रमों के मुख्य लक्षण हैं

.....

ii) विश्व बैंक ऋण सामान्य तौर पर ..... के विरुद्ध ऋण होते हैं।

25.5 नव-उपनिवेशवादी संचालन-प्रक्रिया

25.5.1 आर्थिक प्रभुत्व

तीसरी दुनिया के अल्पविकसित देशों पर आर्थिक प्रभुत्व कई तरीकों द्वारा जारी रखा जाता है। यह सत्य है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का आदान-प्रदान मुख्य रूप से विकसित पूंजीवादी देशों के बीच में ही हुआ और इसके अनुपात में तीसरी दुनिया के देशों में प्रत्यक्ष नियोजन में कमी आ गई। जहां 1946 में

अमेरिका के कुल प्रत्यक्ष नियोजन का 43% भाग प्राप्त हुआ और पश्चिमी यूरोप को लगभग 19%। सातवें दशक के मध्य में स्थिति इसके विपरीत थी। अब लैटिन अमेरिका को केवल 17% हिस्सा प्राप्त हुआ जबकि पश्चिमी यूरोप को 37% से अधिक। यह ध्यान रहे कि इस अवधि में प्रत्यक्ष नियोजन, तीसरी दुनिया के शोषण के मुख्य साधनों में से नहीं था।

फिर कैसे तीसरी दुनिया का नव-औपनिवेशिक शोषण होता है? इस हेतु कई क्रियाविधियां हैं, जो साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के मध्य संबंधों के साथ संरचनात्मक रूप से संलग्न है।

1 विश्व व्यापार का ढांचा

विश्व-व्यापार का ढांचा, "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन" के प्रतिष्ठित सिद्धांत पर लगभग आधारित है जिसके अन्तर्गत विकसित पूंजीवादी देश विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते हैं जबकि तीसरी दुनिया के देश "प्राथमिक वस्तुओं" — कच्चे माल और कृषि सामग्री की आपूर्ति करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में कुल विश्व-निर्यात में तीसरी दुनिया की हिस्सेदारी घटती गई—यहां तक कि 1980 में इसकी हिस्सेदारी, 1950 में इसकी हिस्सेदारी के कम हो गई। परिणामस्वरूप, कच्चे माल के प्रदायकों के रूप में अपनी अलाभप्रद स्थिति को भी बनाए रखना तीसरी दुनिया के देशों के लिए कठिन हो गया।

1980 में, जो व्यापार की दृष्टि से तीसरी दुनिया के लिए अच्छा वर्ष था, औद्योगिकृत देशों ने गैर-तेल उत्पाद विकासशील देशों से $135.9b मूल्य का आयात किया। इसमें से 55% प्राथमिक वस्तुएं थीं। केवल 43% भाग निर्मित वस्तुओं का था—जो प्रकटतः काफी बड़ा भाग लगता है। परन्तु, इस 43 प्रतिशत में से, 70 प्रतिशत (अर्थात् कुल तीसरी दुनिया के निर्यात का 31.1%) चार पूर्वी एशियाई देशों से था—जो अन्य बातों के अलावा, अपने विशेषाधिकार दर्जे अमेरिका से निकट संबंधों, और पश्चिमी बाजारों में अपनी आसान पहुंच से अन्य सभी से आगे निकल गए। शेष बचे गैर-तेल उत्पादक विकासशील देशों की कुल निर्मित वस्तुओं के निर्यात में हिस्सेदारी केवल 12.9% रही।

विश्व-व्यापार (अर्थात्, व्यापार की शर्तें) में प्राथमिक वस्तुओं की सापेक्ष स्थिति के अक्षर निर्धारण को इस बात से समझा जा सकता है कि 1980 में एक टन केलों के निर्यात से प्राप्त आय से 10 वर्ष पूर्व में प्राप्त इस्पात की आधी मात्रा ही खरीदी जा सकती थी या जहां 1959 में 20 टन चीनी के निर्यात से प्राप्त आय से एक 60 HP ट्रैक्टर खरीदा जा सकता था, 1982 में वही ट्रैक्टर लगभग 115 टन चीनी को बेचकर प्राप्त किया जा सकता था। वस्तुओं के मूल्यों में इस अनियमित उतार-चढ़ाव का संबंध बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों से होता है, जिनका प्राथमिक वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगभग पूर्ण नियन्त्रण (85-90%) है। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा मूल्य-स्थानान्तरण जैसी गतिविधियों का पहले ही सन्दर्भ दिया जा चुका है, जो अधिकांश विनिमय असमानताओं की जड़ है।

2 मौद्रिक और वित्तीय मामले

1944 में ब्रेटन वुड्स कान्फ्रेन्स द्वारा स्थापित मुद्रा-वित्तीय व्यवस्था ने अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर वर्चस्व को गारंटी प्रदान की। 1971 और 1973 में डालर के उत्तरोत्तर अवमूल्यनों के फलस्वरूप ब्रेटन वुड्स व्यवस्था भंग हुई और अव्यवस्था तथा मौद्रिक संघर्ष के युग का सूत्रपात हुआ। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संरचना के अन्तर्गत तीसरी दुनिया के देशों को इस मौद्रिक और वित्तीय संकट से सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी।

घटती-बढ़ती या अस्थिर विनिमय दरों ने स्थायी तौर पर अनिश्चितता को जन्म दिया। मुद्राओं के अवमूल्यन की स्थिति में, इसके परिणामस्वरूप निर्यात आय के वास्तविक मूल्य में कमी और विदेशी मुद्रा निधि के क्षितीकरण से नहीं बचा जा सकता।

दूसरे, विकसित देशों में बढ़ते हुए मुद्रास्फीति के संकट को, मूल्यों में हेर-फेर द्वारा बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए लाभ की अधिकतम गुंजाइश रखते हुए, तीसरी दुनिया के देशों पर लाद दिया गया है जिससे ये देश दिनों दिन निर्बल हो रहे हैं।

25.5.2 राजनैतिक हस्तक्षेप

आप अब नव-उपनिवेशवाद की एजेन्सियों जैसे, बहुराष्ट्रीय निगमों, आई.एम.एफ. और विश्व बैंक के कार्यकलापों से परिचित हो गये हैं।

आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि कई तीसरी दुनिया के देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियां केवल आर्थिक मामलों तक सीमित नहीं हैं और न ही इन देशों में आई.एम.एफ. का हस्तक्षेप विशुद्ध रूप से आर्थिक और वित्तीय संकटों से उबरने हेतु होता है। यदि आई.एम.एफ. अपनी शर्तों को व्यापक बेरोजगारी और घाटे के भुगतान के बावजूद मनवाता है तो निश्चित रूप से यह एक स्पष्ट राजनैतिक भूमिका अपना रहा होता है।

इस इकाई में हमने उल्लेख किया था कि कैसे अर्जेन्टीना की नागरिक सरकार को व्यापक हिंसा के बाद गिरा दिया गया, जिससे कि आई.एम.एफ. के ऋण को प्राप्त कर उसकी नीतियों की अनुपालन की जा सके। इसी नीति की पुनरावृत्ति ब्राजील (1964), चिली (1973), टर्की और द. कोरिया जैसे और भी कई देशों में की गई। सरकार के तख्ता पलटने जैसे प्रमुख घटनाओं के अलावा मंत्रियों या बैंक अधिकारियों के पद छोड़ने के कई दृष्टान्त मिलते हैं जिससे कि आई.एम.एफ. ऋण लेने के लिए रास्ता साफ हो जाए।

ऐसे राजनीतिक वातावरण में, बहुधा ये बहुराष्ट्रीय निगम अपनी प्रतिष्ठा और उत्पादन, विपणन और व्यापार पर अपने नियंत्रण के बल पर, अवज्ञाकारी सरकारों के लिए अधिक से अधिक आर्थिक समस्याएं खड़ी करते हैं। उदाहरण के तौर पर, 1972-1976 में जमैका की मानले सरकार के विरुद्ध अमेरिका बॉक्साइड बहुराष्ट्रीय कंपनियों या ग्वाटेमाला से यूनाइटेड कं. की भूमिका सर्वविदित है। चिली के विद्रोह में इण्टरनेशनल टेलिफोन्स और टेलिग्राफ्स के हस्तक्षेप के बारे में हम पढ़ चुके हैं।

इस विवेचन के बाद अब हमारे लिए पूर्व-उल्लिखित तीसरे आल-अफ्रीकन पीपुल्स कान्फ्रेंस की घोषणा की धारा (अ) का अर्थ समझना सरल हो गया है, जिसमें "भ्रष्ट नागरिक या सैन्य अधिकारियों पर आधारित..... कठपुतली सरकारों" की नव-उपनिवेशवाद की अभिव्यक्ति के रूप में भर्त्सना की गई थी।

25.5.3 सैन्य हस्तक्षेप

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व साम्राज्यवादी देश सैनिक अभियान या नियमित रूप से सैनिक हस्तक्षेप में लिप्त रहते थे। परन्तु, युद्ध के बाद से उनके तरीके काफी जटिल (परिष्कृत) हो गए हैं। आजकल सामान्यतया अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु ये मित्र राष्ट्रों या अपने आश्रित राष्ट्रों को प्रतिनिधि के रूप में प्रयोग करते हैं। तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखने वाले शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय निगम उन देशों से राजनैतिक, कूटनीतिक और सैनिक सहयोग प्राप्त करते हैं।

सैनिक साधनों के द्वारा अर्थात् अपनी सैनिक सहायता कार्यक्रमों या सैन्य हस्तक्षेप की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष धमकी, गुप्त रूप से सी.आइ.ए. द्वारा प्रेरित विध्वंसक योजनाओं या आकस्मिक शासन परिवर्तनों द्वारा ये बहुराष्ट्रीय निगमों के हितों की रक्षा करने वाली कठपुतली सरकारों का गठन करते हैं। पश्चिमी एकाधिकारी पूंजी के आर्थिक हितों के लिए एक सहायक राजनैतिक और आर्थिक वातावरण की जरूरत होती है। इन हितों को देखते हुए साम्राज्यवादी देशों की विदेश-नीतियों का विगत में निर्धारण किया जाता रहा है। अतः यह स्वाभाविक है कि ये देश न केवल रेडिकल और वाम-पक्ष की पार्टियों और संगठनों के प्रति बल्कि उन राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी विरोधी और निर्गुट विदेश नीति पर चलने वाले देशों के प्रति भी शत्रुतापूर्ण और संदेहास्पद रवैया अपनाते हैं। ब्राजील में गोलार्ट, ग्वाटेमाला में अरबेंज, डोमिनकन गणराज्य के बोस या ईरान में मोस्सदेग के प्रति अमेरिका शत्रुता और चिली में आईन्दे की वामपंथी सरकार के प्रति अमेरिकी रवैया इस बात को स्पष्ट करता है।

ऐसी परिस्थितियों में सैन्य शक्ति का प्रयोग गुप्त रूप से सी.आई.ए. जैसे संगठनों के माध्यम से किया जाता है, जो सरकारों का तख्ता पलटने जैसे कार्यों में सक्रिय रही हैं (उदाहरणार्थ दक्षिणपंथी तत्वों के साथ सांठ-गांठ कर मोस्सदंग का तख्ता उलटने में कर्मिट रूजवेल्ट की भूमिका)। परन्तु, अक्सर सेनाओं को संगठित, सुसज्जित और प्रशिक्षित कर उनका प्रयोग बहुराष्ट्रीय निगमों के हितों के प्रतिकूल सरकारों को गिराने में किया जाता है। 1954 में ग्वाटेमाला के अरबेंज का तख्ता-पलट, 1961 की बे आफ पिग्स घटना, 1973 में चिली में आइन्दे सरकार का तख्ता-पलट, या अभी हाल ही में निकारागुआ के कौन्ट्रा विद्रोहियों को भारी मात्रा में शस्त्रों, वित्तीय और सैनिक सहायता ऐसे ही हस्तक्षेपों के उदाहरण हैं।

अमेरिकी साम्राज्यवाद किस हद तक नव-उपनिवेशवाद हितों की रक्षा के लिए जा सकता है, यह इससे स्पष्ट होता है कि यह अपनी सीमा से बाहर जाकर भी, अमेरिका और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दक्षिणपंथी सैनिक तानाशाही सरकारों को सहायता प्रदान करता है। साथ में दी जा रही तालिका, दक्षिणपंथी देशों को कुल अमेरिकी और बहुराष्ट्रीय निगमों की आर्थिक और सैनिक सहायता में वृद्धि को प्रतिशत में व्यक्त करती है। संसदीय जनतंत्र को कुचलने के अतिरिक्त इन सभी सरकारों के चार विशिष्ट लक्षण थे।

अ) यंत्रणा और खूनी दस्तों का बढ़ता प्रयोग।

ब) राजनैतिक बंदियों की संख्या में भारी वृद्धि।

स) मजदूर वर्ग का दमन (अर्थात्, बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पूंजी निवेश हेतु सहायक वातावरण)

द) कर संबंधी नियमों में छूट (निवेश हेतु और अधिक लाभप्रद वातावरण)

दक्षिणपंथी सरकारों की स्थापना के बाद उन देशों की US+TNC सहायता में वृद्धि प्रतिशत में

	ब्राजील	चिली	डोमिनिकन गणराज्य	ग्वाटेमाला	इण्डोनेशिया	ईरान
सामरिक राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ष (सैनिक तख्ता-पलट या दमनकारी सरकारों की स्थापना)	1964	1973	1965	1954	1965	1952

आर्थिक और सैनिक सहायता में प्रतिशत वृद्धि (US+INC)	112%	770%	135%	5,300%	62%	900%

(स्रोत: Szymanski, Albert: The Logic of Imperialism. Praeger Publishers, NY 1981, P. 212)

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन में विश्व-व्यापार के मुख्य लक्षण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) तीसरी दुनिया के देशों में कुछ प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष नव-औपनिवेशिक सैनिक हस्तक्षेपों के उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

25.6 विकासशील देश और नव-उपनिवेशवाद

यहां हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक देशों की शासन-प्रणाली की प्रकृति क्या है? यदि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद अपने आधिपत्य को बनाये रखना चाहते हैं, तो स्वतंत्र राष्ट्र इन प्रयासों के प्रति कैसा रुख अपनाते हैं? यहां हमारा ध्यान उपनिवेशवाद के समाप्त होने के बाद राज्य की प्रकृति की ओर जाता है। चूंकि, आप एक अन्य इकाई में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के बारे में विस्तार से पढ़ेंगे, यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपनिवेशवाद, उपनिवेशों को साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था से संलग्न कर उन्हें विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में सम्मिलित करता है। उपनिवेशवाद ने एक शिक्षित राजनैतिक कुलीन वर्ग को जन्म दिया, जिसने अधिकांश तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय आंदोलनों को नेतृत्व प्रदान किया और अंततः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासन अपने हाथों में लिया। शासक वर्ग की प्रकृति और उसका संयोजन हर देश के लिए भिन्न-भिन्न होते हुए भी मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ये कुलीन तंत्र, या वर्ग (मार्क्सवादी शब्दावली में) राष्ट्रवादी होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे, या औपनिवेशिक या साम्राज्यवादी आर्थिक हितों के अधीनस्थ थे, अर्थात्, वे "कम्प्राडोर" बुर्जुआ वर्ग थे। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति ही ऐसी थी कि इसने उपनिवेशों को बाहरी पूंजी पर निर्भर रखा। सही मायनों में राष्ट्रवादी सरकारें, जो अपने देशों में उत्पादन के साधनों या उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करते हैं उन सरकारों की विचारधारात्मक दिशा के आधार पर इससे स्वतन्त्र पूंजीवादी विकास या समाजवादी अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। लेकिन जहां एक अधीनस्थ स्थिति में बुर्जुआ वर्ग, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के साथ समझौता करता है, उसे "कम्प्राडोर" कहा जाता है जो एक लैटिन अमेरिकन शब्द है। देशीय, राष्ट्रीय, कम्प्राडोर या नौकरशाही बुर्जुआ वर्ग, इन सब को ध्यान से समझना जरूरी है क्योंकि तीसरी दुनिया के देशों में उनके संघटन के सन्दर्भ में कोई एक राय नहीं है। यहां हमें एक महत्वपूर्ण पहलू पर ध्यान देना है। यद्यपि, नये स्वतंत्र हुए देश आर्थिक रूप से पूर्णतः या आंशिक रूप से भी स्वतंत्र नहीं हैं, सामाजिक न्याय और आर्थिक विकास की मांग उनकी सरकारों पर बहुत दबाव डालती है। इसलिए ये सरकारें हमेशा मुक्त रूप से विदेशी पूंजी के साथ सहयोग नहीं कर सकतीं, न ही सामाजिक-न्याय की मांग की अवहेलना कर सकती हैं। उन्हें अपने शासन हेतु वैधता प्राप्त करनी होती है। अतः वे विदेशी पूंजी के सन्दर्भ में मध्यस्थता का मार्ग अपनाते हुए समझौतावादी नीति अपनाते हैं। तीसरी दुनिया के देशों की राजनैतिक सरकारों का संयोजन, समझौते की योग्यता और स्थानीय दबावों का सामना करने का सामर्थ्य भिन्न-भिन्न पाया जाता है। उदाहरणार्थः अफ्रीका में जायरे खनिज दृष्टि से एक प्रचुर देश है, जिस पर विदेशी पूंजी का पूर्ण नियंत्रण है। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी द्वारा जायरे के शोषण से उसकी सामाजिक संरचना में विकृतियां उत्पन्न हुई। शक्तिशाली विदेशी कंपनियों ने बड़े पैमाने पर भूमि का स्वामित्व प्राप्त कर किसानों को कंगाली के कगार पर पहुंचाया, जबकि उनके वाणिज्य और उद्योग पर एकाधिकार ने शहरी या ग्रामीण क्षेत्र में एक विशुद्ध राष्ट्रीय बुर्जुआजी के उभरने का मार्ग बंद कर दिया। सत्तारूढ़ कर्नल मोबुतिन और उसकी एम.पी.आर. पार्टी (जन क्रान्तिकारी आंदोलन) विदेशी निवेशकों और जायरे के प्रचुर प्राकृतिक साधनों के मध्य बिचौलियों का कार्य करते हैं"। खान कंपनियों द्वारा किए जा रहे जायरे के लगातार शोषण से कोई मूलभूत आपत्ति तब तक नहीं है जब तक कि जायरे के शासकों को खानों से प्राप्त अतिरेक (सरप्लस) का एक बड़ा हिस्सा मिलता रहे"। इस प्रकार खनिज दृष्टि से प्रचुर जायरे

में जहां शासक गुट ने स्वयं को समृद्ध बना दिया, प्रति व्यक्ति आय विश्व में निम्नतम हो गई और देश का ऋण भार सीमाओं से भी विस्तृत हो गया। लैटिन अमेरिका में वेनेजुएला, ब्राजील और मैक्सिको में कुछ सीमा तक पूंजीवादी विकास हुआ है परन्तु यह विदेशी पूंजी से बंधा है।

जहां विदेशी निवेशकों की उपस्थिति सरकारों के लिए राजनैतिक संकट पैदा करती है, वहीं स्वयं की ग्राह्यता के लिए स्थानीय फर्मों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जाता है। इससे साझा व्यवसाय और हिस्सेदारी का मार्ग प्रशस्त होता है जो औपनिवेशिक नीति का ही आधुनिकतम रूप है और जिसका उद्देश्य उपनिवेशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव में रखना था। उदाहरण के तौर पर ब्रिटिश पूंजी निवेशकों ने भारत के सबसे संगठित एकाधिकार समूहों जैसे टाटा, बिड़ला के साथ सहयोग किया ताकि वे भारत सरकार द्वारा किसी संभावित पक्षपातपूर्ण नीति से स्वयं की रक्षा कर सकें।

25.7 सारांश

आप इस इकाई में पढ़ चुके हैं कि किस प्रकार समाज के विकास की किसी एक विशिष्ट अवस्था पूंजीवाद ने एक विश्व-व्यापी संस्था का रूप धारण किया और किस प्रकार पूंजीवाद के भीतर संरचनात्मक परिवर्तनों से समृद्ध देशों और पिछड़े देशों के मध्य संबंधों के स्वरूप में परिवर्तन आया। आप अध्ययन कर चुके हैं कि एकाधिकारी पूंजी के आविर्भाव ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, जिसने पूर्व के उपनिवेशवाद की प्रकृति को पूर्णतः बदल दिया। अंत में, आपने यह भी देखा कि पूर्व के औपनिवेशिक साम्राज्यों के पतन और कई देशों द्वारा प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण से मुक्त होने, तीसरी दुनिया में कई सम्प्रभु देशों के उद्भव के फलस्वरूप आधिपत्य बनाए रखने के नीवन तरीके अपनाये गए। इस प्रकार, नव-उपनिवेशवाद, पूंजीवादी विकसित देशों द्वारा अल्प-विकसित देशों पर निरन्तर आर्थिक और अप्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण है।

नव-उपनिवेशवाद मुख्य रूप से आर्थिक क्षेत्र में क्रियाशील रहता है परन्तु धीरे-धीरे यह तीसरी दुनिया के देशों पर राजनैतिक और सैनिक नियंत्रण पुनर्स्थापित करने का प्रयास करता है। यह कई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा किया जाता है। तीसरी दुनिया के देशों पर नव-औपनिवेशिक प्रभुत्व की मुख्य एजेन्सियां शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय निगम और आई.एम.एफ. और विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं हैं।

अंत में, हमने नव-उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में तीसरी दुनिया के राज्य, और इन देशों के शासक वर्ग की साम्राज्यवाद के साथ अवसर सहयोग और कभी-कभी विरोधात्मक भूमिका का भी विवेचन किया। ये तीसरी दुनिया के शासक वर्ग बहुधा साम्राज्यवादी देशों के सन्दर्भ; में एक अधीनस्थ और मध्यस्था की भूमिका निभाते हैं।

25.8 शब्दावली

विस्तारवादी: वह देश जो अपने प्रदेश और/या राजनैतिक प्रभाव को बाह्य रूप से बढ़ाना चाहता हो।

आर्थिक-अधशेष: समाज की आय/उत्पाद का वह भाग जो चालू खपत के अलावा शेष रहता है। (अर्थात्, मजदूरी इत्यादि के भुगतान के बाद)

वस्तु-उत्पादन: बाजार में विनियम हेतु वस्तुओं का उत्पादन

भुगतान शेष: इसका सन्दर्भ किसी देश की विदेशी पूंजी निधि से जो प्रत्यक्षतः उस देश के आयात और निर्यात पर निर्भर करती है। चूंकि विदेश व्यापार विदेशी मुद्रा के माध्यम से होता है, नेट निर्यात या नेट आयात क्रमशः भुगतान शेष की अच्छी या बुरी स्थिति को प्रदर्शित करते हैं।

अवमूल्यन: अन्य मुद्राओं की तुलना में एक देश द्वारा अपनी मुद्रा की कीमत में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कमी।

25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नक्रुमा, क्वामे, 1965, *नियो-कोलोनियलिज्म: द लास्ट स्टेज ऑफ इम्पीरियलिज्म.* थोमस सेल्सनः लंदन।

ओ' कोनोर, जेम्स, 1974, द *कार्पोरेशन एंड द स्टेट*।

ओवेन, रोजर एवं सुतसेफ, बॉब, (सम्पादित), 1983, *स्टडीज इन द थियरी ऑफ इम्पीरियलिज्म,* लोंगमेन बैडन।

कोर्नर, पीटर, मॉस, गोरोसिबाल्ड, *थोमस तेगजलॉप्ट*, फेनर, 1984, द आई.एम.एफ. एंड द डेब्ट क्रायसिस, जेड बुक्स।

25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) वाणिज्य पूंजी, बागानों और उपनिवेशों की स्थापना के दौर का प्रारंभिक उपनिवेशवाद
   ii) औद्योगिक पूंजी के आविर्भाव के फलस्वरूप उत्पन्न "नवीन उपनिवेशवाद"
   iii) एकाधिकारी पूंजी या साम्राज्यवाद के युग में उपनिवेशवाद
   iv) नव-उपनिवेशवाद

2) औद्योगिक पूंजी

बोध प्रश्न 2

1) एक बहुराष्ट्रीय निगम की मूलभूत विशेषता यह है कि ये अन्य फर्मों से भिन्न, कई देशों के एक से अधिक बाजारों में और विभिन्न वस्तुओं का एक साथ व्यापार करते हैं।

2) i) अवमूल्यन, बजट घाटे में कमी, आंतरिक ऋण पर अंकुश और सरकारी अर्थ सहायता में कमी।
   ii) विशिष्ट परियोजनाओं

बोध प्रश्न 3

1) विश्व व्यापार में वर्तमान स्थिति में तीसरी दुनिया के देशों की स्थिति अत्यन्त अलाभप्रद है क्योंकि विकसित व्यापारिक देश अपने कुछ अत्यन्त निकट के देशों को छोड़, अन्य विकासशील देशों से मुख्यतया कच्चे मालों को खरीदते हैं जबकि वे निर्मित वस्तुओं का व्यापार करते हैं।

2) ग्वाटेमाला, क्यूबा, चिली, निकारगुआ इत्यादि।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGPS - 04
समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंध

शीत युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय संबंध

प्रस्तावना		3
1.0	शीतयुद्ध के बाद की राजनीति के लक्षण	5
2.1	खंड 1, इकाई-1	6
3.1	खंड 1, इकाई-2	7
4.1	खंड 1, इकाई-2	10
5.1	खंड 2, इकाई-3	11
6.1	खंड 2, इकाई-4	12
7.1	खंड 3, इकाई-5	13
8.1	खंड 4, इकाई-10	15
9.1	खंड 4, इकाई-9	16
10.1	खंड 5, इकाई-12	20
11.1	खंड 6, इकाई-15	21
12.1	खंड 6, इकाई-15	24
13.1	खंड 6, इकाई-17	25
14.1	खंड 7, इकाई-18	27
15.1	खंड 7, इकाई-20	29
16.1	खंड 7, इकाई-20	31
17.1	खंड 7, इकाई-21	32
18.1	खंड 8, इकाई-24	34
19.1	खंड 8, इकाई-25	36
20.1	शीतयुद्ध के बाद की विश्व राजनीति : एक समीक्षा	38

प्रस्तावना

शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कई महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। कुछ बदलाव बहुत तेज रफ्तार से आए और विश्व-व्यवस्था पर उनका ठोस असर पड़ा। ऐसा लगता है कि इस परिवर्तन की त्वरित गति ने इतिहास का स्वरूप ही बदल दिया है। परिवर्तन की व्यापकता ने नए ढांचों, प्रक्रियाओं और दरों को जन्म दिया। कुछ परिवर्तन तो इतने अनापेक्षित हुए कि अनिश्चितता की स्थिति पैदा कर दिए। सोवियत संघ के विघटन और पूर्वी यूरोप की सोवियत समर्थित समाजवादी सरकारों के पतन के चलते, शीतयुद्ध के खत्म होते-होते विश्व व्यवस्था और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के समीकरण तेजी से बदलने लगें। 1990 तक द्वि-ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा और शीतयुद्ध समाप्त हुआ।

1991 में सोवियत संघ 15 स्वतंत्र राज्यों में विघटित हो गया और पूर्वी यूरोप के देशों ने सामाजिक-आर्थिक जीवन की सोवियत प्रणाली को तिलांजलि दे दी। सोवियत संघ के विघटन के बाद समाजवादी आर्थिक और राजनैतिक प्रणाली की जगह पूंजीवादी व्यवस्था न ले ली और विश्व पूंजीवादी ने एक नए चरण में प्रवेश किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मार्सल टीटो के नेतृत्व में समाजवादी युगोस्लाविया 'राष्ट्र-राज्य' के तहत संगठित दक्षिणी स्लावों की एकता समाप्त हो गई। बोस्निया हर्जेगोविना और क्रोशिया के अलग हो जाने के बाद सर्बिया-मॉटेनेग्रो ने अपने को युगोस्लाविया घोषित कर दिया। लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस नाम से उन्हें मान्यता देने से इंकार कर दिया और सर्बिया से सदस्यता के लिए नई अर्जी देने को कहा। युगोस्लाविया के बाद सर्बो, क्रोशों और बोस्नियाई मुसलमानों के बीच की आपसी कलह से रक्तपात का अभूतपूर्व दौर शुरू हुआ जो अभी तक जारी है। संयुक्त राष्ट्र संघ और नाटो के इस क्षेत्र में शांति स्थापनों के प्रयास असफल साबित होते दिख रहे थे। लेकिन सितंबर- अक्टूबर 1995 में हुए समझौते के चलते युद्ध-विराम की स्थिति ने क्षेत्र में थोड़ी राहत पैदा की।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद गठित एक और पूर्वी युरोपीय राष्ट्र चेकोस्लवाकिया का भी विभाजन हो गया। जनवरी, 1992 में चेकोस्लवाकिया की दो प्रमुख जातियों चेक और स्लोवाक के लोग शांति पूर्ण तरीके से दो अलग-अलग देशों में बंट गए। 1938-39 में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नाजी जर्मनी की विस्तारवादी नीतियों का शिकार बनने के बाद 1945 में चेकोस्लवाकिया पुनर्गठित हुआ था। विभाजन के पहले ही चेकोस्लवाकिया कम्युनिस्ट शासन को, अलविदा कह चुका था।

श्रीलंका में तमिल-सिंहला जातीय-कलह शीत युद्ध समाप्ति के काफी पहले से ही जारी है। इस समस्या से इस द्वीप देश की अखंडता को खतरा पैदा हो गया है। यद्यपि यह श्रीलंका का अंदरूनी मामला है लेकिन भारत की राजनीति पर भी इसका असर पड़ रहा है।

इराक-इरान युद्ध का लंबा दौर 1988 में समाप्त हुआ। लेकिन 1990 में इराक ने कुवैत पर कब्जा करके इसे अपना 19वां प्रांत घोषित कर दिया। संयुक्त-राष्ट्र जब इराक को कुवैत से कब्जा हटाने के लिए राजी करने में नाकाम रहा तो सुरक्षा-परिषद की अनुमति से अमेरिका के नेतृत्व में उसके सहयोगी देशों की सेनाओं ने इराक पर आक्रमण कर दिया। कुवैत को मुक्त कराने के नाम पर इराक के सैनिक ठिकानों के साथ-साथ रिहायशी इलाकों में भी अंधाधुंध बमबारी करके अमेरिका और सहयोगी देशों की सेनाओं ने इराकियों का जन-जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया। 1991 में इराक द्वारा बिना शर्त समर्पण से 'खाड़ी युद्ध' समाप्त हुआ लेकिन इराक पर आर्थिक प्रतिबंध अभी भी बरकरार है।

अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद ने भी दुनिया के कई देशों में गंभीर समस्या खड़ी कर दी है। भारत और ब्रिटेन भी आतंकवाद की समस्या से ग्रस्त हैं। आज अंतरराष्ट्रीय संबंधों की प्रक्रिया में भागीदारी संप्रभु राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रह गई है। इनके अलावा कई और कारक अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने लगे हैं। धार्मिक और जातीय समूह, बहुराष्ट्रीय कंपनियां और आतंकवादी संगठन ऐसे ही कारक हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के गंभीर अध्येता इन गैर-राष्ट्र कारकों को नजरअंदाज नहीं कर सकते। शीत युद्ध के अंत से द्वि-ध्रुवीय प्रणाली को आघात

पहुंचा है और सर्वशक्तिमान देश के रूप में अमेरिका के उदय ने गैर-राष्ट्र कारकों के महत्व को बढ़ाकर 'अंतरराष्ट्रीय अराजकता' की अंतरराष्ट्रीय संबंधों की समझ और उसके विश्लेषण के लिए एक नए और महत्वपूर्ण उपादिन का आविर्भाव हुआ है। जिसे 'नव-यथार्थवाद' नाम दिया गया है। शीत युद्ध के बाद भी तनाव और अशांति का माहौल बना हुआ है। लेकिन कई सकारात्मक बातें भी हुई हैं। इज़ायल–गो०एल०ओ० के वार्तालाप के परिणामस्वरूप स्वायत्त फ़िलीस्तीन के गठन से पश्चिम एशिया में शांति-स्थापना की उम्मीद पैदा हुई है। सैनिक तानाशाही से त्रस्त हैती में अमेरिकी हस्तक्षेप और हैती के जन-मानस के संकल्प के चलते जिस तरह निर्वाचित गैर-सैनिक सरकार की स्थापना हुई, उल्लेखनीय है। इस लेख में आप नवयथार्थवाद, शीत युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय राजनीति के बदलते चरित्र, एवं संघर्ष, कलह और शांति-स्थापना की विभिन्न घटनाओं के बारे में पढ़ेंगे।

1.1 शीत युद्ध के बाद की राजनीति के लक्षण

शीत युद्ध के बाद के दौर में विश्व राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के निर्धारण में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सबसे महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभरा है। सोवियत संघ के विघटन के बाद, एकमात्र महाशक्ति के रूप में, अमेरिका 'भूमंलीकरण' के नारे के तहत विश्व राजनीति का मुखिया बन गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व व्यापार संगठन (डब्लू०टी०ओ०) और विश्व बैंक तथा अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी आर्थिक संस्थाएं अमेरिका के नियंत्रण और आधिपत्य की संस्थाएं बन गई हैं। लेकिन एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था लंबे समय चलती नहीं दिखती। जर्मनी और जापान महाशक्ति बनने की दिशा में अग्रसर दिखते हैं। दूसरे यदि परमाणु अस्त्रों वाली शक्तियां जन संहारक हथियारों को नष्ट करने या कम करने में नाकाम रहीं तो बहु ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था अवश्यंभावी है। विकासशील देशों का विकास विकसित देशों की दया पर निर्भर न रहें, इसके लिए उत्तर दक्षिण सहयोग जरूरी है। जी-7 के विकसित औद्योगिक देशों के विकास के नाम हस्तक्षेप के जरिए तीसरी दुनिया के देशों पर पूंजीवाद की पकड़ मजबूत होती जा रही है। पश्चिमी देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से शुरू नए साम्राज्यवाद ने एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों की संप्रभुता के लिए खतरा पैदा कर दिया है। शीत युद्ध के बाद इन देशों में चल रहे उदारीकरण के दौर विकसित देशों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के महत्वपूर्ण हस्तक्षेप के परिणाम हैं। उदारीकरण नव-उपनिवेशवाद का माध्यम बनता जा रहा है। शीत युद्ध के बाद के दौर के जातीय संघर्षों ने विश्व-शांति के लिए खतरा पैदा कर दिया है जो कि चिंता का विषय है। श्रीलंका, पाकिस्तान और पूर्व युगोस्लाविया में अब तक लाखों लोग जातीय संघर्षों में बलि चढ़ चुके हैं। श्रीलंका के तमिल विद्रोह ने देश की अखंडता के लिए संकट पैदा किया है तो पाकिस्तान में मुहाजिरों के दमन के परिणाम स्वरूप हिंसक जातीय संघर्ष के बंद होने के आसार फिलहाल तो नहीं दिख रहे हैं। पूर्व-युगोस्लाविया में तीन वर्षों से अधिक समय से चल रहा जातीय संघर्ष चिंताजनक बना हुआ है। सर्बों और क्रोशों के संघर्ष तथा बोस्निया में सर्बों और मुसलमानों के बीच संघर्ष से उत्पन्न गृहयुद्ध को रोकने और क्षेत्र में शांति स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ और नाटो लगे हुए हैं।

सोमालिया में कुनबाई संघर्ष तथा अफगानिस्तान में गृहयुद्ध भी विश्व-शांति के लिए खतरा पैदा कर दिए हैं। अफगान समस्या सोवियत संघ के विघटन के चलते ज्यादा गंभीर हो गई। कुछ परमाणु शक्तियों (फ्रांस और चीन) द्वारा परमाणु परीक्षण बंद करने से इंकार से परमाणु-मुक्त दुनिया की स्थाना की अवधारणा को गहरा झटका लगा है। इसके अलावा शीत युद्ध के संकट के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ के 50 साल पूरे कर लेना इस विश्व संगठन की उल्लेखनीय उपलब्धि है। आज की स्थितियों में विश्व-सरकार की बात तो खैर हवाई खयाल है लेकिन इस दिशा में बढ़ने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूत बनाना जरूरी है। राजनीतिज्ञों, समाचार-माध्यमों एवं आम नागरिकों में यह भावना जोर पकड़ रही है कि 21वीं शताब्दी में भूमंडलीय व्यवस्था स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का पुनर्गठन होना चाहिए।

2.1 खंड 1, इकाई 1 *पश्चलेख*

2.1.1 अंतरराष्ट्रीय संबंधों का बदलता संदर्भ

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय संबंधों के संदर्भ और चरित्र में कई दूरगामी परिवर्तन हुए थे। पहले विश्व राजनीति पर यूरोपीय देशों का प्रभुत्व था। राष्ट्रों के बीच संबंधों का निर्धारण आमतौर से विदेश मंत्रालयों के दफ्तरों में गुप-चुप कर लिए जाते थे और आम नागरिक का उनसे संबंध न के बराबर था। समझौते गुप्त रखे जाते थे। राजदूतों को सरकारों के सामान्य निर्देश मिलते थे बाकी बातें वे अपनी नियुक्ति के देशों की हालात के अनुसार खुद तय कर लेते थे। आज परमाणु शक्तियों की उपस्थिति ने न सिर्फ युद्ध का चरित्र बदल कर शक्ति-संतुलन की जगह आतंक-संतुलन स्थापित कर दिया है बल्कि राजनय के चरित्र को भी बदल दिया है। आज हम जेट-युग में जी रहें हैं और राष्ट्राध्यक्ष और उनके विदेशमंत्री खुद देश-विदेश जाकर अंतरराष्ट्रीय संबंधों का निर्धारण करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पहले भारत से इंग्लैंड जाने से 20 दिन लगते थे अब 9 घंटों में ही यह यात्रा हो जाती है। आधुनिक संचार माध्यमों ने विश्व के राजनीतिज्ञों को एक दूसरे से सीधे संपर्क की स्थिति में कर दिया है। इससे राजदूतों की भूमिका घट गई है अब तो उन्हें हर समय अपनी सरकार के निर्देशों की ही लागू करना होता है, वे अपने विवेक से निर्णय नहीं ले सकते क्योंकि निर्देश लगातार अविलंब मिल जाते हैं।

औपनिशिक शासनों की समाप्ति का परिणाम स्वरूप बहुत से संप्रभु राष्ट्रों का उदय हुआ। भारत जैसे यूरोपीय देशों के कई पूर्व-उपनिवेश अंतरराष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण कारक बन गए। आज विश्व राजनीति के रंगमंच पर उनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। सोवियत संघ के विघटन से संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या और बढ़ गई। नारू जैसे छोटे देश भी संयुक्त राष्ट्र की महासभा में बराबर का मताधिकार रखते हैं।

1990-93 के दौरान लिक्टेन्शटाइन, सैन-मारिनो, मोनारो और अंडोरा, चार अत्यंत छोटे-राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ में 1945 में 51 सदस्य थे जिनकी संख्या बढ़कर 1975 में 184 हो गई है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में बहुत सारे राष्ट्र-राज्यों की भागीदारी के अलावा कई गैर-राष्ट्र समूह भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मसलन, आतंकवादी समूहों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रभाव विश्व राजनीति पर स्पष्ट दिखाई देते है। महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के विघटन के बाद अमेरिका एक मात्र महाशक्ति बचा है और बिना किसी प्रतिद्वंद्वी के अंतरराष्ट्रीय संबंधों के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभा रहा है। गुट निरपेक्ष आंदोलन अब प्रभावहीन संगठन बन चुका है और 'तीसरी दुनिया' की भूमिका बदल चुकी है।

3.1 खंड-1, इकाई-2 *पश्चलेख*

3.1.1 यथार्थवाद, आदर्शवाद और नव-यथार्थवाद

इकाई 2 में आप पढ़ चुके है कि यथार्थवाद और आदर्शवाद अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के दो प्रमुख उपादान रहे है। कौटिल्य और मैक्यावली के पदचिन्हों पर चलते हुए, 20वीं सदी के दो प्रमुख यथार्थवादी लेखकों, जॉर्ज केन्नान और मार्भन्यॉव ने प्रतिपादित किया कि शक्ति के लिए संघर्ष के लिए ही अंतरराष्ट्रीय संबंधों का केंन्द्र-बिंदु है। इनके अनुसार, चूंकि हर व्यक्ति को लगता है कि दूसरा व्यक्ति उसे नष्ट कर देने पर उतारू है इसलिए उन्हें अपनी रक्षा में दूसरों को समादा करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। यही मूलभूत मानव प्रवृत्ति राज्यों में भी परिलक्षित होती है। इसलिए, यथार्थवादी तर्क है कि राज्यों के बीच प्रतिद्वंद्विता और तनाव की स्थिति सदा मौजूद रहती है। जिस तरह व्यक्ति का व्यवहार उसके निजी हितों से निर्धारित होता है उसी तरह राज्यों की विदेशनीति का निर्धारण राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में होता है। अतः, जैसा आपने ऊपर पढ़ा, शक्ति के अर्थों में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एकमात्र यथार्थ है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैचारिक स्तर पर यथार्थवाद, दरअसल, विल्सोनियन आदर्शवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उभरा। दोनों विश्व युद्धों के बीच के दौर में आदर्शवादियों का मानना था कि युद्ध दुर्घटना है और पाप भी। इनके अनुसार, युद्ध इस मायने में दुघर्टना थी कि "सम्राटों के इस अंतिम वाद-विवाद (युद्ध)" का सार्थक विकल्प देने वाली किसी अंतरराष्ट्रीय संस्था का अभाव था। युद्ध को पाप इसलिए माना गया कि यह मनुष्य के स्वभाव के नकारात्मक पहलुओं को उजागर करता है जिनको दमित करना चाहिए। आदर्शवादियों को विश्वास था कि एक ऐसी विश्व-व्यवस्था का निर्माण अवश्यंभावी है कि मनुष्य के अच्छे और सकारात्मक गुणों और स्वभाव के चलते एक ऐसी विश्व-व्यवस्था का निर्माण होगा जिसमें युद्ध, गैर-बराबरी और दमन के लिए कोई जगह नहीं होगी।

नई विश्व व्यवस्था विवेक, शिक्षा और विज्ञान की आधार शिला पर खड़ी होगी। आदर्शवाद अंतरराष्ट्रीय संबंधों के बारे में भविष्य की विश्व-व्यवस्था का एक ऐसा खाका पेश करते हैं जो शक्ति की राजनीति, हिंसा और अनैतिकता से पूरी तरह मुक्त होगी। इसके अनुसार, सभी राष्ट्रों के समर्थन और विश्वास वाला एक अंतरराष्ट्रीय संगठन दुनया को प्रतिद्वंद्विता और युद्ध से मुक्त कर सकता है। इस तरह आदर्शवादी और यथार्थवादी उपादानों के मुख्य मतभेद शक्ति की समस्या को लेकर है।

इन दोनों के बीच का मध्यमार्ग उपादान है '—एक्लेक्टिसिज्म' (ग्रहणशीलता या उदारतावाद) यह आदर्शवादी स्वप्नलोक के दर्शन और अति-यथार्थवाद के बीच का मार्ग चुनता है इसे 'यथार्थवाद के निराशावाद' और 'आदर्शवाद के आशावाद' को संश्लेषण कहा जाता है। 'एक्लेक्टिसिज्म' या उदारतावाद दोनों ही उपादानों की सकारात्मक बातों को ग्रहण करता है। क्विंसी राइट ने यथार्थवाद को अदूरगामी राष्ट्रीय नीतियों का प्रतिनिधित्व करने वाला बताया है और आदर्शवाद को दूरगामी अंतरराष्ट्रीय नीतियों का। यथार्थवाद को 'अंधकार की उत्पत्ति' कहा जाता है और आदर्शवाद को 'प्रकाश की उत्पत्ति'। नैबुर की दृष्टि में, अंधकार बच्चे बुरे और पथभ्रष्ट होते है। जबकि प्रकाश के बच्चे गुणवान होते हैं। लेकिन वे फिर यह भी कहते है कि यथार्थवादी बुद्धिमान हैं क्योंकि वे आत्मशक्ति के महत्व को समझते है जबकि आदर्शवादी मूर्ख हैं क्योंकि वे अंतरराष्ट्रीय समुदाय में अराजकता के खतरे को कम करके आंकते हैं। दोनों को एक दूसरे से सीखने की जरूरत है।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के नए उपादानों में 'नवयथार्थवाद' (नियोरिअलिज्म) उल्लेखनीय है। इसे 'संरचनात्मक यथार्थवाद' भी कहते है।

कुछ प्रमुख नवयथार्थवादी हैं, वाल्ज़, ग्रीसो, क्योचॅन और जोसफन्ये। वाल्ज़ (Wallaz) का मानना है कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों के मंच पर अराजकता की स्थिति है और इसमें कुछ प्रमुख कारक है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धांत का बर्चस्व हॉब्स द्वारा वार्णित मानव-स्वभाव की याद दिलाता है। महाशक्तियां साश्वत प्रतिद्वंद्विता में फंसी हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंधों संरचना की अराजकता की बनी रही, कारक भले बदल गए हों। 'संरचना' का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में कारकों की एक दूसरे की तुलना में स्थिति परिभाषित करने के लिए किया गया है। अराजकता के चलते कारकों में शक्ति का समुचित बंटवारा नहीं होता। ग्रीकों के अनुसार, अराजकता की दुनिया में राज्यों की ज्यादा रुचि इस बात में होती है कि कैसे वे दूसरे राज्य को शक्तिशाली होने से रोक सके। क्योचॅन और न्ये की राय में, गैर-राष्ट्र कारकों की भागीदारी और भूमिका का चलते अंतरराष्ट्रीय 'संरचना' की जटिलता और भी बढ़ गई है। संक्षेप में, नवयथार्थवाद के अनुसार, विश्व राजनीति में राष्ट्र-राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है; राज्यों के व्यवहार की तार्किक व्यवस्था की जा सकती है; राज्य शक्ति अर्जन का प्रयास करते हैं और राष्ट्रीय हितों का आकलन शक्ति के अर्थों में करते है।; और वर्तमान अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना अराजक है। ग्रीको के अनुसार, "राज्यों के लक्ष्य और कार्यों का आधारभूत सिद्धांत है अराजकता।" अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, धर्म और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्रतिस्पर्धा ने अंतरराष्ट्रीय संरचना की अराजकता को और भी विकट बना दिया है।

शीत युद्ध के बाद के दिनों में अंतरराष्ट्रीय अराजकता का स्वरूप बदल गया है। विघटनकारी और अलगाववादी आंदोलनों ने राष्ट्र-राज्यों के अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर दिया है। कुछ आंदलनों ने तो विध्वंसकारी रूप ले लिया है। जॉन स्ट्रेमलॉव के अनुसार, "अफ्रीका, बाल्कान क्षेत्र और पूर्व सोवियत संघ के घटक राज्यों में अराजकता की ऐसी स्थितियां हैं कि राजनयिकों की बातचीत में रोक-थाम का मतलब है, अरजकता की रोकथाम / मसलन, 1992 में दुनिया भर में 30 संघर्ष रेखांकित किए गए है जिनमें से 29 संघर्ष राज्यों में अंदर सैनिक कार्रवाई से संबंधित है। पूर्व युगोस्लाविया में सर्व-क्रोट और सर्ब-बोस्नियाई संघर्ष, अफगानिस्तान में सत्ता संघर्ष, इराक में कुर्द समस्या, श्रीलंका की तमिल समस्या, पाकिस्तान में मुहाजिर समस्या और भारत में कश्मीर समस्या / ये सभी समस्याएं सेना या अर्धसैनिक बलों की भूमिका से जुड़ी है।

शीत युद्ध के बाद के संघर्षों में मारे गए लोगों में 90 प्रतिशत गैर-सैनिक नागरिक है। अत: नवयथार्थवाद अराजक विश्व में न केवल राष्ट्र-राज्यों के बीच शक्ति-संघर्ष को महत्व देता है बल्कि राष्ट्र के आंतरिक संघर्षों को भी रेखांकित करता है। शीत युद्ध के बाद के यथार्थवादियों के अनुसार, शीत युद्ध के दौरान विश्व राजनीति की संतुलित द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था में शांति आतंक-संतुलन और परमाणु अस्त्रों के आत्मघाती परिणामों के कार संभव हो सकी थी। शीत युद्ध के बाद यथार्थवादियों को लगने लगा है कि एक-ध्रुवीय विश्व में जहां अमेरिका एकमात्र महाशक्ति है और जिसके द्वारा संपूर्ण विश्व-व्यवस्था निर्धारित होनी है, शांति-स्थापना स्वाभाविक है। यथार्थवाद संयुक्त राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन की भूमिका और महत्व को तो स्वीकार करता है लेकिन यह भी मानता है कि इनकी नीतियां शक्तिशाली राज्यों के हितों के अनुकूल ही होती हैं। यथार्थवादी परमाणु-प्रसार के विरुद्ध है जिससे विश्व- राजनीति में अमेरिकी वर्चस्व बना रहे। इस तरह, यथार्थवादी और नव-यथार्थवादी दोनों ही शक्ति के माध्यम से राष्ट्रीय हितों के संरक्षण की वकालत करते हैं। विश्व संगठनों, शासनों और गैर-राष्ट्र कर्त्ताओं की भूमिकाओं के बावजूद, शक्ति अंतरराष्ट्रीय संबंधों की सबसे महत्वपूर्ण निर्धारक है।

पैट्रिक जेम्स के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के क्षेत्र में नवयथार्थवाद की केंद्रीय भूमिका है। प्रसिद्धि के बावजूद इस समझ को नैतिक रूप से दिवालिया कहा गया है। दुनिया परिवर्तनकारी संक्रमण काल से गुजर रही है ऐसे में अंतरराष्ट्रीय संबंधों की व्याख्या में नवयथार्थवाद या संरचनात्मक यथार्थवाद की सीमित भूमिका ही संभव है।

3.1.2 उदारवादी आत्म-निर्भरता या एकीकरण सिद्धांत

यह सिद्धांत चार्ल्ड केग्ले और विट्टकॉफ्फ के नामों के साथ जुड़ा है। दोनों ने 1993 में एक लेख में मानव स्वभाव के बारे पांरपरिक दृष्टिकोण को निरस्त करते हुए तर्क दिया कि मनुष्य में एक साथ कई प्रवृत्तियां होती हैं और मनुष्य के क्रियाकलाप, वातावरण से प्रभावित स्वैच्छिक चुनाव के परिणम होते हैं। वे अंतरराष्ट्रीय संबंधों की अराजकता के सिद्धांत को निस्त करके बहुराष्ट्रीय परस्पर निर्भरता के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। इसके अनुसार, अंतरराष्ट्रीय संबंधों का आधार बहुराष्ट्रीय वार्तालाप एवं पारस्परिक निर्भरता हैं। राष्ट्र-राज्यों का एकीकरण परस्पर निर्भर विश्व व्यवस्था के उदय का पूर्वाभास कराता है। सरकारें और समाज सांस्कृतिक एकरूपता और सामाजिक-आर्थिक पारस्परिक निर्भरता के चलते एक दूसरे के करीब आ रहे हैं। विश्व व्यापार संगठन एवं अन्य अंतरराष्ट्रीय एजेंसिया एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। उदारवादी भी क्षेत्रीय और भूमंडलीय एकीकरण में गैर-राष्ट्र कारकों की भूमिका को रेखांकित करते हैं। एकीकरण या परस्पर-निर्भरता का उदारवादी सिद्धांत राष्ट्र-राज्यों की पारस्परिक निर्भरता को अंतरराष्ट्रीय संबंधों का आधार मानता है और इसके माध्यम से विश्व के एकीकरण की आशा करता है।

शीत युद्ध के बाद की दुनिया एक-ध्रुवीय हो चुकी है, उदारवादी इस विचार से असहमत है। उनका मानना है कि शीत युद्ध के बाद विश्व-व्यवस्था बहु-ध्रुवीय दिशा में बढ़ रही है। राज्यों के बीच पारस्परिक वार्तालाप और आर्थिक-सांस्कृतिक आदान प्रदान से अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अविश्वास और तनाव की कमी हो रही है और शांति की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। भूमंडलीय पारस्परिक निर्भरता के ही चलते परमाणु-प्रसार, विश्व स्तर पर मंडी, ओजोनक्षरण और एड्स जैसे मुद्दे अंतरराष्ट्रीय सरोकार के विषय बन गए हैं। ये सामान्य सरोकार परस्पर निर्भरता की तरफ इंगित करते हैं और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विद्वानों को चाहिए कि इनकी समीक्षा एकीकरण के संदर्भ में करें। उदारवादी गैर-सरकारी संगठनों (एन०जी०ओ०), क्षेत्रीय सहयोग संगठनों, यूरोपीय समुदाय (ईसी), गल्फ सहयोग परिषद (जी०सी०सी०), असिआन, अफ्रीकी एकता संगठता (ओ०ए०यू०) आदि की भूमिका पर जोर देते हैं। इसलिए, उदारवादी इन और अन्य विश्व एवं क्षेत्रीय स्तर के संगठनों के अध्ययन का आग्रह करते है। उन्हें विभिन्न संयुक्त राष्ट्र संगठनों में जी-7 के औद्योगिक देशों के वर्चस्व का भी एहसास है। उदारवादी शीत-युद्ध के बाद भी उत्तर-दक्षिण या पश्चिम-पूर्व के तनाव को अनावश्यक और दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। संक्षेप में पारस्परिक निर्भरता का सिद्धांत बहु-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में विश्वास करता है और संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठनों, क्षेत्रीय संगठनों और स्वैच्छिक गैर सरकारी संगठनों की भूमिका के अध्ययन पर जोर देता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठनों में जी-7 के वर्चस्व को सकारात्मक मानता है और पश्चिमी औद्योगिक देशों के नेतृत्व में विश्व के एकीकरण का पक्षधर है।

मार्क्सवादी सिद्धांत

सोवियत संघ के पतन के बावजूद अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन का मार्क्सवादी नजरिया महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'निर्भरता के सिद्धांत' के रूप में जाने जानी वाली यह समझ उत्तर के थोड़े से पूंजीवादी देशों पर दक्षिण के विकासशील देशों की निर्भरता पर आधारित है। पूंजीवादी देशों को 'धनी देशों की धुरी (Core Group of Rich Nations) कहा गया है और इसमें मुख्यतः जी-7 के देश हैं। दूसरी तरफ कम विकसित 'सीमांत' देश है। जो आर्थिक विकास के लिए जी-7 के देशों पर निर्भर रहते हैं। 'निर्भरता सिद्धांत' के अनुसार अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मुख्य समस्या न तो मानव स्वभाव है और न ही अराजकता बल्कि अमेरिका, इंग्लैंड। जर्मनी, जापान एवं अन्य विकसित देशों का पूंजीवादी विकास है। पूंजीवादी देश सीमांत, विकासशील देशों का आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक शोषण करते हैं। अतः अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मुख्य समस्या विश्व के धुरी समूह और सीमांत देशों में विभाजन है। सीमांत देश धुरी समूह के देशों पर निर्भर रहते हैं। विकसित पूंजीवादी देशों को इस निर्भरता के चलते विकासशील देशों के शोषण का मौका मिलता है। मार्क्सवादी धारणा थी कि पूंजीवाद स्वयं के भार से दब जाएगा और इस तरह साम्राज्यवाद स्वतः समाप्त हो जाएगा, लेकिन हो उल्टा रहा है। सोवियत संघ के विघटन से समाजवाद को धक्का लगा है और विकासशील देशों में उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों से, विश्व-पूंजीवाद तथा नव-उपनिवेशवाद और आर्थिक साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिल रहा है जो कि नई विश्व-व्यवस्था के लिए प्रमुख चुनौती है।

नारीवादी सिद्धांत

अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के इस नए सिद्धांत का सरोकार दुनिया भर में प्रचलित लिंग-भेद है। सीन्थिया एनलो और स्पाइक पीटर्सन का मानना है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शक्ति सदा पुरुषों के हाथ में रही है। और स्त्रियों के हितों की कीमत पर पुरुषों के हित सधते रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में लिंग आधारित भेदभाव को बढ़ावा मिलता रहा माना जाता रहा है कि पुरुषों में प्रभुता, नियंत्रण, तर्क-वितर्क, वस्तुपरकता और खतरा-लेने के गुण होते है और स्त्रियों में सामान्यतः सहयोग, भावुकता, आदर्शवाद और सहनशीलता के/नारीवादियों का तर्क है कि ये भेद स्वाभाविक नहीं हैं बल्कि पुरुषों द्वारा कृत्रिम रूप से अपनी शक्ति और वर्चस्व बरकरार रखने के लिए गढ़े गए भेद है।

नारीवादी दृष्टिकोण के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय संबंध, राजनीति में पुरुषवादी वर्चस्व के चलते, प्रतियोगिता, शक्ति-केंद्रित और शोषण-युक्त है। नारीवादी मान्यता के अनुसार, राजनीति में नारियों की उचित हिस्सेदारी से अंतरराष्ट्रीय संबंधों को सहिष्णु और शोषण मुक्त बनाया जा सकता है। उदार-नारीवादीयों के अनुसार, इस तरह के बदलाव नारीवादी शिक्षा, राजनैतिक लामबंदी और परिवर्तन के लिए दबाव के जरिए लाया जा सकता है। लेकिन उग्र नारीवादियों का मानना है कि चूंकि पूंजीवाद लिंग-भेद का प्रमुख कारण है अतः लिंग-भेद की समाप्ति और विश्व शांति पूंजीवाद के अंत और समाजवाद की स्थापना से ही संभव है। यह भी तर्क दिया जाता है कि लिंग आधारित पक्षपाती नज़रिया पाश्चात्य दर्शन में अंतर्निहित है। अतः पाश्चात्य दर्शन की पुरुषवादी अवधारणाओं को भी चुनौती देने की जरूरत है। नारीवादी समझ में अंतरराष्ट्रीय समस्याओं की जड़ें लिंग आधारित भेदभाव और राजनीति में पुरुषों के वर्चस्व में है।

इस समझ के आलोचक नारीवादी तर्क को अस्वीकार करते हैं। इन आलोचकों के अनुसार, लिंग-आधारित भेदभाव स्वभाविक और जीवविज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित है उनकी रचना पुरुषों ने नहीं की है। औरतों की राजनीति में उचित भागीदारी के बावजूद, अंतरराष्ट्रीय संबंध राष्ट्रीय हित और शक्ति संतुलन से नियंमित होते रहेंगे। राजनीति में नारियों के वर्चस्व से अंतरराष्ट्रीय संबंध नही प्रभावित होते। ये आलोचक इंदिरा गांधी, गार्गेट थैचर, गोल्डामायर, श्रीमाओ भडारनायके आदि शासनाध्यक्षों का उदाहरण देकर तर्क करते हैं कि विभिन्न देशों पर राजनैतिक शीर्ष पर महिलाओं के स्थित होने के बावजूद अंतरराष्ट्रीय संबंधों की संरचना में खास फर्क नहीं पड़ा। बात स्त्रियों या पुरुषों की नहीं है जो भी शक्ति अर्जित कर सकता है अंतरराष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करता है।

4.1 खंड 1, इकाई 2 *पश्चलेख*

4.1.1 अंतरराष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक उपादान

प्रणाली सिद्धात (सिस्टमस थ्योरी): आप प्रणाली सिद्धात, और खासकर मॉर्टन कप्लॅन की छः अंतरराष्ट्रीय प्रणालियों के बारे में पढ़ चुके हैं। इस भाग में आपको विभिन्न अंतरराष्ट्रीय प्रणालियों के संबंध में नए विचारों के बारे में बताया जाएगा। एक प्रणाली की परिभाषा पारस्परिक-क्रिया या प्रभाव वाले तत्वों के समुच्चय के रूप में की जा सकती है। यह इन तत्वों का समूह मात्र नहीं होती है बल्कि प्रणाली के इन तत्वों की पारस्परिक-क्रिया इस समुच्चय का महत्वपूर्ण पहलू है। जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि प्रणाली की सीमाओं की परिभाषा वातावरण के प्रभाव में की जाती है। सामान्य रूप से, प्रणाली या तो प्राकृतिक होती है (जैसे-सौर प्रणाली) या तांत्रिक (जैसे-कार, घड़ी या कम्प्यूटर) या फिर सामाजिक / सामाजिक प्रणाली भी समाज, राजनीति, अर्थतंत्र या अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था से संबंधित हो सकती है।

अन्य लोगों के अलावा, मार्टिन कपलन ने वैज्ञानिक दृष्टि से अंतरराष्ट्रीय प्रणाली की समीक्षा की। उन्होंने भूमंडलीय राजनैतिक संगठन के कई वास्तविक और काल्पनिक मॉडल पेश किए। उनके छः जाने-माने मॉडल हैं: (1) शक्ति-संतुलन प्रणाली; (2) निर्बध (या अबद्ध) द्वि-ध्रुवीय प्रणाली; (3) सुदृढ़ द्वि-ध्रुवीय प्रणाली; (4) सार्वजनिक कर्त्ता प्रणाली (5) श्रेणीबद्ध प्रणाली; और (6) एकल वीटो प्रणाली।

पहले दो मॉडल ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं जबकि बाद के चार काल्पनिक हैं। यद्यपि कपलन ने इन मॉडलों के बारे में यह नहीं कहा कि वे इसी क्रम में घटित होंगे लेकिन उनकी अपेक्षा थी कि महाशक्तियां इतनी ताकतवर हो जाएंगी कि गुट निरपेक्ष आंदोलन की सार्थकता समाप्त हो जाएगी और इसके सदस्य देश किसी एक महाशक्ति के खेमे शामिल हो जाएंगे। परिणामस्वरूप जिस अंतरराष्ट्रीय प्रणाली का निर्माण होगा वह एक सुदृढ़ द्वि ध्रुवीय प्रणाली होगी। लेकिन 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ द्वि ध्रुवीय विश्व व्यवस्था समाप्त हो गई। इससे अमेरिका सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र की स्थिति में आ गया लेकिन साथ ही जापान और जर्मनी भी महत्वपूर्ण आर्थिक शक्तियों के रूप में उभर रहे हैं। अलग-अलग दृष्टिकोणों से विश्लेषण के आधार पर, वर्तमान विश्व व्यवस्था को एक ध्रुवीय भी कहा जा सकता है और बहु ध्रुवीय भी। मौजूदा अंतरराष्ट्रीय प्रणाली को परिभाषित करने के लिए कपलान के छः मॉडलों में से कोई भी सटीक नहीं बैठता। अन्य विद्वानों ने कई और मॉडल भी सुझाए हैं। कोलंबिस और वाल्फ कपलॅन के वर्गीकरण को सही मानते हुए उसमें तीन मॉडल और जोड़ने का सुझाव देते हैं। वे मॉडल हैं: (क) बहुगुटीय (या अंतर्क्षेत्रीय) मॉडल; (ख) राष्ट्रीय-विखंडन (या बहु-ध्रुवीय) मॉडल; और (ग) उत्तर परमाणु-युद्ध (या परमाणु युद्धोत्तर) मॉडल। इन तीनों की संक्षिप्त व्याख्या नीचे दी जा रही है।

बहु-गुटीय मॉडल: इस मॉडल में विश्व राजनीति की अवधारणा पांच से सात असंबद्ध प्रभाव-क्षेत्रों के रूप में की गई है। मतलब यह कि दुनिया पांच से सात प्रभाव-क्षेत्रों में बंटी हुई है और प्रत्येक प्रभाव क्षेत्र पर एक प्रमुख शक्ति का नियंत्रण होगा।

यह एक बहु-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था की अवधारण है। इस मॉडल का एक और स्वरूप भी है। इस स्वरूप में एक ऐसी दुनिया की परिकल्पना की गई है जो एकीकृत स्वायत्त क्षेत्रों के आधार पर संगठित होगी, जैसे उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, पश्चिम एशिया आदि। इन क्षेत्रों के राजनैतिक और आर्थिक एकीकरण का भूमंडलीय व्यवस्था का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ेगा। ऐसी स्थिति में बहुराष्ट्रीय गुटबंदी समाप्त हो जाएगी। इसका मतलब यह हुआ कि अमेरिकी गुट (या पूर्व सोवियत गुट) जैसी खेमीबंदी का अस्तित्व खत्म हो जाएगा।

राष्ट्रीय विखंडन मॉडल: इस मॉडल की अवधारणा संप्रभु राज्यों के राजनैतिक और राजक्षेत्रीय विघटन की संभावनाओं पर आधारित है। जातीय, जनजातीय या नस्लवादी अलगावादी आंदोलनों के चलते बड़े-बड़े राज्य छोटी-छोटी विखंडित इकाइयों में बंट सकते हैं। जैसे पूर्व-सोवियत संघ, पूर्व-युगोस्लाविया या पूर्व चेकोस्लाविया कई संप्रभु राज्यों में बंट चुके हैं। कई अन्य राज्यों, जैसे— कनाडा, बेल्जियम, नाइजेरिया और श्रीलंका में अलगावादी आंदोलनों में इन राज्यों की अखंडता के लिए खतरा पैदा कर दिया है। विखंडन से कई नए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय तनाव पैदा होंगे। यह भी संभव है कि इस तरह का संकट विश्व-सरकार या अंतरराष्ट्रीय शासन के गठन का पथ प्रशस्त करे।

उत्तर परमाणु युद्ध मॉडल: कोलंबिस और वाल्फ "एक विनाशकारी परमाणु युद्ध के बाद की पृथ्वी" की कल्पना करते हैं। यदि परमाणु युद्ध हुआ तो उसके बाद की स्थिति अत्यंत भयावह होगी। परमाणु विस्फोट से पैदा हुई गर्मी और विकिरण से आधे अरब लोग मरेंगे। उत्पादन प्रक्रिया ठप हो जाएगी। बीमार और असहाय लोग बसेरा, भोजन और दवा के लिए दर-दर भटकते फिरेंगे। ऐसे में तानाशाही शासन ही आवास, भोजन और दवाओं का व्यवस्थित वितरण कर सकेगा। इस अफरा-तफरी की अराजकता से उबरने के लिए एक नई विश्व-व्यवस्था तलाशनी पड़ेगी।

5.1 खंड 2 इकाई 3 *पश्चलेख*

शीत युद्ध के बाद नव-उननिवेशवाद ने नया और खतरनाक रूख अख्तियार कर लिया है। शीत युद्ध के दौरान तीसरी दुनिया के देशों को सैनिक या आर्थिक सहायता देने के मामले में महाशक्तियों में आपसी प्रतिद्वंद्विता रहती थी। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में दो महत्वपूर्ण घटनाएं हुई। शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन से अमेरिकी प्रभुत्व में अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई। दूसरा, रूस और पूर्वी यूरोप के देशों ने बाजार-व्यवस्था अपना ली और भारत तथा चीन जैसे देशों ने अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की नीति पर चलना शुरू किया । इन बदली हुई परिस्थितियों में सैनिक और आर्थिक सहायता तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से विकसित देशों ने तीसरी दुनिया के विकासशील देशों पर नव-उपनिवेशवादी प्रभुत्व स्थापित करने की प्रक्रिया को तेज कर दिया है। आर्थिक उदारीकरण से अर्थव्यस्था पर राज्य का नियंत्रण घट गया है सोवियत किस्म योजनाबद्ध, नियोजित विकास की अवधारण धूमिल पड़ती जा रही है और बाजार शक्तियों को आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर नियंत्रण करने और उन्हें चलाने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित किया जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां, तीसरी दुनिया में प्रभाव-क्षेत्र बनाने की होड़ में लगी हैं। विदेशी बैंकें, अपनी मंहगी किंतु बेहतर-सेवाओं के चलते देश के धनी तपकों को आकर्षित कर रही है जिसका देसी बैंक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माल, व्यापक विज्ञापनों के जरिए, आम आदमी में भी लोकप्रिय हो रहे हैं। परिणाम स्वरूप बहुत सी स्थानीय कंपनियां बंद हो गई हैं और कई बंद होने के कगार पर हैं। स्थानीय कंपनियों के बंद होने से बेरोजगारी की समस्या तो बढ़ ही रही है, देसी अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूंजी की पकड़ मजबूत होती जा रही है।

तीसरी दुनिया के ऐसे देश जो विश्व बैंक और अमेरिका, जापान या जर्मनी जैसे देशों से कर्ज लेने के आदी हो चुके हैं और जिनकी अर्थव्यवस्था विदेशी ऋण की मोहताज हो चुकी है उन्हें विकसित देशों की विकास और व्यापार की शर्तें भी माननी पड़ती हैं। विकास के लिए तीसरी दुनिया के देशों की जैसे-जैसे कर्ज की निर्भरता बढ़ती जाती है वे एक नए किस्म के साम्राज्यवाद-नवउपनिवेशवाद के शिकंजे में कसते चले जाते हैं।

ज्यादातर देशों में राज्य-नियंत्रित विकास प्रक्रियाएं असफल रही हैं। रूस में मुद्रास्फीति अभूतपूर्व रफ्तार से बढ़ रही है और लोग पश्चिमी समानों और जीवनशैली के लिए पागल हो रहे हैं। लेकिन बाजार-अर्थव्यवस्था रूसियों को रास नहीं आई और संसदीय चुनावों में उन्होंने फिर से पुराने कम्युनिस्टों को चुना। जब पूर्व सोवियत संघ के घटक राष्ट्रों और पूर्वी यूरोप के देशों में बाजार-शक्तियां, देखते-ही-देखते हावी हो गई तो दक्षिण के विकासशील देश उदारीकरण से कैसे बच सकते हैं? लेकिन उदारीकरण देश के परिणामस्वरूप तीसरी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था और राजनीति पर विकसित देशों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है, जो चिंता का विषय है। इससे भी अधिक चिंता की बात है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां, अंतरराष्ट्री आर्थिक संस्थानों और धनी देशों द्वारा नीति-निर्धारण को प्रभावित करने की शर्तें थोपने लगे हैं। इससे तीसरी दुनिया के देशों की संप्रभुता की संकट में पड़ गई है। तीसरी दुनिया के देशों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा विदेशी कर्ज के ब्याज के रूप में चला जाता है। इससे तीसरी दुनिया के देशों की स्थिति और विकट होती जा रही है और नव-उपनिवेशवाद ज्यादा मुखर होता जा रहा है। यद्यपि तीसरी दुनिया की सरकारें स्वतन्त्रता और संप्रभुता के ढोल पीटते नहीं थकतीं, लेकिन वास्तविकता यह है कि नवउपनिवेशवाद के बढ़ते कदम इन देशों की संप्रभुता के लिए संकट बने हुए हैं।

6.1 खंड-2, इकाई-4 *पश्चलेख*

1917 में रूस में बॉल्शविक क्रांति की सफलता और तदुपरांत समाजवादी सोवियत संघ के गठन और पूर्वी यूरोप, चीन, क्यूबा, वियतनाम आदि देशों में समाज की स्थापना से एक नए संसार की उम्मीद बनी थी। एक ऐसा नया संसार जो साम्राज्यवाद के लिए चुनौती बनता और इसमें कोई संदेह नहीं कि शीत युद्ध के दौरान समाजवादी सोवियत खेमे की शक्ति के चलते साम्राज्यवादी आक्रामकता पर अंकुश लगा रहा। यही नहीं राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को सोवियत खेमे के समर्थन से बल प्राप्त हुआ। लेकिन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के बिखराव के बाद, सोवियत संघ के पतन से उम्मीद पर पानी फिर गया। शीत युद्ध की समाप्ति के समय तक मिखाइल गोर्बाचोव के नेतृत्व में सोवियत संघ अस्तित्व में था। लेकिन पुरान दिनों का उत्साह ठंडा पड़ चुका था। आर्थिक संकट से ग्रस्त, सोवियत संघ 'भूतपूर्व' गोर्बाचोव को लंदन जाकर जी-7 के देशों से आर्थिक सहायता मिन्नतें करनी पड़ीं। 1991 में इन धनी देशों ने सहायता का वायदा तो किया लेकिन सहायता नहीं। पूंजीवादी ताकतें बड़ा कद अख्तियार करती गईं और अमेरिका या अन्य पूंजीवादी देशों में क्रांति संभावनाओं की अनुपस्थिति से सोवियत व्यवस्था को धक्का पहुंचा और 1991 में सोवियत संघ के पतन के साथ समाप्त हो गई।

सोवियत संघ के विघटन, चीन की उदारीकरण की नीति तथा पूर्वी यूरोप की समाजवादी सरकारों के पतन ने सोवियत ढांचे की श्रेष्ठता के मिथ को तोड़ दिया।

7.1 खंड 3, इकाई 5 *पश्चलेख*

राष्ट्र-राज्य का पतन और गैर-राज्य कर्त्ताओं की बढ़ती भूमिका: आप संयभु राज्य और राष्ट्र-राज्य के उदय और विकास के बारे में पढ़ चुके हैं। लेकिन पारस्परिक-निर्भरता और राष्ट्र-राज्य के महत्व में गिरावट मौजूदा अंतरराष्ट्रीय राजनीति की खासियत बन गई है। राष्ट्र-राज्य के वर्चस्व के विरुद्ध काफी कुद लिखा जा चुका है। कहा जा रहा है कि राष्ट्र-राज्य के पतन को देखते हुए इसके विकल्प में अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषण के लिए नई शक्तियों का विकास आवश्यक है। इन प्रस्तावित शक्तियों में आतंकवादी संगठनों, धार्मिक और जातीय समूहों, क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय संगठनों जैसे गैर-राज्य कर्त्ताओं को शामिल करने की हिमायत की जा रही है। आज एक दूसरे देश के लोगों के बीच के संबंध उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना कि सरकारों के आपसी संबंध। गैर-सरकारी या अर्धसरकारी गतिविधियों को अंतरराष्ट्रीय राजनीति में 'राष्ट्रेतर राजनीति' के नाम से जाना जाता है। रिचर्ड मंशबॉक एवं अन्य विद्वानों ने **दि वेब ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स** में इस अवधारणा का विश्लेषण किया है। शीत युद्ध की समाप्ति पर अंतरराष्ट्रीय गतिविधियों के एक-तिहाई हिस्से का संचालन गैर-राज्य कर्त्ता कर रहे थे और 50 प्रतिशत गतिविधियों का ताल्लुक राष्ट्र-राज्यों और गैर-राज्य कर्त्ताओं की पारस्परिक क्रिया से थी। बर्टन (Burton) का मानना है कि समकालीन अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विद्यार्थी को राजनैतिक दलों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, आतंकवादी जातीय और धार्मिक समूहों और राष्ट्र-राज्यों के पारस्परिक संबंधों को समझना जरूरी है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में गैर-राज्य कर्त्ताओं की भूमिका को अभी तक कम करके आंका जाता रहा था लेकिन अब संप्रभु राज्यों की ही तरह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अपरिहार्य कर्त्ता बन गए हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियां: किसी औद्योगिक देश में स्थित ऐसे बड़े व्यापारिक समूह है जिनका व्यापार दो या अधिक देशों में फैला होता है। उनका मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना है लेकिन ताना-बाना जो ऐसा बुनते हैं जैसे कि वे मेजबान देश के लोगों को रोजगार देने और देश का आर्थिक विकास करने के इच्छुक हैं। रेमंड वर्नन के अनुसार, बहुराष्ट्रीय कंपनियां "विभिन्न राष्ट्रीयताओं के निकायों के ऐसे समूह हैं जो एक साझी प्रबंध रणनीति के तहत एक दूसरे से जुड़े हैं"। राबर्ट म्योहान और जोज़ेफ न्ये बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं अन्य बहुराष्ट्रीय आंदोलनों की, समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में, बढ़ती भूमिका पर जोर देते हैं। कुछ बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां हैं: एक्सॉन, जनरल मोटर्स, शेल, यूनिलीकर, मोक्ति, गल्फ ऑयल और हिताची। भारत में भी बहुराष्ट्रीय कंपनियां उत्पादन और विक्रय के क्षेत्रों में सक्रिय हैं। 1991 में आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से इन कंपनियों की आर्थिक गतिविधियां कई गुना बढ़ गई हैं। यूनीलीवर पेप्सी, मोबिल भारत में सक्रिय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कुछ उदाहरण हैं। जनरल मोटर्स की वार्षिक बिक्री इंडोनेशिया, तुर्की और युगोस्लाविया की सकल घरेलू उत्पाद से अधिक है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की शक्ति और आकार इतने व्यापक हैं कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में उन्हें नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता।

ज्यादातर बहुराष्ट्रीय कंपनियां जी-7 देशों की है उनमें भी ज्यादातर अमेरिकी कंपनियां हैं। ये अगले देशों में तो उच्च श्रेणी को प्रबंधन और तकनीकी जानकारियों का प्रयोग करती हैं। लेकिन ये ज्यादातर संयंत्र सस्ती मजदूरी के क्षेत्रों में लगाती हैं और उनकी लागत उन्हीं देशों से उगाहती हैं। लेकिन प्रचार करती है कि इन गरीब देशों में वे रोजगार बढ़ाने और आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के मकसद से अपनी इकाइयां खोलती हैं। उल्लेखनीय है कि बड़ी पूंजी वाली ये कंपनियां स्थानीय छोटी कंपनियों का या तो खरीद लेती हैं या फिर असमान प्रतियोगिता में बाजार से बाहर खदेड़ देती हैं। उदारीकरण के इस युग में बहुराष्ट्रीय कंपनियों से प्रतियोगिता में न टिक पाने के कारण भारत की कई छोटी कंपनियां बंद हो चुकी हैं और कई अपने अस्तित्व की अंतिम घड़ियों की प्रतीक्षा में हैं। उदाहरण के लिए, भारत में ज्यादातर अच्छी किस्म की आइसक्रीम के उत्पादन और बिक्री पर एक ही बहुराष्ट्रीय कंपनी का नियंत्रण है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के वर्चस्व के दूरगामी परिणाम बेरोजगारी बढ़ाने वाले होंगे और गरीब जनता की हालत बद से बदतर हो जाएगी। व्यापक और उत्तेजक विज्ञापनों के माध्यम से ये कंपनियां तीसरे देश के लोगों की रूचियां और जीवन शैली को विकृत कर रही हैं और विलासिता की वस्तुओं को जरूरत के रूप में प्रचारित करती है। तीसरी दुनिया के पर्यावरण की समस्या से बेफिक्र ये कंपनियां प्रदूषण, पौष्टिकता, सामाजिक स्वास्थ्य और स्वच्छ हवा जैसे मुद्दों की पूरी तरह उपेक्षा करती है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समर्थकों की दलील है कि ये कंपनियां मानव समाज के अंतरराष्ट्रीयकरण की सबसे सशक्त वाहक है। उनके पास पूरी दुनिया को एक आर्थिक इकाई के रूप में परिवर्तित करने की दृष्टि, क्षमता, ज्ञान ओर सामर्थ्य है। वे कम दाम पर बेहतर सामग्री उपलब्ध कराती है। वे जिस देश में अपना संयंत्र लगाती हैं वहीं के संसाधनों का उपयोग करती हैं और संयंत्र चलाने और उसका प्रबन्ध करने के लिए शर्तों पर वहीं के लोगों को नियुक्त करती हैं। आलोक, इन्हें भविष्य की सबसे ताकतवर औपनिवेशिक शक्ति मानते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पक्षधर मानते है कि दुनिया इनके जरिए एक ऐसे आधुनिक, अंतरराष्ट्रीयता के युग में प्रवेश करेगी जहां युद्ध अर्थहीन हो जाएंगे और भूमंडलीय सहयोग शांति के स्वर्णयुग का सूत्रपात होगा। आलोचकों का कहना है कि इनका

उद्देश्य महज ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा कमाना है। वे गरीब देशों को उपनिवेश बना रही हैं तथा धनी देशों को कमजोर और अस्थिर कर रही है अपार संपत्ति संचित करके महज वे अपनी ताकत और प्रतिष्ठा बढ़ाने में लगी है। लेकिन कोई भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका को नज़रअदाज नहीं कर सकता।

जातीय समूह: जातीय आधार पर अलगावादी आंदोलन की स्थिति में जातीय समूह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के कर्त्ता बन जाते हैं। पिछले दिनों राष्ट्र-राज्यों की एकता और अखंडता को चुनौती देने वाले अलगावादी जातीय आंदोलनों की संख्या और भूमिका में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। चेकोस्लवाकिया का चेक और स्लोवाकिया में विघटन, पूर्व-युगोस्लाविया में स्लावों, क्रोटों और बोस्नियाइयों के बीच जारी जातीय संघर्ष, फ्रेंचभाषी क्यूबेक के कनाडा से अलग राज्य बनाने की मांग, श्रीलंका में तमिल आंदोलन- सभी जातीय अलगावादी आंदोलन के उदाहरण हैं। कटंगा के कांगो (जायर) से अलग होने के प्रयास, उत्तरी आयरलैंड में कैथॅलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष, नाइजेरिया में ब्याफ्रान (Biafran) गृह-युद्ध, पाकिस्तान में मुहाजिर कौमी आंदोलन (एम-क्यू-एम.) सभी अंतरराष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करने वाले जातीय आंदोलनों के उदाहरण हैं। रूसी संघ के जातीय संघर्ष, तुर्की और यूनानी साइप्रसवासियों की समस्या आदि को भी अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा और शांति के लिए खतरा माना जा रहा है। जातीय समस्या का हल अलगावाद नहीं है। जातीय अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और उनकी आर्थिक लाभबंदी, क्षेत्रीय स्वायत्तता और मानवाधिकारों की रक्षा तथा राष्ट्र-राज्य की राजनीति में उनकी व्यापक भागीदारी के जरिए अलगावादी प्रवृत्तियों पर रोक लगातार राष्ट्र-राज्य को मजबूत बनाया जा सकता है।

धार्मिक समूह: अंतरराष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले गैर-राज्य कर्त्ताओं में धार्मिक समूह उल्लेखनीय हैं। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में धार्मिक आग्रह के चलते राज्य धार्मिक कट्टरपंथ का अधीनस्थ बन जाता है। दुनिया के कैथलिकों को संगठित करने में पोप की भूमिका, इरान की राजनीति में अयातुल्ला खोमैनी की भूमिका, फिलिस्तीन में यहूदी राज्य- इज़ायल के निर्माण से उपजी अरब-यहूदी समस्या, सर्बों का बोस्नियाई मुसलमानों से संघर्ष, कश्मीर में पाकिस्तानी शह पर चल रहा आंदोलन और धार्मिक नेताओं की शिरकत- अंतरराष्ट्रीय राजनीति में धार्मिक समूहों की भूमिका के कुछ उदाहरण हैं। पाकिस्तान एवं अन्य इस्लामी देशों द्वारा पश्चिम और क्रेंद्रीय एशिया के देशों को मिलाकर एक 'इस्लामी राज्यों को संगठन' बनाने का प्रयास गैर-इस्लामी राष्ट्र राज्यों की एकता और शांति के लिए खतरनाक हो सकता है, खाशकर, यदि धर्म के नाम पर कट्टरपंथ को बढ़ावा मिले। वैसे इस्लामी देशों में राजनीति में धर्म की ज़ितनी दखलअंदाजी है उतनी पश्चिमी देशों में नहीं है। अंतः धर्म की अंतरराष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका है-संगठित करने वाली ताकत के रूप में और विखंडित करने वाली ताकत के रूप में भी। राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखने में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण है।

आंतकवादी आंदोलन और संगठन: आतंकवाद शब्द को बहुत गिरी निगाह से देखा जाता है और आंतकवादियों को शांति का शत्रु माना जाता है। दरअसल यदि हिंसा में विश्वास रखने वाला कोई संगठन आपका मित्र है या आपके शत्रु का शत्रु है तो आप उसे स्वतंत्रता सेनानी कहते हैं लेकिन यदि इसका उल्टा हुआ तो आप उन्हें "आतंकवादी", "देशद्रोही" आदि नामों से संबोधित करते हैं। निष्पक्ष होकर, देखें तो आंतकवादी समूहों/संगठनों की परिभाषा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के ऐसे गैर-राज्य कारक के रूप में की जाती है जो अपने राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पारंपरिक और गैर पारंपरिक हिंसा के तरीके अपनाते हैं। इसमें राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित हिंस्सा का तरीका अपनाया जाता है। समय-समय पर दमनकारी और दमित दोनों ने ही आतंक को राजनैतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया है।

आतंकवादी संगठनों के कुछ जाने-माने उदाहरण हैं: आयरिश रिपब्लिकन आर्मी (आइ०आर०ए०) पश्चिम एशिया में अल-फतह, कश्मीर में अल-फरान आदि, तुर्की में ग्रे वोल्व्स, निकारगुआ में कॉन्ट्राज, उत्तरी अमेरिका में ओभेगा-7(कास्ट्रो विरोधी क्यूबाई) आदि। इन संगठनों के पारंपरिक तरीके हैं: भीड़-भाड़ वाले व्यापारिक केंद्रों, रेलवे स्टेशनों, संचार केंद्रों आदि सार्वजनिक महत्वपूर्ण स्थानों पर बम-विस्फोट; विमान-अपहरण; महत्वपूर्ण व्यक्तियों का अपहरण, उन्हें बंधक बनाना और यहां तक कि मार डालना आदि। 1993 में मुंबई के कई व्यापार केंद्रों पर विस्फोट, लंदन में प्रधानमंत्री निवास और न्यूयॉर्क के व्यापारिक केंद्र पर विस्फोट और लंदन के भूमिगत स्टेशन पर विस्फोट, आतंकवादी विस्फोटों के कुछ उदाहरण हैं। आयरिश समुद्र में लॉर्ड माउंटबेटन की हत्या; श्री पेरूंबदूर (दक्षिण भारत) में राजीव गांधी की हत्या; चंडीगढ़ में पंजाब के मुख्यमंत्री बेअंत सिंह की हत्या; एअर इंडिया के जहाज कनिष्क में उड़ान के दौरान बम-विस्फोट, जिसमें 400 यात्री मारे गए थे—आतंकवादी हिंसा के कुछ उदाहरण है। 1989 में भारत के तत्कालीन गृहमंत्री की बेटी का और 1995 में पांच विदेशी पर्यटकों के अपहरण की घटनाएं इस तरह की तमाम आतंकवादी घटनाओं के दो उदाहरण हैं।

आतंकवाद से किसी राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। अलबत्ता आतंकवादी संगठन अपनी मांगों को उजागर करने के प्रयास में तमाम बेगुनाह लोगों को मौत के घाट उतार देते हैं। पिछले दिनों देखा गया कि प्रायः आतंकवाद को सीमा पार के देशों से बढ़ावा और सहायता मिलती है इस तरह की प्रायोजित आतंकवादी गतिविधियां अंतरराष्ट्रीय संबंधों और विश्व शांति के लिए खतरा खड़ा करती हैं।

8.1 खंड 4, इकाई 10 *पश्चलेख*

जैसाकि अनुच्छेद 10.5.4 में बताया जा चुका है वारसा संधि सोवियत संघ, उसके सहयोगियों और पूर्वी यूरोप के समाजवादी राज्यों की सुरक्षा के लिए की गई थी। वारसा संधि का मकसद, दरअसल, अमेरिकी सैनिक चालों की जवाबी कार्रवाई की तैयारी का परिणाम थी। नाटो का तो घोषित उद्देश्य ही "साम्यवाद" पर अंकुश रखना था। वारसा संधि 1955 में अमेरिकी खेमे के आक्रमण से सोवियत खेमे के राष्ट्रों की रक्षा के लिए हुई थी। शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के बाद वारसा, नाटो, सीटो आदि संगठनों का औचित्य समाप्त हो गया। लेकिन इसमें भी एक अंतर है। पूर्वी यूरोप के देशों ने समाजवाद का रास्ता छोड़ दिया और सोवियत संघ विघटित हो गया। लेकिन अमेरिका पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उल्टे यह और शक्तिशाली ही हुआ है। यद्यपि अब "साम्यवाद" पर अंकुश लगाने की आवश्यकता अब नहीं है लेकिन पश्चिमी देशों ने "नाटो" को समाप्त करने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। वारसा संधि को नहीं बरकरार रखा जा सका क्योंकि पूर्वी यूरोप और पूर्व सोवियत संघ के देश खुद ही पश्चिमी देशों की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहने लगे। अब साम्यवाद की रक्षा का तर्क भी नहीं रहा अतः सोवियत संघ के पतन के साथ ही वारसा संधि भी समाप्त हो गई।

9.1 खंड 4, इकाई 9 *पश्चलेख*

1990-91 में शीत युद्ध के बाद, पश्चिम एशिया में इराक द्वारा कुवैत पर हमला करके इसे अपने देश में मिला लेने की घटना, पहला अंतरराष्ट्रीय संकट था। जब इराक को कुवैत से हटाने के सभी राजनयिक प्रयास असफल हो गए तो अमेरिकी नेतृत्व में 28 देशों की संयुक्त सेना ने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा-परिषद की अनुमति से इराक पर आक्रमण कर दिया। इसे खाड़ी युद्ध के दूसरे चरण के रूप में जाना जा सकता है। 1980-88 के दौरान इराक-इरान युद्ध को इसका पहला चरण माना जा सकता है। यद्यपि इराक अपने को विजयी मानता था लेकिन वास्तव में यह युद्ध अनिर्णीत ही रहा था। इरान में अमेरिका-विरोधी खोमैनी के शासन के चलते इस युद्ध में शामिल हुए बिना अमेरिका ने इराक का समर्थन किया था। लेकिन अंतरराष्ट्रीय संबंधों का प्रभावित करने वाला युद्ध, 1990-91 का खाड़ी युद्ध था। इसने विश्व शांति के लिए खतरा पैदा कर दिया, युद्ध को इराक द्वारा अरब-इज़रायल संघर्ष के रूप में चित्रित किया गया और इसे एक वैचारिक संघर्ष का जामा पहनाने का भी प्रयास किया गया। दरअसल, खाड़ी समस्या की जड़े बहुत गहरी हैं। समस्या की शुरुआत तबसे मानी जा सकती है जब प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर तुर्की साम्राज्य के पतन के साथ 1920 में ब्रिटिश शासन देश से इराक का एक अलग राज्या के रूप में उदया हुआ और कुवैत का ब्रिटिश संरक्षित राज्या के रूप में। 1961 में कुवैत को आजादी मिली और सत्ता अल-सबह परिवार को सौंप दी गई। 1990 में इराकी राष्ट्रपति ने सैन्य-शक्ति के दृष्टिकोण से कमजोर, एक छोटे किंतु अमीर पड़ोसी राज्य, कुवैत को इराक में मिलाने का फैसला किया। 1961 में ही एक स्वतंत्र राज्य के रूप में कुवैत के अस्तित्व की वैधता को इराक ने चुनौती दी थी और तभी से इसे हड़पने के फिराक में था। इरान-इराक युद्ध के बाद सद्दाम हुसैन के पास युद्ध सामग्री का अपार भंडार बचा था। इसमें सोवियत संघ में बने आधुनिक टैंक, लड़ाकू विमान, रासायनिक अस्त्र आदि शामिल थे। युद्ध के लिए इराक ने अरब देशों से काफी कर्ज ले रखा था और इसकी अर्थव्यवस्था जर्जर हो चुकी थी। सद्दाम हुसैन ने सोचा कि यदि कुवैत को मिला लिया जाए तो इराक की अर्थव्यवस्था काफी सुधर जाएगी। इराक और कुवैत के बीच, खाशकर बुबियान और वार्बा द्वीपों और अमूल्य रूमालिया तेल-क्षेत्र को लेकर काफी समय से सीमा-विवाद चल रहा था।

अंतरराष्ट्रीय स्थिति इराक के पक्ष में लग रही थी। लेकिन इराक को सर्वाधिक अस्त्र-शस्त्र देने वाला सोवियत संघ स्वयं संकट के दौर से गुजर रहा था और विघटन के कगार पर था। इरान के साथ इसके युद्ध के दौरान अमेरिकी रवैया सहानुभूतिपूर्ण था। इसलिए सद्दाम को लगा कि राष्ट्रपति बुश का व्यवहार उसके प्रति मित्रता का ही रहेगा और यदि वह कुवैत पर कब्जा करता है तो अमेरिका दखल नही देगा। यद्यपि मई, 1990 में सद्दाम हुसैन ने आशंका व्यक्त की थी कि पूर्वी यूरोप में समाजवाद की समाप्ति के बाद अमेरिका मध्य-पूर्व में वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करेगा। उसने कुवैत और संयुक्त अरब अमीरात पर अधिक तेल उत्पादन का आरोप लगाया था जिससे कि अंतरराष्ट्रीय बाजार में तेल के दाम में गिरावट आ गई थी। उसने कहाए "दरअसल यह इराक के विरुद्ध एक युद्ध है।"

जुलाई, 1990 में इराक ने कुवैत पर आक्रमण की तैयारियां शुरू कर दी। टैंकों, राकेटों, मिसाइलों एवं अन्य आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस तीन एलिट प्रकोष्ठों के 35,000 सैनिक कुवैती सीमा पर तैनात कर दिए गए। 18 जुलाई को इराकी विदेश मंत्री तारिक अजीज ने कुवैत पर रुमालिया तेल-क्षेत्र से 2.4 अरब डालर के तेल की चोरी का आरोप लगाया। इसके कुछ दिनों बाद संयुक्त अरब अमीरात के साथ अमेरिका ने संयुक्त सैनिक अभ्यास किया और खाड़ी में, सद्दाम को चेतावनी के रूप में दो अतिरिक्त युद्ध-पोत तैनात कर दिया। अगले दिन इराक ने कुवैत से 2.4 अरब डालर की क्षति-पूर्ति की मांग की। इराकी दबाव में ओपेक ने 27 जुलाई को प्रति बैरल तेल का दाम बढ़ाकर 18 डालर से 21 डालर कर दिया। 1 अगस्त, 1990 तक चली इराक और इराक की दो दिनों की सरकारी वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकला। इराक आक्रमण की तैयारी में था लेकिन कुवैत संकट की गंभीरता नहीं समझ सका था। कुवैत ने 27 जुलाई तक इराक की सीमा की तरफ से अपनी सेना को नहीं भेजा था। उस दिन सेना को सतर्क रहने का आदेश देकर दो सेनानियों ने कुवैत शहर के उत्तर कुछ सैनिक तैनात कर दिया। लेकिन कुवैत के अमीर को आक्रमण की उम्मीद नहीं थी इसलिए उसने सेना को बैरकों में वापस जाने का आदेश दे दिया अमेरिका में कुवैती राजदूत को यहां तक कि 1 अगस्त को भी आक्रमण की संभावना नहीं नजर आ रही थी। कुवैती सेना की गुप्तचर व्यवस्था कितनी कमजोर थी, इसी से अंदाज लगाया जा सकता है।

इराक ने 2 अगस्त को 2 बजे रात को (स्थानीय समय के अनुसार) कुवैत पर आक्रमण कर दिया। इराकी टैंक इतनी तेजी से कुवैत की राजधानी में पहुंचे कि कुवैती सेना को प्रतिरोध की तैयारी का मौका ही नहीं मिला। महज छः घंटे में इराकी सेना ने पूरे कुवैत पर कब्जा कर लिया। सउदी अरबिया की राजशाही भी इराक के इरादे से बेखबर थी। आक्रमण की खबर से वह अचंभे में पड़ गई। जब सउदी अरब के अमीर को आक्रमण की खबर दी गई तो उसे यकीन ही नहीं हुआ। आक्रमण के कुछ घंटों पहले तक अमेरिकी शासन और सेना भी आक्रमण की संभावना बहुत कम लग रही थी। इस तरह की सोच के कई कारण थे। पहला यह कि इराक द्वारा कुवैत के अस्तित्व की वैधता को चुनौती देना कोई नहीं बात नहीं थी। 1857 से प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तक कुवैत बसरा का हिस्सा था जो

1920 के बाद से इराक का एक प्रांत है। इराक द्वारा कुवैत को मान्यता देने के बावजूद सीमा-विवाद चलते रहे। लेकिन इराक ने कभी सैनिक कार्रवाई की धमकी नहीं दी थी। दो देशों के बीच वार्ताओं के कई दौर चले और फरवरी, 1989 तक चलते रहे। दूसरा इराक-इरान युद्ध में कुवैत ने इराक का साथ दिया था। यहाँ तक उसे 15 अरब डालर ब्याज-रहित ऋण भी दिया था। इसीलिए कुवैत को, शायद, आक्रमण की उम्मीद नहीं थी। तीसरे, इराकी धमकियों को इसलिए भी गंभीरता से नहीं लिया जा रहा था कि आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति अंतर-अरब संबंधों का हिस्सा रही है। आक्रमण शुरू होने के छः घंटे के अंदर ही अमेरिका ने अपना रुख स्पष्ट कर दिया। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने आक्रमण की निंदा करते हुए "अविलंब और बिना शर्त" इराकी सेनाओं की वापसी की मांग की। लेकिन तब तक अमेरिकी शासन यह नहीं सोच पाया था कि यदि इराक अड़ा रहा तो उसके विरुद्ध क्या कार्रवाई की जाए। अगले दिन (अमेरिकी समय के अनुसार 2 अगस्त, 1990) बुश ने कहा, "मैं न तो कोई कार्रवाई प्रस्तावित कर रहा हूँ और न ही किसी भी कार्रवाई की संभावना से इंकार कर रहा हूँ"। बुश ने उस समय स्पष्टतः सैनिक कार्रवाई के बारे में इसलिए नहीं कहा कि उन्हें तब तक लगता था कि शायद सैनिक कार्रवाई की जरूरत न पड़े।

अब इराकी राष्ट्रपति हुसैन के व्यक्तित्व के बारे में थोड़ा जान लें। पश्चिमी संचार माध्यमों ने उसकी छवि एक खलनायक की पेश की है। माइकल बेचर के अनुसार, "उसके शासन में चारों ओर भय का आतंक व्याप्त था। उसकी महत्वकांक्षा खाड़ी क्षेत्र और अंततः पूरे अरब पर आधिपत्य स्थापित करने की थी।" इरान के साथ युद्ध के बाद उसे लगने लगा कि अमेरिका उसके विरुद्ध साजिश रच रहा था और सउदी अरब, कुवैत इज़ायल तथा कुछ अन्य खाड़ी के देश भी साजिश में शामिल थे। गोर्बाचोव के विशेष दूत को सद्दाम की इस आशंका की जानकारी दे दी गई थी। उसका विचार था कि सद्दाम की आशंका निराधार नहीं थी।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में कुवैत पर इराकी कब्जे को लेकर काफी चर्चा हुई। इस बीच 8 अगस्त, 1990 को इराकी की सत्ताधारी रिवॉल्यूशनरी कमांड कौंसिल (आर०सी०सी०) ने घोषित कर दिया कि कुवैत अब "इराक में समग्र रूप से सदा के लिए मिला लिया गया है और अब वह उसका अभिन्त अंग है"। कुवैत को इराक का उन्नीसवां प्रांत घोषित कर दिया गया।

2 अगस्त को इराकी आक्रमण के समय से इराक पर कुवैत से कब्जा हटाने के लिए दबाव डालने के उद्देश्य से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राजनैयिक एवं अन्य गतिविधियां तेजी से चलने लगी थीं। इराकी आक्रमण के विरुद्ध सउदी अरबिया सबसे अधिक मुखर था। उसे चुप करने के लिए अगले दिन (3 अगस्त) इराक ने सउदी सीमा पर 60,000 सैनिक तैनात कर दिए और 2 दिन बाद सद्दाम ने सेना को 11 टुकड़ियों में व्यूह रचना तैयार करने का आदेश दिया। इसके जवाब में अमेरिका ने 6000 से 15 हजार सैनिक और लड़ाकू विमानों के 4 दस्ते सउदी अरबिया में तैनात कर दिया। 11 अगस्त तक सउदी अरबिया में अमेरिकी सैनिकों की संख्या 200,000 पहुँच गई। 16 अगस्त को इराक ने हजारों विदेशी नागरिकों—ब्रिटिश, फ्रांसीसी, अमेरिकीओं जापानी—को बंधक बना लिया। 21 सितंबर 1990 को आर०सी०सी० ने लोगों को सबसे भयंकर लड़ाई (मदर ऑफ ऑल बैटल्स) के लिए तैयार रहने को कहा। उस समय तक कुवैत और दक्षिण में इराक के कुल 430,000 सैनिक थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के आर्थिक प्रतिबंध के जवाब में इराक ने सउदी अरब के तेल क्षेत्रों, शत्रुवत अरब देशों और इज़ायल पर आक्रमण की धमकी दे दी। नवंबर 1990 तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सहमति से इराक पर सैनिक कार्रवाई अवश्यंभावी लगने लगी थी।

इस दौरान सद्दाम हुसैन ने विदेशी बंधकों को इस शर्त पर छोड़ने का प्रस्ताव किया कि अमेरिका और उसके सहयोगी देशों की सेनाएं खाड़ी क्षेत्र से तुरंत वापस चली जाएं या राष्ट्रपति बुश लिखित रूप से सेनाओं को धीरे-धीरे हटाने का लिखित वायदा करें। साथ ही उस पर से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा लागू आर्थिक प्रतिबंध भी हटा लिया जाए। अमेरिका ने इराक की शर्तों को इस तर्क पर ठुकरा दिया कि पहले इराक सुरक्षा परिषद की तीन शर्तें मानते हुए अमीर को कुवैत की सत्ता सौंप दे और सभी बंधकों को रिहा करे। सद्दाम ने इस मुद्दे को अरब-इज़ायल संघर्ष से जोड़कर प्रचारित करना शुरू किया। इराक ने मांग की कि इज़ायल पश्चिमी बैंक, गाजा, गोलन पहाड़ी और लेबनॉन से अपना कब्जा हटाए। अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में कहा कि यदि इराक कुवैत से अपनी सेना हटा लेता है तो अरब-इज़ायल समस्या को हल करने के बहुत उपयुक्त अवसर मिलेंगे।

जब यह स्पष्ट हो गया कि इराक सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव नहीं मानेगा तो अमेरिका ने इराकी अतिक्रमण का विरोध करने वाले 28 देशों का एक मोर्चा बनाना शुरू किया। इनमें ज्यादातर नाटो के सदस्य देश थे और कुछ पश्चिम एशिया ही के देश थे। यद्यपि इराक के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव लागू करने के लिए सैनिक कार्रवाई का समर्थन 28 देशों ने किया था लेकिन जब युद्ध शुरू हुआ तो उसमें 6 देश ही सक्रिय रूप से शामिल हुए। ये देश थेः अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सउदी अरब, मिस्र और सीरिया। 17 जनवरी से 28 फरवरी, 1991 के दौरान चला खाड़ी युद्ध मूलतः अमेरिका और इराक के बीच शक्ति-परिक्षा का युद्ध था। जॉर्डन, यमन और पी०एल०ओ इराक को समर्थन कर रहे थे तथा राजनयिक और आर्थिक मदद कर रहे थे लेकिन उसके साथ लड़ाई में शामिल नहीं हुए।

अपनी खुद की समस्याओं से त्रस्त सोवियत संघ भी सुरक्षा परिषद प्रस्ताव के समर्थन में 28 देशों के धुरी में शरीक तो हो गया लेकिन सैनिक कार्रवाई में शरीक नहीं हुआ। सोवियत संघ अंत तक दोनों पक्षों के बीच समझौते का भी प्रयास करता रहा। सोवियत संघ को अंदेशा था कि इराक के विरुद्ध युद्ध में शरीक होने से उसके मुस्लिम बाहुल्य गणतंत्रों में विद्रोह की स्थिति पैदा हो सकती थी। इसके अलावा भी सोवियत संघ दो दशकों से इराक को सैनिक और आर्थिक सहायता देता रहा था और खाड़ी क्षेत्र तत्कालीन सोवियत संघ की सीमा से काफी दूर नहीं था।

इराकी आक्रमण ने अरब देशों के लिए धर्म संकट खड़ा कर दिया था। अरब लीग ऑफ नेशंस के एक सदस्य ने दूसरे सदस्य की संप्रभुता पर हमला कर दिया था। इराक की निन्दा का मतलब था अमेरिकी खेमे की हिमायत करना जबकि अमेरिका को साम्राज्यवादी ताकत माना जाता हो। और इराक का साथ देने का मतलब था राष्ट्रीय अखंडता और संप्रभुता के सिद्धांतों को नकारना। इसलिए ज्यादातर अरब देश या तो तटस्थ रहे या दोनों में से किसी एक पक्ष का मौखिक समर्थन करते रहे।

इस समस्या के समाधान के लिए जब सोवियत संघ के सारे राजनयिक और कूटनीतिक प्रयास असफल हो गए और सद्दाम हुसैन के सरकार कुवैत पर अधिकार खत्म करने को राजी नहीं हुई तो सोवियत संघ सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का समर्थन करने को राजी हो गया। यह समर्थन सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव संख्या 678 के लिए था जिसमें कहा गया था कि यदि 30 नवंबर तक इराक कुवैत से अपना कब्जा स्वयं नहीं हटाता तो बल-प्रयोग से उसे इसके लिए बाध्य कर दिया जाएगा। अमेरिका 1 जनवरी 1991 को सैनिक कार्रवाई शुरू कर देना चाहता था। लेकिन सोवियत संघ के आग्रह पर समय सीमा बढ़ाकर 15 जनवरी कर दी गई। सुरक्षा परिषद में प्रस्ताव संख्या 678 के समर्थन में 12 मत पड़े और विरोध में 2। क्यूबा और यमन ने प्रस्ताव का विरोध किया जबकि चीन ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया। लेकिन चीन ने प्रस्ताव पर वीटो भी नहीं लगाया। इस प्रस्ताव ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के अधिकृत कर दिया कि वे "अंतरराष्ट्रीय शांति और खाड़ी क्षेत्र की सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक तरीके अपना सकते हैं"।

अमेरिकी नेतृत्व में 28 देशों के महासंघ ने 17 जनवरी, 1991 की रात्रि 2 बजकर 40 मिनट (खाड़ी समय के अनुसार) पर "कुवैत की मुक्ति" के लिए सैनिक कार्रवाई शुरू कर दी। इस खाड़ी युद्ध के 2 चरण थे। 17 जनवरी से 23 फरवरी, 1991 तक युद्ध का पहला चरण था। इस चरण में इस कुवैत और इराक के सामरिक ठिकानों पर हवाई बम-बारी की गई। हवाई हमला विनाशकारी रूप से हर दिन चलता रहा। इस हवाई हमले की इस कार्रवाई में वायु सेनाओं के साथ नौसेना भी शरीक थी। थल सेना की कार्रवाई 24 फरवरी को शुरू हुई और 28 फरवरी तक इराक की पराजय हो गई तथा कुवैत उसके कब्जे से मुक्त हो गया। खाड़ी और रक्तसागर (रेडसी) स्थित नौसेना के सहयोग से इराक पर हवाई हमले में पुल, रेल-व्यवस्था, उर्जा संयंत्र, जल-संयंत्र, शस्त्रागारों, तेल-संयंत्र, इराकी सेना, स्टड मिसाइल प्रक्षेपण केंद्र और नाभिकीय (परमाणु) ऊर्जा संयंत्र आदि बमबारी के प्रमुख लक्ष्य थे। 700 लड़ाकू विमानों वाली इराकी वायु सेना अमेरिकी खेमे की अति आधुनिक संयुक्त वायुसेना की ताकत के आगे कहाँ टिक सकती थी? इसके अलावा कई योग्य चालक आने विमानों को इरान में उतार लिया जिससे उन्हें लड़ाई में भाग न लेना पड़े।

पराजय अपरिहार्य देख, सद्दाम ने इस युद्ध को अरब-इज्रायल युद्ध में बदलना चाहा लेकिन वह अपने प्रयास में असफल रहा। इराक हफ्तों इज्रायल पर स्कड मिसाइलों से हमला करता रहा। इराक की अपेक्षा थी कि इज्रायल भी जवाबी हमला करेगा और तब वह अरब देशों को "यहूदी-राज्य" के विरुद्ध लामबंद कर सकेगा। इससे अरब देशों में सउदी अरब और मिस्र निंदा के पात्र बन जाएंगे। लेकिन अमेरिकी दबाव के चलते इज्रायल ने जवाबी हमला नहीं किया और खाड़ी युद्ध को अरब-इज्रायल युद्ध में तब्दील करने की सद्दाम की कोशिशें नाकाम रही।

इस दौरान सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाचेव समस्या के राजनयिक समाधान के असफल प्रयास करते रहे। सद्दाम हुसैन ने घोषणा की कि यदि थल युद्ध शुरू हुआ तो अमेरिका वियतनाम युद्ध की भी पराजय भूल जाएगा। इस युद्ध में अमेरिकियों को "अपने ही खून से नहाना पड़ेगा"। लेकिन जमीनी लड़ाई शुरू होने के चार दिन के भीतर ही कुवैत से इराकी सेनाओं को खदेड़ कर वहां अलं अमीर सबह की राजशाही पुनर्स्थापित कर दी गई।

युद्ध तो फरवरी, 1991 में ही समाप्त हो गया लेकिन इराक के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ का आर्थिक प्रतिबंध सितंबर, 1995 तक जारी था। चूंकि सद्दाम हुसैन इराक की परमाणु क्षमताओं को नष्ट कराने में आना-कानी कर रहे है अमेरिकी रुख में बदलाव की उम्मीद नहीं दिखती। 1995 में ही सद्दाम को एक और समस्या का सामना करना पड़ा। उसकी दो बेटियों और उनके पतियों ने इराक से भाग कर जॉर्डन में राजनैतिक शरण ले ली। सद्दाम के ये दोनों ही दामाद इराकी सरकार में महत्वपूर्ण पदों पर थे। इससे इराकी राष्ट्रपति की प्रतिष्ठा को तगड़ा झटका लगा। जॉर्डन के राजा इराक के प्रमुख समर्थकों में रहे है। उनके द्वारा सद्दाम के दामादों को राजनीतिक शरण देने से सद्दाम हुसैन की अंतरराष्ट्रीय राजनीति में स्थिति और भी कमजोर हो गई।

1990-91 का खाड़ी युद्ध अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक प्रमुख संकट था। सोवियत संघ का अस्तित्व तब तक बना हुआ था लेकिन वह इराक का समर्थन करने की स्थिति में नहीं था। इराक को कुवैत से कब्जा हटाने के लिए सद्दाम को राजी करने के सारे प्रयासों के असफल हो जाने के बाद अमेरिकी नेतृत्व में सैनिक कार्रवाई को समाधान का माध्यम बनाना तय किया गया। कुवैत को इराक से मुक्त कराने की इस कार्रवाई को पश्चिमी संचार माध्यमों में सामूहिक सुरक्षा की कार्रवाई के उदाहरण के रूप में पेश किया गया। लेकिन यह सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा परंपरागत अर्थ में नहीं थी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुवैत की मुक्ति के लिए सभी सदस्य देशों का अह्वान नहीं किया था। इस संदर्भ में 'सामूहिक सुरक्षा' की कार्रवाई की जिम्मेदारी अमेरिकी नेतृत्व में 28 देशों के मोर्चे को सौंप दी गई। इराकी आक्रमण को पछाड़ने में महज दो दिन लगे। बाकी दिन इराक पर युद्ध जारी रहा। इस युद्ध में अपार जन-धन की हानि तो हुई ही लाखों बेकसूर इराकी नागरिक भी मारे गए और इराक की अर्थ व्यवस्था पंगु हो गई।

10.1 खंड 5, इकाई 12 *पश्चलेख*

10.1.1 यूरोप में नव-फासीवाद

शीत युद्ध के समाप्त होते-होते यूरोप में फासीवादी और नाजीवादी ताकतों ने एक बार फिर से फिर उठना शुरू कर दिया। अपने इस नए संस्करण में ये ताकतें, विश्व युद्धों के अंतराल के दौर जैसा कट्टरपंथी रवैया नहीं अपना रही हैं। "फासीवादी राष्ट्र राज्य का दुःसाहसी और अतिवादी प्रयास है। यह अधिनायकवादी शासन और अंधराष्ट्रवाद के नारों के जरिए परोपजीवी ताकतों के हितों की रक्षा करता है।" यह टिप्पणी 1994 में इटली एवं अन्य देशों में उभरते फासीवादी खतरे को रेखांकित करते के लिए एक "संघवादी (फेडरलिस्ट)" ने की थी। फासीवादी की व्याख्या एक अशिष्ट, कुनबाई विचारधारा के रूप में की गई है। नव-फासीवादी एक संगठित अति-दक्षिणपंथी दल के रूप में उभरने के प्रयास में है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पहली बार इटली की सरकार में राष्ट्रीय मोर्चा (नेशनल एलायंस) नामक नव-फावीवादी संगठन के कुछ सदस्यों को जगह मिली। राष्ट्रीय मोर्चा फासीवादी संगठन होने से इंकार करता है लेकिन इसका सैद्धांधिक आधार स्पष्ट फासीवादी सिद्धांत पर, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद गठित 'इटालवी सामाजिक आंदोलन' की विचारधारा है। सरकार में भागीदार बनने के बाद नव-फासीवादी अपने 'मर्यादित स्वभाव' पर ज्यादा जोर दे रहे हैं। जर्मनी के एकीकरण के बाद वहां भी नव-नाजीवादियों ने सिर उठाना शुरू कर दिया है लेकिन वहां अभी तक वे खास राजनैतिक महत्व नहीं हासिल कर सके हैं। मूलतः फासीवादी की स्थापना मनुष्य का मनुष्य पर दमन राष्ट्रीय घृणा और जातीय असहिष्णुता जैसे नकारात्मक मूल्यों पर आधारित थी। चमत्कारी नेता मुसोलिनी ने 1920 के दशक में वर्साइल संधि के तहत 'शांति स्थापकों' द्वारा इटली के साथ किए गए अन्याय के नाम पर लोगों की अतिराष्ट्रवादी भावनाओं को उभार कर इटली की सत्ता पर अधिकार कर लिया था। लेकिन शीत युद्ध के बाद के दौर में न तो जर्मनी या इटली में हिटलर या मुसोलिनी जैसा कोई चमत्कारी नेता पैदा हुआ न ही अतिराष्ट्रवाद के लिए ऐतिहासिक स्थितियां हैं। फिर भी नव-फासीवादी खतरे को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। यह कभी भी भंयकर रूप धारण कर सकता है।

11.1 खंड 6, इकाई 15 *पश्चलेख*

11.1.1 शीत युद्ध का अंत

शीत युद्ध की शुरूआत उस समय की गई जब दूसरे विश्व युद्ध में मित्र शक्तियों ने नाजी जर्मनी और उसकी धुरी शक्तियों पर निर्णयात्मक विजय हासिल कर ली। मित्र शक्तियों में अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ही महत्वपूर्ण घटक थे। युद्ध के बाद अपेक्षा थी कि मित्र शक्तियों की आपसी मित्रता बनी रहेगी। लेकिन युद्ध समाप्त होते ही उनके दो विरोधी खेमों में बंट जाने से यह अपेक्षा टूट गई। दुनिया अमेरिकी और सोवियत खेमे में बंट गई। उपनिवेशवाद से आजादी पाए ज्यादातर देश सोवियत खेमे में थे। 1990 में जब शीत युद्ध समाप्त हुआ तब तक आम आदमी इसे शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर चुका था और लगता था कि पश्चिमी-पूर्व का तनाव चलता ही रहेगा। जब शीत युद्ध अचानक खत्म हुआ तब पश्चिमी पूंजीवादी गुट विजय 'विजय' अनपेक्षित थी और समाजवादी गुट यह स्वप्न बुन रहा था कि पूंजीवाद अपने ही भार के नीचे अब दबा कि तब। शीत युद्ध का अंत दो "अन्यथा असंभावित सहयोगियों"—रोनॉल्ड रेगॉन और मिखाइल गोर्बाचोव—के तत्वाधान में हुआ। अमेरिकी राष्ट्रपति ने 'अपवादवाद' की परंपरा को आगे बढ़ाकर अपने चुनाव को सही ठहराया। उनसे साम्यवाद पर अंकुश रखने की अपेक्षा थी उन्होंने तो उसे ध्वस्त ही कर दिया। गोर्बाचोव सोवियत विचारधारा की श्रेष्ठता के पुनर्जागरण के प्रयास में थे। हेनरी किसिंजर दोनों की तुलना करके इस नतीजे पर पहुंचे कि "रेगॉन तो अपने देश की नब्ज समझने में सफल रहे लेकिन गोर्बाचोव अपने देश की नब्ज समझने में असफल"। समस्या की शुरुआत तब हुई जब गोर्बाचोव ने सोवियत संघ में स्वतंत्र-जनतांत्रिक व्यवस्था तैयार करने के सपने को पूरा करने का फैसला किया। गोर्बाचोव के इस प्रयास ने सोवियत-व्यवस्था के पतन में उत्प्रेरक का काम किया। वे ऐसे सुधार चाहते थे जो सोवियत व्यवस्था में संभव नहीं था।

1981 में जब रेगॉन ने अमेरिकी सत्ता की बागडोर संभाली तो अमेरिकी प्रतिष्ठा लगातार गिर रही थी। वियतनाम में उसे अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा और अंगोला से भी वापस लौटना पड़ा था। सोवियत संघ का प्रभाव क्षेत्र व्यापक था। क्यूबा की सेनाएं इथीओपिया से अंगोला तक फैली थी और उनके मार्ग दर्शन के लिए थे। —सोवियत सैन्य सलाहकार। अफगानिस्तान में 100,000 सोवियत सैनिकों की उपस्थिति और काबुल में सोवियत समर्थित सरकार दक्षिण और पश्चिमी एशिया अमेरिकापरस्त शाह का शासन धराशायी हो चुका था और वहां अयातोल्ला खोमैनी के नेतृत्व में इस्लामी शासन की स्थापना हो चुकी थी जिसने तेहरान में अमेरिकी दूतावास के 52 कर्मचारियों को बंधक बना लिया था। ऐसे में जब विश्व राजनीति में अमेरिका की कमजोरी स्पष्ट होती जा रही थी। अमेरिका की गिरती प्रतिष्ठा के चलते जिम्मी कार्टर जब दुबारा राष्ट्रपति पद के दावेदार बने तो हार गए। ऐसे में सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में प्रसार जिस गति से हो रहा था लगता था कि शीघ्र ही दुनियाभर में सोवियत संघ के समाजवादी खेमे का वर्चस्व स्थापित हो जाएगा। लेकिन गोर्बाचोव के सोवियत संघ की बागडोर संभालते ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में समीकरण तेजी से बदलने लगे। उनके 'सुधार' कार्यक्रमों के चलते सबसे पहले पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में कम्युनिस्ट शासन समाप्त हो गया तथा पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण हो गया। पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासन के बाद 1991 में सोवियत संघ का भी विघटन हो गया। बिना युद्ध में हारे किसी महाशक्ति का इतनी तेज गति से विघटन आश्चर्यजनक था।

हेनरी किसिंजर ने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमेसी (राजनय)' में रेगॉन को एक ऐसा राष्ट्रपति बताया है जिसे इतिहास का ज्ञान न के बराबर था लेकिन किस्मत उसके साथ। किस्मत ही कहा जाएगा कि शीत युद्ध में विजय का सेहरा रेगॉन के ऊपर ही लगा। विदेशनीति का ककहरा रेगॉन को उबाऊ लगता था। उसने तुष्टीकरण की नीति के खतरों, कम्युनिज्म (साम्यवाद) की बुराइयों और अपनी देश की महानता के बारे में कुछ विचार बना रखे थे लेकिन ठोस मुद्दों का विश्लेषण उसके बस में नहीं था।" किसिंजर रेगॉन के लिए भाषण लिखने वालों की जरूर तारीफ करते हैं। रेगॉन गोर्बाचोव को अमेरिका की सैर कराना चाहते थे जिससे कि वे मजदूरों से खुद सुन सकें कि कैसा सुंदर स्वर्ग है अमेरिका। रेगॉन, गोर्बाचोव को कम्युनिस्ट व्यवस्था की बुराइयों के बारे में बताना और उसे 'रास्ते पर' लाना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

रेगॉन ने दुनिया को परमाणु युद्ध के भय से मुक्ति दिलाने का भी सपना देखा था। उसने और गोर्बाचोव ने इस दिशा में अथक प्रयास किया। चार शिखर वार्ताएं हुई और दोनों इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मध्यम दूरी तक मार करने वाली कुछ बैलस्टिक मिसाइलों को नष्ट कर देना चाहिए। 1986 में रेक्याविक शिखर वार्ता में तो दोनों राष्ट्राध्यक्ष सभी सामरिक शक्तियों को 5 साल में घटाकर आधा कर लेने और 10 साल में सभी बैलस्टिक मिसाइलों को नष्ट करने पर राजी हो गए। रेगन ने सभी परमाणु अस्त्रों को नष्ट करने का प्रस्ताव लगभग स्वीकार कर लिया था। लेकिन बात यहां अटक गई कि यदि अन्य परमाणु शक्ति वाले देशों ने अपने परमाणु अस्त्र न नष्ट किए। अतः रेक्याविक वार्ता अंतिम क्षण में असफल हो गई।

अंत में 1987 में सोवियत संघ और अमेरिका दोनों ही मध्यम स्तर की बैलस्टिक मिसाइलों को नष्ट करने के लिए राजी हो गए। इसने दुनिया की दो महाशक्तियों के बीच आपसी समझ का रास्ता बना जिसने शीत युद्ध की समाप्ति की भूमिका तैयार की।

सोवियत संघ में गोर्बाचोव की ताकत और प्रतिष्ठा अभूतपूर्व थी। फिर भी उसकी नियति थी कि वह सोवियत संघ के पतन का संचालक बने। 1985 में जब उसने सत्ता संभाली तो वह एक परमाणिक महाशक्ति का नेता जो आर्थिक संकट की तरफ बढ़ रही थी। 1991 में जब वह सत्ता से हटा तो सेना ने उसके प्रतिद्वंद्वी बोरिस येल्तसिन का साथ दिया और समाजवादी सोवियत संघ के पतन के साथ रूस में कम्युनिस्ट पार्टी को अवैधानिक घोषित कर दिया गया।

गोर्बाचोव ने जीवन के सभी आयामों को नियंत्रित करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी को नष्ट कर दिया। सोवियत संघ का विघटन हो गया तथा सुधारों—ग्लास्तनोव और पेरेस्त्रोइका की असफलता के लिए गोर्बाचोव को दोषी ठहराया गया। असफलताओं के बावजूद सोवियत व्यवस्था के अंतर्द्वंद्वों का सामना करने के साहस का श्रेय गोर्बाचोव को मिलना चाहिए। वह समझता था कि पूंजीवादी देशों के स्तर का औद्योगिकीकरण में काफी समय लगेगा। इसके लिए उसे समय चाहिए था और इसीलिए उसने विदेशनीति का पुर्नमूल्यांकन शुरू किया। नाभिकीय (परमाणु) प्रक्षेपास्त्रों और शीत युद्ध समाप्त करने के मसलों पर अमेरिका के साथ संधि करने में उसे बहुत मशक्कत करनी पड़ी। इन दोनों ही क्षेत्रों में उसे सफलता मिली।

अमेरिका, 1947 से ही साम्यवाद पर अंकुश लगाने को दृढ़-संकल्प था। लेकिन उसे उम्मीद नहीं थी कि वह साम्यवाद को उसके मूल देश में ही पराजित कर सकेगा। किसिंजर ने 1947 में मास्को में अमेरिकी राजदूत, जॉर्ज कन्नन को श्रद्धांजलि देते हुए लिखा है,"शीत युद्ध का अंत ठीक उसी तरह से हुआ जैसा जार्ज कन्नन ने 1947 में सोचा था।" सोवियत संघ को अपने को बरकरार रखने के लिए एक स्थाई शत्रु की जरूरत थी। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 27वीं कांग्रेस ने शीत युद्ध के अंत को नैतिक आधार प्रदान किया। गोर्बाचोव ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करने के साथ नागरिक दमन की नीति समाप्त कर दिया था। अतः, जैसा कि कन्नन ने भविष्यवाणी की थी कि सोवियत संघ के लोग जिन्होंने अनुशासन और आज्ञाकारिता को आत्मसात सा कर रखा है, रातों-रात स्वतंत्र और जनतांत्रिक माहौल के लिए व्याकुल हो जाएंगे। इस परिवर्तन में वह सर्वशक्तिशाली राष्ट्रीय समाज से कमजोर और दयनीय राष्ट्रीय समाज बन जाएगा।

अमेरिका को केन्नन के साम्यवाद पर अंकुश रखने की नीति से काफी फायदा हुआ। लगभग 40 साल विश्व व्यवस्था शीत युद्ध कालीन तनाव में जरूर रही लेकिन अमेरिका यदि साम्यवाद विरुद्ध कटिबद्ध न होता तो यूरोप के कई देशों में वहां की कम्युनिस्ट पार्टियों का वर्चस्व स्थापित हो गया होता। जिस तरह शीत युद्ध का अंत हुआ उससे इसका श्रेय भी अमेरिका को ही मिला जिसे उसने "विजय" की तरह मनाया। अमेरिकी दावा है कि उसी के चलते भूमंडलीय संतुलन बना हुआ है, जिससे विश्व में शांति है।

शीत युद्ध के बाद भी अमेरिका के समक्ष कई समस्याएं आईं लेकिन जिस तरह का संकट साम्यवाद की वैचारिक चुनौती ने खड़ा कर रखा था वैसी नहीं। चीन के कम्युनिस्ट शासन ने भी उदारीकरण का रास्ता अपना लिया है, लेकिन अपने तरीके से। 'जनवादी गणतंत्र' बने रहने के बावजूद अमेरिका को चीन से कोई विचारधारात्मक खतरा नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में अमेरिकी वर्चस्व को उभरते हुए आर्थिक शक्तियों—जापान और जर्मनी—से खतरा है और रूस अभी भी परमाणु शक्ति है। शीत युद्ध की स्थितियां ऐसी थीं कि महाशक्ति के रूप में अमेरिकी वर्चस्व बना रहा। लेकिन अंतरराष्ट्रीय राजनीति की गति जैसा संकेत दे रही, उससे लगता है कि 21वीं शदी शुरू होते-होते विश्व बहु-ध्रुवीय हो जाएगा और एक मात्र महाशक्ति के रूप में अमेरिकी वर्चस्व समाप्त हो जाएगा।

एक नई विश्व व्यवस्था

बीसवीं सदी में अमेरिका ने तीसरी बार अपनी मान्यताओं पर आधारित एक नई विश्व-व्यवस्था के निर्माण का इरादा जाहिर किया है। तीसरी बार वह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के शीर्ष पर पहुंचा है। 1918 में पेरिस के शांति सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ही छाए रहे। उन्होंने लीग ऑफ नेशन्स के धुरी के इर्द-गिर्द लामबंद देशों की सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत पर आधारित एक ऐसी नई विश्व व्यवस्था की हिमायत की जो लंबे समय तक विश्व शांति बनाए रखने में सक्षम होगी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रूजवेल्ट और ट्रूमैन दोनों अमेरिकी राष्ट्रपतियों ने दुनिया को अमेरिकी सांचे में ढालना चाहा। शीत युद्ध के बाद की स्थिति तो अमेरिकी शासकों को तो अपने तरीके की नई विश्व-व्यवस्था निर्माण करने की स्थिति और भी अनुकूल लगी। लेकिन विश्व व्यवस्था का निर्माण किसी शासक या देश की इच्छानुसार नहीं होता यद्यपि यह शीत युद्ध के बाद की अंतरराष्ट्रीय राजनीति की सच्चाई है कि अमेरिका ही एक मात्र महाशक्ति है जो दुनिया के किसी कोने में भी हस्तक्षेप कर सकती है। लेकिन दुनिया में 5-6 और भी बड़ी आर्थिक शक्तियां हैं और बहुत से छोटे-छोटे देश हैं। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि एक नई विश्व व्यवस्था, प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रीय हितों के सामंजस्य और संतुलन से ही, निर्मित होती है। इसका भावी स्वरूप इन

तीन प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करेगा। जैसा कि किसिंजर का कहना है: नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की मूलभूत इकाइयां कौनसी है? उनके पारस्परिक संवाद का माध्यम क्या है? इस संवाद के लक्ष्य क्या है? सभी विश्व व्यवस्थाएं स्थायित्व की महत्वकांक्षा रखती है। लेकिन जिन तत्वों से यह निर्मित होती है वे निरंतर परिवर्तन की स्थिति में रहते है अमेरिकी वर्चस्व की नई व्यवस्था को जड़े जमाने में समय लगेगा। पूर्वी यूरोप और रूस में पूर्व कम्युनिस्टों की चुनावों के जरिए वापसी से अमेरिकी महत्वकांक्षाओं को झटका लगा है। इस बीच गोर्बाचोव ने एक 'नई विश्व व्यवस्था' की रूपरेखा तैयार की है।

12.1 खंड 6, इकाई 15 *पश्चलेख*

12.1.1 बर्लिन दीवार का पतन

आप शीत युद्ध के उदय, विकास और अंत के बारे में पढ़ चुके हैं। उस संदर्भ में आप जर्मन समस्या के बारे में और जर्मनी के बंटवारे के बारे में भी पढ़ चुके हैं। पश्चिमी जर्मनी, 'जर्मनी का संघात्मक गणतंत्र' (फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी) कहलाया और अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी खेमे में शामिल कर लिया गया। पूर्वी जर्मनी जर्मन जनतांत्रिक गणतंत्र कहलाया और सोवियत खेमे का सदस्य बन गया। बर्लिन में दीवार खड़ी करके उस पश्चिमी, पूर्वी दो हिस्सों में बांट दिया गया। यही दीवार बर्लिन दीवार के नाम से प्रसिद्ध हुई।

शीत युद्ध के बाद के शुरुआती दौर की सबसे प्रमुख घटना थी जर्मनी का एकीकरण। सोवियत संघ के आग्रह पर बनी दीवार, शुरू से ही दोनों बर्लिनों के लोगों को पसंद नहीं थी। परिवार के लोग, रिश्तेदार और मित्र सिर्फ इसलिए एक दूसरे से जबरन अलग कर दिए गए कि वे शहर के दो भिन्न हिस्सों में रहते थे। पूर्वी बर्लिन के लोगों को दीवार के उस पर बीमार रिश्तेदारों से भी मिलने की अनुमति नहीं थी। अनधिकृत रूप से दीवार के आर-पार जाने वाले लोगों को गोली मार देने का आदेश था। पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी की आर्थिक स्थितियां और राजनैतिक व्यवस्थाएं एक दूसरे से भिन्न थीं। पश्चिमी जर्मनी विकसित और समृद्ध औद्योगिक राष्ट्र था। वह कई तीसरी दुनिया के देशों को आर्थिक सहायता भी देने के स्थिति में था। समाजवादी व्यवस्था वाले पूर्वी जर्मनी में आर्थिक संपन्नता नहीं थी। जैसे ही सोवियत संघ और अमेरिका के संबंध मित्रवत होने लगे, दोनों जर्मनी के एकीकरण की बात दुनिया के सभी कोनों में होने लगी। सबसे पहले बर्लिन दीवार टूटी। बर्लिन दीवार तोड़ने की लोगों की उत्सुकता देखकर शीत युद्ध का अंत अपरिहार्य लगने लगा था। दोनों देशों के बीच वार्ताओं के दौर चल पड़े। एक नाटो का सदस्य था और दूसरा वारसा संधि का। वारसा संधि की समाप्ति ने इस समस्या का समाधान कर दिया। बर्लिन दीवार के पतन के बाद 1990 में अगला महत्वपूर्ण कदम था पश्चिम जर्मनी की मुद्रा को पूर्व में भी लागू करना। अंततः दोनों जर्मनी मिलकर एक हो गए। पश्चिम जर्मनी का राष्ट्राध्यक्ष एकीकृत जर्मनी का राष्ट्रध्यक्ष चुन लिया गया और पूरे जर्मनी में संसदीय जनतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था और बाजार-अर्थव्यवस्था लागू कर दी गई। जर्मनी का बंटवारा शीत युद्ध कालीन कटुता का परिणाम था और उसका एकीकरण शीत युद्ध की समाप्ति की सांकेतिक घोषणा।

13.1 खंड 6, इकाई 17 *पश्चलेख*

13.1.1 दक्षिण अफ्रीका: रंगभेद की समाप्ति

दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद-रंगभेद 1994 में समाप्त हो गया। दक्षिण अफ्रीका एक ब्रिटिश उपनिवेश था और महात्मा गांधी की कर्मभूमि रह चुका है। गांधी द्वारा वहां सत्याग्रह के प्रयोग के लगभग एक शताब्दी बाद, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद से परे एक जनतांत्रिक व्यवस्था कायम हो सकी और उसे एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य का दर्जा हासिल हो सका। वहां की अल्पसंख्यक गौराशाही वहां की बहुसंख्यक आबादी की रंगभेद विरोधी आकांक्षाओं और आंदोलनों को बलपूर्वक कुचलती रही। दशकों तक काले और मिश्रित वर्ण के तथा भारतीयमूल के लोगों को भेदभाव और अपमान झेलना पड़ा। भारत ने 1949 में ही दक्षिण अफ्रीका के साथ राजनयिक संबंध समाप्त कर दिए थे और वह हमेशा ही गोराशाही की समाप्ति का समर्थक रहा है। धीरे-धीरे विश्व जनमत के दबाव में दुनिया के ज्यादातर देशों ने दक्षिण अफ्रीका से राजनयिक संबंध समाप्त कर लिए। गोराशाही सरकारें अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस के नेता डा० नेल्सन मंडेला और उनके साथियों को 25 साल तक जेलों में बंद किए रहीं। 1980 का दशक शुरू होते-होते दुनिया के लगभग सभी नेताओं ने दक्षिण अफ्रीका की अल्पमत गोरी सरकार पर राजनैतिक बंदियों को रिहा करने और नस्लवादी रंगभेद समाप्त करने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। लगभग सभी देशों ने उसके खिलाफ समग्र आर्थिक प्रतिबंध लागू कर दिया। इस दबाव और प्रतिकूल विश्व जनमत के चलते 1991 में तत्कालीन राष्ट्रपति डी क्लार्क को डा० नेल्सन मंडेला को रिहा करके रंगभेद समाप्ति की वार्ता शुरू करनी पड़ी। इस तरह जब उदारीकरण की नीति दुनिया के तमाम देशों में आम बात हो रही थी, शीत युद्ध समाप्त हो चला था तो परिवर्तन की इस हवा में दक्षिण अफ्रीका शताब्दियों पुरानी रंगभेद की समस्या का समाधान खोज रहा था।

चार साल की वार्ताओं के बाद 1994 में दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद से मुक्त पहला चुनाव हुआ और बहुसंख्यक आबादी को पहली बार जनतांत्रिक मताधिकार का अधिकार मिला। नवनिर्वाचित संसद ने दक्षिण अफ्रीकी गणतंत्र का राष्ट्रपति चुना डा० नेल्सन मंडेला को। मंडेला दक्षिण अफ्रीका के पहले अश्वेत राष्ट्रपति हैं। डी क्लार्क, आखिरी श्वेत राष्ट्रपति, ने रंगभेद नीति की समाप्ति के लिए काफी प्रयास किया था। उन्हें उप राष्ट्रपति चुना गया। नई व्यवस्था में दयनीय शासन के बजाय, राष्ट्रीय शासन का प्रावधान है। जिस भी दल को चुनाव में राष्ट्रीय स्तर पर कुल मतदान का 5% या उससे अधिकमत मिला हो, उसे सरकार में शामिल करने का प्रावधान है। इस प्रकार शीत-युद्ध की समाप्ति के साथ ही एक ऐसी प्रथा भी समाप्त हो गई जिसे किसी भी हालत में उचित नहीं माना जा सकता। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति और सर्वनस्लीय, राष्ट्रीय सरकार के गठन का दुनिया भर में चारों तरफ, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शांति और समृद्धि के प्रतीक रूप में स्वागत हुआ।

13.1.2 पश्चिम एशिया में शांति-प्रयास

1948 में इज़ायल के गठन से ही अरब जनता, खासकर फिलिस्तीनियों, ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया था। इज़ायल के गठन ने हज़ारों फिलीस्तीनियों को बेघर कर दिया जो दूसरे देशों में विस्थापित जिंदगी जीने को मजबूर थे। अरब-इज़ायल शत्रुता इतनी गहन थी कि इज़ायल का अरबों से 1967 और 1973 के बीच चार युद्ध हुए। लेकिन सभी में इज़ायल विजयी रहा। दरअसल हर युद्ध के बाद इज़ायल की स्थिति पहले की तुलना में बेहतर होती थी। इज़ायल ने कई पड़ोसी क्षेत्रों—गाजा पट्टी, गोलन पहाड़ियों पर भी कब्जा कर लिया। यहूदियों, ईशाइयों और मुसलमानों, तीनों के पवित्र शहर, जेरुशलम पर इज़ायल का एकक्षत्र अधिकार स्थापित हो गया। यासर अराफात के नेतृत्व मे फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को सोवियत खेमे में और भारत समेत कई देशों की मान्यता प्राप्त थी। पश्चिमी देशों का इज़ायल को पूर्ण समर्थन प्राप्त था। शीत युद्ध के दौरान मध्य-पूर्व में इज़ायल अमेरिकी खेमे का एकमात्र विश्वनीय अड्डा था जबकि इज़ायल को सोवियत खेमे और अरब देशों का समर्थन हासिल था।

शीत युद्ध के बाद पश्चिमी एशिया में शांति स्थापना के प्रयासों की शुरुआत अमेरिका ने ही की। 1978 में राष्ट्रपति कार्टर की उपस्थिति में हुई कैम्प डैविड वार्ता ने शांति की प्रक्रिया का रास्ता तैयार किया। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सदात और इज़ायल के प्रधानमंत्री बेगिन के बीच हुए समझौते के परिणाम स्वरूप दो शत्रु देश मिलकर शांति स्थापना के प्रयास में लग गए। अनवर सदात शत्रुता का माहौल समाप्त करने के लिए पहले ही इज़ायल की यात्रा कर चुके थे। इज़ायल और मिस्र दोनों ही देशों के कट्टरपंथियों ने इस समझौते का विरोध करने लगे। अनवर सदात की तो उन्ही के एक देशवासी ने हत्या कर दी। लेकिन उनके बाद राष्ट्रपति होस्नी मुबारक ने उनके द्वारा शुरू की गई शांति प्रक्रिया को जारी रखा। इज़ायल ने सिनोई से अपना कब्जा हटाकर उसे मिस्र को सौंप दिया।

दशकों की निरंतर शत्रुता के बाद इज़ायल और पी०एल०ओ० (फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन) दोनों ने ही शांति की जरूरत को स्वीकार किया। 1993 में इज़ायल और पी०एल०ओ० के बीच समस्या के दूरगामी समाधान के लिए वार्ताओं के दौर चले। इज़ायल ने कुछ लचीला रवैया अपनाया जिससे पश्चिमी तट पर फिलिस्तीनियों का स्वायत्त शासन स्थापित हो सके। संबंधों के सामान्य होने में अभी समय लग सकता है लेकिन इस दिशा में जारी शांति-प्रक्रिया इज़ायल-अरब संबंधों में बेहतरी का संकेत है। सितंबर, 1995 में इज़ायल और पी०एल०ओ० के बीच ऐतिहासिक समझौते में पश्चिमी तट पर फिलिस्तीनी स्वायत्ता और अरब शहरों पर 28 साल से चले आ रहे इज़ायल कब्जे की समाप्ति के प्रावधान हैं।

लेकिन नवंम्बर, 1995 में विशाल शांति रैली को संबोधित करने बाद राष्ट्रपति यित्जाक राबिन की हत्या से पश्चिमी एशिया में शांति प्रक्रिया को थोड़ा धक्का पहुंचा। उनकी हत्या एक दक्षिणपंथी यहूदी ने की। यह उन लोगों में से था जो पी०एल०ओ० के साथ इज़ायल के शांति प्रयासों के विरोधी हैं।

14.1 खंड 7, इकाई 18 *पश्चलेख*

14.1.1 संयुक्त राष्ट्र संघ के 50 वर्ष

लीग ऑफ नेशन्स गठन के 20 सालों में ही बिखर गया था लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1995 में अपने अस्तित्व के उपयोगी एव महत्वपूर्ण 50 वर्ष पूरा किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाना लोगों और राष्ट्रों का प्रमुख सरोकार था। इस सरोकार के चलते एक ऐसी विश्व व्यवस्था कायम करने का विचार आया जिससे किसी भी व्यक्ति के मूल-भूत मानवाधिकारों की रक्षा हो सके। अपने 50 साल के जीवन में संयुक्त राष्ट्र संघ के पास जहां एक तरफ बहुत सी उपलब्धियों का हिसाब है तो दूसरी तरफ उसे असफलताओं का भी सामना करना पड़ा है। ऐसा इसलिए है कि यह कोई विश्व-सरकार नहीं है यह एक विश्व संगठन भर है। इसके सदस्य संप्रभु राज्य हैं जिनके उने राष्ट्रीय हित, मजबूरियां और मूल-भूत आपसी मतभेद हैं।

युद्ध से त्रस्त कोलंबिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की देख-रेख में चुनाव हुए जिन्हें एक उपलब्धि माना जा सकता है। 1994 में रंगभेद के लंबे दौर के बाद, दक्षिण अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में जनतांत्रिक चुनाव हुए। दक्षिण अफ्रीका इस तरह अंतरराष्ट्रीय राजनीति की मुख्यधारा का हिस्सा बन गया।

बीमारियों और सामाजिक स्वास्थ्य तथा शिशु कल्याण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के अभियानों की उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं। संयुक्त राष्ट्र बाल कोष (यूनीसेफ) के द्वारा बांटी जाने वाली इंजक्शनों और दवाइयों से प्रति वर्ष 30 लाख शिशुओं को जीवन मिलने का अनुमान है। हाल में प्रकाशित एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्व खाद्य कार्यक्रम (डब्लू०एफ०ओ०) ने 5.7 करोड़ भूखे लोगों को भोजन उपलब्ध कराया है और विश्व स्वाथ्य संगठन (डब्लू०एच०ओ०) ने दुनिया से चेचक की बीमारी समाप्त कर दिया है और 2 वीं शताब्दी के अंत तक पोलियो को समाप्त करने को कृतसंकल्प है। डब्लू०एच०ओ० एड्स की विभीषिका को रोकने के लिए लोगों—एड्स चेतना अभियान चला रहा है। टिकाऊ विकास के मुद्दे पर संयुक्त राष्ट्र आयोग उल्लेखनीय काम कर रहा है।

दुर्भाग्यवश संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने मूल-भूत उद्देश्य विश्व-शांति स्थापना-में कई बार असफलता का सामना करना पड़ा है। यह सही है कि तीसरा विश्व युद्ध नहीं हुआ लेकिन आलोचकों का कहना है कि इसमें सुरक्षा परिषद का कोई योगदान नहीं है। ऐसा शीत युद्ध के दौरान आतंक-संतुलन के चलते संभव हुआ क्योंकि दोनों महाशक्तियों के पास परमाणु क्षमता थी, और युद्ध में उनका प्रयोग भी हो सकता था। कुछ लड़ाइयां, संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप से टाली जा सकीं। लेकिन जैसा कि सोली सोराब जी का मानना है कि बहुत सी अंतरराष्ट्रीय और आंतरिक लड़ाइयां नहीं रोकी जा सकीं जिनमें कुल मिलाकर दूसरे विश्वयुद्ध से भी अधिक जान-माल की क्षति हुई। तीन वर्षों से अधिक समय से बोस्निया में चल रहे 1992 से जारी गृह युद्ध को रोकने में संयुक्त राष्ट्र असफल रहा है। बोस्नियाई गृह युद्ध के मुक्तभोगियों—सर्ब, क्रोट और मुसलमान—सभी के लिए संयुक्त राष्ट्र एक भद्दा मजाक, एक गाली बनकर रह गया है। शांति-व्यवस्था की बहाली में असमर्थता से अंतरराष्ट्रीय समुदाय में इस विश्व संस्था के प्रति अविश्वास की भावना घर करती जा रही है। 1995 में जब शांति की संभावना दिखी तो उसका कारण नाटो का कड़ा रुख और अमेरिकी कूटनीति थी। सोमालिया में भी संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों के परिणाम विनाशकारी साबित हुए। कुवैत को छोड़कर (जहां अपार-जन-धन की हानि के बाद शांति स्थापित हो सकी) संयुक्त राष्ट्र के ज्यादातर शांति प्रयासों के परिणाम उत्साहवर्धक नहीं हैं।

शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्र के शांति प्रयासों को उल्लेखनीय महत्व का समझा जाता था। लेकिन शीत युद्ध के बाद बोस्निया, सोमालिया और खान्डा में शांति स्थापित कर पाने में संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता ने इस मान्यता की प्रामाणिक पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक प्रमुख समस्या है—धनाभाव। सदस्य राष्ट्र प्रायः सदस्यता शुल्क देने में विलंब करते हैं। इसकी जरूरतों की तुलना में उपलब्ध संशाधन बहुत कम हैं। जैसा कि अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिंटन ने कहा (1995) कि "हम चाहते तो हैं कि शांति सैनिक चमत्कार कर दें, बिना किसी सैनिक और राजनैतिक समर्थन के।" मानवाधिकारों के उल्लंघन को रोक पाने मे संयुक्त राष्ट्र की भूमिका उल्लेखनीय नहीं रही है यह एक गंभीर मुद्दा है क्योंकि मानवाधिकारों के उल्लंघन की घटनाएं विश्व शांति के लिए खतरा पैदा कर सकती है।

सुरक्षा परिषद का गठन सामूहिक सुरक्षा और अंतरराष्ट्रीय शांति बनाए रखने के लिए हुआ था। गठन के समय से ही इसमें बड़ी शक्तियों का ही वर्चस्व रहा जिनकी सामूहिक जिम्मेदारी शांति और सुरक्षा थी। लेकिन वीटो प्रयोग से, कोई भी निर्णय जो उसके हित में न हो, बड़ी ताकतें उसे लागू होने से रोकती रही हैं। सुरक्षा परिषद दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में रहने वाले लोगों की इच्छाएं नहीं प्रतिलक्षित करता। शीत युद्ध के बाद सुरक्षा परिषद के ढांचे और कार्य प्रणाली में सुधार के कई गंभीर सुझाव आए। पहला सुधार जो होना चाहिए वह है सुरक्षा परिषद का विस्तार और इसे व्यापक बनाना जिसे सभी महाद्वीपों के राष्ट्रों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। विस्तृत परिषद

में सदस्यता के भारत, जर्मनी और जापान समेत कई दावेदार हैं। भारत के दावे को काफी समर्थन मिला है। गुट निरपेक्ष आंदोलन के 1995 में 7वें शिखर सम्मेलन के अवार पर सुरक्षा परिषद में स्थाई सदस्यता की मांग को जोरदार ढंग से उठाने की जरूरत महसूस की गई।

शीत युद्ध के दौरान वीटो अधिकार के दुरुपयोग को मद्देनज़र रखकर सुरक्षा परिषद में मतदान प्रक्रिया में सुधार की मांग की गई। मौजूदा संविधान के तहत धारा 27 के अनुसार सभी महत्वपूर्ण निर्णय 15 में से 9 सदस्यों के सकारात्मक मत से पारित माना जाता है। इनमें सुरक्षा परिषद के स्थाई सदस्य भी हैं। एक सुझाव यह है कि निर्णय तीन-चौथाई सदस्यों के निर्णय से लिया जाए। इसका एक फायदा, सोली सोराबजी के अनुसार, यह होगा कि सुरक्षा परिषद गुटबंदी से दूर रहते हुए जनतांत्रिक चरित्र हासिल करेगी। शीत युद्ध के बाद की अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इकलौती महाशक्ति के रूप में अमेरिकी आधिपत्य को देखते हुए यह सुधार नितान्त जरूरी लगता है। वैसे इस सुझाव को ज्यादा समर्थन मिलने की उम्मीद कम ही है।

दूसरा सुझाव शांति-भंग के निर्धारण को लेकर है जिससे शांति भंग करने वाले पर कार्रवाई की जा सके। शीत युद्ध के दौरान वीटो शक्ति के चलते सुरक्षा परिषद शांति भंग करने वाले की पहचान करने में प्रायः नाकाम रही है। इसके लिए सुरक्षा परिषद में एक स्थाई न्यायिक समिति के गठन का सुझाव दिया गया है। यह समिति इस बात का निर्धारण करेगी कि शांति भंग की घटना हुई है क्या? और यदि हुई है तो उससे अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा को क्या खतरा है और शांति भंग दोषी कौन है? इस समिति में ऐसे जाने-माने न्यायविद् राजनीतिज्ञ, न्यायधीश, सैनिक नेता या समाजशास्त्री हों जिनकी ईमानदारी और निष्पक्षता संदेह से परे हो। आज के हालात में तो यह सुझाव सुखद सपना सा लगता है—एक आदर्शवादी सपना। लेकिन कौन जाने आज का सपना कल की सच्चाई बन जाए। आदर्श को यथार्थ में बदलना असंभव तो नहीं है।

अपने अस्तिव में आने से लेकर 50 वर्ष पूरा कर लेने तक संयुक्त राष्ट्र संघ लगातार आर्थिक संकट से घिरा रहा। लगभग 70 देशों ने अभी तक अपना बजेट-मूल्यांकन नहीं जमा किया है। सदस्य-राष्ट्रों के ऊपर संयुक्त राष्ट्र संघ का बकाया 324.2 करोड़ डालर है। महासचिव की धमकियों का कोई असर नहीं हुआ। इसका एक प्रतिकूल असर तो यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्र संघ अपने आर्थिक वायदे नहीं पूरा कर सका। इस पर शांति प्रयासों में व्यय करने वाले देशों का 90 करोड़ डालर कर्ज है। 50वीं सालग्रह के अवसर पर (अक्टूबर, 1995) महासभा की बैठक के समय संयुक्त राष्ट्र संघ प्रतिदिन पूर्व युगोस्लाविया 50 लाख डॉलर का खर्च था। दुनिया के विदेश मंत्रियों की बैठक में महासचिव बुतरस घाली ने विश्व-संगठन की आर्थिक स्थिति पर चिंता व्यक्त किया था और कहा कि इस स्थिति से निकलने के लिए विशेष प्रयास की जरूरत है। उन्होंने कहा, "यदि शीघ्र कोई उपाय न किया गया तो मनुष्यों की बदहोली बढ़ेगी, लोग भूखे मरेंगे — आर्थिक संकट संगठन के आधार को ही हिला दिया है। संयुक्त राष्ट्र की काम करने की संरचनात्मक योग्यता खतरे में है।" ऐसे सुधारों की आवश्यकता है जिससे भविष्य में ऐसा संकट न आएं।

संयुक्त राष्ट्र संघ में इनके अलावा भी बहुत सुधारों की जरूरत है। यह एक आदर्श नहीं बन सका जिससे बहुत सी समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया है। लेकिन मनुष्य के शांतिपूर्ण विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की जरूरत को कम करके नहीं आंकना चाहिए और लगातार सुधार से शांतिपूर्ण विश्व का आदर्श स्थापित किया जा सकता है।

अर्धशताब्दी पूरा करने के अवसर पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने 24 अक्टूबर, 1995 में विश्व संगठन ने अपने पुनर्गठन की घोषण की है जिससे यह मानवजाति—खासकर गरीब और उपेक्षित जनसमुदाय की ज्यादा-से-ज्यादा सेवा कर सके। 6 सूत्री घोषण में शांति और समानता की स्थापना तथा 21वीं शताब्दी में आर्थिक रूप से समृद्ध संयुक्त राष्ट्र का वायदा शामिल है जिससे यह मानवजाति के बेहतर सेवा कर सके। घोषणा में कहा गया है कि जब तक आदमी की सामाजिक और आर्थिक जरूरतें पूरी नहीं हों तब तक विश्व शांति, सुरक्षा और स्थायित्व की बातें व्यर्थ हैं। लोगों के आत्म निर्णय के अधिकार पर जोर देते हुए कहा गया है कि आतंकवाद, अंतरराष्ट्रीय अपराध, नशीली चीजों गैर कानूनी ढंग से रास्मास्यों की तस्करी के खतरों से निपटानें के लिए सामूहिक कार्रवाई की जरूरत है। घोषणा में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का लक्ष्य न सिर्फ भावी पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाना है बल्कि, चौतरफा सामाजिक आर्थिक विकास को भी प्रोत्साहित करना है जिससे एक न्यायपूर्ण विश्व की स्थापना संभव हो सके।

15.1 खंड 7, इकाई 20 *पश्चलेख*

मानवाधिकारों का संघर्ष: शताब्दियों तक यही माना जाता रहा कि एक सरकार अपने नागरिकों के साथ कैसा बर्ताव करती है, वह उसका आंतरिक मामला है। लेकिन 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के बाद से इस अवधारणा में बदलाव आया है। सदस्य देशों ने महसूस किया कि मानवाधिकारों की रक्षा संयुक्त राष्ट्र का एक प्रमुख उद्देश्य है। इस घोषणा में मानवाधिकारों की व्याख्या राज्यों के जनता पर शक्ति प्रयोग पर अंकुश लगाती है। चार्ल्स नोर्ची के अनुसार मानवाधिकार के संबंध में अंतरराष्ट्रीय कानून का मूल-भूल आधार यह है कि "कोई भी सरकार अपने नागरिकों के साथ अपने देश में भी जो भी चाहे नहीं कर सकतीं।" मानवाधिकारों की रक्षा की दिशा में संयुक्त राष्ट्र के प्रयास प्रशंसनीय रहे हैं और इससे लोगों के व्यक्तित्व के समग्र विकास में मदद मिली है।

1946 की दो संधियों (नागरिक-राजनैतिक अधिकारों पर, और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर जिनका 1 जनवरी 1995 तक क्रमशः 129 और 131 देश अनुमोदन कर चुके हैं) के अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकार संबंधित अन्य प्रयास हैं: सभी तरह नस्लीय भेदभाव की समाप्ति (1965); महिलाओं के विरुद्ध सभी तरह के भेदभाव उल्मूलन का सम्मेलन (1979); उत्पीड़न एवं अन्य क्रूर; अमानवीय या अपमानजनक बर्ताव या दंड के विरुद्ध सम्मेलन (1989); बच्चों के अधिकारों पर सम्मेलन (1989)। राष्ट्रीय या जातीय, धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के अधिकारों की घोषणा (1992) तो अल्पसंयकों की सुरक्षा की दिशा में एक बड़ा कदम है। लेकिन सम्मेलनों और घोषणाओं से मानवाधिकार को उल्लंघन नहीं रुक सकता। लेकिन व्यक्तियों और राज्यों के मानवाधिकार विरोधी कृत्यों को गैरकानूनी करार देकर उनकी धार कम की जा सकती है।

नोर्ची के अनुसार, शीत युद्ध के बाद, "विश्व समुदाय मानवाधिकारों के संकट के दौर से गुजर रहा है।" मनुष्य को कई तरह की चुनौतियों से निपटना पड़ रहा है। राष्ट्र-राज्यों का पतन और विखंडन हो रहा है। मानवाधिकार-उल्लंघन की घटनाएं बढ़ रही हैं। लेकिन संचार माध्यमों में उनके प्रचार से लोगों में मानवाधिकारों की रक्षा के प्रति जागरुकता बढ़ रही है। मानवाधिकारों के अंतरराष्ट्रीय लीग (आई एल०एच०आर) के निदेशक नोर्ची ने 1995 में लिखे एक लेख में मानवाधिकारों की चुनौतियों और उपलब्धियों को रेखांकित किया है।

पहली चुनौती है, सम्मान की चुनौती। सम्मान का मतलब है मानवीय मूल्यों की समग्रता में संरक्षण सुनिश्चित करना। इसका मतलब यह हुआ कि बिना रंग, जाति, धर्म, लिंग, आयु या सामाजिक प्रतिष्ठा के भेदभाव हर मनुष्य का सम्मान। सार्वभौमिक घोषणा की धारा 21 के अनुसार, सरकारी अधिकार का आधार है लोगों की अपने देश के शासन में भागीदारी का अधिकार और जनमत। निश्चित अंतराल पर निष्पक्ष चुनावों के माध्यम से लोगों के इस अधिकार और इच्छा की अभिव्यक्ति होती रहनी चाहिए। आज बहुत से देशों में जनादेश के प्रति सम्मान को चुनावी धांधलिओं और स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों के अभाव से खतरा है।

दूसरी चुनौती है कुशल-क्षेत्र की चुनौती। कुशल क्षेत्र में तहत जीवन एवं सुरक्षा का अधिकार, दमन और दास्ता के विरुद्ध अधिकार, मनमानी गिरफ्तारी और न्यायेतर वसूली के विरुद्ध अधिकार शामिल है। दुनिया की 550 करोड़ की आबादी में 150 करोड़ लोग नितान्त गरीबी की स्थिति में जी रहे है। एक बच्चे की मृत्यु मानवाधिकार उल्लंघन की उतनी ही गंभीर घटना है जितना कि एक वयस्क का उत्पीड़न।

नोर्ची के अनुसार तीसरी चुनौती है राष्ट्र-राज्यों की अखंडता की चुनौती। पतनशील राज्य जो अपनी अखंडता की रक्षा नहीं कर सकते वे मानवाधिकार की रक्षा भी नहीं कर सकते। चौथी चुनौती सार्वभौमिकता की है। क्षेत्रीय और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के चलते भी सार्वभौमिक मानवाधिकार की अवधारणा को चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। और अंतिम चुनौती है शक्ति वितरण की चुनौती। इस चुनौती के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का काफी महत्व है। कुछ देश बहुत शक्तिशाली हैं तो कुछ बहुत कमजोर। नोर्ची के अनुसार, "भूमंडलीय शक्ति के गहन पुनर्गठन के दौर से गुजर रहे हैं।"

मानवाधिकारों के विकास की दिशा में एक आशाजनक बात यह है कि गैर-राज्य कर्त्ताओं की अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भूमिका बढ़ रही है। बहुत से गैर सरकारी संगठन (एन०जी०ओ०) इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है। 1993 में मानवाधिकारों के वियना सम्मेलन में सरकारों के साथ गैर सरकारी संगठनों ने भी अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विधायक के लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता जताया था। इनमें से ज्यादातर विकासशील देशों से थे। उन्हें 'भावी मानवाधिकार आंदोलन' की संज्ञा दी गई।

मानवाधिकार आयोग की अलावा सबसे पुराना गैर-सरकारी मानवाधिकार संगठन है—मानवाधिकारों की अंतरराष्ट्रीय लीग। यह उत्पीड़न, न्यायेतर दंड, मनमानी गिरफ्तारी और धार्मिक असहिष्णुता के विरुद्ध सक्रिय रहा है। यह अभिव्यक्ति और धर्म की आजादी तथा महिलाओं और बच्चों के अधिकारों के लिए भी संघर्षरत रहा है। अंतरराष्ट्रीय लीग का एक महत्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि उसने विकासशील देशों के गैर सरकारी संगठनों की अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार व्यवस्था तक पहुंच बनाने में मदद की है।

गैर सरकारी संगठनों और मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं के अथक प्रयास के फलस्वरूप, शीत युद्ध के बाद के दौर में मानवीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्चायोग के पद का गठन किया गया।

16.1 खंड 7, इकाई 20 *पश्चलेख*

16.1.1 भारत-राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन सितंबर, 1993 में संसद के एक विधेयक के जरिए किया गया। विधेयक की धारा 3 के अनुसार आयोग के 5 सदस्यों में से 3 सेवानिवृत्त न्यायाधीश होंगे और बाकी 2 का चुनाव ऐसे व्यक्तियों में से किया जाएगा "जिन्हें मानवाधिकार संबंधित मामलों का ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो"। पहले आयोग के अध्यक्ष, भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र थे। इसमें 4 न्यायाधीश थे और आर०एम०पाल की सूचना (**इंडियन एक्सप्रेस 21.10.1995**) के अनुसार, पांचवें स्थान पर भी कुछ दिनों बाद एक न्यायाधीश को ही रख लिया गया। मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं के समूहों और गैर सरकारी संगठनों ने न्यायाधीशों पर जोर देने का विरोध किया था। 1995 तक आयोग ने बहुत से संगठनों और कार्यकर्त्ताओं से विचार-विमर्श कर लिया था।

1994-95 आयोग ने अपनी रपट में कहा कि उसे विभिन्न तरह की शिकायतों की जांच करके प्रसन्नता हुई। मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाएं इतने विविध क्षेत्रों में होती हैं। कि यह कह पाना मुश्किल है कि आयोग के गठन के बाद से मानवाधिकार की स्थिति में कितना सुधार हुआ है। आयोग की रिपोर्ट में वर्णित 12 मामलों के अध्ययन से मानवाधिकार की स्थिति अत्यंत चिंताजनक प्रतीत होती है। हिरासत में मौत, पुलिस उत्पीड़न से मौत, सुरक्षाबलों और आतंकवादियों की गोलीबारी में नागरिकों की मौत, फर्जी मुठभेड, कुपोषण से मौत (खासकर ग्रामीण इलाकों में), 'गुमशुदगी', हिरासत में बलात्कार आदि घटनाओं की बहुतायत है। जब मानवाधिकार आयोग स्वयं ये उदाहरण देता है तो ऐसी स्थिति में भारत में आयोग के गठन के अलावा भी इस दिशा में काफी कुछ करने की जरूरत है। सिर्फ आयोग ही इस समस्या को नहीं हल कर सकता। गैर सरकारी संगठनों, सरकारी एजेंसियों और सरोकार रखने वाले व्यक्तियों द्वारा इस दिशा में अथक प्रयास की जरूरत है।

टाडा (आतंकवादी एवं विध्वंसक गतिविधि विधेयक) का नवीनीकरण न होना, मानवाधिकार आयोग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग खुद मानता है कि मानवाधिकार की चेतना जागृत करना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन आयोग यह सवाल भी उठाता है कि क्या मानवाधिकार की कोई ऐसी सामान्य परिभाषा की जा सकती है जो सभी पर बराबर लागू होती हो? आयोग समाज के "सर्वाधिक असुरक्षित" वर्गों की समस्याओं पर जोर देता है। इस वर्ग में अनुसूचित जाति/जनजाति और अल्पसंख्यक शामिल हैं। इस दिशा में व्यापक सामाजिक पुनर्जागरण की आवश्यकता है जिससे प्राचीन काल से चली आ रही सामाजिक बुराई को समाप्त किया जा सके। आयोग बच्चों और महिलाओं की समस्याओं पर तो सरोकार व्यक्त करता है लेकिन नवजात बालिकाओं की "हत्या" पर मौन है।

आयोग पुलिस, अर्धसैनिक बलों, सरकारी कर्मचारियों आदि की मानवाधिकारों की शिक्षा देने पर जोर देता है। लेकिन यही पर्याप्त नहीं है। जरूरत है सरकार, गैर सरकारी संगठनों, धार्मिक संस्थाओं और मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं द्वारा लोगों में मानवाधिकार चेतना के प्रसार की। जनसाधारण के उनके अधिकारों के बारे में पता होना चाहिए जिससे उनकी रक्षा का प्रयास वे स्वयं कर सकें। मानवाधिकरों के उल्लंघन की समाज द्वारा निंदा होनी चाहिए और दोषी को सरकार द्वारा दंड मिलना चाहिए।

17.1 खंड 7, इकाई 21 *पश्चलेख*

17.1.1 शीत युद्ध के बाद दक्षिण एशिया

शीत युद्ध के दौरान राजनैतिक और आर्थिक फैसलों के चलते दक्षिण एशिया 'अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था' में अपेक्षाकृत रूप से अलग-थलग रहा था। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने पहल की और बाकी देशों के नेता भी उसी दर्रे पर चल पड़े। आप पढ़ चुके हैं कि नेहरू गुट निरपेक्ष आंदोलन और संगठन के प्रमुख संस्थापकों में थे। उसके बाद के दुनिया के तमाम देश, खासकर वे जो यूरोप के उनिवेश रह चुके थे, इस आंदोलन से जुड़ते गए। नेहरू महाशक्तियों के पारस्परिक कलह से दूर रहने के हिमायती थे। दक्षिण एशिया का सबसे बड़ा देश होने के नाते क्षेत्रीय राजनीति में भारत की भूमिका महत्वपूर्ण रही है नव-अर्जित स्वतंत्रता की सुरक्षा और आर्थिक विकास भारत के प्रमुख सरोकार थे। और शीत युद्ध की राजनीति से दूर रहना, इन लक्ष्यों के लिए, बेहतर समझा गया। भारत का अनुसरण करते हुए नेपाल, बर्मा और भूटान ने भी गुट निपेक्षता की नीति अपना ली। लेकिन पाकिस्तान अमेरिका को एशिया में कम्युनिस्ट प्रभाव फैलाने का भय दिखा कर उसका कृपा पात्र बन गया। पाकिस्तान-चीन समझौते के भय के चलते इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व में भारत की सोवियत संघ के साथ मैत्री-संधि के चलते गुटनिरपेक्षता की इसकी छवि कुछ धूमिल हो गई।

दक्षिण एशिया पर शीत युद्ध का प्रभाव न्यूनतम था। 1950 के दशक की शुरूआत में, शीत युद्ध के चलते, अमेरिका की नीति भारत और पाकिस्तान दोनों के समर्थन की थी। 1954 के बाद तो पाकिस्तान अमेरिका से सैन्य-सहायता पाने वाले प्रमुख देशों में शामिल हो गया। भारत अपनी गुट निपेक्षता के दावे के बावजूद अमेरिकी आर्थिक सहायता का सबसे बड़ा दावेदार था। 1953 में स्टालिन की मृत्यु तक, सोवियत संघ ने इस क्षेत्र में प्रभाव बढ़ाने में कोई रुचि नहीं ली। उसके बाद भी उसकी रुचि सीमित ही थी। कश्मीर मुद्दे पर सोवियत संघ ने हमेशा ही भारत का समर्थन किया। इसके अलावा वह नियोजित आर्थिक विकास और औद्योगीकरण में भी भारत की सहायता करने को सदैव तत्पर रहता था। 1962 में भारत-चीन युद्ध के दौरान, थोड़े समय के लिए अमेरिका भारत के मामलों में रुचि लेने लगा था। बाद में जब अमेरिका ने भारतीय वायुसेना के लिए तकनीकी ज्ञान के बारे में सहायता करने से मुकर गया तो सोवियत संघ ने भारत की जरूरतें पूरी की।

शीत युद्ध के दौर में भारत का झुकाव सोवियत संघ की तरफ बढ़ता गया और पाकिस्तान अमेरिका के प्रति वफादार बना रहा। व्यवहार में अमेरिकी खेमे में बने रहने के बावजूद पाकिस्तान ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सदस्या हासिल कर ली। 'बांगलादेश युद्ध' के समय अमेरिका खुलकर पाकिस्तानी सहायता कर रहा था। इसके जवाब में भारत ने 'भारत सोवियत मैत्री संधि' (1971) पर हस्ताक्षर किया। बाद में जब सोवियत संघ की सेनाओं ने अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया तो भारत ने उसका विरोध नहीं किया और न ही आलोचकों की ।

शीत युद्ध के बाद के दक्षिण एशिया के भविष्य के बारे में अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन सोवियत संघ के विघटन और भारत द्वारा 'उदारीकरण' की नीति अपनाने से भारत की अमेरिका के साथ नजदीकी बढ़ने की संभावनाएं अधिक हैं। क्षेत्र के देशों के बीच पारस्परिक आर्थिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से 1980 के दशक में सार्क (दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग परिषद) का गठन किया गया लेकिन भारत-पाकिस्तान के पारस्परिक तनाव के चलते इस संगठन की सीमित भूमिका है। विश्व राजनीति में उरुग्वे चक्र वार्ता और विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के बाद 'उत्तर-दक्षिण' सहयोग की संभावना बढ़ गई है।

परमाणु अप्रसार संधि (एन०पी०टी०) के मामले में भारत बड़ी शक्तियों के विशेषाधिकार का विरोधी रहा है। संधि की अवधि 1995 में अनिश्चित काल के लिए बढ़ा दी गई। भारत भेद-भाव रहित अप्रसर संधि पर की हस्ताक्षर करने को दृढ़संकल्प है। अमेरिका के और शक्तिशाली हो पाने के बावजूद, भारत ने शीत युद्ध के बाद भी यह नीति नहीं छोड़ी है। भारत अंतरराष्ट्रीय मंचों पर तीसरी दुनिया के देशों का समर्थन करता रहा है।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद गुट निरपेक्षता अर्थहीन लगने लगी है। दक्षिण एशिया के सभी देश "गुट निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य हैं। इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य महाशक्तियों के खेमेबाजी से अलग रहना था। द्वि-ध्रुवीय अंतरराष्ट्रीय प्रणाली के अंत के बाद इसके अस्तित्व की सार्थकता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। भारत के पूर्व विदेशमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने सही प्रश्न उठाया था जब उन्होंने कहा, "गुटनिरपेक्षता किसके विरुद्ध?" यद्यपि भारत के प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को तीसरी दुनिया के देशों के सामूहिक चिंतन का एक सार्थक मंच बताते हुए इसके बने रहने पर जोर दिया, लेकिन विशेषज्ञों का मानना है कि यह अब अपने अंतिम दिन गिन रहा है। लेकिन कुछ नीति निर्माता इसके अस्तित्व के इसलिए समर्थक हैं जिससे बिना विदेशी हस्तक्षेप राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा बनी रहे।

रूस अभी भी तीसरी दुनिया के साथ मित्रता का दावा करता है। लेकिन उसकी अपनी ही समस्याएं इतनी है कि दक्षिण एशिया के देश उसकी आर्थिक सहायता पर नहीं निर्भर रह सकते। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के दौरान अमेरिका ने पाकिस्तान को एक सोवियत-संघ विरोधी राज्या के रूप में तैयार किया। अफगान विद्रोहियों को शस्त्र और प्रशिक्षण पास्तिान के जरिए ही मिलते थे। सोवियत संघ द्वारा अपनी सेनाएं वापस बुला लेने से समस्या समाप्त हो जानी चाहिए थी। लेकिन उसके बाद शुरू हुए गृहयुद्ध ने अफगानिस्तान को कुनबाई संघर्ष युद्ध-क्षेत्र बना दिया है। पाकिस्तान भारत के गड़बड़ी फैलाने के उद्देश्य से कश्मीरी और पंजाबी उग्रवादियों की मदद करता है। जम्मू-कश्मीर का एक हिस्सा पाकिस्तान के कब्जे में है और सोवियत संघ के पतन के बाद कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान का रुख और आक्रामक हो गया है।

अफगानिस्तान से सोवियत संघ की सेनाओं की वापसी के बाद यद्यपि अमेरिकी विदेशनीति में पाकिस्तान की भूमिका कम हुई है फिर भी अभी भी पाकिस्तान उसका एक महत्वपूर्ण सहयोगी है। लेकिन अमेरिकी शासन, कश्मीर में उसकी हरकतों और परमाणु शक्ति बनने के उसे इरादों से क्षुब्ध है। सेनेटर लैरी प्रेसलर ने 1985 में पाकिस्तान की सैन्य सहायता के मामले में एक कानूनी संशोधन पेश किया जो स्वीकार हो गया था यह संशोधन विदेशी सहायता अधिनियम, 1961 के संबंध में था। अमेरिका पाकिस्तान की परमाणु बम बनाने की क्षमता को लेकर भी चिंतित है। इस संशोधन के अनुसार जब तक अमेरिकी प्रशासन आश्वस्त न हो जाए कि पाकिस्तान के बाद परमाणु अस्त्र बनाने की क्षमता नहीं है तब तक लिए उसकी सैनिक सहायता बंद कर लेनी चाहिए। प्रेसलर संशोधन 1990 से प्रभावी है। राष्ट्रपति बुश यह आश्वस्ति देने में असफल रहे अतः पाकिस्तान थी सैनिक सहायता बंद कर दी गई। 1994 में राष्ट्रपति क्लिंटन ने इसमें एक बार की छूट मांगी जिससे पाकिस्तान को 91 एफ-16 विमान दिए जा सकें जिसका भुगतान वह पहले की कर चुका है। क्लिंटन ने स्पष्ट किया कि विमानों में रॉकेट प्रक्षेपक नहीं है। लेकिन प्रेसलन के अनुसार, प्रक्षेपक तो कोई भी बना सकता है। अतः क्लिंटन का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। प्रेसलर का कहना है कि यदि पाकिस्तान को छूट दी गई तो भारत को भी परमाणु क्षमता विकसित करने से नहीं रोका जा सकता। और इससे दक्षिण एशिया में परमाण्विक अराजकता की स्थिति पैदा हो जाएगी। शीत युद्ध के बाद क्षेत्र की अंतरराष्ट्रीय स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं आया है सिवाय इसके कि क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की घुसपैठ बढ़ गई है। सितंबर, 1995 में सेनेटर ब्राउन और अन्य सेनेटरों का प्रस्ताव पारित हो जाने से पाकिस्तान को हथियार देने के मामले में एक बार की छूट मिलं गई और पाकिस्तान ने अमेरिका से 37 करोड़ डॉलर के हथियार खरीदा।

18.1 खंड 8, इकाई 22.4 *पश्चलेख*

18.1.1 गुट निरपेक्षता (24.4)

आप गुट निरपेक्षत आंदोलन के गठन और विकास के बारे में पढ़ चुके हैं। जब 1961 में बेलग्रेड में हुए संस्थापना सम्मेलन में उन्हीं राष्ट्रों को निमंत्रण भेजा गया था जो निम्न पांच शर्तें पूरी करते थे:

(क) शीत युद्ध के संदर्भ में जिनकी विदेश नीति, स्वतंत्र थी;
(ख) जो किसी भी तरह के उपनिवेशवाद के विरोधी थे।
(ग) जो किसी महाशक्ति के खेमे में नहीं थे;
(घ) किसी भी महाशक्ति से जिनकी कोई द्विपक्षीय संधि नहीं थी; और
(ड) जिनके देश में किसी महाशक्ति को सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति नहीं थी।

गुट निरपेक्ष आंदोलन के शिखर सम्मेलनों में समय-समय पर तमाम समकाली अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर बहस होती थी। पहले शिखर सम्मेलन में 25 देशों ने हिस्सा लिया था। इसमें जिन मुद्दों पर चर्चा हुई उनमें प्रमुख थे: बर्लिन समस्या, संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता का सवाल, कांगो संकट, विश्व-शांति को साम्राज्यवाद से खतरा और रंगभेद। सम्मेलन ने शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में आस्था व्यक्त की थी। भारत की प्रतिनिधित्व जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

कैयरो सम्मेलन (1964) में 46 देशों की भागीदारी थी। भारतीय प्रतिनिधिमंडल के नेता लालबहादुर शास्त्री थे। इस सम्मेलन में, पहले सम्मेलन के रंग-भेद और उपनिवेशवाद संबंधी प्रस्तावो पर जोर देने के साथ निरस्त्रीकरण; रोडेशिया की अल्पसंख्यक-श्वेत सरकार को मान्यता न देने; अंतरराष्ट्रीय झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारा करने के प्रस्तावों पर भी जोर दिया गया। चीन के संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता की मांग को फिर से जोर देकर दोहराया गया।

तीसरे सम्मेलन (1970, लुसाका) में 54 देशों ने शिरकत की। सम्मेलन में सदस्य देशों ने वियतनाम से अमेरिकी सेनाओं की वापसी की जोरदार ढंग से मांग की तथा वहां के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति समर्थन व्यक्त किया। सदस्य देशों से इज़ायल के बहिष्कार करने को कहा गया क्योंकि इसने कुछ अरब देशों पर कब्जा कर रखा था। रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष तेज करने और अपने देश के ऊपर दक्षिण अफ्रीकी विमानों को उड़ान न भरने देने का निर्णय लिया गया। सम्मेलन में सदस्य देशों के बीच आर्थिक सहयोग पर जोर दिया गया। आंदोलन के स्थाई सचिवालय बनाने का विरोध हुआ। भारतीय प्रतिनिधिमंडल की नेता इंदिरा गांधी थीं।

अल्जीयर्स में हुए तीसरे शिखर सम्मेलन (1973) में 75 देशों ने शिरकत की। इस दौर में शीत युद्ध की राजनीति में शांति-समझौतों के आसार नज़र आ रहे थे। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में तनाव की कमी को विश्व शांति की दिश में एक सकारात्मक कदम मानते हुए, सम्मेलन ने महाशक्तियों के बीच समझौते का स्वागत किया। रंगभेद और साम्राज्यवाद के विरोध के अपने सर्वविदित संकल्प को दोहराते हुए, सम्मेलन ने सदस्य देशों के बीच आर्थिक, तकनीकी, व्यापारिक और सांस्कृतिक सहयोग को प्रोत्साहित करने का संकल्प किया। सम्मेलन ने समानता और न्याय के सिद्धांतों की अवहेलना करने वाले तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली को बदलने के जरूरत महसूस की।

कोलंबो सम्मेलन (1976) में 85 देश शामिल थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1974 में एक नई विश्व आर्थिक प्रणाली के निर्माण का प्रस्ताव पारित किया था। गुट निरपेक्ष आंदोलन के कोलंबो सम्मेलन ने इस प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया। इसने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के मूल्यांकन और पुनर्गठन की मांग करते हुए ऐसी विश्व व्यवस्था की हिमायत की जिसमें सभी देशों की संप्रभुता को पूरा सम्मान मिल सके। हिंद महासागार को शांति क्षेत्र घोषित करने का भी प्रस्ताव पारित हुआ।

जब छठा सम्मेलन, 1979 में, हवाना में हुआ था तब भारत में प्रभारी सरकार थी। कार्यकारी प्रधानमंत्री चरण सिंह ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में अपने विदेशमंत्री को भेजा था। इस सम्मेलन में आंदोलन के सदस्यों की संख्या बढ़कर 92 हो गई। इस सम्मेलन ने पाकिस्तान को आंदोलन की सदस्यता प्रदान थी। सम्मेलन के अध्यक्ष फिदिल कास्त्रो के इस कथन से सोवियत संघ गुट निरपेक्ष आंदोलन का स्वाभाविक सहयोगी है। बर्मा ने रुष्ट होकर आंदोलन की सदस्यता छोड़ दी। सम्मेलन ने आंदोलन के पुराने संकल्पों—उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद, रंगभेद के विरोध-को दुहराया। सम्मेलन ने दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद विरोधी स्वतंत्रता संग्राम के समर्थन का प्रस्ताव पारित किया और दक्षिण अफ्रीका को तेल आपूर्ति बंद करने का फैसला किया। मिस्र ने चूंकि इज़ायल के साथ अपने मतभेदों को दूर करके संधि कर लिया था इसलिए कई इज़ायल-विरोधी देशों ने मिस्र के निष्कासन की मांग की। सम्मेलन में इस मांग पर बहस भर हुई।

सातवां सम्मेलन (1982) बगदाद में होना था लेकिन इराक-इरान युद्ध के चलते समय पर न हो सका। यह फिर 1983 में नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। इंदिरा गांधी ने अध्यक्षता की थी और इस सम्मेलन में आंदोलन के सदस्यों की संख्या 101 हो गई। नई दिल्ली घोषणा में पुराने संकल्पों को दोहराया गया। इराक-इरान युद्ध की शीघ्र समाप्ति की उम्मीद जाहिर करने के समय नामीबिया की स्वतंत्रता पर जोर दिया गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप पर सम्मेलन किसी सर्वमान्य फैसले पर नहीं पहुंच सका। वियतनाम, सीरिया, इथीयोपिया और दक्षिण यमन ने खुलकर सोवियत हस्तक्षेप का समर्थन किया। सिंगापुर, नेपाल, पाकिस्तान, मिस्र और जायर ने इसका मुखर विरोध किया।

हरारे सम्मेलन (1986) में पारित हरारे घोषणा में सदस्य देशों के बीच आर्थिक सहयोग पर जोर देते हुए दक्षिणी और उत्तरी गोलार्ध के देशों के बीच स्वस्थ आर्थिक सहयोग की हिमायत की गई जिससे दक्षिणी गोलार्ध के देशों का समुचित विकास हो सकें। अंतरराष्ट्रीय सूचना, प्रसार एवं संप्रेषण के क्षेत्रों से पश्चिमी देशों का वर्चस्व समाप्त करके एक नई सूचना एवं प्रसारण प्रणाली के विकास की जरूरत पर जोर दिया गया। दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा उस पर प्रतिबंध लागू करने वाले पड़ोसी देशों पर आक्रमण की संभावना को ध्यान में रखते हुए एक कोष की स्थापना के साथ सम्मेलन ने सदस्य देशों का साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और रंगभेद के सक्रिय प्रतिरोध के लिए एक जुटता का आव्हान किया। संक्षेप में इसे अफ्रीका (ए० एफ० आर० आई० सी० ए०– ऐक्शन फॉर रेजिस्टेन्स अगेन्स्ट इंजीरियलिज्म, को लोनियलिज्म एंड अथार्याइड) कोष कहते हैं।

1989 का बेलग्रेड सम्मेलन, युगोस्लाविया के विघटन के पहले का अंतिम सम्मेलन था। यह वह दौर था जब शीत युद्ध समाप्ति की तरफ अग्रसर था। इस सम्मेलन में अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, तस्करी और नशीले पदार्थों के विरुद्ध प्रस्ताव पारित हुए। दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी शासन के विरुद्ध संघर्ष और उसके कब्जे से नामीबिया की आजादी के संदर्भ में आत्म-निर्णय के अधिकार के सिद्धांत को दोहराया गया। जकार्ता में संपन्न हुआ गुटनिरपेक्ष आंदोलन का दसवां सम्मेलन शीत युद्ध की समाप्ति के बाद का पहला सम्मेलन था। सोवियत संघ के पतन और शीत युद्ध के अंत के बाद भी नव-उपनिवेशवाद और महाशक्तियों के हस्तक्षेप के विरुद्ध एकता बद्ध मंच के रूप में आंदोलन की उपयोगिता और सार्थकता पर इस सम्मेलन में बहस हुई। प्रमुख मुद्दा गुट निरपेक्ष आंदोलन के संरक्षण और एक तनाव-मुक्त माहौल में सदस्य देशों के तेज आर्थिक विकास का था।

गुट निरपेक्ष आंदोलन: ग्यारवां सम्मेलन

गुट निरपेक्ष आंदोलन का तीन दिवसीय ग्यारवां सम्मेलन, 1995 में कार्तगेना (कोलंबिया) में हुआ। भारत का प्रतिनिधित्व प्रधानमंत्री पी०वी० नरसिंह राव ने किया। शीत युद्ध के अंत के बाद के इस दूसरे सम्मेलन में नई परिस्थिति में आंदोलन की नई भूमिका की जरूरत पर विचार-विमर्श हुआ। पाकिस्तान ने आंदोलन द्वारा द्वि-पक्षीय मसलों के समाधान करने वाले मंच की भूमिका अपनाने का प्रस्ताव पारित कराने की कोशिश की जो असफल रही। इस रास्ते से पाकिस्तान कश्मीर मुद्दे को इस मंच से उठाना चाहता था।

113 सदस्यीय इस सम्मेलन ने विश्व स्तर पर निरस्त्रीकरण की मांग की। भारत परमाणु अस्त्रों पर पश्चिमी देशों के एकाधिकार के विरुद्ध संघर्ष में अनपेक्षित ढंग से सफल रहा। सम्मेलन ने इस मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में उठाने का फैसला किया। आंदोलन के सदस्य राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ में व्यापक जनसंहार के सभी हथियारों को पूरी तरह नष्ट करने का प्रस्ताव रखा। आंदोलन के सदस्य राष्ट्रों के इस तरह के समर्थन से भेदभाव पूर्ण परमाणु अप्रसार संधि पर भारत के न हस्ताक्षर करने के फैसले को बल मिला। इस प्रस्ताव का खास महत्व इसलिए है क्योंकि आंदोलन के 113 में से 111 सदस्य राष्ट्र पहले ही परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। 1995 में ही न्यूयॉर्क में पहले वे अप्रसार संधि की अवधि अनिश्चित काल तक बढ़ाने का समर्थन कर चुके थे। पाकिस्तान परमाणु अप्रसार संधि के भेदभाव पूर्ण होने के विचार से असहमति जताते हुए क्षेत्रीय स्तर पर परमाणु-शक्ति संतुलन की व्यवस्था की हिमायत की। अंतिम दस्तावेज में पाकिस्तान के विचार को शामिल करते हुए कहा गया कि जहां भी परमाणु शक्तियां नहीं हैं उसे परमाणु हथियारों से मुक्त क्षेत्र बनाया जाना चाहिए। जब तक ऐसे क्षेत्रों का निर्माण नहीं हो पाता तब तक इज्रायल से कहा गया कि परमाणु अप्रसार संधि के तहत वह परमाणु हथियारों की निंदा करे और अपनी परमाणु क्षमताओं को अंतरराष्ट्रीय परमाणु सुरक्षा के घेरे में लाए। गुट निरपेक्ष आंदोलन के ग्यारहवें शिखर सम्मेलन ने परमाणु हथियारों, सुविधाओं सूचनाओं और जानकारियों के हस्तांतर पर पूरी पांबदी की हिमायत की।

गुट निरपेक्ष आंदोलन नई अंतरराष्ट्रीय आर्थिक नीति तथा नई अंतरराष्ट्रीय सूचना एवं संप्रेषण प्रणाली के प्रति प्रतिबद्ध है। शीत युद्ध के बाद के बदले हुए अंतरराष्ट्रीय परिवेश में गुट निरपेक्ष आंदोलन को अपने लिए एक नई सकारात्मक तथा सार्थक भूमिका तय करना पड़ेगा जिससे वह विश्व-शांति, मैत्री और समानता के सिद्धांतों पर आधारित अंतरराष्ट्रीय राजनैतिक प्रणाली के निर्माण में समुचित योगदान कर सकें। एक ऐसी अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था जिसमें इक्कीसवीं शताब्दी में सभी देशों की संप्रभुता और अखंडता बनी रहे।

19.1 खंड 8, इकाई 25 *पश्चलेख*

19.1.1 विश्व व्यापार संगठन

आप इकाई 25 में पढ़ चुके है कि अमेरिका के ब्रेटन वुड में, 1944 में, युद्धोपरांत के आर्थिक पुनर्निमाण की एक प्रणाली विकसित की गई। इस पर अमेरिका का काफी प्रभाव था। आप यह भी पढ़ चुके हैं कि ब्रेटन वुड फैसले के तहत, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की स्थापना हुई। विश्व-बैंक का उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्र की संपत्ति में असमानता कम करना था। अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष का उद्देश्य वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित करना था। ये दोनों ही सस्थाएं सहायता और ऋण के माध्यम से तीसरी दुनिया के देशों के विकास कार्यक्रमों में प्रभावी हस्तक्षेप करती हैं। उस समय जो तीसरा मंच गठित हुआ था, वह था शुल्क और व्यापार पर आम सहमति (गुट)। इसका उद्देश्य था बहुपक्षीय स्तर पर विश्व व्यापार के सहज संचालन का निरीक्षण करना। गैट (1948) ने विश्व व्यापार को पहले से अधिक मुक्त बना दिया। गैट का उद्देश्य शुल्क में कटौती और गैर-शुल्क व्यापार की बाधाओं के दूर करके अंतरराष्ट्रीय समृद्धि के लिए अंतरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना था। 1948 के बाद से अंतराष्ट्रीय व्यापार के नियम परिभाषित करने के लिए गैट ने वार्ताओं के कई दौर आयोजित किए।

पिछली उरुग्वे चक्र वार्ता के पहले गैट ने वार्ताओं के सात दौर आयोजित किए। लेकिन वार्ताओं के ये दौर शुल्क बाधाओं की समस्या का समाधान करने में नाकाम रहे। उदाहरणार्थ–भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश के सूती वस्त्र अमेरिका और ब्रिटेन के सूती वस्त्रों की तुलना में काफी सस्ते थे। अपने देश के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से विकसित देशों की सरकार ने सूती-वस्त्र के आयात पर सीमा तय कर दिया था।

गैट की उरुग्वे चक्र वार्ता सितंबर, 1986 में शुरू हुई। वार्ता का यह चक्र उरुग्वे में पुंटा डेल एस्ट में शुरू होकर जेनेवा में 15 दिसंबर, 1993 में समाप्त हुई। इस वार्ता में विश्व व्यापार की बहुपक्षीय संरचना को बदलने का प्रयास किया गया और पहली बार कृषि, सेना और बौद्धिक संपदा अधिकार को गैट के अधिकार क्षेत्र में शामिल किया गया।

बौद्धिक संपदा अधिकार का मतलब है कि किसी भी प्रकार की तकनीकी या अभियांत्रिकी शोध को पेटेंट कराना पड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि भारत किसी इस्पात संयंत्र का आयात करता है तो उसे न सिर्फ सामानों का दाम देना पड़ेगा बल्कि उस शोध और विकास का भी खर्च देना पड़ेगा। पश्चिमी देशों की बहुराष्ट्रीय दवा कंपनियां दवाइयों के शोध पर प्रति वर्ष करोडों डॉलर खर्च करती हैं। इस बार दवा के बाजार में आ जाने के बाद विकासशील देशों की कंपनियां भी उसे बनाने लगती हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को यह पसंद नहीं है। वे चाहती हैं कि उनकी दवाइयों पर उनका पेटेंट अधिकार हो और जो भी उसकी नकल कर दवा बनाना चाहे वह उस कंपनी को शुल्क अदा करे। भारत ने संशय व्यक्त किया कि ऐसा होने से तीसरी दुनिया के देशों में दवाओं की कीमतें आसमान छूने लगेंगी। उरुग्वे चक्र ने भारत के विचार को निरस्त कर दिया और सभी शोधों के लिए शुल्क देना अनिवार्य हो गया।

उरुग्वे चक्र निर्धारित योजना के अनुसार 1990 में समाप्त हो जाना चाहिए था। ऐसा इसलिए नहीं हो सका था कि कृषि को गैट में शामिल करने पर सहमति नहीं बन पा रही थी। 1990 में भारत के तत्कालिक वाणिज्य मंत्री डा० सुब्रह्मण्यम स्वामी ने उरुग्वे जाकर कृषि को गैट के अधिकार क्षेत्र में शामिल करने का वायदा किया। सामान्यतः विकासशील देशों को विकसित देशों की बाजारों में पाबंदियों का सामना करना पड़ता है क्योंकि भारत समेत इन तमाम देशों को कृषि को रियायतें प्राप्त हैं।

भुगतान संतुलन तीसरी दुनिया के देशों की एक प्रमुख समस्या है। विकसित देश अपनी अधिक कृषि उत्पाद को तीसरी दुनिया के देशों में झोंक देते हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों के पास यह विकल्प नहीं है।

उरुग्वे चक्र को किसी नतीजे पर न पहुंचते देख, गैट के महानिदेशक और व्यापार वार्ता समिति के अध्यक्ष आर्थर डंकल ने वार्ता के 1991 तक के निष्कर्षों को शामिल करके एक दस्तावेज तैयार किया। इस संकल्प दस्तावेज को अंतिम सहमति दस्तावेज (डी०एफ०ए०-ड्राफ्ट फाइलन ऐग्रीमेंट) कहा गया। इस दस्तावेज का कई तपकों में बहुत विरोध हुआ। कहा गया कि यह दस्तावेज तीसरी दुनिया के देशों की दृष्टिकोण से विनाशकारी है। भारत द्वारा इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने की देश में काफी आलोचना हुई। कहा गया कि इससे भारतीय खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह भी कहा जा रहा है कि इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर करके नरसिंह राव सरकार ने देश की संप्रभुता गिरवी रख दी। डंकल दस्तावेज पर हस्ताक्षर के बाद से मूल्यवृद्धि और मुद्रास्फीती में वृद्धि की दरों को देखते हुए उपरोक्त आलोचना में सत्यता के तत्व दिखते हैं।

UGPS-04(25B)

मोरक्कस (मोरक्को) में अप्रैल 1994 में एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में डंकल दस्तावेज या डी०एफ०ए० पर विचार-विमर्श हुआ। भारत समेत 124 देशों ने 15 अप्रैल, 1994 को इस अंतिम सहमति दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए। हस्ताक्षर के बाद यह अधिनियम उरुग्वे अंतिम अधिनियम (यू०एफ०ए-उरुग्वे फाइनल ऐक्ट) कहलाया तथा 1जनवरी, 1995 से लागू हो गया। मोरक्कश में जिस संधि पर हस्ताक्षर हुआ वह अभी तक संपन्न हुए सभी व्यापारिक समझौतों में सबसे बड़ा बहुपक्षीय व्यापारिक समझौता है। यू०एफ०ए० के लागू होने के बाद से गैट की जगह स्थाई मंच, विश्व व्यापार संगठन (डब्लू०टी०ओ०-वर्ल्ड ट्रेड आर्गनाइजेशन) ने ले लिया है।
इस तरह, यू०एफ०ए० (उरुग्वे फाइल ऐक्ट) के पारित हो जाने और सदस्य देशों द्वारा इसका अनुमोदन कर देने के बाद, गैट की जगह डब्लू०टी०ओ० (विश्व व्यापार संगठन) की स्थापना की गई। अमेरिकी सेनेट ने डब्लू०टी०ओ० का अनुमोदन, दिसंबर, 1994 में ही 76-24 के बहुमत से कर दिया था। जापान ने भी अंततः देसी किसानों की आपत्तियों को अनदेखा करके डब्लू०टी०ओ० का अनुमोदन कर दिया। भारत में इसके अनुमोदन के लिए मंत्रिमंडल का साधारण फैसला ही चाहिए था। लेकिन भारतीय पेटेंट अधिनियम में संशोधन के लिए विधायिका की सहमति चाहिए थी, तभी भारत डब्लू०टी०ओ० का सदस्य बन सकता था। सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी संसद में अपनी संख्या के बल-बूते संशोधन विधेयक नहीं पारित करा सकती थी। और भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) समेत सभी विपक्षी दल पेटेंट अधिनियम में संशोधन के विरुद्ध है। अतः कम-से-कम कुछ समय के लिए इस नए विश्व व्यापार संगठन (डब्लू०टी०ओ०) में भारत की पूरी भागीदारी संभव नहीं दिखती।

20.1 शीत युद्ध के बाद की विश्व राजनीति: एक समीक्षा

20.1.1 नई विश्व-अव्यवस्था

1990 के आस-पास शीत युद्ध की समाप्ति पर सहयोग, समझ, निरस्त्रीकरण और शांति के सिद्धांतों पर आधारित एक आदर्श विश्व के उदय की अपेक्षा स्वाभाविक थी। सोवियत संघ के विघटन से उम्मीद थी कि अमेरिका के नेतृत्व में नई विश्व-व्यवस्था तनावों, झगड़ा-झंझट और युद्धों से मुक्त होगी। संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका शांति की शक्तियों की लामबंदी के केंद्र के रूप में आंकी जाने लगी। अमेरिकी राष्ट्रपति बुश ने घोषणा की, "राष्ट्रों के नई सहभागिता, शीत युद्ध की तमाम सीमाओं को पार करके विचार-विमर्श, सहयोग और सामूहिक कार्रवाई के सिद्धांतों पर आधारित होगी।" कानून के शासन और सिद्धांतों पर आधारित इस एकता को व्यय और प्रतिबद्धता में समुचित हिस्सेदारी के अर्थों में समझा जाने लगा। इस सहभागिता के लक्ष्य थे "जनतंत्र, समृद्धि और शांति में वृद्धि तथा हथियारों की होड़ में कमी," बुश के उत्तराधिकारी बिल क्लिंटन ने एक सपने की बात की जिसमें "दुनिया के हर आदमी के विचार और उसकी ऊर्जा को एक दूसरे के साथ सहयोग और शांति के संबंधों में बंधी जनतांत्रिक व्यवस्थाओं में पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सके"। अमेरिकी संपना एक ऐसी विश्व-व्यवस्था के निर्माण का था जो पूरी दुनिया को अमेरिका के रंग में रंग सके। शीत युद्ध के अंत ने अंतरराष्ट्रीय संबंधों को पुनर्परिभाषित करने का अवसर प्रदान किया और अमेरिका इसे अपने हिसाब से परिभाषित करने में लग गया। और बहुत से देश शोषण से मुक्त, सभी जातियों और लोगों की समानता के सिद्धांत पर आधारित एक ऐसी दुनिया का सपना देख रहे थे जिसमें गरीबी, भुखमरी और बीमारी की समस्याओं का कोई निशान भी नहीं होगा। सोवियत संघ स्वयं इतना कमजोर हो चुका था और घरेलू समस्याओं में इतना उलझा था कि अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के सिद्धांत तय करने की स्थिति में नहीं था।

सोवियत संघ के अंतिम राष्ट्रपति और शीत युद्ध के समाप्ति का पथ प्रशस्त करने वाले, मिखाइल गोर्बाचोव ने सोवियत संघ के विघटन के बाद स्वीकार किया, "नई व्यवस्था की उम्मीद इतनी आदर्शवादी थी कि साकार नहीं हो सकती थी। इस उम्मीद की जड़े यथार्थ में नहीं थी। शीत युद्ध के बाद गोर्बाचोव ने संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में 'बुद्धिमानों की सभा' के गठन का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्तावित सभा में दुनिया के जाने-माने वैज्ञानिक और सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता सदस्य होते। उन्हें उम्मीद थी कि यह सभा समस्या के संघर्ष में बदलने के पहले ही उसका समाधान खोज लेगी। यह वाकई एक अव्यवहारिक उम्मीद थी क्योंकि जब राष्ट्र राज्यों का अस्तित्व रहेगा, तनाव और टकराव भी रहेगा।

गोर्बाचोव ने 1995 में दुखी अंदाज में लिखा, "जो अपने को भूमंडल का प्रबंधक मानते हैं..... उनमें आश्चर्यजनक रूप से दूरदृष्टि की कमी और धार्मिक जिद्दीपन दिखाई देता है। और एक के बाद इस संकट में फंस जाते हैं"। शीत युद्ध के बाद की एक नई विश्व व्यवस्था की उम्मीदें इसलिए पूरी नहीं हुई क्योंकि वे यथार्थपूरक नहीं थी। अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों की उम्मीद नहीं थी कि सोवियत संघ की मजबूत व्यवस्था इतनी जल्दी ढह जाएगी और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में द्वि-ध्रुवीय शक्ति संतुलन का अंत हो जाएगा। लेकिन जब सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था का पतन वास्तविकता बन गया तो उन्हें दुनिया का शासन, लगा कि सुगम हो जाएगा क्योंकि अब अमेरिका ही एक मात्र महाशक्ति बचा है। दुनिया में "कम्यूनिज्म" फैलने से रोकने की साझी चिंता ने पश्चिमी देशों को एकताबद्ध किए थे। लेकिन सोवियतसंघ के पतन के बाद "कम्यूनिज्म साम्यवाद" का खतरा टल जाने के बाद उनकी एकता का आधार समाप्त हो गया। एक अमेरिकी अखबार जॉर्ज सोरोज ने 1995 की शुरुआत में कहा, "पश्चिमी लोकतांत्रिक राष्ट्र नैतिक दिवालिएपन के दौर से गुजर रहे हैं। उन्हें नहीं मालूम कि वे किसके विरुद्ध लड़ रहे हैं और किन सिद्धांतों के लिए?

गोर्बाचोव के अनुसार, 1995 तक अंतरराष्ट्रीय राजनीति कुव्यवस्था से ग्रस्त हो गई। वे इस कुव्यवस्था की जड़ दुनिया के नेताओं में साझी अवधारणाओं और बदलते परिदृश्य में व्यवहार के बारे में दिशानिर्देश की कमियों को मानते हैं। गोर्बाचोव ने कुछ नई प्रवृत्तियों को विश्व शांति के लिए खतरनाक बताया। इनमें अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी द्वारा पृथकतावाद की हिमायत और यूरोप में अधिनायवादी प्रवृत्तियों का उफान शामिल है। आस्ट्रेलिया, प्रशांत महासागर क्षेत्र के अन्य देशों तथा तमाम संगठनों को विरोध के बावजूद फ्रांस ने 1995 में परमाणु परीक्षण फिर से शुरू कर दिया। गोर्बाचोव का कहना है कि यदि दुनिया के स्तर पर वस्तुस्थिति में परिवर्तन नहीं हुए तो पुरानी शीतयुद्ध कालीन शक्तियां फिर से सक्रिय हो जाएंगी। दुबारा आर्थिक, सैन्य और राजनीतिक बाहुबल के बल पर मतभेदों का निपटारा हुआ करेगा। वे अमेरिका-रूस संबंधों को लेकर भी चिंतित हैं। नाटो का प्रसार, बोस्निया संकट, परमाणु परीक्षण और निरस्त्रीकरण की समस्या, गंभीर मसले हैं। टकराव, लड़ाई, आंतकवादी गतिविधियां और शीतयुद्ध की वापसी की संभावना एक नई विश्व व्यवस्था की चाह रखने वालों के लिए चिंता का विषय है। इस अव्यवस्था का अंत अकेले न तो अमेरिका कर सकता है न रूस। इसके लिए विभिन्न देशों को अपने फैसलों में

सामंजस्य बैठाना पड़ेगा जिसे झगड़ों का शांतिपूर्ण हल निकल सके और शीत युद्ध फिर से न शुरू हो। नई व्यवस्था के लिए संयुक्त राष्ट्र, विश्व-बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं में सुधार करना पड़ेगा।

20.1.2 बोस्निया में गृह युद्ध

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि शीत युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कई संकट आए। बोस्निया का गृहयुद्ध इनमें उल्लेखनीय है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद दक्षिणी स्लावों की एक राष्ट्र- राज्य में संगठित होने की इच्छा के परिणाम स्वरूप पूर्व-युगोस्लाविया अस्तित्व में आया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में सर्बिया और मोन्टोगरो स्वतंत्र राज्य थे जब कि बाकी स्लाव क्षेत्रों पर तुर्की और आष्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य का शासन था। 1908 में जब बोस्निया-हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया-हंगरी का कब्जा हुआ तो सर्बिया इतना कुपित था कि आस्ट्रिया-हंगरी पर आक्रमण की सोचने लगा। लेकिन सर्बिया एक छोटा सा मुल्क था और बिना किसी बड़ी ताकत की सहायता के ऐसा उसके लिए संभव नहीं था। रूस का जार सर्बिया की मदद करना चाहता था लेकिन 1905 में जापान के हाथों हार का सामना करने के बाद वह मदद करने की स्थिति में नहीं था। इसलिए बोस्निया आस्ट्रिया-हंगारी का हिस्सा बना रहा। 1914 में जब प्रथम विश्व युद्ध शुरू हुआ तो बोस्निया की राजधानी सराजोवो में आस्ट्रिया के युवराज की हत्या कर दी गई। हत्या का दोष सर्बों पर मढ़कर आस्ट्रिया-हंगारी ने सर्बिया पर हमला कर दिया। अतः याद रखने वाली बात यह है कि प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत बोस्निया में इस हत्या में सर्बों की कथित भूमिका को लेकर हुई। 1918 में केंद्रीय शक्तियों की पराजय के बाद युगोस्लाविया का उदय हुआ, जिसे शुरू में सर्बों और क्रोटों का राज्या कहा गया। इसमें सर्बिया और मोंटगोमरो अलावा बोस्निया-हर्जेगोनिया के प्रांत, कोशिया, स्लोवानिया और मक्टूनिया शामिल थे। द्वितीय विश्व युद्ध और शीत युद्ध के दौरान युगोस्लाविया की एक राष्ट्र-राज्या के रूप में अस्तित्व बरकरार रहा। वहां जातीय मतभेद तो थे लेकिन किसी को उम्मीद नहीं थी कि शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के बिखराव के साथ ही युगोस्लाविया भी विखंडित हो जाएगा।

सर्बिया और क्रोशिया के बीच 1991 में शुरू हुआ गृह युद्ध, क्रोशिया को अलग राज्या के रूप में अंतरराष्ट्रीय मान्यता मिलने के बाद राज्यों के बीच युद्ध में बदल गया। 1992 में बोस्निया हर्जेगोनिया भी अलग हो गया। बाकी जो बचा वही युगोस्लाविया का नाम अपनाए रखा। इस बचे-खुचे युगोस्लाविया में सर्बों का बाहुल्य था। कम्युनिस्ट व्यवस्था पहले ही समाप्त हो चुकी थी। जातीय संघर्ष सर्बों, क्रोटों और बोस्नियाई मुसलमानों के बीच युद्ध में तब्दील हो गया। बोस्निया के सर्बों के "जातीय शुद्धिकरण" के नाम पर मुस्लिम-विरोधी अभियान के चलते 1992 में शुरू हुआ युद्ध संयुक्त राष्ट्र एवं अंतरराष्ट्रीय समुदाय के तमाम प्रयासों के बावजूद साढ़े तीन साल तक निरंतर चलता रहा। नाटो और संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने शांति-स्थापना की कई योजनाएं तैयार की। सितंबर, 1991 में सुरक्षा परिषद ने युद्ध में शरीक देशों पर हथियारों की पाबंदी लगा दी। इसका मतलब यह कि बोस्निया के अलग होन के पहले ही संयुक्त राष्ट्र ने सदस्यों राष्ट्रों को किसी भी पक्ष को हथियार न देने की हिदायत दे दी थी।

1991 में युद्ध शुरू होने के समय क्रोशिया के लगभग आधे हिस्से पर सर्बों का कब्जा था। बोस्नियाई सर्बों और मुसलमानों में जातीय युद्ध छिड़ गया। बोस्निया की राजधानी सराजेवो पर सर्बों ने घेरा डाल दिया जिससे हजारों लोग अपना घर-बार छोड़कर भाग गए। महीनों बोस्निया बिना बिजली के रहा और कड़ाके की सर्दी ने बहुतों को अपाहिज कर दिया और बहुत ताप-व्यवस्था के अभाव में सर्दी का प्रकोप नहीं झेल सके और मौत के गाल में समा गए। बहुत सारे शांति प्रयास असफल रहे। 1994 की शुरुआत में नाटो द्वारा सर्बों के अड्डों पर बमबारी की धमकी के चलते सर्बों की बंदूकों पर अस्थाई तौर पर विराम लग गया था। फरवरी, 1994 में राजनयिक क्षेत्रों में इस बात पर चिंता व्यक्त की जा रही थी कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा लगाई गई हथियारों पर पाबंदी का सभी देश पूर्णतः पालन नहीं कर रहे थे। सर्बिया रूस का प्रमुख ग्राहक बना रहा और बोस्निया के प्रति अमेरिकी रूख सहानुभूति की रहा है। एक तरफ तो ब्रिटेन, जर्मनी फ्रांस रूस और अमेरिका का सम्पर्क समूह शांति की तरीके ढूंढ़ता रहा, वहीं शीत युद्ध के बाद भी गुटबाजी बिल्कुल समाप्त नहीं हो गई

1994 के शांति प्रयासों में एक प्रावधान भी था कि बोस्निया की सरकार और सर्ब कि सराजेवो की कुछ सड़कें नागरिक आवागमन के लिए खोलने घर राजी हो जाएं वाशिंगटन में क्रोशिया और बोस्निया ने क्रोशिया से जुड़े बोस्नियन संघ के गठन पर समझौता किया। यह समझौता जटिल और अधूरा था। इसके तहत बोस्निया के क्रोट और मुस्लिम क्षेत्रों को मिला कर एक मजबूत संघीय सरकार के गठन का प्रावधान था। इस संघीय सरकार के अंतर्गत आने वाले हर कैंटोन की अपनी विधायिका और अदालतें होतीं। क्रोशिया के राष्ट्रपति फ्रांजो तुद्जमान और बोस्निया के राष्ट्रपति अलीजा इज़ेत्बेगोविच के इस समझौते पर हस्ताक्षर के बावजूद एक प्रमुख समस्या जस-की-तस बनी रही। बोस्निया के कुल क्षेत्रफल का 72% सर्बों के कब्जे में था। बोस्नियाई सर्बों की सहमति के बिना वाशिंगटन समझौते का कोई मतलब नहीं था। बोस्निया के सर्बों के प्रभावशाली नेता रदोवॅन करादिजक ने कहा "बोस्नियाई या क्रोट आपस में जैसे चाहे वैसे रहें" बशर्ते इससे सर्बों को कोई खतरा न हो।

सर्बों की सहमति की बिना यह समझौता लागू नहीं हो सकता था। बोस्निया के राष्ट्रपति इजेत्बोविक चाहते थे कि मुसलमानों और क्रोटों के प्रस्तावित संघीय राज्य का गठन बोस्निया के कम-से-कम आधे क्षेत्रफल में हो। इसका मतलब था कि सर्बों को कुछ हिस्सा छोड़ना पड़ता। सर्ब इसके लिए राजी नहीं हुए।

युद्ध विराम की तमाम कोशिशें नाकाम रहीं। 1 मई, 1995 को चार महीने के युद्ध विराम के बाद पूर्व युगोस्लाविया में युद्ध फिर शुरू हो गया। इस दौरान संयुक्त राष्ट्र की मध्यस्थता से 1992 में हुए क्रोशिया में युद्ध विराम के समझौते को एक तगड़ा झटका लगा। 1994-95 की सर्दियों में समझौते के तीनों ही पक्ष अपने को हथियारों से लैस करते रहे। तमाम राजनयिक प्रयासों और संयुक्त राष्ट्र संघ के 40,000 शांति-सैनिकों की उपस्थिति के बावजूद जातीय संघर्ष को फिर से उभरने से नहीं रोक सके। 28 अप्रैल 1995 को एक क्रोट ने एक सर्ब मोटर चालक की चाकू घोंप कर हत्या कर दी। इसके जवाब मे सर्बों ने क्रोशिया की राजधानी, ज़ागरेब पर रॉकेट दागे। जिस सड़क पर मोटर चालक की हत्या हुई थी वह ज़ागरेब को पूर्वी क्रोशिया और सर्बिया से जोड़ती है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संरक्षित चार क्षेत्रों में से दो उसी सड़क के रास्ते में पड़ते हैं। ये क्षेत्र सर्बों के स्वघोषित "सर्ब-क्राजिला गणतंत्र" से जुड़े हैं। ज़ागरेब पर राकेट से क्रोशिया की सरकार को सर्बों पर हमला बोलने का मौका मिल गया। क्रोशिया का यह हमला 1991 के बाद सबसे भयंकर हमला था। कुछ ही दिनों लड़ाई में क्रोशिया ने क्राजिना के कुछ हिस्सों पर अधिकार कर लिया। क्रोशिया के राष्ट्रपति ने इस "सुगम और महान विजय" कहा। लेकिन क्राजिना के सर्ब इस हार से निरुसाहित नहीं हुए। क्राजिना के सर्ब "राष्ट्रपति" मिलन भार्तिक ने कहा, "एक मोर्चे पर असफलता का मतलब युद्ध में पराजय नहीं है। उसने दावा किया कि उसके आदमियों ने जागरेब और अन्य क्रोट शहरों में बमबारी कर रहे थे। जागरेब पर हमला संयुक्त राष्ट्र शांति सैनिकों के लिए गाल पर तमाचे जैसा था। लेकिन सर्बों और क्रोटों के बीच जारी युद्ध का परिणाम क्रोटों के अनुकूल रहा। अप्रैल में बोस्नियाई सर्बों ने सराजेवो हवाई अड्डे पर एक अमेरिकी मालवाहक जहाज को मार गिराया जिससे हवाई अड्डा कुछ दिनों के लिए बंद रहा। 1995 की गर्मियों तक सर्ब अमेरिका रूस मतभेदों का फायदा उठाने का प्रयास करने लगे थे। रूस अपने पुराने सहयोगी सर्बों का पक्ष ले रहा था और अमेरिका मुसलमानों का क्योंकि उसकी नजर में वे युद्ध के स्पष्ट शिकार हैं। फ्रांस ने "कुशलतापूर्वक टाल-मटोल" का रवैया अपनाया जिससे अमेरिका और रूस दोनों को ही बुरा लगा।

तेज रफ्तार से घटित हो रहे घटनाक्रम की शृंखला में बोस्नाई सर्बों ने संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना से पहल छीन लिया। उन्होंने जून, 1995 में 350 से अधिक शांति सैनिकों को बंधक बना लिया। उनमें कुछ, (जिनमें ज्यादातर ब्रिटिश, फ्रांसीसी और कनाडा के थे) छः दिनों बाद छोड़ दिए गए। बाकी ज्यादा समय तक बंधक रहे। सर्बों की यह कार्रवाई नाटो द्वारा उनके हथियारों के अड्डों पर हवाई हमलों के जवाब में थी। इस लड़ाई के दौरान सराजेवो शहर कई दिनों तक बिना बिजली-पानी के रहा। सर्बों के नेता रदोवन कादिज़क ने दावा किया कि संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों और नाटो के शासनादेशों को व्यर्थ साबित कर दिया गया। इसे सर्बों का अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था से विद्रोह की तरह प्रचारित किया गया। तीन साल से अधिक समय के पश्चिमी देशों के राजनयिक प्रयास व्यर्थ साबित हो रहे थे। जून, 1995 तक पहुंचते-पहुंचते समस्या के समाधान के शांति प्रयासों के नीति की धज्जियां उड़ गईं।

इस स्थिति में तीन संभावित विकल्प थे। पहला विकल्प बोस्निया के सर्बों पर मुसलमानों का फैसला उन्हीं पर छोड़ कर शांति सेनाओं को वहां से हटा लेने का था। इससे एक व्यापक बालकान युद्ध की स्थिति तैयार हो जाती। शांति सेना हटाने से संयुक्त राष्ट्र संघ और नाटो दोनों की प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल असर पड़ता। दूसरा विकल्प था कि शांति सैनिकों को बंधक बनाने वाले सर्बों के साथ नाटो सख्ती से पेश आए। वह एक स्थाई जिम्मेदारी बन जाती। तीसरा विकल्प यह था कि नाटो और संयुक्त राष्ट्र संघ राजनयिक प्रयासों में सर्बों को फंसाए रखकर उचित विकल्प की तलाश करें। अमेरिका सख्त रुख अपनाए रहा। उसने 50 लड़ाकू विमान बोस्निया में तैनात कर दिए।

बोस्निया संकट को काफी लंबा खिंचता देख बोस्नियाई सर्बों के ठिकानों पर हवाई हमले जारी रखने की योजना बनाई गई लेकिन शांतिपूर्ण समाधान के लिए सभी संबद्ध पक्षों को राजी करने के राजनयिक प्रयासों की नीति भी साथ-साथ चलती रही।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने पूर्वी बोस्निया में तीन सुरक्षित क्षेत्र बनाए हैं। 1995 के मध्य तक स्रेब्रेनिका और ज़ेपा पर सर्बों ने अधिकार कर लिया था। बोस्निया सरकार के अधिकार वाले क्षेत्रों में शरणार्थियों का तांता लग गया। यदि गोरज़्दे पर भी सर्बों का कब्जा हो जाता तो सार्जेवो से सब्रिया को समूचे मार्ग पर उनका नियंत्रण स्थापित हो जाता। इसी दौरान सर्बों पर उल्लेखित क्रोशियाई हमला हुआ जिसमें सर्बों को कुछ जगहों पर पीछे हटना पड़ा। अमेरिकी कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर राष्ट्रपति को बोस्निया पर से सितंबर, 1991 से लागू हथियारों का प्रतिबंध हटाने का निर्देश दिया। इसके लिए राष्ट्रपति को 30 दिन का समय दिया गया था। अमेरिकी संसद की इस प्रस्ताव का घोषित उद्देश्य, "शांति और सुरक्षा" तथा सेनाओं की "सफलता पूर्वक वापसी" सुनिश्चित करना था। राष्ट्रपति क्लिंटन ने वीटो के इस्तेमाल से इस अध्यादेश को रोक दिया। इस प्रकार बोस्निया के मुद्दे पर अमेरिका में विधायिका-कार्यपालिका संकट का तनाव पैदा हो गया।

नाटो ने सर्बिया को चेतावनी दी कि यदि वह अपनी बड़ी-बड़ी मशीनगनों को नहीं हटाता और सार्जेबो से कबजा नही हटाएगा तो उसे और भी हवाई हमलों का सामना करना पड़ेगा। सर्बो से सार्जेवो हवाई अड्डे को फिर से खोलने को कहा गया। बोस्नियाई सर्बो ने हवाई हमलों के रुकने तक नाटो की चेतावनी के आगे झुकने से इंकार कर दिया। नाटो के रुख में सख्ती आती देख संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने समस्या के शांति पूर्ण, राजनयिक समाधान की अपनी इच्छा पर जोर दिया। उन्होंने बोस्नियाई सर्बो से "जिम्मेदारी की भावना" दिखाने का आग्रह किया। उन्होंने जेनेवा में विदेश मंत्रियों की बैठक में कहा, "अब रक्तपात बंद करने का समय आ गया है। संयुक्त राष्ट्र का अंतिम लक्ष्य दुखद और लंबित संकटों का वार्ताओं के जरिए स्थाई समाधान करना है।"

सितंबर, 1995 में जेनेवा वार्ता शुरू होते ही लगा कि इस मसले पर रूस सख्त रुख अपना सकता है। राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने सर्बो पर से शस्त्रों का प्रतिबंध हटाने की उसी तर्क पर बात की जिस पर अमेरिकी कांग्रेस ने बोस्निया से प्रतिबंध हटाने का प्रस्ताव परित किया था। नाटो ने शांति की योजना में साझेदारी का प्रस्ताव रखा। इसमें मध्य और पूर्वी यूरोप के देशों को भी शामिल करने की बात थी। इससे प्रशिक्षण में सहयोग, अधिकारियों की अदला-बदली और संयुक्त अभ्यास को बढ़ावा मिलता। तीन बाल्टिक गणराज्य-लिथुआनिया, लात्विया और एस्टोनिया-नाटो की सदस्यता पाने का प्रयास कर रहे हैं। येल्तसिन ने इस प्रस्ताव का यह कह कर विरोध किया कि नाटो के विस्तार से पूरे यूरोप में युद्ध का खतरा बढ़ जाएगा। रूसी राष्ट्रपति ने नाटो को चेतावनी दी कि यदि वह अपना विस्तार रूसी सीमा तक करता है तो उसके विरुद्ध रूस के नेतृत्व में एक और गठबंधन बन जाएगा। वैसे यह स्पष्ट नहीं था कि पूर्व-सोवियत संघ के कितने गणराज्य इस गठबंधन में भाग लेते।

येल्तसिन के इस वक्तव्य में शीत युद्ध के फिर से शुरू होने का संकेत था। उन्होंने कहा वे नहीं चाहते की अतीत की पुनरावृत्ति हो। उन्होंने एक सैनिक गठबंन्धन के रूप में नाटो को भंग कर देने की सलाह दी। उनकी राय में इसे एक राजनैतिक संगठन के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए और सैनिक शक्ति में सबकी साझीदारी होनी चाहिए जिससे बारी-बारी हर देश उसका नेतृत्व कर सके। 1995 की पतझड़ में यह पता नहीं चल रहा था कि येल्तसिन के प्रस्ताव या अतीत की वापसी की धमकी को गंभीरता से लिया जाएगा या नहीं।

लगभग साढ़े तीन साल के सशस्त्र संघर्ष के बाद पहली बार सितंबर, 1995 में क्रोशिया,बोस्निया और सर्ब नेतृत्व वाले युगोस्लाविया के विदेश मंत्रियों की बैठक में एक समझौता हो सका। इस शांति प्रयास की मध्यस्थता अमेरिका के सहायक राज्य सचिव रिचर्ड होलब्रोक ने की। इस समझौते में बोस्निया के अंदर के स्वतंत्र सर्ब राज्य के गठन पर सहमति हुई। तीनों ही विदेश मंत्रियों ने अपनी मौजूदा सीमाओं में बोस्निया को एक स्वतंत्र, संप्रभु राज्य के रूप में मान्यता देने के सहमति पत्र पर हस्ताक्षर किया। लेकिन इसके अंतर्गत दो स्वायत्त इकाइयां होंगी, बोस्निया-हर्जेगोबिना और सर्ब गणतंत्र। जेनेवा सम्मेलन के समय बोस्निया के कुल क्षेत्रफल के लगभग दो-तिहाई हिस्से पर सर्बो का अधिकार था। बोस्निया 1992 में युगोस्लानिया से अलग हुआ था। अलग होने के तुरंत बाद बोस्नियाई सर्बो ने मुस्लिम वर्चस्व की बोस्निया के विरुद्ध, सत्ता संघर्ष के चलते विद्रोह कर दिया। इसके बाद के संघर्ष में हजारों जाने गईं, संपत्ति की हानि हुई, लोगों में विद्वेष और हिंसा की भावनाएं पनपीं और हजारों लोग बेघर हुए। सार्जेवो पर सर्बो का अधिकार कायम था।

1995 के जेनेवा समझौते के अनुसार, बोस्निया में दो जनतांत्रिक इकाइयां होंगी। मुस्लिम बाहुल्य बोस्निया का क्षेत्रफल के 51% पर और सर्बो का 49% पर अधिकार होगा। होलब्रोक ने इस सीमित समझौते को शांति स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम बताया। दोनों इकाइयां पूर्ण रुपेण स्वशासी होंगी और उनके अपने-अपने संविधान होंगे। इस समझौते में मोटी-मोटी बातें तय की गई थी और विस्तृत योजना आदि को भविष्य के लिए छोड़ दिया गया था। मुख्य समस्या दोनों इकाइयों के क्षेत्रों की सीमा-निर्धारण की थी। समझौते के अनुसार बोस्निया का बंटवारे किए बिना इसमें दो इकाइयों का गठन करना था। समझौते में बोस्निया की इस मांग को मान लिया गया था कि बोस्निया एक देश बना रहे। लेकिन इससे बोस्निया के सर्बो को भी रियायत मिली। अमेरिका में बोस्निया के राजदूत मुहम्मद अल्कालजी की टिप्पणी, "इस तरह बोस्निया की अंतरराष्ट्रीय मान्यता की सीमा बरकरार रहेगी और बोस्नियाई सर्ब अपना क्षेत्र सर्बिया के साथ नहीं मिला सकते।" समझौते में सर्बो के सर्ब-युगोस्लाविया और बोस्निया को सर्बिया से विशेष संबंध बनाने का प्रावधान है।

जेनेवा समझौते में सर्बिया द्वारा बोस्निया को मान्यता देने का उल्लेख है। सर्बिया-युगोस्लाविया, इसके तहत क्रोशिया और बोस्निया के हिस्सों को मिलाकर वृहत्तर सर्बिया बनाने के अपने पुराने सपने को छोड़ देगा। समझौते के तुरंत बाद संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने इसका स्वागत करते हुए क्षेत्र में स्थाई शांति स्थापना की उम्मीद जाहिर किया। सुरक्षा परिषद ने युद्ध से त्रस्त पूर्व-युगोस्लाविया के देशों के विकास के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता देने की घोषणा की। लगभग सभी ने जेनेवा समझौते का स्वागत किया। लेकिन स्थाई शांति स्थापना को लेकर लोगों का संदेह बना रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद की घोषणा के बाद यूरोपी समुदाय के विदेश मंत्रियों ने युद्ध और प्रतिबंधों से त्रस्त क्षेत्र की आर्थिक सहायता पर जोर देना शुरू किया। प्रंदहों विदेश मंत्रियों ने काफी आशाजनक बाते कहीं। लेकिन बहुत से क्षेत्रफल संबंधित और संवैधानिक मुद्दों का समाधान करना बाकी है। दो इकाइयों में बोस्निया का

विभाजन और उनके बीच सीमा निर्धारण शांति स्थापना में बाधक हो सकता है। लेकिन यूरोपीय संघ का पूर्व युगोस्लाविया के आर्थिक पुनर्निमाण के लिए ज्यादा-से-ज्यादा धन इकट्ठा करने का प्रयास शांति स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान देगा।

नाटो शक्तियों द्वारा हवाई हमलों के माध्यम से सार्जेवो को सर्बो के अधिकार से मुक्त कराने या उन्हें सुरक्षित क्षेत्रों से हटने पर बाध्य करने के प्रयास असफल साबित हुए। सर्बो से सार्जेवो से 20 कि०मी० की सीमा से दूर जाने को कहा गया लेकिन उनपर कोई असर नहीं पड़ा। नाटो के 2500 हवाई बमबारी के बावजूद सार्जेवो से सर्बो का कब्जा खत्म नहीं किया जा सका। रूस सर्बो पर जारी हवाई हमले का विरोध कर रहा था इसलिए सर्ब 20 कि०मी० के वर्जित क्षेत्र से दूर जाने से मना करते रहे। यह समस्या जेनेवा समझौते को लागू करने में भी बाधक बनेगी। रूस के विरोध प्रकट करने के बावजूद जब नाटो ने हवाई हमले बंद नहीं किया तो रूस ने अपनी संसद के पांच सदस्यों को सर्बो के लिए "मान सुरक्षा कवच" के रूप में बोस्निया भेजा। रूस ने नाटो की कार्रवाई को बोस्नियाई सर्बो के नरसंहार की कार्रवाई कहा जिसमें बूढ़ों, औरतों और बच्चों को भी नहीं बख्शा गया। अमेरिका ने अमेरिका रूस संबंधों को सुधारने की दिशा में तुरंत प्रयास शुरू कर दिया।

20.1.3 हैती में जनतंत्र की वापसी

1994 की पतझड़ में हैती में जनतंत्र की वापसी का संकट बिना किसी रक्तपात के हल हो गया। यह एक राष्ट्रीय संकट का अंतरराष्ट्रीय समाधान था। हैती में पहली बार 1990 में चुनाव हुए। एक भूतपूर्व पादरी जीन अस्ताइद को राष्ट्रपति चुना गया। लेकिन 31 सितंबर, 1992 में उन्हें एक सैनिक सत्तापलट में अपदस्थ कर दिया गया। वहां लेफ्टीनेंट जनरल राउल सेद्रास के नेतृत्व में सैनिक शासन लागू हो गया। अरिस्ताइद हैती से भागकर अमेरिका आ गए और तीन साल तक अपने वाशिंगटन के कमरे से 'निर्वाचित सरकार' का संचालन करते रहे। 1991 में सैनिक सत्तापलट को उस समय इसलिए शायद ज्यादा अहमियत नहीं मिल सकी थी कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय का ध्यान सोवियत संघ के विघटन पर केंद्रित था।

सैनिक शासन में लोगों की स्थिति बद से बदतर होती गई। गरीबी और आतंक में 50 लाख हैती वासियों का जीवन नर्क बन गया था। कुछ भागकर अमेरिका में शरण लिए। अरिस्ताइद अमेरिका की साम्राज्यवादी देश के रूप में निंदा किया करते थे। एक बार तो वे यहां तक कह गए कि साम्राज्यवाद एड्स से भी बड़ा मनुष्य का दुश्मन है। 1915 में भीड़ द्वारा हैती के राष्ट्रपति की हत्या के बाद अमेरिकी नौसेना की 19 साल तक उपस्थिति बनी रही थी। अमेरिकी नौसेना ने हैती की सेना को भंग करके 1919 के राष्ट्रीय आंदोलन को निर्भयता से कुचल दिया था जिसमें हजारों लोग मारे गए थे। 1994 में अरिस्ताइद को राजनयिक प्रयासों से फिर से सत्ताधीन किया जा सका। हां, इसके पीछे सैनिक कार्रवाई की धमकी जरूर शामिल थी। अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिंटन ने जनतंत्र के लक्ष्य का समर्थन करते हुए हैती में सैनिक शासन की कड़े शब्दों मे निंदा की। 1994 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने 24 देशों की "बहुराष्ट्रीय शक्ति" को बोस्निया में सैनिक तानाशाही खत्म करके जनतंत्र को फिर से स्थापित करने के लिए अधिकृत किया।

शीत युद्ध के बाद इकलौती बची महाशक्ति, अमेरिका की भूमिका को कम नहीं आंका जा सकता। जिस तरह इराक-कुवैत मामले में अमेरिका ने निर्णायक भूमिका अदा की थी उसी तरह हैती में भी उसने 24 देशों की सेनाओं की उपस्थिति का भय दिखाते हुए राजनयिक प्रयासों की पहल की। 15000 सैनिकों का सैन्यदल कैरिबियाई सागर में आक्रमण के लिए तैयार था लेकिन राजनयिक प्रयासों के आश्चर्यजनक परिणाम निकले।

राष्ट्रपति क्लिंटन ने यह जिम्मेदारी पूर्व राष्ट्रपति जिम्मीकार्टर के नेतृत्व में एक उच्च-स्तरीय प्रतिनिधि मंडल को सौंपा। प्रतिनिधि मंडल ने सैनिक शासकों को स्पष्ट कर दिया कि उन्हें अमेरिका के किसी भी हिस्से से किसी भी तरह की मदद की अपेक्षा नहीं करना चाहिए। कार्टर मिशन की बातों को आक्रमण के लिए तैयार 60 अमेरिकी लड़ाकू विमानों से बल मिला। कार्टर के अभियान को अभूतपूर्व सफलता मिली। वह सेद्रास और उसके सेनाध्यक्ष को सत्ता 24 देशों की "बहुराष्टीय शक्ति" को सौंपने के लिए राजी करने में सफल रहा। सुरक्षा परिषद ने 24 देशों के गठबंधन को हैती पर आक्रमण के लिए अधिकृत किया था लेकिन क्लिंटन के राजनयिक प्रयासों में उसका कोई योगदान नहीं था। अमेरिकी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र की सहमति से हैती पर चार कारणों से आक्रमण करने को तैयार था। वे कारण थेः मानवाधिकारों का उल्लंघन; शरणार्थी समस्या को चिंताद्ध हैती में जनतंत्र की पुनर्स्थापना और अमेरिका की साख बनाना। लेकिन महीनों के विचार विमर्श के बाद जो फैसला लिया गया उससे रक्तपात के बिना ही सत्तापलट हो गई।

कार्टर अभियान ने सुनिश्चित कर दिया था कि सत्ता पर निर्वाचित राष्ट्रपति अरिस्ताइद की वापसी होगी। लेकिन सत्ता छोड़ने वाले सैनिक शासकों को क्षमादान का भी प्रावधान स्वीकार किया गया। राष्ट्रपति अरिस्ताइद को इस बात पर राजी कर लिया गया कि वे अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद दुबारा राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव नहीं लड़ेंगे।

में सत्तापरिवर्तन संघर्ष के समाधान का एक असाधारण उदाहरण है। एक सैनिक तानाशाही की जगह निर्वाचित
राष्ट्रपति को बिना किसी रक्तपात के पदासीन कर दिया गया। इसके लिए अमेरिकी नेतृत्व में सैनिक
कार्रवाई की सुरक्षा परिषद की सहमति पहले ही मिल चुकी थी। खाड़ी युद्ध के बाद अमेरिका की यह अंतरराष्ट्रीय
मामलों में दूसरी सैनिक कार्रवाई होती। हैती के सैनिक शासकों को आक्रमण का एहसास था। ऐसे में क्लिंटन के
राजनयिक प्रयास को सफलता मिली। कार्टर अभियान को न्यूनतम प्रतिरोध का सामना करके लक्ष्य प्राप्त करने में
सफलता मिल गई। अमेरिकी राज्य सचिव ने गर्ल के साथ घोषित किया, "यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें शक्ति ने
राजनय की क्लासिकी ढंग से मदद की" और इस तरह हैती के लोगों की सैनिक तानाशाही से मुक्ति मिली।